अहिसा का आदर्श पालने मे ताकत तभी आती है
जबकि सयम का खयाल और तप का बल हो ।

आचार्य श्री हस्ती
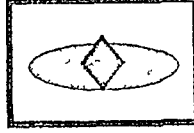
*

जिनवाणी

मगल-मूल धर्म की जननी, शाश्वत, सुखदा, कल्याणी ।
द्रोह, मोह, छल, मान-मर्दिनी, फिर प्रगटी यह 'जिनवाणी' ।।

'जिनवाणी' के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.
की द्वितीय पुण्य तिथि पर प्रकाशित

अहिंसा विशेषांक
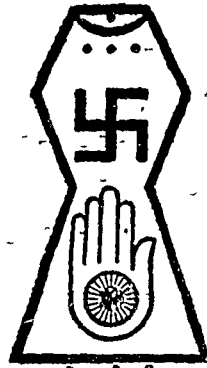
प्रधान सम्पादक
डॉ० नरेन्द्र भानावत

☐

सम्पादक
डॉ० श्रीमती शान्ता भानावत

☐

प्रकाशक
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
बापू बाजार, जयपुर

जिनवाणी

अहिंसा विशेषांक

मार्च, अप्रैल, मई, जून, १९९३
वीर निर्वाण संवत, २५१९
फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, संवत् २०५०
वर्ष : ५० □ अंक : ३, ४, ५, ६

□

प्रकाशक :
सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
दुकान नं० १८२-१८३ के ऊपर
बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३ (राजस्थान)
फोन : ५६५९९७

संस्थापक :
श्री जैन रत्न विद्यालय, भोपालगढ़ (जोधपुर)

सम्पादकीय सम्पर्क सूत्र :
सी-२३५ ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर
जयपुर-३०२ ००४ (राज.)
फोन : ४७४४४

भारत सरकार द्वारा प्रदत्त रजिस्ट्रेशन नं ३६५३/५७

सदस्यता :

स्तम्भ सदस्यता : २०००रु. संरक्षक सदस्यता : १००० रु.
आजीवन सदस्यता : ३५० रु. (देश में), १०० डालर (विदेश मे)
त्रिवर्षीय सदस्यता : ८० रु., वार्षिक सदस्यता : ३० रु.

इस विशेषांक का मूल्य : ५० रुपये

मुद्रक : फ्रेण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जौहरी बाजार जयपुर–३

नोट : यह आवश्यक नही कि लेखकों के विचारो से सम्पादक या मण्डल की सहमति हो।

समर्पण

अहिंसा, संयम और तप

के आराधक

रत्नवंश सम्प्रदाय के अष्टम पट्टधर

आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा.

के

ओजस्वी प्रभावक व्यक्तित्व

को

सादर सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

"जिनवाणी" के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. की द्वितीय पुण्य तिथि पर उनके अष्टम पट्टधर आचार्य पूज्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा. की प्रेरणा से पाठकों की सेवा में "अहिंसा विशेषांक" प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता है।

पौष शुक्ला पूर्णिमा विक्रम संवत् १९९९ (जनवरी, १९४३) मे जोधपुर जिले के भोपालगढ़ कस्बे के श्री जैन रत्न विद्यालय से मासिक "जिनवाणी" का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। यह बड़े संतोष की बात है कि विगत ५० वर्षों से "जिनवाणी" का प्रकाशन अब तक नियमित रूप से चला आ रहा है। यह "जिनवाणी" के सभी पाठकों, लेखकों, शुभ चिन्तकों, हितैषियों और स्नेहीजनों के सहयोग का ही परिणाम है।

"जिनवाणी" के प्रकाशन का आरम्भ जिस समय हुआ वह समय द्वितीय विश्व युद्ध का था। सारी मानव जाति महायुद्ध की हिंसा और आतंकवादी गतिविधियो से त्रस्त थी। कुछ राष्ट्र नेताओं की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओ ने समूची मानव जाति के समक्ष उसके भविष्य को लेकर एक प्रश्न चिह्न खडा कर दिया था। बन्दूको और तोपों की आवाजों मे अहिंसा और प्रेम जैसे जीवन-मूल्य मानो कही खो गये। ऐसे ही कठिन समय मे आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. ने विश्व को पुनः शांति और अहिंसा का संदेश देने का संकल्प लिया। इसी सकल्प से उन्होंने 'जिनवाणी' के प्रकाशन की प्रेरणा दी। उन्होने 'जिनवाणी' के माध्यम से जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि का सदेश दिया।

आचार्य श्री की प्रेरणा से ही लगभग ४८ वर्ष पूर्व रत्नवशी सम्प्रदाय के महान् पट्टधर आचार्य श्री रतनचन्दजी म. सा की स्वर्गवास शताब्दी (सवत् २००२) के अवसर पर सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल की स्थापना की गयी। मण्डल द्वारा सम्यक्ज्ञान के प्रचार-प्रसार की अनेक प्रवृत्तियाँ संचालित की जाती है। 'जिनवाणी' के प्रकाशन के अतिरिक्त मण्डल की ओर से सामायिक व स्वाध्याय संघ का संचालन और जीवन उत्थानकारी सत् संस्कारवर्धक साहित्य का सृजन, प्रकाशन और वितरण किया जाता है। अब तक सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल द्वारा आगमिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, ऐतिहासिक, तात्त्विक, कथात्मक, स्तवनात्मक, प्रवचनात्मक, व्याख्यात्मक आदि विविध विपयक धर्म, दर्शन सम्बन्धी ६० से अधिक पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी है।

मण्डल द्वारा प्रकाशित ये पुस्तके सन्त-सतियो, विद्वानो, स्वाध्यायियों से लेकर सामान्य स्तर के सभी पाठकों के लिए मननीय, पठनीय और आच-

रणीय रही हैं। उच्च कोटि के सत्-साहित्य के निर्माण एवं प्रकाशन की व्यापक योजना भी तैयार की गयी है ताकि जीवन और समाज की सत्-साहित्य संबंधी बढ़ती मांग पूरी की जा सके। कोई भी व्यक्ति १०००) रु. प्रदान कर आजीवन साहित्य सदस्यता ग्रहण कर सकता है। साहित्य सदस्यों को उपलब्ध प्रकाशित साहित्य निःशुल्क भेजा जाता है।

'जिनवाणी' अपने प्रकाशन के पचासवे वर्ष में प्रवेश कर गयी है। 'जिनवाणी' के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में वृहद्काय 'अहिसा विशेषांक' पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष एवं गौरव की अनुभूति हो रही है।

'जिनवाणी' मासिक पत्रिका का उद्देश्य नैतिक, धार्मिक तथा जीवन निर्माणकारी प्रेरक सामग्री का प्रकाशन करना है। 'जिनवाणी' के विशेषांकों की अपनी विशिष्ट परम्परा और पहचान रही है। अब तक 'जिनवाणी' के अनेक विशेषांक प्रकाशित किए जा चुके है। इनमें 'स्वाध्याय' (१९६४), 'सामायिक' (१९६५), 'तप' (१९६६), 'श्रावक धर्म' (१९७०), 'साधक' (१९७१), 'ध्यान' (१९७२), 'जैन संस्कृति और राजस्थान' (१९७५), 'कर्म सिद्धान्त' (१९८४), 'अपरिग्रह' (१९८६), 'आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. श्रद्धाजलि' (१९९१), 'आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. व्यक्तित्व एवं कृतित्व' (१९९२) आदि विशेषाक वहुपठनीय और विशेष चर्चित और लोकप्रिय रहे हैं।

अहिंसा के सैद्धान्तिक विवेचन संवधी सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध है, पर अहिंसा को जीवन में उतारने तथा उसके विभिन्न पक्षों से संबंधित पहलुओं पर व्यावहारिक चिन्तन कम हुआ है। इस विशेषांक में अहिंसा के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रो यथा—समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, शिक्षा, उद्योग, विज्ञान, प्रशासन, पर्यावरण आदि से संबधित रचनात्मक, प्रयोगात्मक चिन्तन भी प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न निबन्धों मे प्रस्तुत विचार लेखको के अपने निजी विचार है, उनसे सम्पादक अथवा सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नही है।

इस विशेषांक के प्रकाशन में 'जिनवाणी' के मानद सम्पादक डॉ नरेन्द्र भानावत, सम्पादक श्रीमती डॉ. शान्ता भानावत एवं पूज्य आचार्यों, मुनियों, साध्वियों, साधकों एव विद्वान् लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। डॉ. नरेन्द्र भानावत राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष है। आप प्रबुद्ध विचारक, चिन्तनशील समीक्षक, कुशल लेखक, संवेदनशील कवि, प्रभावकारी वक्ता एवं सफल संपादक और 'जिनवाणी' पत्रिका के आधार स्तम्भ रहे है। आकाशवाणी एवं दूरदर्शन से आपकी वार्त्ताएं वरावर प्रसारित होती रहती है। आप 'जिनवाणी' के प्रधान संपादक एव 'स्वाध्याय शिक्षा', 'स्वाध्याय सन्देश' तथा कई ग्रन्थों व स्मा-

रिकाओं के संपादक मण्डल के सदस्य है। आप अ. भा जैन विद्वत् परिषद् के महामंत्री एवं आचार्य विनयचन्द ज्ञान भण्डार शोध संस्थान के निदेशक हैं। डॉ भानावत ने अपने संपादन से 'जिनवाणी' को नई दिशा प्रदान की है और इसमे आपका नि·स्वार्थ रूप से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। 'जिनवाणी' पत्रिका साधारण पाठकों से लेकर विश्वविद्यालयों, शोधार्थियों एवं विद्वानों में लोकप्रिय है। प्रति माह सहस्रों पाठक स्वाध्याय के रूप मे इस पत्रिका का उपयोग करते है। यह सब डॉ. भानावत के अथक परिश्रम का ही फल है। सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल परिवार आपका सदैव अत्यन्त कृतज्ञ है।

देश-विदेश के अनेक प्रतिष्ठानों, संस्थानों तथा व्यक्तियों ने अपने विज्ञापन भेजकर 'जिनवाणी' की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ बनाने में उल्लेखनीय योगदान किया है, उसके लिए विज्ञापन दाताओं के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते है। देश-विदेश से विज्ञापन जुटाने में अखिल भारतीय श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के कोषाध्यक्ष, समर्पित कार्यकर्ता एव अनन्य गुरु भक्त श्री सुमेरसिंहजी बोथरा का उल्लेखनीय योगदान रहा है। न्यूयार्क से श्री लाभ-चन्दजी कोठारी, श्री धर्मचन्दजी हीरावत, श्री सुनीलकुमारजी डागा एवं श्री अन्नूजी हीरावत, हांगकांग से श्री प्रवीणचन्दजी लोढ़ा और श्री राजेन्द्र-कुमारजी डागा एव बैंकाक से श्री घीसालालजी बम्ब और अशोककुमारजी छाजेड़ ने विशेष विज्ञापन सामग्री भेजकर और 'जिनवाणी' के आजीवन सदस्य बनाकर तथा देश में अ भा. श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ के कार्याध्यक्ष श्री सायरचन्दजी कांकरिया, मण्डल के उपाध्यक्ष श्री नवरत्नमलजी जैन, कोषाध्यक्ष श्री पदमचन्दजी कोठारी, संयुक्त मन्त्री श्री केसरीचन्दजी नवलखा, जलगांव से अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ के अध्यक्ष युवा रत्न श्री पारसजी जैन और सचिव युवा रत्न श्री दीपचन्दजी जैन, श्री नीलमजी चोरड़िया और बम्बई से श्री विमलचन्दजी हीरावत, अ. भा. श्री जैन रत्न युवक संघ बम्बई शाखा के अध्यक्ष युवा रत्न श्री नरेन्द्रजी हीरावत, श्री प्रेमचन्दजी जैन आदि ने विज्ञापन-सामग्री जुटाकर महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया है। मुद्रण कार्य में सहयोग के लिए जयपुर प्रिण्टर्स व फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स के प्रबन्धकों का पूर्ण सहयोग रहा। मण्डल व 'जिनवाणी' परिवार इन सबका विशेष आभारी है।

आशा है '**स्वर्ण जयन्ती अहिंसा विशेषांक**' के प्रकाशन के माध्यम से अहिंसा संबंधी चिन्तन-मनन व्यापक बनेगा, जीवन-व्यवहार मे इसके प्रयोग की प्रेरणा मिलेगी तथा अहिंसा का सकारात्मक पक्ष अधिक पुष्ट होगा जिससे समाज-सेवा व लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियों को बल मिलेगा।

डॉ० सम्पतसिंह भाण्डावत	**टीकमचन्द हीरावत**	**चैतन्य ढढ्ढा**
अध्यक्ष	कार्याध्यक्ष	मंत्री

सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर

सम्पादकीय

आज विश्व के अनेक देश आतकवाद, असुरक्षा, भय और हिसा की गम्भीर समस्याओ से ग्रस्त है। हमारा देश भी साम्प्रदायिकता, क्षेत्रियता और आतंकवाद जैसी समस्याओं से जूझ रहा है। आज मनुष्य स्वयं मनुष्य के रक्त का प्यासा हो रहा है। प्रतिदिन समाचार पत्रों के पृष्ठ हत्या, डकैती, लूटपाट, आगजनी, बलात्कार आदि समाचारो से भरे रहते है। मानवीय सबधों मे हार्दिकता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी है। सहज मानवीय विश्वास और आस्था के मूल्य खंडित होने लगे है।

ऐसे कठिन एवं विषम समय में अहिसा की उपयोगिता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में 'अहिसा परमोधर्म:' कहा गया है। अहिंसा के व्रत को पालने से अन्य व्रतों की पालना स्वत: ही हो जाती है तथा अन्य व्रतों के पालन से अहिसा स्वत पुष्ट होती चलती है।

अहिसा के दो पक्ष है—निषेधात्मक तथा सकारात्मक। निषेधात्मक अहिसा का तात्पर्य है किसी भी जीव अथवा प्राणी को नहीं मारना। सकारात्मक अहिसा का तात्पर्य है प्राणी मात्र के प्रति करुणा, दया, प्रेम, सहयोग, वात्सल्य और मैत्री भाव रखना। काल के प्रवाह में अहिसा का यह सकारात्मक रूप शनै:-शनै. कमजोर होता चला गया। व्यक्ति हृदयहीन, क्रूर, निर्दयी, स्वार्थलोलुप और लोभी होता चला गया। दूसरो को पीड़ित देख उसका हृदय द्रवीभूत नही वरन् आनन्दित होने लगता है।

अहिसा का सच्चा मर्म है किसी को लेशमात्र भी कष्ट या पीडा नही पहुँचाना। भारतीय चिन्तन का मूल सार है—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात् परस्पर उपकार करते हुए जीना। पारस्परिक सहयोग, भ्रातृभाव और सौहार्द ही सच्ची अहिंसा है।

आज की युवा पीढ़ी की ओर दृष्टिपात कीजिए। इस बात मे सन्देह नही कि आज का युवक अधिक जागरूक, जिज्ञासु, सजग और क्रियाशील है। उसका जीवन पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक तथा आरामदेह हो गया है। ज्ञान-विज्ञान की क्रान्तिकारी प्रगति ने युवाओं के लिए न सिर्फ मनोरंजन के नानाविध साधन जुटा दिए है वरन् उसने ज्ञान के क्षितिज को भी काफी विस्तृत कर दिया है। इतना सब कुछ होने पर भी आज के युवक मे जीवन के प्रति सकारात्मक और रचनात्मक दृष्टि विकसित नही हो पा रही है। आज का युवक सहयोग, प्रेम और अहिंसा के बजाय संघर्ष और हिंसा को साहस और शक्ति का प्रतीक मानने लगा है।

संघर्ष जीवन का पर्याय है। प्रश्न है सघर्ष किसका ? संघर्ष किससे ?

यह संघर्ष हमें दूसरों से नहीं करना है, संघर्ष करना है स्वयं अपने आप से, अपनी कमजोरियों से, अपने विकारों से, प्रगति के मार्ग की नानाविध बाधाओं से। यह संघर्ष ही पुरुषार्थ का पर्याय है। आज के शैक्षिक संस्थानों की स्थिति को देखकर हमें काफी दुःख होता है। संघर्ष के नाम पर युवा पीढ़ी हिंसा, तोड-फोड़, आगजनी तथा हड़ताल जैसी गतिविधियों द्वारा अपनी शक्ति का अपव्यय कर रही है। गुरुजनो के प्रति दुर्व्यवहार आम बात होती जा रही है। युवा पीढ़ी ने प्रकृति और जीवन के सत्य को गहराई से नही समझा है। 'संघर्ष नहीं, सहयोग' विकास का मूल मंत्र है। इस प्राकृतिक सत्य में कोई सन्देह नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव में इन्द्रियों का जो विकास दिखाई देता है, वह परस्पर सहयोग के कारण ही है।

आज युवा पीढी को इस मर्म को समझना होगा कि सभी के प्रति सहयोग, प्यार और सेवा का भाव अहिंसा का सकारात्मक पक्ष है। यह भाव तभी आ सकता है जब व्यक्ति अपने को अपनी देह की सीमा में बांध कर नहीं रखे। अपने 'स्व' का वह विस्तार करता चला जाये। आज हमें स्वयं भी ऐसा वातावरण निर्मित करना होगा जिसमें युवा पीढी को अहिंसा तथा प्रेम के संस्कार मिल सकें।

आज हमारे सामने एक प्रमुख संकट है—उपभोक्तावादी संस्कृति का। समाचार पत्रों तथा रेडियो और विशेपकर दूरदर्शन पर प्रकाशित-प्रसारित व्यावसायिक विज्ञापनों ने एक उपभोक्तावादी जीवन दृष्टि विकसित करदी है। इन विज्ञापनों ने व्यक्ति के भीतर इन्द्रिय-विषयों के सेवन की भूख और मांग को बढ़ा दिया है। आवश्यकताएँ इच्छाएँ बनकर पुकार उठी है। इन इच्छाओ की पूर्ति के साधन सीमित है। नित नवीन इच्छाओं के पनपने और उनकी पूर्ति न होने के कारण युवा पीढ़ी में एक ओर कुठा, निराशा और हीनता की भावना घर करती जा रही है तो दूसरी ओर इनको भुलाने के लिए मादक पदार्थों के सेवन की प्रवृत्ति बढती जा रही है। यही स्थिति हिंसा, आतंक और अपराध वृत्ति को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार महत्त्वाकांक्षा और उपलब्धि के फासले में व्यक्ति अहिंसा के सस्कारों मे नही ढल पाता है।

कोई भी जनतांत्रिक सरकार बिना अहिंसा के आधार पर लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना नही कर सकती। हमारे संविधान के ढांचे के तहत निर्मित कानूनों का प्रमुख आधार अहिंसा ही है। समानता, स्वतन्त्रता, धार्मिक सहिष्णुता, श्रम-कल्याण, शोषण-मुक्ति, वन्य जीव संरक्षण आदि से सम्बन्धित कानूनों के पीछे मूल भावना अहिंसक समाज रचना की ही है। आज हम जिस पर्यावरण सकट के दौर से गुजर रहे है, उसका एक प्रमुख कारण भोगवादी जीवन के प्रति बढती हुई ललक है। हमने अपने निहित स्वार्थों के लिए प्राकृ-

तिक संसाधनों का शोषण करना शुरू कर दिया। इसके कारण प्राकृतिक संतुलन बिगड़ने लगा है।

तीर्थंकरों, आचार्यो, संत-महात्माओं, महापुरुषों ने अहिंसा को परम धर्म बताया है और स्वयं अपने जीवन में उसका आचरण करते हुए, अपने सम्पर्क में आने वाले लोगों को अहिंसा-पालन का उपदेश दिया है। पर व्यवहार में देखा जाता है कि हम अहिंसा की बात तो खूब करते है लेकिन जीवन में उसे उतार नही पाते है, यह हमारे लिए चिन्ता का विषय है।

यह सही है कि धर्म के प्रति हमारी आस्था और भक्ति है। हम समय-समय पर तीर्थंकरों के पंच कल्याणक, महापुरुषों की जयन्ती, पुण्य तिथि आदि मनाते है। विशेष अवसरो पर व्रत, पूजा, उपासना आदि भी करते है, दैनन्दिन धार्मिक क्रिया भी करते है और अनुष्ठान भी मनाते है। पर उन सबके मूल में रही हुई भावनाओं को जीवन-व्यवहार मे चरितार्थ नही कर पाते है।

विचारणीय विषय यह है कि हम महावीर का स्तवन, कीर्तन, गुणगान आदि वाचिक और कायिक स्तर पर ही करते रहेंगे या उनको अपने मन में भी प्रतिष्ठित करेंगे ? महावीर के समय में हिंसा अपनी चरम सीमा पर थी। धर्म के नाम पर यज्ञों में पशु-बलि यहाँ तक कि नरबलि भी दी जाती थी। विचारो में दुराग्रह था और कई मत-मतान्तर थे। तीर्थंकर और प्रति तीर्थंकर के द्वन्द्व में बौद्धिक जगत् जी रहा था। ऐसे समय में महावीर ने आचार के रूप मे अहिंसा और विचार के रूप में अनेकान्त तथा जीवन-शैली के रूप में अपरिग्रह का संदेश दिया, मन, वचन और कर्म की पवित्रता पर बल दिया और विवेक सम्मत सदाचार तथा तप, संयम को धर्म बताया—"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो।"

मनुष्य को कई दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। इसमें प्रमुख दृष्टि है इसके विवेक और संयम भाव की। यही कारण है कि कई दार्शनिक विचारकों ने मनुष्य के कल्याण को सर्वोपरि मानकर अन्य प्राणियों के घात को भी उचित ठहराया है। पर जैन तीर्थंकरो ने प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा और प्रेम भावना को परम धर्म कहा है। भगवान महावीर ने अपने उपदेश मे स्पष्ट कहा है—

> सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला
> अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा
> सव्वेंसि जीवियं पियं —आचारांग

अर्थात् सभी जीवों को सुख प्रिय है, सुख अनुकूल है और दुःख प्रतिकूल है। वध सभी को अप्रिय लगता है। प्राणी मात्र जीवित रहने की कामना वाले है। सबको अपना जीवन प्रिय है।

किसी भी 'प्राणी' की मन, वचन और काया से हिंसा न करना अहिंसा है। केवल काया का घात करना ही हिंसा नही है वरन् किसी को मानसिक रूप से कष्ट पहुँचाना, उसे ताड़ना देना, उसे गुलाम बनाना भी हिंसा है। महावीर ने 'प्राण' की व्यापक परिभाषा करते हुए उसे शक्ति, गुण और स्वभाव के रूप में देखा है। मोटे तौर से प्राण दो प्रकार के कहे गये हैं, द्रव्य प्राण और भाव प्राण। द्रव्य प्राणों मे पाँच इन्द्रियाँ, मन, वचन और कायबल, श्वासोच्छ्‌वास तथा आयु को सम्मिलित किया गया है। भाव प्राणों से तात्पर्य है आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख और निराकुलता आदि शाश्वत गुण। द्रव्य प्राणों का विनाश प्रत्यक्ष दिखाई देता है और इन प्राणों के घात में भाव प्राणों अर्थात् आत्मा के ज्ञानादि गुणों का विनाश भी राग-द्वेष आदि कषायों के कारण अवश्य होता है। ऐसा भी सम्भव हो सकता है कि द्रव्य प्राणों का विनाश न हो पर भावो की कलुषता और विचारों की अशुद्धता के कारण भाव प्राणों का विनाश तो हो ही जाता है। अतः अहिंसा के पालन के लिए भावना की विशुद्धि पर अधिक बल दिया गया है।

प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि हिसा का मूल कारण क्या है ? उत्तर में कहा गया है जब मन, वचन और काया की प्रवृत्ति राग-द्वेष आदि कषाय भावो के साथ जुड़ती है तब हिसा जन्म लेती है। भगवान महावीर ने 'स्थानांग' सूत्र में हिंसा को दण्ड कहा है और इसके पाँच कारण बताये है। अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए प्रयोजनवश हिंसा करना अर्थ दण्ड है, बिना प्रयोजन के कौतूहल आदि के लिए प्राणियों को मारना, क्लेश पहुँचाना, अग भंग करना अनर्थ दण्ड है। आशंका मात्र से किसी की हिसा कर देना हिसा दण्ड है। घात करने के लिए शस्त्र आदि का प्रयोग किसी प्राणी पर किया जाय और उससे किसी अन्य प्राणी का वध हो जाय तो वह अकस्मात दण्ड है। भ्रमवश मित्र को शत्रु और साहूकार को चोर समझकर दण्ड देना दृष्टि विपर्यास दण्ड है।

उक्त कारणो के अतिरिक्त हिसा के क्रोध, मान, माया, लोभ, अज्ञान, प्रमाद, अविवेक, अंधविश्वास, रस लोलुपता, भोग वृत्ति आदि मुख्य कारण है। उनसे वचकर अपनी मन, वचन और काया की प्रवृत्तियो को क्रोध की वजाय क्षमा के साथ, मान की वजाय विनय के साथ, माया की वजाय सरलता के साथ, लोभ की वजाय संतोप के साथ जोड़कर अहिंसा का पालन किया जा सकता है।

जीवन-व्यवहार मे अहिंसा को चरितार्थ करने के लिए महावीर ने सयम और तप पर विशेप वल दिया है। संयम का अर्थ है अपनी वाह्य प्रवृत्तियो पर नियत्रण करना और सावधानीपूर्यक, विवेकपूर्वक सद्‌कार्य करना। महावीर ने इस दृष्टि से पांच समितियो के पालन पर वल दिया है। गमनागमन, उठने-बैठने आदि मे इस प्रकार सावधानी वरतना कि किसी छोटे-वड़े जीव को क्लेश

न हो, पीड़ा न पहुँचे ईर्या समिति है। वाणी से कर्कश, कठोर, क्लेश व भय जनक कथन न कर, हित मित, सत्य और मधुर वचन बोलना भाषा समिति है। भोजन, पानी, वस्त्र, पात्र आदि के ग्रहण और उपयोग में सात्विक और सादी वस्तुओ का प्रयोग करना एषणा समिति है। दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुओ के लेने, रखने, मल-मूत्रादि विसर्जन मे सावधानी रखना, अपने परिवेश और पर्यावरण को शुद्ध बनाये रखना आदान-निक्षेपण समिति है।

समिति के साथ-साथ इन्द्रियों का गोपन-रक्षण करना भी आवश्यक है। इन्द्रिय-निग्रह को गुप्ति कहा गया है। मन, वचन और काया की प्रवृत्ति दुष्ट चिन्तन और अशुभ विचारो में न जावे, इस प्रकार का अनुशासन तप है। आज मानसिक अनुशासन और व्रत-संयम का पक्ष क्षीण होता जा रहा है। भोग विलास और इन्द्रियो के विषय-सेवन का रस बढता जा रहा है। इसलिए अहिंसा को पुष्ट करने वाले सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो की पालना कठिन होती जा रही है।

अतः यह आवश्यक है कि हम "सादा जीवन उच्च विचार" को महत्त्व दे और व्रतों का कठोरतापूर्वक पालन करे।

अहिंसा के पालन में वैचारिक उदारता और शुद्ध भाव व चिन्तन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। हमारे स्वार्थ मे जो सहायक है उन्हीं के प्रति हम मैत्री न रखे वरन् प्राणी मात्र के प्रति हमारा मैत्री भाव हो, जो हमारी प्रशंसा करे उन्ही में हम गुणो को न देखे बल्कि जिन-जिन व्यक्तियों में गुणवत्ता है, उसे महत्त्व दे, सम्मान दे और उनके प्रति प्रमोद भावना व्यक्त करे। जो हमारे कष्टों को दूर करने में मदद करे, उन्ही के प्रति हम संवेदनशील न बने बल्कि जगत् में जितने भी दुःखी प्राणी है, उन सबके दुःखों को दूर करने मे हम करुणाशील बने। अपने ही मत या सिद्धान्त को हम सर्वश्रेष्ठ न माने बल्कि और जितने भी मत, सिद्धान्त और सम्प्रदाय है, उन सबमें रहे हुए मानवीय मूल्यों और सद् विचारों का समान भाव से आदर और सम्मान करे। अपने व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को इतना शक्तिशाली बनाये कि कोई हमे डराधमका न सके और अपने को इतना सयमनिष्ठ और शीलवान बनावे कि हमारे द्वारा किसी के प्रति अन्याय और अत्याचार न हो। अहिसक जीवन की यही कसौटी है।

अहिंसा के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों पर गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत करने की दृष्टि से 'जिनवाणी' के स्वर्ण जयन्ती वर्ष में यह विशेषांक प्रकाशित किया जा रहा है। आचार्य श्री हस्तीमलजी म.सा. ने अहिंसा की साधना में ही अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया था, उन्ही के तपःपूत, निस्पृही, तेजस्वी व्यक्तित्व को यह वन्दनांजलि है।

यह विशेपांक दो खण्डों में विभक्त है। प्रथम खण्ड **'अहिंसा-विचार'** से सम्बन्धित है। इसमे अहिंसा के वैचारिक पक्ष को विश्लेपित करने वाले ३८ निबन्ध संकलित है। इन निबन्धों में जैन-जैनेतर धर्मो में अहिंसा के स्वरूप, सकारात्मक अहिसा के करुणा, वात्सल्य, अनुकम्पा, दया, निर्भयता, उदारता, सेवा, कर्तव्यपरायणता, वीतरागता आदि पहलुओं पर अहिंसक जीवन जीने वाले आचार्यो, मुनियों एवं साध्वियो के अतिरिक्त विशिष्ट विद्वानों के विचारों को सम्मिलित किया गया है।

द्वितीय खण्ड **'अहिंसा-व्यवहार'** से सम्बन्धित है। इस खण्ड में ४१ निवन्ध संकलित है। इन निबन्धों में हिसा के कारण और प्रयोजन, अहिंसा व्रत के अतिचार, अहिसा का अभ्यास, अहिसा का प्रशिक्षण, अहिसक क्रान्ति की प्रक्रिया, विज्ञान और अहिंसा, अहिसा और पर्यावरण, अहिसक अर्थव्यवस्था, उद्योग-व्यवसाय, प्रशासन, शिक्षा, साहित्य, पशु-संरक्षण, मांसाहार-निषेध, अहिसा और आतंकवाद, अहिसा के प्रचार-प्रसार में जनसंचार माध्यमों की भूमिका, विश्वशांति के संदर्भ मे अहिसा-प्रयोग जैसे विषयों पर अधिकृत विद्वानो के विचार समाविष्ट किये गये है। कतिपय रचनाएँ सम्बद्ध लेखकों की कृतियों से संकलित की गई है अत: उन लेखकों एवं प्रकाशकों के प्रति विशेप आभार।

स्थान-स्थान पर अहिंसा से सम्बन्धित बोध-कथा, प्रसंग, सूक्ति, कविता के रूप में प्रेरक और रोचक सामग्री प्रस्तुत की गयी है। परिशिष्ट मे हिंसा-निवारण और शाकाहार-प्रचार में कार्यरत प्रमुख संस्थाओं की सूची दी गयी है ताकि अहिसा के क्षेत्र में कार्यरत समाजसेवी विभिन्न संस्थाओं से जुड़कर अहिसा प्रचार-प्रसार से सम्बन्धित गतिविधियों को सक्रिय वना सकें।

जिन विद्वान् आचार्यो, मुनियो व लेखको ने अपनी रचनाएँ भेजकर इस ग्रन्थ को सुन्दर रूप मे प्रस्तुत करने में हमारी सहायता की है, उनके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते है। जैन धर्म-दर्शन के विद्वान् और अनुभवी साधक श्री कन्हैयालाल लोढा, अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान, बजाज नगर, जयपुर का सामग्री-संकलन और चयन मे विशेष सहयोग मिला है, अत: हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते है। प्रूफ-सशोधन मे चि. सजीव भानावत के योगदान के लिए क्या कहूँ ? सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल के पदाधिकारियो एवं विज्ञापनदाताओ के हम विशेप आभारी है जिनके सद्-प्रयत्नो से हम वृहद्काय विशेपांक के प्रकाशन की व्यवस्था सम्भव हो सकी।

आशा है, इस विशेपाक का अध्ययन-मनन-चिंतन अहिंसा भाव को पुष्ट करने एवं उसे जीवन में उतारने और समाज-सेवा तथा लोक-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होने मे प्रेरक सिद्ध होगा।

—डॉ० नरेन्द्र भानावत

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड

अहिंसा–व्यवहार

□ बोधकथा / प्रसंग / सूक्ति / कविता आदि □

□ परिशिष्ट □

प्रथम खण्ड

अहिंसा-विचार

अहिंसा का आलोक*

□ स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा.

अनन्तकाल से संसार का प्राणी कर्मपाश में बंधा हुआ है। जिससे वह अपने ज्ञानादि गुणों का पूर्ण प्रकाश नही फैला सकता। कर्म बन्ध की अनादिता से प्रश्न होता है कि जब कर्म अनादि है तो फिर मनुष्य की मुक्ति कैसे हो?

यहाँ समझने की बात है कि सम्बन्ध दो प्रकार के होते है—एक संयोग सम्बन्ध और दूसरा समवाय सम्बन्ध। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ सम्बन्ध अथवा आत्मा का कर्म के साथ सम्बन्ध, यह संयोग सम्बन्ध है और आत्मा का ज्ञान आदि निज गुण के साथ सम्बन्ध समवाय है, इसमे से पहले का सम्बन्ध अनादि होकर भी सान्त है, जबकि दूसरे का अनादि अनन्त सम्बन्ध है, न उसका सयोग है और न वियोग।

किसी को यदि योग्य निमित्त मिल जाय और उसमें उचित पुरुषार्थ हो तो आत्मा के साथ जो कर्म का सम्बन्ध है, उसका वियोग भी कर सकता है। जैसे सुवर्ण और धूलि का सम्बन्ध अनादि से होने पर भी रासायनिक प्रयोग से सोना शुद्ध होता है। मिट्टी में मिला हुआ भी जल शुद्ध किया जाता है वैसे ही आगन्तुक कारणों को रोक कर कर्म का भी अन्त किया जाता है। कर्म भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि और स्थिति की अपेक्षा सादि है। जैसे छने जल के पात्र को ढंक दिया जाय तो नया मैल नही आता फिर वाष्प नलिका में फिल्टर कर उसे पूर्ण शुद्ध कर लिया जाता है। ऐसे ही व्रतों के द्वारा पापों का आगमन रोक कर तप एव ध्यान से कर्म-मल का सर्वथा अन्त भी कर लिया जाता है।

कर्म के अणु संसार में चारो ओर भरे पड़े है, जब आत्मा उन्हे ग्रहण करती है तो वे उस-उस परिणति के अनुकूल फल देते है, जैसे भावावेश मे आकर कोई भंग पी लेता है तो उसके दिल-दिमाग सब मस्ती से आवृत्त होकर कुछ और ही रूप हो जाते हैं। धीरे-धीरे उपचारों से वह प्रभाव मिटकर मन स्वस्थ होता है। जैसे भंग के परमाणु स्वय के द्वारा ग्रहण करने पर ही दु:ख देते है, वैसे कर्म परमाणु भी अपने द्वारा ग्रहण किये जाने पर ही दु:खदायी होते है।

कर्म वन्ध से बचने का उपाय साधना है जो दो प्रकार की है, एक साधु मार्ग की साधना और दूसरी गृहस्थ धर्म साधना। दोनो मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पाँच वतों के पालने की व्यवस्था की गई है। साधु-मार्ग की साधना महा कठोर और पूर्ण त्याग की है किन्तु गृहस्थ की धर्म साधना सरल है। गृहस्थ के व्रत मे मर्यादा होनी है। आनन्द की साधना भी देश साधना

* आचार्य श्री के प्रवचन से सम्पादित।

है। उसने श्रावक धर्म को स्वीकार करते हुए सर्व प्रथम स्थूल हिंसा का त्याग किया जो साधना पथ की सबसे बड़ी बाधा है।

संसार में जीवन-निर्वाह करते हुए शरीरधारी के सम्मुख हिंसा के अवसर आते रहते है। ऐसी स्थिति में अहिंसा व्रत का निर्वाह कैसे किया जाय ? इस प्रकार आनन्द के द्वारा पूछे जाने पर प्रभु ने बतलाया कि हिंसा के दो भेद है :—एक स्थूल हिंसा और दूसरी सूक्ष्म हिंसा। सूक्ष्म हिंसा के अन्तर्गत निम्न पाँच बातें आती है—१. पृथ्वी काय के जीवों की हिंसा, २. जलीय जीवों की हिंसा, ३ अग्नि के जीवों की हिंसा, ४. वायु के जीवों की हिंसा, ५ वनस्पति के जीवों की हिंसा। गृहस्थ के लिए दैनिक व्यवहार में इनका सर्वथा त्याग सम्भव नहीं। फिर भी विवेकी को इसके लिए ध्यान रखना चाहिए कि यह सूक्ष्म हिंसा है। किन्तु दूसरी स्थूल हिंसा जिसमें एक कीट से लेकर पशु, पक्षी और मनुष्य तक सारे चर प्राणी आ जाते है, श्रावक को स्थूल रूप में चलने-फिरने वाले जीव जन्तुओं की जान-बूझकर दुर्भाव से हिंसा नहीं करनी चाहिए। आनन्द ने ऐसी प्रतिज्ञा की थी।

साधु या व्रती से पाप हो सकता है परन्तु उसका संकल्प है कि जान-बूझकर पाप नहीं करना। पाप का हो जाना और पाप करना ये दो भिन्न-भिन्न बाते है। करने में मन की प्रेरणा होती है और होने में मात्र काय-चेष्टा। यदि हमारे व्यवहार से किसी के हृदय पर ठेस लग गई और उससे क्षमा माँगकर परिशोधन कर लिया तो वह शान्त हो जायगा और यदि अनायास ही किसी को पीड़ा पहुँच जाय तो यह जान-बूझकर पीडा न पहुँचाने के कारण क्षम्य है किन्तु कंकर की चोट भले ही कम हो, पर जान-बूझकर मारने वाले को आप कड़ी दृष्टि से देखते है, किन्तु अनजाने मिलने वाली पीड़ा को क्षमा की नजरों से देखते हैं।

हर प्राणी को अपनी जान प्यारी होती है, अतएव हिंसा से बचना हर मानव का परम पुनीत कर्तव्य है। कवि ने ठीक ही कहा है—

प्रथम तो प्रिय धन सब ही को, द्रव्य से सुत लागे नीको।
पुत्र से वल्लभ तन जानो, अग मे अधिक नयन मानो॥
नयन आदि सब इन्द्रियन, अधिक पियारे प्राण।
या कारण कोई मत करो, पर प्राणन की हान॥
बुरी है जग में बेईमानी, दया पालो बुधजन प्राणी।
स्वर्ग अपवर्ग सौख्यदानी॥

जीव को अपना जीवन सबसे प्यारा होता है। अपनी जान के आगे वह किसी की भी परवाह नही करता।

एक जगह की बात है कि एक सेठजी को चौथेपन में पुण्य योग से एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ। पुत्र का बड़े ठाठ से लालन-पालन हुआ। एक दिन सेठ

कही बाहर गए हुए थे कि उनके घर में अचानक आग लग गई और बच्चा घर के भीतर पालने में ही रह गया। घर के सब लोग जल्दी में बाहर हो गये। बच्चे की याद आयी तब तक तो घर में चारों ओर आग फैल गई थी और जोरों की ज्वाला निकल रही थी।

जब सेठ को पता चला तो उसने, बच्चे को बचाने के लिए बहुत धन देने का निर्णय किया, किन्तु धन के लिए जान पर खेलने वाला व्यक्ति उस जगह नही मिल सका। सेठ बच्चे के लिए छाती पीट-पीटकर रो रहा था। सेठ की व्याकुलता देखकर किसी व्यक्ति ने कहा कि सेठजी! स्वयं ही भीतर जाकर बच्चे को क्यों नही निकाल लाते हो? यह सुनकर सेठजी बोले कि यदि बचाने के बदले मैं स्वयं जल जाऊँ तो…! यदि मैं ही नहीं रहा तो पुत्र-मुख दर्शन का सुख कौन देखेगा? नीति मे भी तो कहा है—

आत्मानं सततं रक्षेत, दारैरपि धनैरपि

इस दृष्टान्त से तात्पर्य यह है कि सम्पदा और पुत्र आदि से, हर एक मनुष्य को अपना जीवन अधिक प्यारा है। अतः आत्मवत् मानकर किसी के भी प्राण को खतरे में डालना महान् घातक व बड़ा पातक है।

हिंसा करने वाले मनुष्य को हमेशा चिन्तित रहना पडता है। सताये गये व्यक्ति से प्रतिकार पाने की भावना भी मन को कचोटती रहती है। क्योंकि हिंसा प्रति-हिंसा को उत्पन्न करती है, जो मनुष्य के लिए चिन्ता का कारण है। आप जानते है, एक साधारण व्यक्ति कहीं भी स्वतन्त्रतापूर्वक भ्रमण कर सकता है। उसे किसी भी बात की चिन्ता नही होगी, किन्तु देश के प्रधानमन्त्री या बड़े-बड़े पदाधिकारी अकेले नही घूम सकते। उनके मन में शंका लगी रहती है, मगर जिसके मन मे अहिंसा की भावना है, वह अकेले भी जगत् में घूम-फिर सकता है। गांधीजी हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय में भी नोआखली आदि पाकिस्तानी क्षेत्रों मे घूम गये। कारण स्पष्ट है कि उनके मन में अहिंसा की पवित्र भावना थी, अतः वे सर्वत्र निर्भय रहते थे।

आचार्य पातंजलि ने योग दर्शन में साधना के मार्ग में यम का लक्षण बतलाते हुए कहा है—'अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः।' फिर अहिंसा की महिमा बताते हुए आप कहते हैं कि जिसके मन में अहिंसा की प्रतिष्ठा हुई हो, उसका किसी से वैर-विरोध नही रहता और भयंकर प्राणी भी उसके सामने वैर-भाव भूल जाते हैं जैसे कि—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" योग।

साधु वन-भूमि में हिंसक पशुओं से घिर कर तपस्या करते हैं। इन साधु-संतो के पास अहिंसा का ही बल है। पूर्ण अहिंसक के शरीर पर सर्प, बिच्छू

आदि विषैले जीव-जन्तु भी अपना विष नहीं लगाते। धार्मिक साधना
के द्वारा ही लोगों का दिल जीता जा सकता है। गृहस्थ भी यदि अ
व्रत धारण करे तो उसका कौटुम्बिक जीवन मधुर बन सकता है।

अहिंसा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। शरीर से नही मारने
अहिसा सीमित नही है। मत्र द्वारा दूसरे को हानि पहुँचाना, जादू-टोन
कटु वाणी का प्रहार कर ठेस पहुँचाना ये सब भी हिसा के ही रूप है।
किसी की कटु वाणी या छीटाकशी से उत्तेजित होकर आत्म-हत्या क
आत्म-घाती के साथ-साथ छीटाकशी करने वाला भी पातकी होगा
खूब ध्यानपूर्वक हिंसा के पाप से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। आनन्द
ने प्रभु से कहा कि मै ऐसी स्थूल हिसा स्वयं नही करूँगा और न कराउ
मन, वाणी एवं शरीर तीनों से स्थूल हिंसा का त्याग करता हूँ।

संयमित जीवन का अर्थ साधना को ऊपर बढा ले जाना है।
साधना ऊपर बढ़ाने के बजाय अधोगामिनी हो, उसे साधना कहना साध
के महत्त्व को घटाना है। अब जरा पूर्ण साधक की जीवन झांकी प्रस्
है—भद्रबाहु। वे पूर्ण त्यागी थे। उनकी सत्यवादिता के चमत्कार से अ
वराहमिहिर के हृदय मे आकुलता भर गई और वह प्रतिशोध के लिए
हृदय हो गया, आर्त्तध्यान मे प्राण त्याग कर वह व्यन्तर देव बना और
की भावना से पाटलिपुत्र के संघ मे प्लेग, हैजा का जन सहारक रो
लगा। जब भद्रबाहु के पास सघ ने आकर रक्षा की प्रार्थना की तब भ
शान्ति के लिए एक स्तोत्र की रचना की और कहा कि इसके पाठ से क
नही रहेगा। यद्यपि मंत्र-यत्र आदि विद्या की जानकारी या प्रयोग गृ
बताना जैन साधुओं के लिए वर्जित है, किन्तु आगम व्यवहारी होने से
ने इसमें सघ रक्षा के साथ शासन की प्रभावना देखी। अत: 'उवसग्गह
की रचना कर दी जो आज भी अपने मंगल रूप मे विद्यमान् है।

पाप मानव के सत्यानाश का कारण बनता है, पाप से संताप
तथा धर्म आत्म-सुख का निमित्त है। देशविरति आनन्द का नमूना
त्याग में महामुनि भद्रबाहु का आदर्श हम सबके सामने है। अपने स
अनुसार हमे साधना का रूप ग्रहण करना है। वीतराग की प्रेरणाम
का लाभ लेकर स्वयं साधना करने से लौकिक और पारलौकिक दोनों
कल्याण होगा और आत्मिक शान्ति प्राप्त होगी।

• जो व्यक्ति जरूरतमंदो के साथ बांटकर रोटी खाता है और

अहिंसा, दया और करुणा की धारा जीवन में प्रवाहित हो![*]

□ आचार्य श्री हीराचन्द्रजी म. सा.

जीवन निर्माण हेतु ज्ञान और संस्कार दोनों की आवश्यकता है। बिना जाने कल्याण का मार्ग क्या है, पाप का मार्ग क्या है, नही कहा जा सकता। तीर्थंकर भगवान महावीर की वाणी मे :—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभय पि जाणइ सोच्चा, ज सेयं तं समायरे ।। दश. अ. ४ गाथा ११

जीवन का सार क्या ? जानकर क्या करना चाहिए ? जाना हुआ व्यक्ति क्या करता है ? आज इस पर कुछ चिन्तन करें।

एयं खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ किचणं ।
अहिसा समयं चेव, एतावत वियाणिया ।। सुय. १/४

जान लेने का, श्रवण कर लेने का और हिताहित के मार्ग के चिन्तन से निर्णायक भूमिका प्राप्त कर लेने का मात्र कारण अहिसा है। ज्ञानी दूसरों को पीडा नही देना। ज्ञानी अपने समान सबको समझता है। ज्ञानी आत्मभाव मे विचरण करता है। यही सिद्धान्त है, यही विज्ञान है, यही धर्म का सार है।

दया है तो धर्म है :

भारतीय संस्कृति में व्यवहार अथवा परमार्थ के जितने भी माप-तोल है, जितने भी निर्णय और निश्चय करने वाले सिद्धान्त है, वे सब दया पर आधारित है। सिद्धान्त की सूक्तियो मे ऐसे कई उदाहरण मिलते है :—

तुगं न मंदराओ, आगासओ विसालय नत्थि ।
जह तह जयम्मिजाणसु, धम्ममहिंसा समं नत्थि ।।

जैसे पर्वतों में सुमेरु से बढकर कोई नही, विशालता मे आकाश से बढ़कर कोई विस्तृत नही, वैसे ही सम्पूर्ण धर्मो मे अहिसा से बढ़कर कोई धर्म नही। यहाँ का आहार—पेय, वस्त्र-परिधान, रहन-सहन, आजीविका चलाने के साधन, जीवन के जितने भी व्यवहार है, सव दया से तोले जा रहे है। खाना कौनसा ? जिसमें कम से कम हिसा हो। मांसाहार का क्यो निषेध किया गया ? मांसाहार मानव का खाद्य नही, आहार नही। मांसाहार से जीवन की मूलभूत करुणा भावना समाप्त होती है। आदमी नृंशस वनता है। जिसके घट मे दया नही तो कुछ भी नहीं। उर्दू के शायर ने कहा है—

[*] १० मार्च, १९९३ को महावीर भवन, लाखन कोटडी, अजमेर मे दिये गये प्रवचन का सम्पादित अंश।

अगर तेरे दिल में दया ही नहीं,
समझ ले तुझे दिल मिला ही नहीं।

दया है तो धर्म है। दया के माहात्म्य को समझने के लिए प्रभु महावीर ने 'दशवैकालिक सूत्र' में कहा :—

तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा णिउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो॥ द. अ. ६ गाथा ६

धर्म के अनेक अँग है, मार्ग है, तथ्य है। उन सब में पहला स्थान अहिंसा का है। सम्पूर्ण जीवों को पीडा से रहित बनाने वाली अहिंसा है। एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक सम्पूर्ण जीवों मे जीने की इच्छा है, मरना कोई नही चाहता। नरक के नारकियों से लेकर नरेन्द्र-देवेन्द्र तक भी जीने की चाहना करने वाले है। जो जीना चाहता है, वह दूसरों को जिलाना चाहता है। जो मारता है, उसे मरना पड़ता है। काटता है, उसे कटना पड़ता है। दु:ख देता है, उसे दु:ख भोगना पड़ता है।

अहिंसा सब पापों का परिमार्जन है :

अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नही। अहिंसा सब पापों का परिमार्जन है। हिंसा का कोई परिमार्जन नही। एक व्यक्ति झूठ बोलता है, कल उसका मन शांत हो सकता है, पश्चात्ताप करके झूठ से ग्लानि हो जाय और वह सत्य-वादी भी बन सकता है। मतलब झूठ बोलने वाला अपने पाप धो सकता है। चोरी के पाप मे लिप्त व्यक्ति की भावना दण्ड से बदल सकती है। रोहिणेय जैसा चोर जिसने सैकड़ों का माल हड़पा लेकिन ज्योंही उसे चोरी से घृणा हुई, चोरी का पाप छूट गया। झूठ-चोरी के पाप धोये जा सकते है, अहंकार का पाप साफ किया जा सकता है पर जिसका जीवन हरण कर लिया, क्या आप उसके प्राणों को लौटा सकते है? जीवन से रहित किये जीव को फिर से जीवन-दान नही दे सकते। आप तो छद्मस्थ हैं। अनन्त शक्तिमान वीतराग भगवन्त भी प्राण रहित को प्राण नही दे सकते। आज एक व्यक्ति का दिल दूसरे व्यक्ति में लगाया जा सकता है, किसी की आँख दूसरे व्यक्ति की आँख में बैठाई जा सकती है, अंगों का परिवर्तन तो हो सकता है लेकिन प्राणी को प्राण रहित करने के बाद उसमे फिर से प्राण नही दिये जा सकते। इसलिए सबसे बड़ा पाप हिंसा है। यह बात आपके समझ में आई या नही? मैं कह रहा हूँ इससे नही, आपके समझ में आनी चाहिए।

अनेक शास्त्रों का सार कह रहा हूँ—तथ्यपूर्ण कह रहा हूँ। आपकी माता आपके जन्म पर आप पर दया नही करती और इधर जन्म हुआ उधर गला घोंट दिया जाता तो सामायिक कौन करता? शील कौन पालता? आप प्राणयुक्त हैं इसीलिए आप यहाँ बैठे है, व्याख्यान श्रवण कर रहे हैं, सामायिक

हो रही है। दया नही करने वाला सम्पूर्ण पापों को करता है। चोरी करने वाला एक पाप करता है, झूठ बोलने वाला एक पाप करता है पर जो हिंसा करता है वह सम्पूर्ण पाप करता है। दया है तो जीवन है। जीवन है तो धर्म है।

आज अहिंसा धर्म कितना उपेक्षित है ?

अब, दूसरी तरह से चिन्तन करे। अहिंसा को परमोधर्म कहा। अहिंसा धर्म का मूल है, आज हम इस मूल धर्म को कितना उपेक्षित कर रहे है ? दूसरे शब्दों में आप धर्म से कितने दूर हटते जा रहे है ? हिंसा कितनी व कैसी अनर्थकारी है, आप चिन्तन करेंगे तो रोंगटे खडे हो जायेंगे। खाना पहले भी खाया जाता था, आज भी खाया जाता है लेकिन पहले मन उतना काला नहीं था। आज क्या-क्या बनावट करके डिजाइनो मे सब्जियाँ काटी जा रही हैं। खाने में एक ही चीज चार दिन लगातार आ जाय तो माथा ठनक जायगा।

आज खान-पान मे हिंसा बढी है। जैननामधारी मांसाहारी बन रहे है। जैसे केक, बिस्कुट, खाद्य पदार्थ, दवाओं में कैसे हिंसाकारी पदार्थ काम में लिये जा रहे है, चिन्तन करें। जो पदार्थ तामसी कहलाते थे, खाने योग्य नहीं माने जाते थे, उनको आज सामूहिक रूप मे काम मे लिया जा रहा है। आज शादी हो-विवाह हो या पार्टियाँ, आप मे से कई एक लहसुन-प्याज तक काम में लेते है। इसे क्या कहा जाय ? क्या यह दया का रूप हो सकता है ? क्या आपके मन में दया माता की कोई भावना है ? व्याख्यान के अन्त मे 'दया सुखां री बेलड़ी' बोलने वाले क्या बोल रहे है, इस पर चिन्तन करने की आवश्यकता है।

कल तक सूती या ऊनी कपड़े पहनने वाले आपके बच्चे आज चमड़े की जर्सी किस शान से पहनते है ? चमड़े की जर्सी कैसे बनती है आपने गंभीरता से सोचा ही नहीं। पहले बहिन बाजार से निकलती थी तब उसमें शर्म के भाव सहज दिखलाई पड़ते थे परन्तु आज बहिने शान से चमड़े का मनी बैग लटका कर चलती है। वह चमडा कैसे प्राप्त होता है, उसका उन्हे ध्यान तक नही। आप पुराने लोग तो फिर भी कपडे की थैली हाथ मे लेकर निकल जायेंगे परन्तु आपके बच्चे थैली के बजाय बैग रखना पसन्द करते है, क्यो ? आप थोड़ा चिन्तन तो करे कि चमड़े के बैग कैसे बनते है ? जिन्दे हालात में चमड़ी उतारना तो दूर, थोड़ा गर्म पानी डाल दे तो क्या महसूस होता है ? जब आपको गर्म पानी डालना भी सुखदायी माफिक नहीं होता तो कल्पना कीजिए जिन्दे जानवरों पर गर्म-गर्म पानी डालकर चमड़ी उतारी जाती है और उस चमड़ी से पर्स-बैग बनाये जाते है। क्या यह जीव दया में धर्म मानने वालों के काम में लेने योग्य है ? आपके सामने डॉक्टर इंजेक्शन लेकर खड़ा हो जाये तो कइयों को पसीना आ जाता है। जब एक सुई नही देखी जाती तो ऐसे करुणाशील लोग शान से चमड़े के बैग-पर्स कैसे काम में लेते है ? उन्हें तो सोचना चाहिए

कि इस तरह की सामग्री का उपयोग हिसा को बढ़ावा देना है, उसमे भागीदारी डालना है, दु:ख को निमन्त्रण देना है।

आहार व्यवहार की क्या वात कहूँ ! औषधियों में भी कैसी-कैसी वस्तुएँ मिलायी जा रही है ? हड्डी, मास, चमडी, खून क्या-क्या उपयोग में नही आ रहे है ? आप सोचने बैठेगे तो रोगटे खड़े हो जायेगे।

अनर्थकारी हिंसा से बचें :

महान् पुरुषों का उपदेश है—मानव ! जो दे नही सकता, उसको ले भी मत। तू धन दे सकता है, सामान दे सकता है, बेटा-बेटी दे सकता है पर प्राणी को प्राण रहित करने के बाद पुन: प्राण नही दे सकता, इसलिए किसी जीव के प्राण हरण का तुझे क्या अधिकार है ? अनर्थकारी अनावश्यक भयंकर पाप कर्म क्यों कर रहा है ?

जीवन चलाने के लिए हिसा होती है, करनी भी पड़ती है पर अनर्थ की हिसाएँ हो रही है उससे वचना चाहिये। आप गृहस्थ है तो मकान की जरूरत हो सकती है, श्रावक उसमे भी उपयोग रखे तो अल्पारभी रह सकता है परन्तु आज अनर्थ की हिसा बढ रही है। बगला बनायेगे तो वगीचा भी बना लेगे। अनर्थकारी हिंसा के एक-दो नही, कई-कई नाम गिनाये जा सकते है। मनोरंजन के लिए हिसा करते विचार नही होता। आज मनोरंजन के लिए मेंडे लडाये जाते है, मुर्गे लड़ाये जाते है, घोड़े दौड़ाये जाते है। घोड़ों की रेसे होती है। कौनसा घोडा फर्स्ट आता है, इसके लिए उन्हे मार-पीटकर तेज दौड़ाया जाता है। यह भी हिंसा में सम्मिलित है, अनर्थकारी है।

कई हिसाएँ रूढ़ियो के कारण होती है। आपने सुन रखा होगा—मिश्र के वादशाह का जब देहावसान होता है तो उसकी रानियो को जिन्दा ही उनके साथ दफनाया जाता है। अमुक मात्रा मे घोड़े, हाथी, दासी-दासियां दफना दिये जाते और यह माना जाता है कि वे उन्हे परभव मे आगे मिल जाएँगे। आपके घर मे भी कोई बच्चा मर गया तो आप भी दूसरे दिन दूध का प्याला लेकर जाते है। जिन्दो को दूध मिले न भी मिले, पर मरने के बाद दूध का प्याला रखने की रूढ़ि है।

कुरीतियो के कारण भी हिंसाएँ हो रही है। धन के लिए क्या-क्या नही होता है ? बचपन मे आँखे निकाल कर वेची जा रही है, बच्चों के अंग-प्रत्यंग बेचे जाते है, बच्चो से भीख मगवाई जा रही है। आज पैसो की प्राप्ति के लिए कैसे-कैसे तरीके अपनाये जा रहे है, आप जानते है।

मैंने सुना है कि आन्ध्र प्रदेश मे एक कत्लखाना जैन बन्धु के द्वारा खोला जा रहा है। खुद के पास लाखो की सम्पदा है पर धन की लालसा के लिए कत्लखाना खुलवाने की बात पर विचार आता है कि ऐसा धन इकट्ठा करके

कहाँ ले जायगा ? एक तरफ ऐसे भी लोग है जो एक-एक जानवर को छुड़ाते है, दूसरी तरफ ऐसे भी मिल सकते है जो कत्लखाना खुलवाने मे भागीदार बनते है। आप एक वर्ष में जितने जानवर बचायेगे, कत्लखाने में एक दिन में उससे कई गुणा प्राण रहित हो जायेगे। आपको अहिंसा का स्वरूप समझना है तो आप इन सब बातो पर गंभीरता से चिन्तन करें।

हिंसा के कैसे-कैसे रूप :

आज हिंसा के कैसे-कैसे रूप है, साधारण तौर पर ध्यान में ही नही आते। मैने कहीं पढा है कि ब्रिटेन में चिकित्सा सम्बन्धी खोज करने के लिए पचास लाख पशुओं को काटा जाता है। किसी जानवर को काटने पर कैसी वेदना होती है इसको समझने के लिए आप अपने पर से विचार करें। आप अपनी अगुली पर वार करके देखे। आप अपनी अंगुली को काट नही सकते पर कभी तवे पर रोटी डालते समय अंगुली तवे से छू जाय तो भी वेदना होती है, इसका आपको अनुभव होगा। आपको शायद अनुभव हो या न भी हो पर बहिनों को अनुभव है कि अनजाने में तवे से अंगुली छू जाने पर पीड़ा होती है। जब मात्र छू जाने पर वेदना हो सकती है तो काटने पर कितनी वेदना होती होगी ?

आज कुत्तों पर प्रयोग होते है, बिल्लियों पर प्रयोग होते है। खरगोशों के कान में तेजाब डाला जाता है जिससे कान फूलता है, खरगोश भागता है, खरगोश के कान से निकले खून की नेलपालिश बनती है। ऐसी हिंसाकारी वस्तुओ के प्रयोग मे आपको कितना संकोच है, जरा अपने से पूछे ?

आज किसे कहें, कौन सुने ? आप में से कइयों को हमारे पास आने की फुर्सत नही और कुछ लोग सतों के पास आकर सुन भी ले तो सोचते है हमें क्या ? किसी के बच्चा न हो तो वह कहाँ-कहाँ नही जाता। डॉक्टर के पास जायगा, भैरू-भवानी की मनौती करेगा और कई तो नासमझ महाराज तक के पास यह कहने उपस्थित हो जायेगे कि बावजी ! बच्चा नहीं हुआ। बच्चा नही होने पर तो स्थान-स्थान पर जायेगे, मनौतिया मनायेगे और बच्चा हो जाय तो उसे १० मिनट सस्कार देने की, दया के स्वरूप को समझाने की, किसी को दु:ख नही देने की बात कहने की फुर्सत नही।

कई ऐसे भी हैं जो ताश-चौपड़ में टाइम गंवा देगे, इधर-उधर की बातो मे समय बर्बाद कर देगे लेकिन अपने बच्चो को जिन्हे संस्कार की जरूरत है, उन्हे संभालने की आप में अधिकांश को फुर्सत नही। जरूरत है बच्चो मे संस्कार देने की। आपने संस्कार नही दिये तो हिंसा का यह रूप बन्द नही होगा। मैं कह रहा था कि फैशन के कारण हिंसा बढ़ रही है, मनोरंजन के कारण हिंसा बढ रही है वैसे ही राजनैतिक कारणो से भी हिंसा बढ़ रही है।

राजनीति मे हिंसा की बात कहूँ—एक-एक दिन में लाखो मौत के घाट

उतार दिये गये। आज निर्दोष लोगों को कैसे सताया जा रहा है, किस प्रकार यातनाएँ दी जा रही है, कहें तो दिल कांप उठे आपका।

मन में दया नहीं तो कुछ भी नहीं :

धर्म का मूल दया है। कबीर ने कहा—

भावे जाओ द्वारका, भावे जावो गया।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सबमें मोरी दया।।

चाहे द्वारिका जाओ, चाहे मथुरा, पुष्कर जाओ या गिरनार, मन में दया नही तो सब तीर्थो में जाकर भी दु.ख से बचोगे नहीं।

कहते है—पढ़ लिख गया, डिग्री प्राप्त करली, पी-एच. डी. करली, करोड़ो पद कंठस्थ कर लिये, बोलने का कहे तो घण्टों बोल सकता है किन्तु तेरे मन में दया नहीं तो कुछ भी नही। बिना कारण दूसरों को दु.ख नहीं देना चाहिये, यह नही सीखा तो कुछ नही सीखा।

आपने अहिसा परमोधर्म को जान लिया, जीवन मे करुणा और दया का आचरण आ गया तो मानिये स्वर्ग के दरवाजे खुलते देर नहीं लगेगी। जिसके मन मे दया है, वह झूठ बोलते डरेगा। मन में करुणा है तो वह किसी को सतायेगा नही, दुःख नहीं पहुँचायेगा। अहिंसा को जीवन में उतारने वाला क्रोध नही करेगा, मान-माया-लोभ उसके पास नही फटकेंगे, वह पापों से वचा रह सकेगा। जिसके घट मे दया माता का निवास है उसके लिये वहुत कुछ कहा जा सकता है। ज्यादा कहने का अभी समय नही है, आप यत्‌किंचित्‌ भी दया की आराधना कर अनर्थकारी आवश्यक हिंसा के पाप से वचने का प्रयास करेगे तो वीतराग वाणी के श्रवण का सही लाभ प्राप्त कर सकेंगे। 'आचारांग' सूत्र मे जिनेश्वर भगवन्तों के वचन मिलते है कि यह धर्म शाश्वत है, नित्य है, ध्रुव है, अनादिकालीन है। संसार रहेगा तब तक अहिंसा धर्म रहेगा। दूसरे-दूसरे धर्मो का लोप हो जायेगा। भरत-एरावत्त की दृष्टि से पंचम काल समाप्त हो जाने के वाद एक प्रहर रहेगा, छट्ठा आरा शुरू होगा तव व्रत रूप धर्म नही रहेगा, न सत्य पालन की प्रतिज्ञा रहेगी न अणुव्रती का संकल्प रहेगा तथापि दया रहेगी।

संसार के जितने भी जीव है वे सब सुख-शांति की इच्छा रखने वाले है। दुःख, वेदना, कष्ट, पीडा कोई नही चाहता। एक धर्म सब को इष्ट है, वह है अहिसा। अहिसा सब धर्मो का सार है। 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र के प्रथम संवर द्वार मे तीर्थंकर प्रभु महावीर ने अहिसा भगवती का गुणगान करते हुए कहा है—यह अहिसा भगवती डरे प्राणियो को अभय देने वाली है,

शरण देने वाली है । चोरी की बुरी आदत के कारण चोर पकडा गया, उसे महाराजा ने फांसी की सजा सुनाई । महाराजा सुनवाई कर रहे थे, उस समय महाराजा की चारों रानियाँ उसे देख रही थी । शरीर से सुन्दर, कांतिवाला युवक था । मौत का नाम सुनकर काँप उठा । उधर रक्षण की भावना से रानी को दया आ गई । रानी ने महाराजा से कहा—यह डरा हुआ है, इसे एक दिन के लिये मुझे दे दिया जाय । महाराजा ने एक दिन के लिये चोर को रानी के सुपुर्द कर दिया ।

चोर को नहलाया गया, अच्छे वस्त्र पहनाये गये, भोग-उपभोग की सामग्री दी गई पर चोर के भीतर में मरने का भय था, उसे भोग-उपभोग की सामग्री प्राप्त होने पर भी कोई आनन्द नही । क्यो ? मौत की तलवार सिर पर जो लटकी हुई थी । एक एक करके तीन रानियो ने एक-एक दिन चोर को खिलाया-पिलाया । चौथी रानी की बारी आई । उसने महाराजा से कहा—मुझे एक दिन नही, यदि आप देना ही चाहते है तो इस चोर को अभयदान दे दीजिये ।

अभयदान श्रेष्ठ है । अभयदान दया है, अहिंसा है । नीति के वचन में कहूँ—

दया गई तो धर्म गया, धर्म गया तो कुछ रहा नही ।
सब कुछ देकर धर्म रख लिया, तो तेरा कुछ गया नही ।।

संसार में ऐसे लोग भी है जिन्होने दया के लिए सब कुछ दिया, प्राणों तक का समर्पण कर दिया । दया समकित देने वाली है, दया स्वर्ग दिलाने वाली है । हाथी के भव मे सम्यक्त्व प्राप्त करने वाले 'ज्ञाता धर्म' के अधिकारी मेघकुमार की बात आपने कई बार श्रवण की है । मै उसे पुनः नही दोहराना चाहता पर आपके ध्यान में आये इसलिये कहना चाहता हूँ कि एक जीव को बचाने वाला सम्यक्त्व प्राप्त कर रहा है । जीवन भर मे उस हाथी ने कितनी हिंसाएँ की, कितने पेड़ उखाडे, लेकिन एक जीव की दया की भावना से उसे मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने का प्रमाण-पत्र प्राप्त हो गया । जीव दया मे अपने आपकी दया भी है, दूसरे जीवों की दया भी है ।

आप हिंसा कब करते है ? आपके शरीर मे मवाद हो और उसमें एक कीड़ा पड़ जाय, सहन नही होता । घर मे मच्छर हो जाय, आप क्या करते है ? आप जरा चिन्तन तो करे । आपने धर्म को ऐसा विपरीत कर दिया कि आज अहिंसा या दया भी हास्य का कारण बन गई है । धर्मी के विपरीत आचरण से धर्म बदनाम होता है । लिलोत्री के त्याग करना, स्नान के त्याग करना कब शोभा देगा ? अगर लिलोत्री के त्याग करने वाले अपनी व घासलेट डालकर तूली लगा दे तो क्या धर्म बदनाम नही होगा ?

तीर्थकर प्रभु महावीर ने धर्म का क्या यही रूप बताया है कि घर वालों को मारे जाओ और पानी छानकर पीओ ? दया के स्वरूप को समझने की जरूरत है। पहले पंचेन्द्रिय की दया करनी चाहिये या एकेन्द्रिय की ? आज आप जमीकन्द छोड़ सकते है पर स्वधर्मी के साथ प्रेम से नहीं रह सकते तो इससे क्या धर्म की प्रभावना बढती है ? एक भाई आया और उससे पूछा— क्या नियम है ? बोला—बाबजी ! मारे सगला नियम है। पास बैठा दूसरा भाई बोला—महाराज ! यह रोज सामायिक करता है, हरी नही खाता पर घर में भाई-भाई ऐसे लड़ते है कि पूछो मत। ऐसे विपरीत आचरण वाले भाई धर्म को बदनाम करते है।

भगवान महावीर ने कहा—दया स्वर्ग दिलाने वाली है। चण्डकौशिक जैसा साँप जिसने भगवान को नही छोड़ा पर जब अहिंसा की भावना बन गई तो चीटियों की दया करके आठवे स्वर्ग का अधिकारी बन गया। चण्ड-कौशिक में जब दया की भावना आ गई तो उसने अपना शरीर का हलन-चलन बन्द कर दिया। उसने विचार किया कि मेरे हिलने पर शरीर पर रही चीटियो की घात हो सकती है।

आप सामायिक करते है, धर्म-ध्यान करते है। आपका सामायिक-पौषध कब तक ? थोडी सी वेदना हुई नही कि धर्म-ध्यान सब छूट जाता है। आप में कई तो सहज रूप से कहते भी है 'आपत कालै मर्यादा नास्ति।' आप अहिंसा धर्म के मर्म को समझे तो आपको अपने शरीर की नही धर्म की फिकर होगी। शरीर आज है, कल नहीं रहेगा। इधर कष्ट आया, उधर धर्म छोड़ दिया, यह रूप दया धर्म का नही है—

> चार वेद मुख से पढ़िया, समझ विना सब झूठ।
> जीव दया पाली नही, तो सब माथा कूट ।।

दया है तो वह सम्यक्त्व के प्रकाश को निर्मल रखेगी। दया है तो आप व्रतो में आगे बढ़ेगे। दया है तो सत्य-शील सदाचार और अन्य-अन्य धर्म होगे। दया नही तो कुछ भी नही।

नीति कहती है—सब कुछ चला गया तो भी कुछ नही गया, यदि एक दया है तो सब कुछ रह गया—

> न तद् दानं, न तद् ध्यानं, न तद् ज्ञानं, न तद्तपः।
> न सा दीक्षा, न सा भिक्षा, दया यत्र न विद्यते ।।

जहाँ दया नहीं तो दान दान नही, दया नही तो ध्यान ध्यान नही, दया नही तो तप तप नही। आप भी कुछ देते है। कुत्ते को रोटी, कबूतर को

दाना, गाय को घास। जैसे आप किसी को कुछ देते हैं शिकारी भी कुछ देता है। आपके देने का उद्देश्य किसी को साता पहुँचाना है। शिकारी भी देता है पर उसका उद्देश्य साता पहुँचाना नहीं, जाल में पकड़ना है। आप किसी को देकर शीशी में उतारना चाहते है तो आपका वह देना भी पाप है। देने को तो आप ग्राहक को भी कुछ देते है। आज ग्राहक आते ही उसे चाय, ठण्डा देते है, क्यों ? आप उसे आकर्षित और प्रभावित करना चाहते है जिससे वह आपका माल खरीदे। नीति कहती है—दया नही तो दान दान नही है।

आज टी. वी. से भी ज्ञान मिलने की बात कही जाती है। कैसा ज्ञान ? चोरी का ज्ञान, किसी की जेब साफ करने का ज्ञान ! आज सुनते है मुसाफिरो को कोई दवा सुघा दी जाती है और लूटकर माल साफ कर लिया जाता है। ट्रेनो मे चाय के साथ नशीली दवा मिलाकर पिला देते हैं। वेहोश होने पर सामान लेकर चम्पत हो जाते है, इस तरह का ज्ञान, ज्ञान नही है।

वगुला क्या करता है ? एक टांग पर खड़ा रहता है लेकिन दया नही इसलिये उसका ध्यान, ध्यान नही। वह एक टाग पर खडा रहकर बाट जोहता है कि कब मछली आये और कब वह उसे पकड़ें। बिल्ली भी कोने में चुपचाप बैठी रहती है। किस लिये ? उसका ध्यान चूहे की ओर रहता है ताकि ज्यों ही चूहा आये, उसे पकड़े।

व्याख्यान मे बैठने वालो में भी कुछ भाई इस बात का ध्यान रखते है कि कौन आया, कौन नही आया। कई सामायिक लेकर बैठते है, उसमे से भी कुछ भाई महाराज को देखे, नही भी देखे पर नई साड़ी पहन कर कौन आई, उसे देखेंगे।

जिसमें हितचिन्तन-करुणा की भावना और दयादृष्टि नही तो वह ध्यान, ध्यान नही। खड़े-खड़े सूख जायेंगे, उल्टे लटक जायेंगे, भगवान ने ऐसे तप को बाल तप कहा है। वह अज्ञान तप है। तप का मतलब अपने आपको तपाना है, अगर तप होता तो कमठ की जिन्दगी बरबाद नही होती। शास्त्र कह रहा है कि वह तप, तप नही जहां दया नहीं, वह व्रत, व्रत नही जिसमे दया नहीं, वह आचरण, आचरण नहीं जिसमे दया नहीं। दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की भावना है तो वह दीक्षा, दीक्षा नहीं।

धर्म के सिद्धान्त का महत्त्व दया से है। सब धर्मो में दया ही श्रेष्ठ है। दया के दो भेद है—एक द्रव्य दया, एक भाव दया। उठते-बैठते,

खाते-पीते कभी हिंसा होने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता और बाहर में व्यावहारिक दया होते हुए भी मन में करुणा भाव नहीं है तो हिंसा का पाप लगता है।

मन में करुणा और दया होनी चाहिए। जिसके मन में करुणा और दया होगी वह अनर्थ की हिंसा नहीं करेगा और प्रयोग से काम करते हुए भी हिंसा में कमी करेगा। दया की भावना वाले ऐसे लोग भी है जो दूसरों के प्राणों को बचाने के लिये अपने प्राण अर्पण कर दे।

तीर्थंकर प्रभु महावीर ने आठ प्रकार के हिंसक कहे हैं—

अनुमंता, विशसिता, निहंता क्रय विक्रयी।
संस्कर्ता, चोपहर्ता च, खादकश्चेति घातकाः।।

मारने वाला हिंसक है, कहने वाला, अनुमोदन करने वाला, बनाने वाला, बेचने वाला, लाने वाला, लाकर देने वाला ये सब क्या हैं?

आप एक सिद्धान्त, एक धर्म के मूल को पकड़कर चलिये कि जीवन में अनावश्यक हिंसा नहीं हो। आप आवश्यक का सर्वथा त्याग नहीं कर सकें तो भी मर्यादित करके चलेंगे तो बहुत कुछ हिंसा के पाप से बचे रह सकेंगे।

नीति कहती है—

दुःख दिया दुःख होत हैं, सुख दिया सुख होत।

तू रहम करेगा तो रहमान तेरे पर रहम करेगा। हर धर्म, हर पंथ, हर ग्रन्थ इस विषय में एक मत वाले हैं। जीव हिंसा को कोई धर्म नहीं मानता। जहां कहा भी गया है वहां दृष्टि-भेद है। ज्योंही ज्ञान का प्रकाश हुआ नहीं कि उसकी दृष्टि बदल जायगी।

हिंसा करना धर्म नहीं है। आप सम्पूर्ण पापों को नहीं छोड़ सकते तो मर्यादा करके कम करें। पहले पंचेन्द्रिय के साथ करुणा लाइये। पंचेन्द्रिय जीवों पर दया और करुणा के भाव होने पर अन्यान्य जीवों पर भी दया के भाव आने स्वाभाविक हैं। कीड़ियों के प्रति आपके मन मे कोमलता के भाव रहे और अपने भाइयों के प्रति द्वेष और घृणा के भाव रहे तो कहना होगा कि अहिंसा धर्म को आपने अभी जाना ही नहीं। दया या अहिंसा के महत्त्व को समझने की जरूरत है। आप दया को घट में रखकर आगे बढ़ेंगे तो इस लोक-परलोक में शान्ति-आनन्द पा सकेंगे।

★

अहिंसा का विवेक जागृत करें !*

☐ उपाध्याय श्री मानचन्द्र जी म० सा०

वीतरागता के लिए ज्ञानियो ने एक सकेत दिया वह सूत्र है निःसंगता। नि सगता अर्थात् संग से रहित होना। संग पर वस्तु का होता है। अपनी वस्तु का संग तो हमेशा से ही है। संयोग-वियोग पर से होता है। आत्मा का वीत-राग भाव आत्मा के पास निरन्तर रहा हुआ है। आत्मा किसी गति में चला जाय, जिस किसी स्थान पर रहे उसमे वीतराग भाव रहेगा। विकारी अवस्था पर विजय प्राप्त करने के लिए आध्यात्मिक साधना है, संतजन, श्रावकजन और जितनी भी मुमुक्षु आत्माएँ है सब विकारी अवस्था दूर करके वीतराग भाव पाने के लिए प्रयास करती है। सच्ची अहिसा की स्थिति मे वीतराग भाव होता है। ज्ञानियों ने राग-द्वेष को भी हिसा का कारण माना है। जहा तक राग-द्वेष है वहाँ तक पूर्ण अहिसा नही हो सकती।

जैन अहिंसा का वैशिष्ट्य :

जितने धर्म है, जितने पथ है, उन सबने अहिसा को प्रमुख स्थान दिया है। धर्म का प्राण अहिसा है। फिर भी सबकी अहिसा एक समान नही है। ईसा की अहिसा भी है तो बौद्ध की अहिसा भी है, अहिसा को सनातनी भी मानते है, जैनी भी मानते है। कुरान मे भी हिसा का निषेध किया गया है। अहिसा का रूप सब धर्मो मे है किन्तु सबकी सीमाएँ अलग-अलग है। ईसाइयों की अहिसा मानव तक सीमित है। मानव बचता है तो दूसरे प्राणियों के प्राणों के हरण मे उन्हे संकोच नही होता। बौद्धो की अहिसा मे प्राणी को मारेंगे नही परन्तु मरे जानवर का मांस सेवन करने मे उन्हे ऐतराज नही होगा। सनातन धर्म की अहिंसा बस प्राणियो तक सीमित है पर पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजकाय, वायुकाय में जीव-हिसा की जैसी सूक्ष्म व्याख्या जैन धर्म मे है वैसी सनातन धर्म मे कल्पना नही है। किसी गाडी में जानवर जोता जा रहा है, उस गाडी मे बैठने के लिए सनातनी एतराज करेंगे पर जिसमे जानवर नही जोते जाते, सनातनी उसमे बैठने मे अधर्म या हिसा नही मानते।

जैनियो की अहिसा बहुत बारीक है। महात्मा गाधी के जीवन पर जैनियों की छाप पड़ी। गांधीजी ने अहिसा की बदौलत स्वाधीनता आन्दोलन छेड़ा और देश की स्वतन्त्रता की बात पूरी की। भगवान् महावीर की अहिंसा केवल स्थूल प्राणो के लिए नही है। त्रस-स्थावर, सूक्ष्म-बादर, पर्याप्ता-अपर्याप्ता

*६ मार्च, १६६३ को लाखनकोटडी अजमेर मे दिये गये प्रवचन का सम्पादित अंश।

सभी जीवों की हिंसा के परित्याग का रूप जैनियों की अहिंसा में समाहित है। राग-द्वेष को भी हिंसा के रूप में माना गया। राग-द्वेष जहाँ भी हैं वहाँ अपने आत्मीय गुणों का घात होता है। जहाँ आत्मीय गुणों में रुकावट आए वहां हिंसा हो सकती है। राग-द्वेष को हिंसा का मूल कारण माना है इसलिए रागात्मक प्रवृत्ति से बचा रहना भी अहिंसा का स्वरूप है।

द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा का अन्तर :

दूसरे-दूसरे धर्मों में द्रव्य हिंसा को महत्त्व दिया लेकिन जैनियों की अहिंसा में द्रव्य और भाव दोनों हिंसाओ के निषेध की बात कही, इसीलिए जैनियों की अहिंसा बहुत बारीक है। व्यवहार और निश्चय दोनो रूपों में हिंसा है, अहिंसा है। द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा का जितना सूक्ष्म स्वरूप जैन दर्शन में है उतना अन्यान्य धर्मों मे कही नही है। द्रव्य हिंसा उतना कर्म बन्ध का कारण नही जितनी कि भाव हिंसा। भाव हिंसा बाहर से तो दिखलाई नहीं पड़ती परन्तु अन्तर-में कर्म बन्धन का अधिक निमित्त उपस्थित करती है। जब तक हिंसा क्या है नही समझेगे, वहाँ तक अहिंसा का स्वरूप नही समझा जा सकता। अहिंसा को जानने के लिए हिंसा को समझना जरूरी है। हिंसा क्या है, कैसे होती है, क्यों त्याज्य है, इन सबको पहिचानने के बाद अहिंसा का पालन सहज हो सकता है। द्रव्य हिंसा योगो के निमित्त से होती है। भाव हिंसा कपायो के निमित्त से। हिंसा के प्रधान दो कारण है, एक योग दूसरा कपाय। जिसने कपायों को जीत लिया, राग-द्वेष पर विजय पा ली, उनसे हिंसा नही होती।

द्रव्य हिंसा नही हो ऐसे संस्कार तो हममें हैं। किसी श्रावक से कहा जाय—यह मक्खी चल रही है इसे मार दे तो वह उसे नहीं मारेगा। मारने का कहने पर जवाब में वह कहेगा—मैं जैन हूँ, मैं किसी जीव को नही मारता। द्रव्य हिंसा करे, ऐसे संस्कार उसमें नहीं है। द्रव्य हिंसा नहीं करने वाला राग को उतना बुरा नही मानता।

अट्ठारह पापों में पहला पाप है--प्राणातिपात। जैसे प्राणी की घात नही करने के सस्कार है, वैसे दूसरे पापों से बचने के सस्कार नहीं। थोड़े से प्रलोभन के लिए झूठ बोल जायेगे। इनकम टैक्स–सेल्स टैक्स की चोरी को आप चोरी मानते है, या नही ? चोरी चाहे इनकम टैक्स की हो, चाहे सेल्स टैक्स की हो, चोरी तो चोरी ही है पर उसे आप कितना मानते है ?

मैं द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा की बात कह रहा हूँ। कभी-कभी द्रव्य हिंसा नही होते हुए भी भाव हिंसा हो जाती है और भाव हिंसा से कर्म बंधते हैं। 'भगवती सूत्र' में उल्लेख है कि एक सातवी नरक से निकलने वाला जलचर जन्तु पुन. सातवी नरक मे चला जाता है। एक हजार योजन वाले मच्छ की

मच्छ से ज्यादा कर्म-बन्ध कर लेता है। मच्छ हजारो जल-जन्तुओं को खाता रहता है। फिर भी मन नहीं होने के कारण वह भाव हिंसा का अधिकारी नही बनता। वह मरकर नारकी मे चला जाता है पर वह पहली नरक से आगे नही जाता। परन्तु उस मच्छ की भौहों पर बैठा तेन्दुल मच्छ जिसके मन भी है, वह सोचता है कि मेरी इतनी बड़ी देह हो तो मैं एक भी जानवर को नही बचने दूँ, सबके सबको खा जाऊँ। इस भावना से ऐसे कर्म का बन्ध कर लेता है कि वह मर कर सातवीं नरक में जाता है। तेन्दुल मच्छ का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त का है। देह छोटी है पर मन है इस कारण भाव हिंसा से वह सातवी नरक का मेहमान बनता है और जो द्रव्य हिंसा करता है, लम्बा आयुष्य है वह मरकर नरक में जायगा तो पहली नरक से आगे नही। आप द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के इस अन्तर को समझें।

मनुष्य के मन है। मन है तो बन्ध और मोक्ष का कारण है। एक संत प्रवचन कर रहे थे प्रवचन सभा मे ठाकुर साहब भी बैठे थे तो उनके कुवर सा० भी। प्रवचन में अहिंसा का विषय चल रहा था। महाराज ने शिकार को लेकर प्रवचन प्रारम्भ किया। प्राणियों को मारना बड़ा पाप है। पाप से क्या हानियाँ होती है? प्रवचन के माध्यम से महाराज समझा रहे थे। प्रवचन समाप्त होते ही कुँवर साहब पूछने लगे—महाराज! जीव मरता है तो आयुष्य समाप्त होने पर मरता है या मारने से मरता है? महाराज प्रत्युत्तर में कहते हैं—निश्चय से तो आयुष्य समाप्त होने पर मरता है और निमित्त से मारने पर मरता है।

कुवर साहब आगे कहते हैं—महाराज! मै एक दिन शिकार के लिए गया। हिरणों की टोली थी। मैं जिस हिरण को मारना चाहता था वह तो आगे निकल जाने से बच गया और दूसरा हिरण जिसे मै मारना नही चाहता था, उसे गोली लगी। जिसको मारना नही चाहता था उसे गोली लगी और वह मारा गया। महाराज ने कहा—द्रव्य हिंसा मरने वाले के लिए हुई, भाव हिंसा नही मरा उसके प्रति हो गई।

अनर्थदण्ड से बचें:

ज्ञानी कहते है भावना के साथ बहुत सारे कर्म बन्ध होते हैं। आरम्भ को अनुमोदना करके भी कर्म बन्ध हो जाते है। आप श्रावक हैं, आपके बारह अणुव्रत है उसमें बारहवां व्रत है अनर्थ दण्ड। अनर्थ दण्ड मे बिना कारण हिंसा होती है। कुछ हिंसा मतलब से होती है वही बिना मतलब से भी हिंसा होती है उसे अनर्थ दण्ड कहा गया है। आप गृहस्थ है इसलिये अर्थ दण्ड से नही बच सकते, परन्तु अनर्थ दण्ड से तो बचना ही चाहिये।

आज अनर्थ दण्ड से बचने की ओर प्राय: कम ख्याल जाता है। आप कही भोजन करने जाये, भोजन कर लिया पर वहाँ तक सीमित नहीं रहते किन्तु भोजन सामग्री को देखकर एक-दूसरे को कहकर अनुमोदना करते है। आप

गृहस्वामी को खुश करने के लिए कहते है—रसोई बहुत बढिया बनी है। आपका इतना कह देना कि खाना बहुत बढिया बना है हिंसा की अनुमोदना हो गई। आप भोजन करके रवाना हो गए, जैसा बना था, खा लिया, यह अनर्थ दण्ड है परन्तु गृहस्वामी को खुश करने अथवा भोजन की तारीफ बार-बार करने से अनर्थ दण्ड का कर्म बन्धन होता है, इससे बचे।

आप कहां-कहां अनुमोदना करके कर्म बन्धन करते है, इसका कही कोई हिसाब ही नही। किसी का मकान देखा तो उसकी अनुमोदना कर देगे, किसी का कपड़ा देखा तो उसकी अनुमोदना कर देगे, जेवर देखा तो जेवर की अनुमोदना कर देंगे। अच्छे भले समझदार आदमी भाषा का बचाव भले ही कर ले भावों का बचाव नही कर पाते, इससे अनर्थ दण्ड कर्म बधते है।

प्राचीन समय मे श्रावक छः काय के आरम्भ से बचने का जैसा ख्याल रखते थे, वैसी रूपरेखा आज कम देखने को मिलती है। पाप कर्म से बचना विवेकी श्रावक का कर्तव्य है। अनर्थ दण्ड से जितने-जितने बचे रहेगे, उतनी-उतनी भाव हिसा से बचा रहा जा सकेगा। अर्थ दण्ड की अपेक्षा अनर्थ दण्ड ज्यादा होता है। आज कोई सलाह मागे, नही मागे फिर भी कई भाई अपनी सलाह देने से नहीं चूकते। ऐसे भाई अनर्थ दण्ड से कर्मबन्ध के स्वरूप को नही जानते, इसलिए बिना पूछे सलाह देते है। आप बोलते है :—

अवझाणाचरिए पमायाचरिए हिसप्पयाणे पावकम्मोवएसे

आदमी बुरा चिन्तन करके भी कर्मबन्ध कर लेता है। बिल्ली के कहने मात्र से छीका नही टूटता, ऐसे ही बिना मतलब के बात करना, बिना प्रयोजन सलाह देना ये सब कर्म बन्ध के कारण है, अनर्थ दण्ड है। कई भाई टोना करते है, कामण करते है यह सब अनर्थ दण्ड का सेवन है। प्रमादवश बर्तन रख दिया और रात मे सो गये। मक्खी-मच्छर मरते है यह हिंसा अनर्थ दण्ड का पाप है। जरूरत है तब बिजली का उपयोग करे यह अर्थ दण्ड है परन्तु जरूरत नही है फिर भी बिजली जल रही है। दातून एक लोटे मे भी हो सकता है पर नल खोल दिया, कितना पानी व्यर्थ गया, उसका कोई हिसाब ही नहीं। आप स्नान करते हैं, एक बाल्टी मे भी स्नान हो सकता है परन्तु घंटों नल के नीचे बैठने वाले अनर्थ दण्ड के स्वरूप को जानते ही नही कि बिना मतलब क्यो पाप कर्म का बन्ध किया जाय?

भगवान ने छः काया के जीवों से बचने के लिए उपदेश दिया। अहिंसा व्रत को लेकर छ. जीवनी बताई। आप जब तक हिंसा के रूप को समझेंगे नही, अहिंसा की पालना कैसे करेंगे? यतनापूर्वक कर्म बन्ध से बचना गृहस्थ जीवन के लिए भी जरूरी है। आज कई भाई केवल देखा देखी अनर्थ दण्ड के

भागी भागी बनते है। चाय पीने वाले चाय पियेगे तो थोड़ी, चाय बचाकर रखते है। चाय कप मे बची रहेगी तो उसमें मक्खी गिरने की सम्भावना है, जीव हिंसा हो सकती है, यह अनर्थ दण्ड है। पुराने जमाने के कई श्रावक थाली धोकर पीते थे। उनका लक्ष्य जीव-हिंसा के पाप से बचा रहने का था।

अहिंसा का विवेक जागृत करे :

पुराने श्रावकों के विवेक की मैं क्या बात कहूँ। वे हिंसाकारी अस्त्र-शस्त्र दूसरों को दे, वह तो दूर की बात, वे तो अपने घर का सरौता या चाकू तक दूसरो को नही देते थे। आज इतना उपयोग नही रहा। इससे अनर्थ दण्ड का पापकर्म, अनर्थ दण्ड की हिंसा बढी है। एक बहिन घर में जरूरत के अनुसार आचार डाले, वहाँ तक तो ठीक परन्तु वह बहिन घर-घर जाकर कहे—मै आचार डालू, मेरे हाथ का आचार साल भर खराब नही होता—ऐसा कहना और करना अनर्थ दण्ड रूप हिंसा है। बिना मतलब की हिंसा से बचने के लिए ज्ञानियो ने अनेक बाते बताई है। ज्ञानियों की बातो को हृदयंगम नही किया जा सकता है, इसलिए अनर्थ दण्ड बढ रहा है। किसी की लड़की बड़ी हो गई तो कहेगा—इसकी शादी कर देना। उसके शादी करने या कहने का कोई मतलब नही, परन्तु कहे बिना नही रहा जाता—

तेल नही, ताकलो नही, काढती फिरे पुआ।
पूछे ताछे कोई नही, हूँ लाडा री भुआ॥

किसी को कहेगा—मकान बना ले। किसी का खेत है तो कहेगा—बो दे। वह बोये तो क्या, न बोये तो क्या, परन्तु जिसे कहे बिना नहीं रहा जाता वह अनर्थ दण्ड कर्म का बन्ध कर लेता है। बिना मागे सलाह देने को तैयार रहना अनर्थ दण्ड है, भाव हिंसा का कारण बन सकता है।

भगवान ने अनर्थ दण्ड से बचने को कहा है। व्यर्थ में अनुमोदन कर कर्म-बन्ध से बचा रहना श्रावक का धर्म है, अहिंसा का सुन्दर रूप है। आप द्रव्य हिंसा से बचे, अनुमोदन रूप भाव हिंसा से बचे। आप भाव हिंसा से बचेंगे तो आत्मिक गुणो की घात नही होगी। द्वेष से बचना उतना कठिन नही है, जितना कि राग से। आप वीतराग वाणी जीवन मे उतारेगे तो सुख, शान्ति और आनन्द के भागीदार बनेगे।

❖ ⊙ ❖
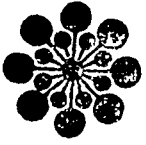
Relevance of Ahimsa

□ Shri D. R. Mehta

We are living in a paradoxical situation. While on the one hand, modern civilisation is characterised by a concern for fellow human beings, on the other, the foremost problem of our age is growing violence, both in thought and action A child in Europe may have sympathy and extend help to one of his ilk in Africa who may not have adequate food to eat or medicine to save his body against disease As never before, this spirit of compassion has permeated state policies and the result is that we have so many enlightened welfare states in the world in which the poor and weak are taken care of at public expense. There are many international organisations as well which are equally concerned and are making significant contribution in arousing conscience as also directly alleviating human misery and suffering But juxtaposed is the spread of violence at individual, national and international levels, on scales which are unprecedented The crime rate has increased many-fold because of growing greed, intolerance, other undesirable and unchecked propensities, and ready availability of sophisticated weapons. Indeed, in some countries, holding firearms is a fundamental right of citizens. Terrorism is becoming common and respectable.

At the international level, the situation is horrendous The expenditure on arms and armaments has increased many-fold because of hatred and intolerance of other countries and their ideologies. The most shuddering situation is in the form of unabated development and stockpiling of nuclear weapons and their delivery systems. Two small rudimentary atom bombs used at Hiroshima and Nagasaki killed and maimed several lakhs of people. Much bigger and more sophisticated fission and fusion weapons and multi-headed intercontinental ballastic missiles are now capable of destroying the entire life on this planet several times over. Use of one such bomb or device either by design or accident would result in immediate retaliation and escalate into a total nuclear war and complete holocaust

More and more people all over the world are realising that the answer to present problem of violence is to be found in a morality which replaces ravenaus greed with contentment, hate with tolerance, and killing with reverence for life. There are many enlightened and eminent scientists, intellectuals and religious leaders who are talking in this positive language. At the common man's level also, awareness to these dangers of violence is growing. Many protest groups are contributing their mite in arousing the human conscience further Principles of Ahimsa, Satya, Aparigraha, Anekantwad, etc. assume great relevance in this context

One of the basic commandments of Jainism is Ahimsa. Ahimsa is Parmodharma Acharang Sutra states, "thus say all the perfect souls and blessed ones, whether past, present or to come—thus they speak, thus they declare, thus they proclaim : All things breathing, all things existing, all things living, all beings whatever, should not be slain or treated with violence, or insulted, or tortured, or driven away. This is the pure unchanging eternal law, which the wise ones who know the world have proclaimed, among the earnest and the non-earnest, among the loyal and the non-loyal, among those who have given up punishing others and those who have not done so, among those who are weak and those who are not, among those who delight in worldly ties and those who do not This is the truth. So it is Thus it is declared in this religion".

Jainism believes in the plurality and equality of living creatures. Since no body wants to be hurt or killed, the general rule should be that nobody should be hurt or killed This rule of conduct is not confined only to man but extends even to the smallest of small creatures It is amazing that more than 2500 years ago, when scientific devices to detect micro creatures were not available, Mahavir stated that there were small living creatures in wind and water and enjoined his followers to avoid, to the extent possible, their killing as well.

This kind of comprehensive concept of Ahimsa is unkown in the philosophical world Indeed, Albert Schweitzer, while dealing with Jainism in his book *Indian Thought and Its Development*

that "the laying down of the commandment not to kill and not to damage is one of the greatest events in the spiritual history of mankind....... So far as we know it is for the first time clearly expressed by Jainism".

The concept of Ahimsa as developed by Jainism has many significant features. These are .

(i) Ahimsa is not be practised at the physical level only but at mental one as well Apart from *Jiva* or *Dravya* Ahimsa there is a *Bhav* Ahimsa In another form, it is stated that there should be no Himsa by "*Man*" (mind), "*Vachan*" (speech), or "*Kaya*" (body) Even hurting feelings is himsa,

(ii) The concept of Ahimsa means that one would not kill, get killing done, or approve any killing

(iii) Himsa or violence and "*Parigraha*" or possession are intimately connected In fact, the biggest cause of Himsa is possession. Thus to achieve Ahimsa, physical possession and the spirit of possession would have to be restricted.

Jainism believes that the first steps of Ahimsa would have to be taken at the individual level Individuals though their number may be small, would have to truly and sincerely practise Ahimsa in their daily life Cruelty and killing of even small creatures brutalises a man. Indeed, one of the ways of preparing good soldiers in the past was to ask them to kill animals so that they got hardened and, in war were capable of killing man.

In the present day world. with religion getting separated from daily life and spreading commercialisation killing has increased manyfold and sensitivity to life, whether animal or human, has declined in proportion. The need, therefore, is that this trend should be reversed and man should be made more humane not only in relation to man but also for other living creatures With personal commitment to Ahimsa and personal transformation of individual, the real remedy to violence would be found.

One of the major problems with many of the protest groups trying to fight against violence at national and international levels is that personally they are not non-violent. One of the reasoas why Gandhiji also could not succeed was that a large number of his followers were wanting to be non-violent at the social level but were violent at the personal level. On 15th August, 1947, Gandhiji was the most disillusioned man in this world because his emphasis on purity of personal conduct as a pre-condition for purity of social conduct was not heeded by his own followers.

As mentioned earlier, part of Himsa grows from acquisitiveness, Jainism does not subscribe to forced poverty but suggests that wants should be minimised voluntarily and there should be no grabbing at any level. Many economic systems today are based only on promoting wants rather than curbing them This is having disastrous results. One of them is that we are exhausting the non-replenishable resources of this world, another is that material goods and money are becoming the measures of man Internationally, this spirit is leading to regional and world conflicts Here again, the start would have to be made from the individual and his mind would have to be changed.

Another malady of our age is general intolerance. While science has been a great boon both in promoting material prosperity and rationalism it has made our thinking, even in areas other than science, extremely definitive. We learn that two and two can only be four and tend to carry the same certitude into social matters, though they are of a different character. The result is that those who do not agree with us are treated as wrong. Earlier dogmatism was based on ignorance Now it is caused by certitude arising out of rational thinking What is not being realised is that knowledge is relative The faculties that we possess are limited Even as compared to small creatures, our senses are much less developed. For example, dog may have a far better sense of smell and an eagle may have far more developed eye sight Even in comparison with such creatures, when our senses are so poor how can we claim absolute knowledge.

Jainism has its philosophy of Syadvad. It is a seven-fold logic which replaces certitude with relativity in thinking. According to this principle, one may be right or one may be wrong. Even the opponent may be right. If one acquires this mental attitude, one cannot but be tolerant. In this there is no place for dogmatism. This is one of the great contributions of Jainism to world thought; its application to personal conduct could make the world a safe place. The present ideological conflicts that we witness today would not be as intense as they are now if this principle could permeate the minds of adversaries.

It is also worth mentioning here that, mistakenly, the negative aspeet of Ahimsa has been over-emphasised at the expense of its positive form. While non-killing is certainly essential, Ahimsa in its positive form means reverence for life, which iu turn calls for compassion and service. In Jainism, for attaining Moksha Samyak Jnan (pure knowledge), Samyak Darshan (pure doctrine), and Samyak Charitra (pure conduct) are essential. To achieve Samyak Darshan or pure doctrine there are five requirements, one of them being "Anukampa" or compassion. Besides, the definition of Ahimsa is compassion, according to one of the Shastras (Vishesh Awashyak Sutra) which deals with the Ahimsa in 60 ways. Mahavir also speaks of "Maitri" "Vatsalya", "Vayavach" etc It seems that the later Acharyas, who had more of logic than realisation tended to ignore this aspect. If by doctrine, one has to be the friend of all creatures, one is expected not only to indulge in their non-killing but also to heip them. In one of the stories relating to the life of Adinath, it is indicated that he attained Tirthankarhood because in one of his earlier lives he treated the people well as a Vaidya. The need, therefore, is to reinforce this compassionate aspect of Ahimsa.

—Deputy Governor, Reserve Bank of India, Bombay

प्राणिहिंसा से बढ़कर कोई अकार्य नहीं

□ आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी म. सा.

यों तो दुनिया मे बहुत से अकार्य है, जिन्हे मनुष्य कु-संस्कारवश करता आ रहा है, परन्तु उन सबमे सबसे निकृष्ट अकार्य है—'प्राणिहिसा'। इसलिए गौतम महर्षि ने गौतमकुलक के ५२वे जीवनसूत्र में स्पष्ट बता दिया है।

"न पाणिहिंसा परमं अकज्जं।"

'प्राणिहिसा से बढकर ससार मे कोई अकार्य नहीं है।'

प्रश्न होता है—प्राणिहिसा क्या है? उसके मुख्य-मुख्य कितने रूप है? वही सबसे बढकर अकार्य क्यों है?

प्राणिहिंसा क्या है?

हिसा के स्थान पर जैनशास्त्रों में यत्र-तत्र 'प्राणातिपात' शब्द अधिकांश रूप में प्रयुक्त है। प्राणातिपात का सीधा-सा अर्थ है—प्राणों का अतिपात—विनाश करना। प्राण का अर्थ केवल श्वासोच्छ्‌वास ही नही है, जैनधर्म का यह पारिभाषिक शब्द है। जैनशास्त्रो में १० प्राण माने गये है, वे इस प्रकार है—

(१) श्रोत्रेन्द्रियबलप्राण, (२) चक्षुरिन्द्रियबलप्राण, (३) घ्राणेन्द्रिय-बलप्राण, (४) रसनेन्द्रियबलप्राण, (५) स्पर्शेन्द्रियबलप्राण, (६) मनोबलप्राण, (७) वचनबलप्राण, (८) कायबलप्राण, (९) श्वासोच्छ्‌वासबलप्राण और (१०) आयुष्यबलप्राण।

इन दस प्राणों मे से जितने जिस प्राणी के नियत है, उतने प्राणों को धारण करने वाला 'प्राणी' कहलाता है। प्राणियों के उक्त १० प्राणों मे से किसी भी प्राण का विघात या वियोजीकरण करना प्राणों से रहित कर देना प्राणाति-पात या प्राणिहिसा है।

बहुत से स्थूल दृष्टि वाले व्यक्ति यह सोचते है कि किसी का श्वास बन्द कर दिया—रोक दिया अथवा किसी का आयुष्य खत्म कर दिया—इतना ही प्राणातिपात या हिंसा का अर्थ है। लेकिन यह अर्थ अधूरा और एकांगी है। किसी प्राणी का दम घोट देना या श्वास रोक देना या आयुष्य खत्म कर देना तो प्राणातिपात या हिसा है ही। इसके अलावा भी पाँच इन्द्रियाँ और मन, वचन और काया ये तीन बल भी प्राण है, इनका विघात या वियोग कर देना भी हिंसा है।

जैसा कि शीलाकाचार्य ने 'सूत्रकृतांगवृत्ति' मे कहा है—

पंचेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वास-निःश्वासमथान्यदायुः ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्, तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥[1]

अर्थात्—पॉच इन्द्रियॉ, तीन वल (मन, वचन और काया), श्वासोच्छ्वास एवं वायु, ये दस प्राण तीर्थकर भगवान ने कहे है। उनका वियोग करना—उनसे प्राणी को रहित कर देना ही हिसा है।

हॉ, तो मै कह रहा था कि केवल एक-दो लोकप्रसिद्ध प्राणो का ही नही, दस प्राणो में से किसी भी प्राण से जीव को रहित कर देना हिसा है। बहुत से लोग किसी प्राणी का दम घोट देने या श्वास रोक देने को हिसा नही मानते। प्राचीन काल में एक खारपिटक मत था, जो किसी को तलवार, बदूक, लाठी आदि शस्त्र से मार डालने को ही हिसा मानता था। किसी दु.खी या पीड़ित व्यक्ति के श्वास बंद कर देने को वह हिसा नही मानता था बल्कि इसे 'घटचटकमोक्ष'[2] कहा जाता था। जैसे घड़े में चिडिया को बद करके चारों ओर से उस घड़े का मुँह बन्द कर देने पर चिड़िया अपने आप ही जीवन से मुक्त हो जाती है उसी तरह इस मत वाले लोग इस जीवन से मुक्त होने के इच्छुक व्यक्ति को एक ऐसे कमरे मे बद कर देते थे, जिसमें कही से भी हवा का प्रवेश नहीं होता था। फलत वह व्यक्ति दो-चार मिनट मे ही श्वास बद होने से मर जाता था परन्तु यह सरासर प्राणविघात है। इससे इन्कार कैसे किया जा सकता है। किसी का कान फोड देना, उसकी श्रवण शक्ति को नष्ट कर देना अथवा दण्ड देने हेतु कानों में गर्म शीशे का रस डाल देना, कान काट लेना, यह श्रोत्रेन्द्रिय-बलरूप प्राण का विघात है। इसी प्रकार किसी की ऑख फोड़ देना, ऑखों की देखने की शक्ति नष्ट कर देना, ऑखो मे सलाई भोंककर उन्हे खत्म कर देना, यह चक्षुरिन्द्रियबलरूप प्राण का विनाश है। घ्राणेन्द्रिय (नाक) काट लेना, नाक की घ्राण (गन्ध) ग्रहण की शक्ति विनष्ट कर देना भी घ्राणेन्द्रियबलप्राण से रहित करना है। रसनेन्द्रिय (जीभ) काट लेना, या जीभ की चखने या बोलने की शक्ति नष्ट कर देना रसनेन्द्रियबलप्राण से रहित करना है, इसी प्रकार स्पर्शेन्द्रिय (खास तौर से जननेन्द्रिय) को काट लेना या उसकी शक्ति नष्ट कर देना स्पर्शेन्द्रियबल-प्राणातिपात है। किसी की मानस शक्ति को नष्ट कर देना, उसके मन की मनन-चिन्तन करने की शक्ति को समाप्त कर देना, उसे पागल या विक्षिप्त कर देना, मनोबलप्राण का अतिपात है। इसी प्रकार

---

१ सूत्रकृतागसूत्रवृत्ति १।१।३

२ घनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपिटकानाम् ॥
—पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ८८

किसी की वाचिक शक्ति को—बोलने की शक्ति को नष्ट कर देना, गूगा वना देना, वाचिकवल को विपरीत कर देना वचनवल प्राणातिपात है। इसी प्रकार किसी के शरीर को क्षत-विक्षत (घायल) कर देना, शस्त्र से मारपीट देना, शरीर को तीखे नोकदार शस्त्र से गोद देना, शरीर के अंगोपागों को काट डालना, शरीर को हानि पहुँचाकर वेडोल कर देना, ऐसा कर देना जिससे शरीर से उठा-वैठा न जा सके, यह सव कायबलप्राण का अतिपात (विघात) है। इसी प्रकार किसी का श्वासोच्छ्वास रोक देना, तथा किसी को आयुष्य से रहित कर देना, ये दोनों प्राणातिपात (हिसा) के प्रकार तो प्रसिद्ध ही है।

प्राणियों के ये १० प्राण एक प्रकार से वल है, जीवनी शक्तियाँ है। इन प्राणों के सहारे प्राणी अपनी निर्धारित या पूर्ववद्ध आयुष्यवन्ध तक जीवित रहता है परन्तु प्राणिहिसा करने वाला उसे अकाल मे ही—समय से पहले ही—नष्ट कर देता है, यही हिसा है। पूर्वकर्मोदयवश किसी प्राणी के इन १० प्राणों मे से किसी भी प्राण का स्वत (किसी भी निमित्त से) नष्ट हो जाना, हिसा नही है। इसी प्रकार प्राणायाम करने के लिए स्वय रेचक-पूरक-कु भक करना, श्वास रोकना, वाहर निकालना, अदर लेना प्राणातिपात या हिसा नही है, और न ही कायोत्सर्ग, मौन, त्राटक या अन्य ध्यान, योगाभ्यास या योगासन करते समय पाँचो इन्द्रियो तथा मन, वचन, काया को स्वयं रोकना, स्थिर एव एकाग्र करना प्राणातिपात नही है और न ही सकाम निर्जरा एवं कर्मक्षय हेतु किये जाने वाले अनशन, अवमौदर्य, कायक्लेश आदि किसी भी तप द्वारा स्वेच्छा से शरीर को कृश करना, इन्द्रियो को मन्दविषय वनाना या शरीर को मन्दकषाय वनाना, प्राणातिपात है। यह शरीर, इन्द्रियों आदि, पर अत्याचार नही है, स्वेच्छा से स्वीकृत तप है, आत्मविकास के अनुकूल शरीर इन्द्रियों और मन को वनाने की एक सयम प्रक्रिया है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा :

इसलिए हिसा होना और हिसा करना, इन दोनो मे महदन्तर है। इन दोनो के पीछे परिणामो मे अन्तर है। इसे एक दृष्टान्त द्वारा समझाता हूँ—एक डॉक्टर वहुत ही सहृदय, नामी और परोपकारी है। उसके पास एक दिन ऐसा रोगी आया, जिसका रोग दु साध्य था। डॉक्टर ने उसके स्वास्थ्य की जाँच करके कहा—"इसका आपरेशन होगा। आपरेशन वडा जोखिमी है।" रोगी और उसके घर वाले आपरेशन कराने के लिए सहमत हो गये। डॉक्टर ने विधिवत् आपरेशन करना शुरू किया। पहले तो आपरेशन ठीक चला। किन्तु सावधानी से आपरेशन करते हुए भी अकस्मात् रोगी की एक नस कट गई, इससे उसकी तत्काल मृत्यु हो गई। डॉक्टर ने रोगी को जान-बूझकर नही, उसके हृदय मे रोगी की मृत्यु के लिए वहुत पश्चात्ताप है। रिश्तेदारो को उसने अश्रुपूर्ण आँखो से यह समाचार सुनाया, इसमे डॉ

प्रेक्टिस को भी थोडा धक्का लगा। मगर डॉक्टर ने रोगी की हिंसा की नही है, उसकी हिंसा हो गई हैं।

अब एक और दृष्टान्त, इससे ठीक विपरीत समझ लीजिए। एक ऐसा डॉक्टर है, जिसे मालूम हो गया कि रोगी के पास काफी धन है, साथ में लाया है, नौकर के सिवाय इसका कोई रिश्तेदार साथ मे आया नही है। डॉक्टर ने रोगी को ऑपरेशन की सलाह दी। रोगी सहमत हो गया। डॉक्टर ने रोगी का ऑपरेशन करते-करते ही एक नस जान-बूझकर काट दी, जिससे रोगी की तत्काल मृत्यु हो गई। लोभी डॉक्टर ने रोगी की वह थैली तुरन्त अपने कब्जे मे करली और झूठे आँसू बहाते हुए नौकर को रोगी की मृत्यु की सूचना दी। वह बेचारा क्या कर सकता था? यहाँ डॉक्टर ने रोगी की हिंसा की है, हुई नही है।

अब एक तीसरा दृष्टान्त लीजिए, एक लोभी डॉक्टर का। उसने देखा कि रोगी अपने साथ बहुत पूजी लाया है। रोगी से उसने कहा कि तुम्हारा रोग दु:साध्य है, इलाज कर रहा हूँ, भगवान् करेगा तो ठीक हो जाएगा। इलाज करते-करते डॉक्टर के मन मे लोभ जागा। एक दिन उसने रोगी की दवा मे जहर की पुड़िया घोलकर कहा— 'लो यह दवा पी जाओ, इससे तुम्हारा रोग समूल नष्ट हो जाएगा।" डॉक्टर पर विश्वास करके वह दवा पी गया। भाग्यवश वह जहर ही उसके लिए अमृत गया। कहावत है—'विषस्य विषमौषधम्' विष का निवारण करने हेतु विषमय औषध होता है। रोगी एकदम स्वस्थ हो गया। रोग नष्ट हुआ जानकर रोगी और उसके रिश्तेदारों से डॉक्टर को बहुत धन्यवाद और इनाम दिया। किन्तु डॉक्टर का मनोरथ सफल न हुआ। वह मन से और कर्म से रोगी की हत्या कर चुका था, यह तो रोगी का आयुष्यवल प्रवल था कि वह जिदा रह गया। इस दृष्टान्त मे डॉक्टर ने जान-बूझकर हिंसा करने की चेष्टा की है। अत: हिंसा करने का अपराधी डॉक्टर हो चुका है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने द्रव्यहिंसा और भावहिंसा की चौभंगी इस प्रकार बताई है—

१—एक में द्रव्य से हिंसा होती है, भाव से नही।

२—दूसरा द्रव्य से भी हिंसा करता है, भाव से भी।

३—तीसरा भाव से हिंसा करता है, द्रव्य से नही।

४—चौथा न द्रव्य से हिंसा करता है, न भाव से।

पूर्वोक्त तीन दृष्टान्त क्रमश: प्रथम, द्वितीय और तृतीय भंग के ...

एक व्यक्ति मच्छीमार है, वह घर से मछली पकडने का जाल लेकर चला है। नदी में जाल डालने पर चाहे वह एक भी मछली न पकड़ सका हो, फिर भी भाव से उसने मछलियों की हिंसा कर दी है, इसलिए वह हिंसा का भागी हो गया, भले ही उसने एक भी मछली न पकड़ी हो या न मारी हो। अथवा एक व्यक्ति ऐसा है जिसने स्वयं हिंसा नही की है, दूसरा ही व्यक्ति उसके किसी दुश्मन को मार रहा है, किन्तु जिस समय वह दूसरा व्यक्ति उसके शत्रु को मार रहा है, उस समय वह खड़ा-खड़ा कह रहा है—"अच्छा हुआ, इसको तो ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए थी। यह इसी दण्ड के योग्य है।" इसमें मारने वाले को तो फल मिलता ही है, किन्तु जिस व्यक्ति ने बिलकुल प्रहार नही किया है, केवल दूसरे के द्वारा की जाने वाली हिंसा का जोरशोर से समर्थन—अनुमोदन करता है इसलिए हिंसा न करने पर भी ऐसा व्यक्ति हिंसा के फल का भागी हो गया।

एक अप्रमत्त साधु या वीतरागी साधु है, नदी पार करते है, किन्तु बहुत ही यतनापूर्वक; फिर भी कई जल-जन्तु उनके पैर के नीचे आकर (कुचल कर) मर जाते है, इतना होने के बावजूद भी उनके हिंसाजन्य पापकर्म का बन्ध नही होता और न ही उस हिंसा का फल मिलता है ?[१]

हिंसा का लक्षण :

निष्कर्ष यह है कि हिंसा का—विशेषत संकल्पजा हिंसा का—जब तक व्यक्ति त्याग नही करता, तब तक चाहे वह हिंसा न कर सके, किन्तु हिंसाजन्य पाप तो उसे लगता ही रहेगा। इसीलिए पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे बताया गया है कि व्यक्ति बाहर मे हिंसा चाहे कर सके या न कर सके, किन्तु अगर क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह आदि के वश हिंसा का परिणाम मन मे आ गया तो हिंसा हो जाती है। जैसे—दियासलाई जलती है, तब वह चाहे दूसरों को जला सके या व्यक्ति सावधान हो तो न भी जला सके, परन्तु उसका अपना मुँह तो जल ही जाता है, उसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरों को हानि पहुँचा सके या न पहुँचा सके, दूसरो को मार सके या न मार सके। वह अपने आप में आत्म-हिंसा तो कर ही लेता है। जब भी रागादि या कषायादि का भाव उत्पन्न हुआ कि स्वहिंसा हो जाती है।

---

१ अविधायापि हिंसा, [illegible] : ।
कृत्वाप्यपरो हिंसा [illegible] स्यात् ॥—५१
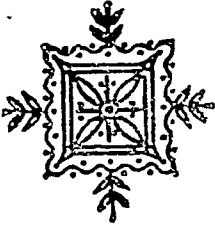
वात्सल्य भाव

☐ आचार्य श्री नानेश

आज मनुष्यों की जो दयनीय दशा बन रही है, वे किनकी शरण में जाएँ ? दुःख से निवृत्ति लेने हेतु, जो परिपूर्ण सुखी है, उनकी शरण लेने से ही वे सुखी बन सकते है। पर दुःखी व्यक्ति के पास जाने से वे अपने दुःखो से निवृत्ति नही प्राप्त कर सकते है। जैसे—एक भिखमगा दूसरे भिखमगे से भूख-निवारण करने हेतु कहे, तो क्या वह भिखारी उस भिखमगे की भूख मिटा सकता है ? उत्तर होगा—नही। ठीक इसी प्रकार ससार मे सभी व्यक्ति दुःखी है। उनके पास जाने से दुःख की निवृत्ति नही हो सकती है। इसी प्रकार भौतिक पदार्थों की याचना करने वाले, भौतिक पदार्थों में आसक्त ससारियों को भिखमंगे की उपमा दे दी जाए, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। क्योंकि प्राय सभी संसारी, तृष्णा के आवेग मे वहते हुए भिखमगे के रूपक को ही धारण किये हुए है। यही नही देव, जो अमित ऐश्वर्य के स्वामी है, उनकी भी तृष्णा का अन्त नही है। वडी विचारणीय स्थिति है कि निजी स्वरूप को छोडकर जीव पर-स्वरूप में रमण कर रहा है, उनमे ममत्व रख रहा है। ऐसी तृष्णा वाले चाहे लखपति, करोडपति भी क्यो न हो, दूसरो के दुःख दूर करने मे समर्थ नही हो सकते है। पर जो पर-पदार्थो के व्यामोह मे न पडकर साधना के वलबूते पर आध्यात्मिक सम्पत्ति के स्वामी वन चुके है, उनका सान्निध्य, उनकी शरण ग्रहण करने से ही दुःखों से छुटकारा पाया जा सकता है। शातिनाथ भगवान् जव चक्रवर्ती थे, तव उनके पास छ खण्ड की ऋद्धि थी, फिर भी आध्यात्मिक मुख की अपेक्षा रखने वाले, आध्यात्मिक लक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु छ ही खण्डों का राज्य उन्होने छोड दिया। उन्होने मोचा कि आत्मिक ऋद्धि अभी तक मुझे मिली नही है, यदि इस भौतिक ऋद्धि मे ही खुशी मनाता रहा तो मै भिखारी ही रहूँगा। अतः छ खण्ड का राज्य छोडकर वे अणगार वन गये। जैसा कि 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे यह वतलाया गया है कि—

> "चइत्ता भारह वास, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
> 'सन्ती' सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरम् ॥"

अर्थात्—शाति देने वाले शातिनाथ नामक महासमृद्धिशाली चक्रवर्ती इस लोक मे भरत क्षेत्र के, छ खड के राज्य को छोडकर अर्थात् अतीव रमणीय कामभोगो का परित्याग करके प्रधान गति मोक्ष को प्राप्त हुए। जिनके ज्ञान मे,

जिनके हृदय मे संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रति अपूर्व वात्सल्य-भाव था, ऐसे भाव के स्वामी, सभी के कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाले वीतराग देव बन गये । यदि हमारी आत्मा कर्म-प्रवाह से ससार रूपी वैतरणी मे बहती हुई वीत-राग भगवान् के वचनों पर दृढ आस्थावान् हो जाय, जो कि सम्यक्त्व का लक्षण है, उस लक्षण पर इतनी दृढ़ीभूत हो जाय कि सम्यक्त्व के सभी आचारों का भलीभाँति अपने जीवन में निर्वाह करती हुई एक दिन उस आध्यात्मिक शक्ति रूप श्री का वरण कर सके और उस प्रधान गति मोक्ष को प्राप्त कर सके ।

आचरण करने योग्य आठ सम्यक्त्व के आचारों को भव्यात्माओं को आन्तरिक जीवन मे ओत-प्रोत कर लेना चाहिये । सातवे स्थान पर जिस आचार का वर्णन आया है, वह है वात्सल्य । माता का पुत्र के प्रति अद्वितीय वात्सल्य रहता है, वह पुत्र के लिए सब कुछ सहन कर लेती है, अनन्य भाव से उसका परिपालन करती है । यह सारी चर्या उस माँ की वात्सल्य भावना का प्रतीक है । इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी पर सम्यक्दृष्टि का निःस्वार्थ वात्सल्य बन जाय तो प्रत्येक आत्मा के साथ अनन्य भाव पैदा किये जा सकते है । प्रत्येक के साथ आत्मवत् व्यवहार की स्थिति प्राप्त होती है । रूपक है—बिल्ली स्वय की सन्तान को जन्म देने के बाद उन्हे अपने दाँतों के बीच मे दबाकर सात घरों तक फिराती है, तब उन बच्चों की आँख खुलती है—ऐसा कहा जाता है । पर जब वह सात घरों तक बच्चे को दाँतों के बीच में दबाकर घूमती है, तब अपने बच्चे को जरा भी आच नही आने देती । लेकिन यदि किसी पक्षी का बच्चा उसके मुख मे आ जाय तो वह उसको खा जाती है । यह तो अज्ञानवश पशु जाति की मोह अवस्था है, पर जो मानव चिन्तनशील है, वह अपने वात्सल्य भाव का विस्तार करना सीखे । स्व-पर का भेद भूलकर सबके साथ आत्मवत् व्यवहार करे । बच्चा जन्म लेता है और माता के स्तन मे से दूध एकाएक आने लगता है, यह बच्चे के प्रति माता की वात्सल्यता का ही परिणाम है । जब भगवान् महावीर को चण्ड-कौशिक ने डक मारा, तो भगवान् के पैर के अगुष्ठ से दूधवत् धारा छूट पडी । यह उनकी प्रत्येक आत्मा के प्रति अपूर्व आत्मीयता, अद्वितीय वात्सल्यता का प्रतीक थी । यह माता के जीवन से भी बढकर भगवान् के जीवन का वात्सल्य भाव था । डक मारने वाले के प्रति भी वह नि.स्वार्थ वात्सल्य भावना दूध की धवलता के रूप मे निर्झरित हुई । प्रतिबोधित कर दिया उस चंडकौशिक को । पर आज कहाँ है नि स्वार्थ वात्सल्य भावना ? कहाँ है वह सम्यग्दृष्टि का आचार ? कहाँ है साधर्मी के प्रति सहयोग की भावना ?

एक समय का प्रसग है । दुष्काल का समय था । तब कई सम्पन्न स्थिति वालो ने अन्न खरीद लिया और अपने परिवार वालो का पोषण करने लगे । पर कई गरीब लोग क्षुधा से तडफड़ाते हुए मरने लगे । ऐसी परिस्थिति मे "बहुरत्ना वसुन्धरा" इस कहावत को चरितार्थ करने वाला एक सुदत्त नामक

सम्यग्दृष्टि श्रावक प्रभु महावीर का अनुयायी विचार करने लगा कि मेरी यह सम्पत्ति यदि मैं साधर्मी भाइयो की मदद में नियोजित कर दूँ, तो इससे बढ़कर इस नश्वर सम्पत्ति का और क्या सदुपयोग होगा। ऐसा विचार कर खुले दिल से वह साधर्मी भाइयों के लिये हर तरह से साधन जुटाने लगा, बडी हवेली बना कर सब अनाथों का, गरीबों का पोषण करने लगा, बड़ी विनम्रता और आत्मीय भावना के साथ। तीन साल तक बराबर उनका परिपालन कर उन लोगों का भी धर्म के प्रति अहोभाव उत्पन्न किया।

समय परिवर्तनशील है। समय ने पलटा खाया, दुष्काल जब सुकाल में परिवर्तित हुआ तो सभी दुष्काल पीड़ित भाई-बहिन अपनी विनम्रता, कृतज्ञता जतलाते हुए बड़े विनम्र भावों के साथ उन सेठ सा. को कहने लगे कि—"महानुभाव! आपने हमारी बहुत सुरक्षा की। आपने वात्सल्य भाव का बहुत सुन्दर अनूठा रूपक जगत् के सामने रखा। हम आपके बहुत आभारी है। अब हमें छुट्टी दीजिये। हम अपने घर जाना चाहते है।" तब सेठ कहने लगा कि वह तो आपने मुझे स्वर्णिम चान्स दिया। मेरा अहोभाग्य है कि मुझे आपकी सेवा करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। आपने मेरे पर बहुत उपकार किया।

खयाल करिये कि उपकार किया सेठ ने उन लोगों पर, पर कह क्या रहा है कि "आपने मुझ पर बड़ा उपकार किया।" कितनी विनम्रता थी, सेठ के जीवन में। सेठ ने यथार्थ मे प्रभु महावीर के सिद्धान्तों का रसपान किया था। सम्यक् दृष्टि के आचारों का भली भांति ज्ञान कर दृढता से उसका पालन किया था।

आज के युग में तो देखने को मिलता है कि प्रथम तो कोई ऐसा स्वधर्मी वात्सल्य का व्यवहार ही नही करते है। यदि कही करते भी है तो उसके पीछे नाम कमाने की, यश फैलाने की भावना अधिक काम करती है। काम कम, नाम अधिक होना चाहिये। इस बात को मानने वाले व्यक्ति कभी भी स्वधर्मी वत्सल्यता का पूरा-पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकते। वह सेठ, ऐसे लोगों मे से नही था। वह दिये गये दान को भूमि मे गये बीज की तरह गुप्त और सुरक्षित रखने वाला था।

जब सुकाल हुआ और लोग जाने की तैयारी करने लगे तो सेठ ने उन्हें एक निवेदन किया कि एक प्रीतिभोज और देना चाहता हूँ। कृपा कर मुझे संतुष्ट कीजिये। लोगो ने बात मान ली। प्रीतिभोज की जोरदार तैयारियाँ की जाने लगी। सभी को वह अपने हाथ से परोसकर जिमाने लगे। देखिये स्वधर्मी सेवा!

मुझे इसी बीच स्वर्गीय गुरुदेव श्री गणेशीलाल जी म सा. के समय का प्रसंग याद आ रहा है। गुरुदेव का जब बगड़ी चातुर्मास था, तब चातुर्मास

करने वाले सेठ लक्ष्मीचंद जी धाडीवाल स्वय स्वधर्मी भाइयों की सराहनीय सेवा करते थे। भोजनादि सभी कार्यो में भाग लेते थे। एक बार का प्रसंग है—कुछ भाई भोजन मे अपनी खुराक का ध्यान नही रख पाये, जिससे उन्हें हैजे की शिकायत हो गयी। चेप की बीमारी होने से उनकी सेवा करने मे नौकर-चाकर भी संकोच करने लगे। तो सेठ-सेठानी ने स्वय ने उनको सम्भाला, उनकी सभी प्रकार से सेवा की और उन्हे स्वस्थ कर विदा किया। यह है साधर्मी के प्रति नि.स्वार्थ वात्सल्य भाव।

हाँ! तो उस सेठ की बात कह रहा था मैं, जो सेठजी सभी को परोस रहे थे, उस समय उनके लडके ने कहा—"पिताजी! मै भी परोसूँगा।" तो उसे सहर्ष अनुमति दी गयी। वह लड़का जब परोस रहा था तो एक बहिन ने, जिसे किसी चीज की आवश्यकता थी, उसे माँगने हेतु उसने उस लडके के वस्त्र को पकड कर कहा—"यहाँ भी परोसते जाइये।" पर वह नादान, वात्सल्य भावना से अनभिज्ञ, बोल उठा कि तीन-तीन साल हो गये, यहाँ टुकड़े खाते-खाते फिर भी अभी तक तृप्ति नही हुई क्या? पल्ला पकड़ते नही छूटा? बन्धुओ! ये कठोर शब्द, उस बहिन को क्या! जीमने वाले सभी भाई-बहिनो को इतनी ठेस पहुँचाने वाले हुए कि सब के सब एक साथ उठ गये, विना पूरा भोजन किये ही रवाना होने लगे। जब सेठजी ने यह दृश्य देखा तो विचार करने लगे कि तीन साल तक जो वात्सल्य भावना का स्रोत मैंने बहाया, उस पर इस लड़के ने थोडे से कठोर शब्द कहकर पानी फेर दिया। सेठजी उन लोगों को हाथ जोडकर, पैरो मे गिरकर माफी माँगने लगे। कहने लगे कि लडके ने नादानी कर दी, आप उसे क्षमा कर दे। सभी सेठ की अपूर्व वात्सल्यता, विनम्रता से गद्गद् हो उठे। सेठ का पूरा सत्कार ग्रहण करके, सेठ को अन्तर आशीष देते हुए विदा हुए। अस्तु ?

वात्सल्य भावना तो अन्तर की होती है। प्रभु महावीर ने कहा है कि—"हे आत्मन्! तू सम्पूर्ण विश्व के साथ वात्सल्य भाव रख। यदि इतना न हो सके तो कम से कम परिवार वालो के प्रति और साधर्मी भाइयों के प्रति तो अपनी वात्सल्य भावना का विस्तार होना चाहिये। वात्सल्य भाव रखने वालो को सबक लेना है कि समाज मे रहते हुए कभी कुछ बोलने अथवा सुनने का प्रसंग आ जाए तो भी अपने क्षमा गुण का विकास कर आत्मवत् व्यवहार का खयाल कर अपने वात्सल्य का निर्झर बहाते रहे। अपने जीवन में समागत समूल दुःखो से निवृत्ति पाने हेतु वीतराग वाणी में अवगाहन करते हुए सम्यक्त्व के सातवें आचार को जीवन मे स्थान देगे तो जीवन अतीव मगलमय बन जाएगा। इन्ही शुभ भावो के साथ।

• □ •

अनुकम्पा की अवधारणा

☐ आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

धर्म का प्रारम्भ : परहित का विचार करने से :

अपने हित एवं सुख-दु.ख के समान दूसरो के हित और सुख-दुःख का विचार आने पर ही व्यक्ति के जीवन मे सच्चे धर्म का प्रारम्भ होता है। मुझे ही सुख मिले, दूसरो का चाहे जो हो, यह वृत्ति तो पशु-पक्षियो में प्राय: होती है। मनुष्य में भी अगर यह स्वार्थवृत्ति हो, दूसरो के हित या सुख-दु.ख का विचार न करके अपने ही सकीर्ण स्वार्थ और सुख-दुःख को महत्त्व देने की वृत्ति—प्रवृत्ति हो, तो वह भी पशुवृत्ति ही समझनी चाहिए। केवल 'स्व' का ही विचार तो जीव को अनादि काल से मिला हुआ है, वही सब पापों का बीज है, वही सकीर्ण स्वार्थवृत्ति अधर्म का मूल है। समस्त पाप प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संकीर्ण स्वार्थवृत्ति मे से ही पनपते है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का जाल भी सकीर्ण स्वार्थ के इसी केन्द्र के आसपास बिछता है। किसी भी पाप के मूल की खोज करेगे तो आपको यही सकीर्ण 'स्व' का विचार ही प्रतीत होगा। पाप-वृत्ति और पाप-प्रवृत्ति को निर्मूल करना हो तो इस संकुचित स्वार्थ-वृत्ति के मिथ्यादर्शन का कांटा अन्तर से निकालना ही होगा। इस संकुचित स्वार्थवृत्ति पर चोट पडने पर ही, अर्थात्—स्वार्थवृत्ति मन्द होने पर ही हृदय-भूमि में धर्म-वृक्ष अंकुरित होता है। 'स्व' की संकुचित स्वार्थवृत्ति को 'सर्व' मे परिणत करने पर ही सच्चे माने मे अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, अनुकम्पा, विनय, नम्रता, ऋजुता, पवित्रता, सयम, त्याग, तप आदि सद्धर्मो का पालन हो सकता है। दूसरो को अपना और अपने जैसा मानने, उनके हित, सुख-दुःख या जीवन को अपना हित, सुख-दु'ख या जीवन समझने पर ही व्यक्ति हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, ईर्ष्या, दम्भ, छल, ठगी, मिथ्यात्व, क्रोध, अहकार, आदि पापो को करने से रुक सकता है। दूसरे प्राणियों को आत्मीय मानने तथा उनके कष्ट या सकट को अपना कष्ट या सकट समझने पर कौन किस की हिसा या चोरी करेगा? कौन किसके साथ झूठ या व्यभि-चार सेवन करेगा? कौन अत्यन्त जरूरी साधनो से अधिक परिग्रह रखकर या वस्तुओं का सग्रह करके दूसरो को संकट मे डालेगा? व्यक्ति जब दूसरो को अपना समझ लेता है, तब क्या स्वय ही स्वयं को धोखा देगा। एक हाथ दूसरे हाथ को मारेगा—पीटेगा? इसी 'आत्मीय भावना—आत्मवत् सर्वभूतेषु' की

१. यहां 'स्व' का अर्थ 'आत्मा' नही, परन्तु 'स्वार्थ' अर्थात्—'स्व-शरीर और उससे सम्बन्धित अन्य बातो को समझना चाहिए।' —सं०

भावना को तात्विक दृष्टि से समझाने के लिए श्रमण भगवान् महावीर ने 'आचाराग सूत्र' में स्पष्ट कहा है—

तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परितावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'उद्देवेयव्वं' ति मन्नसि।

—आचारांग १/५/५

अर्थात्—तुम वही हो, जिसे तुम मारना है, ऐसा समझते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम सताना है ऐसा मानते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम परिताप देना चाहते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम गुलाम बनाकर या कैद करके रखना चाहते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम डराना-धमकाना चाहते हो।

इससे स्पष्ट है, जो दूसरों को सताना-मारना या दुःखी करना चाहता है, वह अपने आपको सताता-मारता या दुःखी करता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि जो दूसरो को सताता, मारता-पीटता या त्रास देता है, उसके कारण हुए घोर पाप कर्म के बन्ध के कारण स्वयं को ही उसके फलभोग के समय उतना ही नही बल्कि उससे भी अधिक त्रस्त, संतप्त एवं दुःखी होना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि अहिसादि धर्म का प्रारम्भ दूसरों के सुख-दुःख का भान, पर-पीडा त्याग, अथवा दुःखी मात्र के प्रति अत्यन्त दया—अनुकम्पा, गुणीजनो के प्रति अद्वेष, और सर्वत्र औचित्यपूर्वक व्यवहार से होता है। परार्थ भावना के बीजारोपण से ही धर्म का श्रीगणेश होता है। जब चित्त परार्थ-भावना से वासित होता है, तभी वह मनुष्य को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध करके मुक्ति तक ले जा सकता है। यही परार्थभावना आत्मवत् सर्वभूतेषु की या स्व-परहित की भावना ही अनुकम्पा के रूप मे सम्यग्दृष्टि के जीवन मे अवतरित होती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सम्यग्-दर्शनी को पहचानने परखने के जो पाँच लक्षण (चिह्न) बताये है, उनमे से एक महत्त्वपूर्ण लक्षण अनुकम्पा को बताया है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तर मे समग्र प्राणि जगत् के प्रति आत्मीयता का ऐसा निर्मल प्रवाह बहता रहता है कि उसका हृदय किसी भी प्राणी के दुःख, कष्ट या संकट को देखकर द्रवित हो उठता है। यही नही, अपराधी, दुर्जन, पापी या अधर्मी को देखकर भी उसके अन्तर मे अनुकम्पा—वात्सल्यमयी दृष्टि जाग उठती है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आवश्यकता पड़ने पर अपने कर्तव्य या दायित्व के नाते अपराधी को दण्ड भी देता है, परन्तु अन्तर मे उसके हृदय मे उसके प्रति जरा भी द्वेष, रोष या दुष्ट बुद्धि नही होती, उसको सुधारने की, उसकी आत्मा का हित करने की

अनुकम्पा की अवधारणा

□ आचार्य श्री देवेन्द्र मुनि

धर्म का प्रारम्भ : परहित का विचार करने से :

अपने हित एवं सुख-दुःख के समान दूसरो के हित और सुख-दुःख का विचार आने पर ही व्यक्ति के जीवन मे सच्चे धर्म का प्रारम्भ होता है। मुझे ही सुख मिले, दूसरो का चाहे जो हो, यह वृत्ति तो पशु-पक्षियो में प्राय: होती है। मनुष्य में भी अगर यह स्वार्थवृत्ति हो, दूसरो के हित या सुख-दु.ख का विचार न करके अपने ही संकीर्ण स्वार्थ और सुख-दु.ख को महत्त्व देने की वृत्ति—प्रवृत्ति हो, तो वह भी पशुवृत्ति ही समझनी चाहिए। केवल 'स्व' का ही विचार तो जीव को अनादि काल से मिला हुआ है, वही सब पापों का बीज है, वही सकीर्ण स्वार्थवृत्ति अधर्म का मूल है। समस्त पाप प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संकीर्ण स्वार्थवृत्ति मे से ही पनपते है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का जाल भी सकीर्ण स्वार्थ के इसी केन्द्र के आसपास बिछता है। किसी भी पाप के मूल की खोज करेगे तो आपको यही संकीर्ण 'स्व' का विचार ही प्रतीत होगा। पाप-वृत्ति और पाप-प्रवृत्ति को निर्मूल करना हो तो इस संकुचित स्वार्थ-वृत्ति के मिथ्यादर्शन का कांटा अन्तर से निकालना ही होगा। इस सकुचित स्वार्थवृत्ति पर चोट पडने पर ही, अर्थात्—स्वार्थवृत्ति मन्द होने पर ही हृदय-भूमि में धर्म-वृक्ष अकुरित होता है। 'स्व' की सकुचित स्वार्थवृत्ति को 'सर्व' में परिणत करने पर ही सच्चे माने में अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्षमा, दया, अनुकम्पा, विनय, नम्रता, ऋजुता, पवित्रता, सयम, त्याग, तप आदि सद्धर्मो का पालन हो सकता है। दूसरों को अपना और अपने जैसा मानने, उनके हित, सुख-दु.ख या जीवन को अपना हित, सुख-दुःख या जीवन समझने पर ही व्यक्ति हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, परिग्रह, ईर्ष्या, दम्भ, छल, ठगी, मिथ्यात्व, क्रोध, अहंकार, आदि पापो को करने से रुक सकता है। दूसरे प्राणियों को आत्मीय मानने तथा उनके कष्ट या सकट को अपना कष्ट या सकट समझने पर कौन किस की हिसा या चोरी करेगा? कौन किसके साथ झूठ या व्यभि-चार सेवन करेगा? कौन अत्यन्त जरूरी साधनो से अधिक परिग्रह रखकर या वस्तुओं का संग्रह करके दूसरो को संकट मे डालेगा? व्यक्ति जब दूसरो को अपना समझ लेता है, तब क्या स्वय ही स्वय को धोखा देगा। एक हाथ दूसरे हाथ को मारेगा—पीटेगा? इसी 'आत्मीय भावना—आत्मवत् सर्वभूतेषु' की

---

१. यहां 'स्व' का अर्थ 'आत्मा' नहीं, परन्तु 'स्वार्थ' अर्थात्—'स्व-शरीर और उससे सम्बन्धित अन्य बातो को समझना चाहिए।' —सं०

भावना को तात्विक दृष्टि से समझाने के लिए श्रमण भगवान् महावीर ने 'आचाराग सूत्र' मे स्पष्ट कहा है—

तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परितावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव, जं 'उद्द्वेयव्वं' ति मन्नसि।

—आचारांग १/५/५

अर्थात्—तुम वही हो, जिसे तुम मारना है, ऐसा समझते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम सताना है ऐसा मानते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम परिताप देना चाहते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम गुलाम बनाकर या कैद करके रखना चाहते हो।
तुम वही हो, जिसे तुम डराना-धमकाना चाहते हो।

इससे स्पष्ट है, जो दूसरो को सताना-मारना या दुःखी करना चाहता है, वह अपने आपको सताता-मारता या दु.खी करता है। इसका तात्पर्य यह भी है कि जो दूसरो को सताता, मारता-पीटता या त्रास देता है, उसके कारण हुए घोर पाप कर्म के बन्ध के कारण स्वय को ही उसके फलभोग के समय उतना ही नही बल्कि उससे भी अधिक त्रस्त, सतप्त एव दुःखी होना पड़ता है।

निष्कर्ष यह है कि अहिसादि धर्म का प्रारम्भ दूसरों के सुख-दु.ख का भान, पर-पीडा त्याग, अथवा दु.खी मात्र के प्रति अत्यन्त दया—अनुकम्पा, गुणीजनो के प्रति अद्वेप, और सर्वत्र औचित्यपूर्वक व्यवहार से होता है। परार्थ भावना के बीजारोपण से ही धर्म का श्रीगणेश होता है। जब चित्त परार्थ-भावना से वासित होता है, तभी वह मनुष्य को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुद्ध करके मुक्ति तक ले जा सकता है। यही परार्थभावना आत्मवत् सर्वभूतेपु की या स्व-परहित की भावना ही अनुकम्पा के रूप में सम्यग्दृष्टि के जीवन मे अवतरित होती है। इसीलिए भगवान् महावीर ने सम्यग्-दर्शनी को पहचानने परखने के जो पाँच लक्षण (चिह्न) बताये है, उनमे से एक महत्त्वपूर्ण लक्षण अनुकम्पा को बताया है। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है, उसके अन्तर मे समग्र प्राणि जगत् के प्रति आत्मीयता का ऐसा निर्मल प्रवाह बहता रहता है कि उसका हृदय किसी भी प्राणी के दु.ख, कष्ट या संकट को देखकर द्रवित हो उठता है। यही नही, अपराधी, दुर्जन, पापी या अधर्मी को देखकर भी उसके अन्तर मे अनुकम्पा—वात्सल्यमयी दृष्टि जाग उठती है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि गृहस्थ आवश्यकता पडने पर अपने कर्तव्य या दायित्व के नाते अपराधी को दण्ड भी देता है, परन्तु अन्तर से उसके हृदय मे उसके प्रति जरा भी द्वेष, रोष या दुष्ट बुद्धि नही होती, उसको सुधारने की, उसकी आत्मा का हित करने की

ही बुद्धि होती है। उस अपराधी को समाज के भयंकर कोप का भागी न होना पड़े, भविष्य मे उसे उस अपराध के कारण घोर दु.ख मे न पड़ना पड़े, इस दृष्टि से सम्यक्त्वी आत्मा उसे यथोचित शारीरिक सजा भी देता है परन्तु सम्यग्दृष्टि के अनुकम्पा प्रवण हृदय में उसका जरा भी नुकसान या अहित करने की वृत्ति नही होती।

सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की पहचान : अनुकम्पा

किसी व्यक्ति को भाव से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है या नही, इसकी एक पहचान अनुकम्पा से होती है। जिसकी अन्तरात्मा जीव सृष्टि के किसी भी प्राणी, व्यक्ति, समाज और समष्टि पर आ पड़े हुए दु:ख और संकट को देखकर द्रवित नही होती, जिसके हृदय मे अनुकम्पा नही फूटती, समझ लो अभी वह जीव सम्यग्दर्शन से दूर है। सम्यग्दर्शन से ही धर्माचरण (दर्शनाचार) का प्रारम्भ होता है और-जिसके जीवन मे अनुकम्पा नही आई अभी उसमे सद्धर्म अंकुरित ही नही हुआ। जिसका हृदय सवेदनशील नही, सहानुभूतिपरायण नही, सह-अस्तित्व की भावना से ओतप्रोत नही, परार्थ की वृत्ति से परिपूर्ण नही, वह अनुकम्पाहीन हृदय सम्यक्त्व रूप धर्म से दूर है। इसके विपरीत जिसके दिल में दु:खी को देखकर घृणा, आक्रोश, तिरस्कार, मत्सर, अहकार, ईर्ष्या, बदले की भावना, उसे गिराने और अधिक दु.खी करने की वृत्ति प्रबल रूप से उभरती हो तो समझ लो उस पाषाणहृदय निपट स्वार्थी व्यक्ति ने भी सम्यग्दर्शन का प्रकाश नही पाया है। वह अभी संकुचित स्वार्थ, कठोरता, अहंता-ममता आदि दुर्गुणों के गाढ़ अन्धकार से घिरा हुआ है। अत: अनुकम्पा इस बात की प्रतीति करा देती है कि जिस व्यक्ति में प्राणि मात्र के प्रति आत्मीयता का भाव जागृत हुआ है, किसी प्राणी के दु.ख को जान-देखकर जिसका हृदय कम्पित हो उठता है, वह सम्यग्दृष्टि है, सम्यक्त्वी है।

अनुकम्पा क्या है, क्या नहीं ?

जब सम्यग्दृष्टि को परखने की एक निशानी अनुकम्पा है, तब प्रश्न होता है कि अनुकम्पा किसे कहते है ?

सामान्य रूप से अनुकम्पा का अर्थ होता है—परदु.खानुकूलं कम्पन—'अनुकम्पा'। इसका फलितार्थ यह है कि अपने-पराये के भेद या अन्य किसी पक्षपात के बिना किसी भी धर्म, जाति, प्रान्त या राष्ट्र के दु खी प्राणी को देख-सुनकर हृदय द्रवित या कम्पित हो उठना तथा उस दु ख को दूर करने को तत्पर होना– अनुकम्पा है। गुणभूषण श्रावकाचार मे इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है—

सर्वजन्तुषु चित्तस्य, कृपार्द्रत्वं कृपालवः।
सद्धर्मस्य परं बीजमनुकम्पां वदन्ति ताम्॥

समस्त प्राणियों पर चित्त के दयार्द्र होने को तथा सद्धर्म के उत्कृष्ट बीज को दयालुगण 'अनुकम्पा' कहते हैं।

अनुकम्पा धारण करने वाले व्यक्ति की आत्मा दया से इतनी स्निग्ध या आर्द्र हो जाती है कि वह किसी भी मनुष्य या प्राणी को कष्ट, संकट या दुःख में पडा देखकर चुपचाप नही रह सकता। उसके हृदय मे दुखी को देख कर सहसा यह भावना उठती है कि "जैसे मै दुःख आ पड़ने पर उससे मुक्त होकर सुखी होना चाहता हूँ, वैसे यह जीव भी दुःख मुक्त होकर सुखी होना चाहता है। दु.ख जैसा मुझे कष्ट देता है. वैसा इसे भी देता होगा।" इस प्रकार दूसरे प्राणी या मानव को दु.खित या पीडित देखकर अनुकम्पाशील सम्यग्दृष्टि के हृदय मे उसके अनुकूल अनुभूति जाग जाती है। वह दूसरे के दुःख और कष्ट को अपना ही कष्ट या दुःख समझने लगता है। भगवान् महावीर के इस कथन के प्रति उसकी दृढ श्रद्धा होती है –

'सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया, दुक्खपडिकूला।'

—आचारांग १/२/३/२४०

सभी जीवो को आयुष्य प्रिय है। सभी जीव सुख चाहते है, दु.ख सबको प्रतिकूल—अप्रिय लगता है। अनुकम्पा मे प्राणि मात्र के साथ आत्मीयता, एकता या सहानुभूति होती है। वैसे दया, करुणा और अनुकम्पा मे थोडा-सा अन्तर है। दया मे दूसरो के साथ सहानुभूति होती है, साथ ही दया में प्रायः अह-कर्त्तृत्व का भाव आ जाता है। करुणा में दूसरो को दुःखी देखकर आघात पहुँचता है। परन्तु अनुकम्पा मे आत्मज्ञानपूर्वक आत्मीयता होती है। इसमे सर्वप्रथम मनुष्य अपनी आत्मा को भलीभांति जान लेता है, आत्मा का हित या आत्मसुख किस मे है? इसे समझ लेता है। फिर यह अनुभव करता है कि जैसा अपनी आत्मा है, वैसा ही दूसरे प्राणी का है। इसके अनुकम्पाशील व्यक्ति का अन्त.करण दूसरो के प्रति आत्मीयता के कारण एकरस और समभावी बन जाता है। कहते है, एक व्यक्ति ने रामकृष्ण परमहस के मना करने पर भी बैल की पीठ पर बेत से मारा, उसके निशान रामकृष्ण परमहंस की पीठ पर पड गये। यह था अनुकम्पा का ज्वलन्त उदाहरण! रघुवश मे वर्णन आता है कि पार्वती को एक बिल्ली के बच्चे के प्रति इतनी आत्मीयता थी कि उसके मुँह पर किसी ने नोच लिया था, उसके निशान पार्वती के मुँह पर हो गये थे। इस प्रकार अनुकम्पाशील व्यक्ति का हृदय माता का-सा होता है। इसका कारण यह है कि दूसरो के सुख-दु.ख का सवेदन अनुकम्पापरायण स्वयं अनुभव करता है। दूसरे का दुःख वह अपना ही दुःख समझता है। इसलिए वह महसूस करता है कि मै दूसरे का नही, अपना ही दुःख दूर कर... अपनी शक्ति भर दूसरो के दुःख का निवारणोपाय करता है। ... चुभने पर व्यक्ति जैसे हाथ से खीच कर निकाल लेता है, वैसे ही दूसरे

अहित अपने ही प्रतीत हुए और रहा न गया, इसलिए दूर किये। इस प्रकार सहज स्थिति बन गई। यही कारण है कि इसमें निःस्वार्थ भाव से दूसरे का दुःख दूर करने का नम्र प्रयत्न होता है, किसी प्रकार की आशा या अपेक्षा इसमें नही रखी जाती और न ही कर्तृत्व का अभिमान इसमे होता है, न ही फलाकांक्षा का भाव।

अनुकम्पा के विषय में किसी प्रकार की उलझन न रहे, इस दृष्टि से आचार्यो ने इसके दो भेद बताये है—द्रव्य-अनुकम्पा और भाव-अनुकम्पा। जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ और सुख-सुविधा की सामग्री जिन्हे प्राप्त है, परन्तु जो सद्धर्माचरण से रहित है, यथार्थ जीवन-दृष्टि से वंचित है, उनके प्रति करुणा से अन्तर द्रवित हो जाना तथा उन्हे सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो, ऐसी सद्‌भावनापूर्वक यथामति यथाशक्ति इस दिशा में सच्चे अन्तःकरण से प्रयास करना—भाव अनुकम्पा है। अमितगति के अनुसार—

जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्रम्यमाणे जीवग्रामे दुःखितेऽनेकभेवे।
चित्तार्द्रत्वं यद् विधत्ते महात्मा तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीये॥

अर्थात्—कर्मवश संसार समुद्र मे भ्रमण करते हुए अनेक प्रकार के दु खित जीवों को देखकर जो महान् आत्मा चित्त में आर्द्रता दयालुता धारण करता है, उसी को तत्त्ववेत्ता दार्शनिक करुणा—भाव-अनुकम्पा कहते है।

अभिप्राय यह है कि कर्मो के कारण जन्म, जरा, मृत्यु, रोग आदि नानाविध दुःखो को भोगते हुए, तथा चारों गतियो मे भटकते हुए जीवों पर आत्मीयता लाकर जो दयार्द्र पुरुप उन्हें सम्यक्‌बोध देता है, दुःखो से मुक्त होने का मार्ग बताता है, आत्मिक सुख-प्राप्ति का उपाय बताता है उसकी इस सक्रिय आत्मौपम्य भावना को ज्ञानी पुरुप भाव-अनुकम्पा कहते है।

दूसरी ओर, जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ के अभाव में पीड़ित एवं दुखित होते हुए आत्माओ को देखकर उनके प्रति अन्तर में सहानुभूति पैदा होना और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करना द्रव्य-अनुकम्पा है।

यह स्मरण रहे—द्रव्य-अनुकम्पा के साथ भाव-अनुकम्पा होनी जरूरी है। भाव-अनुकम्पा में अनुकम्पा का तत्त्वज्ञान होता है। उससे हृदय मे एकात्मभावना, हृदय की कोमलता, दयार्द्रता, सवेदनशीलता, आत्मवत् सर्वभूतेपु की भावना, समस्त प्राणियो में स्वतुल्य बुद्धि, सर्वात्मसमदृष्टि एव आत्मीयता, सहानुभूति आदि भी भाव-अनुकम्पा के अंग है। इसमे सर्वप्रथम आत्मा का तत्त्वज्ञान, फिर सर्वात्मैकत्व भावना पनपती है।

यह ध्यान रहे कि स्वयं व्यक्ति यदि साधन सम्पन्न हो, अथवा दूसरों से साधन दिलाने की प्रभावशील क्षमता हो तो साधनहीन के प्रति द्रव्य-अनुकम्पा

के विना सहानुभूतिशून्य या आत्मीयता की भावना से रहित अध्यात्म या वैराग्य का कोरा उपदेश दे देने में भाव-अनुकम्पा की इति—समाप्ति नही हो जाती। आत्मतुल्य दृष्टि से जगत् के जीवो को देखने वाले व्यक्ति में ही सच्ची अनुकम्पा प्रकट होती है।[1]

कोई भी प्राणी दुःखी न हो, सभी प्राणी सुखी हों, तथा दूसरों को अज्ञानादिवश दुःखित देखकर निःस्वार्थ भाव से सुखी वनाने की भावना भी भावानुकम्पा है। भाव-अनुकम्पापूर्वक यथाशक्ति यथामति किसी दुःखी, पीड़ित आदि को सहायता देकर दुःख मिटाना द्रव्य-अनुकम्पा है। कई लोग कहते है कि हमारे पास धन इतना नही है कि हम अपना गृहस्थ जीवन चलाने के वाद कुछ वचत कर सके और उसमें से दीन-दुखियों की मदद कर सके। परन्तु किसी भी दुःखित—पीड़ित को सहायता केवल धन से ही नही, किन्तु तन से शारीरिक सेवा देकर, वचन से सहानुभूति प्रगट करके, आश्वासन प्रोत्साहन तथा वौद्धिक सत्परामर्श-देकर अथवा दूसरों से सहायता दिलवा कर या दूसरों को सहायता देने का कहकर सहयोग प्रदान कर सकते है। कई निर्धन व्यक्तियों का हृदय भी इतना दयार्द्र एवं अनुकम्पाशील होता है कि वह स्वयं अपने खर्च मे कतरव्योंत करके दुःखित और पीड़ित व्यक्ति को अर्थ-सहयोग दे देते है। उनकी परमार्थ भावना वह पीडित और दुःखित प्राणी को देखकर उसके दुःख दूर किये विना रह ही नही सकती।

अमेरिका के तत्कालीन न्यायाधीश एब्राहिम लिंकन अपनी घोडा गाडी में वैठकर न्यायालय मे जा रहे थे। तभी रास्ते मे उन्होने एक सूअर को कीचड़ मे फसे हुए और निकलने के लिए छटपटाते देखा। उन्होने अपने सईस या किसी नौकर को आदेश नही दिया। घोडागाडी रुकवाकर वह स्वय उतरे और कीचड़ में फसे हुए सूअर को पकडकर वाहर निकाला। यद्यपि सूअर के द्वारा अगों को फडफडाने से कीचड़ उछल कर लिंकन के कपडो पर लग गया था। परन्तु सूअर के कष्ट को अपना कष्ट समझकर उन्होने उसे वाहर निकाल कर उसका कष्ट दूर कर दिया, इसका उन्हे वहुत सन्तोप था। सूअर की आत्मा को न्यायाधीश लिंकन ने अपनी आत्मा के तुल्य समझा। यह भाव-अनुकम्पापूर्वक द्रव्य-अनुकम्पा का जीता-जागता उदाहरण है।

---

१ अनुकम्पा दुःखितेषु अपक्षपातेन दुःखप्रहाणेच्छा, पक्षपातेन तु करुणा स्वपुत्रादौ व्याघ्रादीनामप्यस्त्येव। सा चाऽनुकम्पा द्रव्यतो भावतश्च भवति। द्रव्यतः सत्या शक्तौ दुःखप्रतीकारेण, भावत आर्द्रहृदयत्वेन।

—योगशास्त्र प्रकाश २, श्लो. १५ टीका

'आत्मौपम्येन सर्वं पश्यतो हि सा (अनुकम्पा) स्यात्।'

—पचलिंगी प्रकरण गाथा १ टीका

जैन इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ अनुकम्पा की जीती-जागती तस्वीर प्रस्तुत करता है। कर्मयोगी श्रीकृष्ण भगवान अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ हाथी पर सवार होकर जा रहे थे। रास्ते में उनकी दृष्टि सहसा एक जराजीर्ण बूढ़े पर पडी। वह बेचारा अकेला ही काँपते हाथो से एक-एक ईट उठाकर घर के अन्दर रख रहा था। उस दु:खित और असहाय वृद्ध को देखकर श्रीकृष्ण का हृदय अनुकम्पा से भर आया। उन्होने किसी सेवक को आज्ञा नही दी, स्वयं हाथी से उतर पड़े और चुपचाप स्वयं ईटे उठाकर रखने लगे। श्रीकृष्णजी को यह करते देख उनके सभी सेवक भी उस कार्य में जुट पड़े। थोडी देर मे बूढे की तमाम ईटे अन्दर रख दी गई। वृद्ध ने श्रीकृष्णजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट की।

अनुकम्पा का व्यावहारिक रूप

इस प्रकार की अनुकम्पा के कारण ही श्रीकृष्णजी में सम्यग्दृष्टि की यथार्थ पहचान हो गई। वृद्ध को श्रीकृष्णजी द्वारा दी गई सहायता यद्यपि द्रव्य-अनुकम्पा है परन्तु इसके गर्भ में भाव-अनुकम्पा न होती तो कोरी द्रव्य-अनुकम्पा नि:स्वार्थभाव से आत्मौपम्यदृष्टि से न होती, अकेली द्रव्य-अनुकम्पा के पीछे आत्मौपम्य का ज्ञान नही होता। नि.स्वार्थ भाव या किसी प्रकार का निष्कांक्ष भाव भी नही आता। इसी कारण भगवान् महावीर ने स्पष्ट शब्दो में कहा है—**"पढमं नाण तओ दया।"**

इसका भावार्थ यह है कि पहले यह ज्ञान होना चाहिए कि दूसरे प्राणियों मे भी मेरे समान आत्मा विलसित हो रहा है। ऐसी आत्मीयता जहाँ होगी, वहां अनुकम्पा पात्र को जरा भी दु:ख न हो, इस प्रकार जीने की भावना स्वाभाविक रहती है। इतना ही नही, उसके साथ सहानुभूति, सहयोग भावना और तत्पश्चात् सहिष्णुतापूर्वक व्यवहार, अर्थात्—अनुकम्पापात्र व्यक्ति के हित या सुख के लिए स्वयं कष्ट सहने, असुविधा उठाने की वृत्ति-प्रवृत्तिपूर्वक उसका जीवन-व्यवहार होगा।

☐ अहिसा है दूसरो के जीवन के प्रति, उनके व्यक्तित्व के प्रति आदर। जैसे हम अपने ढंग से सत्य के उपासक है, वैसे ही दूसरा भी अपने समझे हुए सत्य का उपासक है। उसकी जीवन साधना मे हमारी ओर से कोई बाधा न आवे यह देखना हमारा कर्त्तव्य है। अगर उसके साथ हमारा मतभेद हुआ, उसके और हमारे रास्ते मे विरोध आया, तो सबसे पहले हम विचार-विनिमय के द्वारा समझौता करने की कोशिश करे। दोनों का समाधान हो, ऐसा कोई रास्ता निकाले। पूरी-पूरी कोशिश करने के बाद अगर हम देखते है कि शब्दों के द्वारा, दलीलों के द्वारा हम अपने विरोधी को समझा नही सकते, तो अन्याय बरदास्त करना हमारा काम नहीं है।

—काका कालेलकर

दयालुता

☐ आचार्य जयन्तसेन सूरि

दया-ज्ञान का फल है। ज्ञान विचार है तो दया आचार। जिस व्यक्ति में ज्ञान तो है; पर सहानुभूति नही है, वह कितना भी श्रेष्ठ हो, कितना भी प्रसिद्ध हो, उसमें मानवता नही है यह निश्चित है।

दयालुता ही एक ऐसा गुण है, जिससे मानवता का अनुमान लगाया जा सकता है, जो निर्दय है, क्रूर है, वह दानव है; मानव नही। शास्त्रीय वाक्य है–

"पढ़मं नाणं तओ दया" —दशवैकालिक ४/१०

(पहले ज्ञान और फिर दया।)

ज्ञान के बाद दया की अनिवार्य आवश्यकता बतायी गयी है। दया को माता कहा जाता है। यदि यह उपमा ठीक है तो हमें ज्ञान को पिता मानना होगा।

"धम्मस्स जणणी दया।" (दया धर्म की माता है।)

ज्ञान और दया के दाम्पत्य से धर्म रूपी पुत्र की उत्पत्ति होती है। कितनी अच्छी कल्पना है यह। ज्ञान पिता की तरह कठोर स्वभाव का होता है। पुत्र को पढा-लिखा कर वह विद्वान् बनाना चाहता है। दया माता की तरह धर्म रूपी पुत्र से प्यार करती है; परन्तु रहती है ज्ञान के अंकुश में। हिसा के कारण अच्छे से अच्छा साधक भी मलिन हो जाता है।

अनुशासन के लिए दृढता और न्याय पर्याप्त है। हिंसा द्वारा होने वाला अनुशासन अस्थायी होता है, इसलिए अनुशासन मे भी अहिसा का प्रयोग करना चाहिये—

"अहिंसयैव भूतानां, कार्यम् श्रेयोऽनुशासनम् ।।"

—मनुस्मृतिः २/१५९

(अहिसा के द्वारा ही प्राणियों पर किया गया अनुशासन श्रेयस्कर होता है।)

दयालु व्यक्ति न दूसरों से घबराता है और न ऐसा व्यवहार ही करता है कि उससे दूसरे लोग घबराने लगें—

अकुश छूट जाए तो विधवा दया (माता) धार्मिकता के नाम पर अन्ध-श्रद्धा फैलाने लगेगी, धर्म की जगह धार्मिक कट्टरता और सकीर्णता उत्पन्न कर के मानव-जाति मे पारम्परिक संघर्ष के बीज बो देगी।

भारत के दो टुकड़े जिस सांप्रदायिक कट्टरता के फलस्वरूप हुए थे, वह ज्ञान के अंकुश से रहित थी, इसलिए यह जरूरी है कि हम ज्ञान, दया और धर्म की त्रिपुटी को सदैव याद रखे।

दिल मे दया रहे तो वैर नही रह सकता—

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।।"

—योगदर्शन : २/४५

(अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उसके सान्निध्य मे वैर छूट जाता है।)

वैर से हिंसा की भावना बनी रहती है, जो साधना को दूषित कर देती है—

"यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः ।।"

—गीता: १२/१५

(जो न किसी प्राणी को उद्विग्न करता है और न स्वयं ही किसी अन्य प्राणी के व्यवहार से उद्विग्न होता है (वही साधक हो सकता है।)

हिंसा का निषेध करते हुए आदेश दिया गया है—

"मा हिंसीः 'पुरुषं' जगत् ।। —यजुर्वेद १६/३

(मनुष्य और जंगम (गाय, कबूतर आदि) प्राणियों की हिंसा मत करो।)

दया को करुणा भी कह सकते है। एक बौद्ध ग्रन्थ में 'करुणा' की बहुत अच्छी परिभाषा और व्युत्पत्ति इन शब्दो मे पायी जाती है—

"परदुक्खे सति साधुनं हृदयकम्पनं करोतिति करुणा, किणाति मा परदुक्खं हिंसति विनासेति, इति करुणा।" बुद्धि दिमाग्ग. ६/६२

(दूसरों के दुःख मे सज्जनों के हृदय को जो कंपा देती है वह करुणा है, दूसरों के दुःख को जो खरीद लेती है, नष्ट कर देती है, वह करुणा कहलाती है।)

"यत्नादपि परक्लेशं, हंतु या हृदि जायते।
इच्छा भूमिसुर श्रेष्ठ, सा दया परिकीर्तिता ।।"

—शब्दस्तोममहानिधिः २११

(हे ब्राह्मण श्रेष्ठ ! पराये दुःख को प्रयत्न पूर्वक दूर करने के लिए हृदय मे जो इच्छा पैदा होती है, वही 'दया' कही जाती है।)

निर्दय हृदय मे सद्गुण अंकुरित नही हो सकते है, दया जिस व्यक्ति के हृदय मे निवास करती है, वह 'दयालु' कहलाता है और उसकी समस्त प्रवृत्तियो का सामूहिक नाम है दयालुता।

पवित्र मार्ग का अनुसरण करने वालो को 'दयालुता' नामक दिव्य सद्-गुण की भावना अवश्य करनी चाहिये।

□□

दया-माता की आराधना

□ जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म० सा०

कभी-कभी चिकने कर्म सामुदायिक रूप से बांधे और भोगे जाते है। जैसे बहुत-से लोग कोई मेला देखने गये और बहुत राजी हुए, किसी ऐसे स्थान पर गये जहाँ जीवों का वध होता है और वध को देखकर खुशी मनायी, तो ऐसे प्रसगों पर सामूहिक कर्म बधन होता है और सामूहिक रूप में उनको भोगना भी पडता है।

माताजी के स्थान पर बकरों और भैंसों का वध किया जाता है। लोग अज्ञानवश होकर समझते है कि ऐसा करके वे माताजी को प्रसन्न कर रहे हैं और उनको प्रसन्न करेंगे तो हमे भी प्रसन्नता प्राप्त होगी। ऐसा सोचना मूर्खता है। लोग माताजी का स्वरूप भूल गये है और उसको प्रसन्न करने का तरीका भी भूल गये है। इसी कारण वे नृशंस और अनार्य तरीके आज भी काम में लाते है। सच समझो तो हम साधु लोग माताजी के सच्चे पुजारी है। हम उनके पडे है और प्रतिदिन उनकी पूजा किया करते है। हम तो रात-दिन उनका स्मरण किया करते है। यह ओघा, पूजणी और मुहपत्ती जो हमारे पास है, माताजी की सेवा-पूजा के लिए ही है। उन माताजी की महिमा कम नही है। अगर उनका सच्चा स्वरूप समझ कर कोई उनकी ठीक तरह उपासना करे तो उसे किसी चीज की कमी नही रहती। वह बलदेव बन सकता है और तीर्थंकर भी बन सकता है। वह माताजी वरदान देती है कि तुम ऐसे बन जाओ। उनके आशीर्वाद से धन-सम्पत्ति, पुत्र-पौत्र आदि सभी कुछ प्राप्त होता है। हे भाइयो! तुम भी उन सच्ची माताजी के स्वरूप को समझो और उनकी उपासना करो। वह कौन-सी माता है?

थाने मनाऊँ देवी शाशता, म्हारी दया माता ।। ध्रुव ।।

सर्व मनोरथों को पूरा करने वाली और सुख देने वाली उन माता का नाम है—दया माता! वह अखण्ड है, अविनाशी है और अजन्मा है! यह दया-माता सच्ची-माता है। कोई कहता है कि मैने किसी गरीब को पाँच रुपये दिये है! पर मै कहता हूं कि तुम देने वाले कौन हो? असल में तो तुम्हारे दिल मे दया माता आई थी और उसी के हुक्म से तुम्हे देने पडे। माताजी हुक्म के बिना क्या पत्ता हिल सकता है?

या सम देवी नहीं कोई दूजी, हाथां हाथ हजूर।
तूठां तत्क्षण फलै भावना, दुख जावे सब दूर ।।

देखो, दया माता पधारे तो उन्हें प्रसन्न कर लो। दूसरे देव को प्रसन्न करोगे तो न मालूम कितने समय बाद फल की प्राप्ति होगी, मगर इन माताजी की यह विशेषता है कि सन्तुष्ट होने पर वे तत्काल फल प्रदान करती है। इनके समान तीन लोक में और कोई देव या देवी नही है। यह हाथों हाथ फल देने वाली है। एक महीना तो दूर, एक मुहूर्त्त की भी देर नही लगती है।

बच्चा पैसा माँगता है, पैसे के लिए हठ करता है, मगर आप उसे डाँट देते है, 'हट-हट' कर देते है। मगर ज्यो ही वह ज्यादा रोता है और आपके दिल में दया आ जाती है। बस, उसी समय आप पैसा जेब से निकालते है और उसे दे देते है। छोटा बच्चा रोता है तो माता सब काम छोड कर झट उसको दूध पिलाने लगती है। यह सब दया-माता का ही प्रताप है। दया-माता प्रसन्न हुई कि उसी समय कामना सिद्ध हुई। दया-माता की कृपा से सभी कामनाएँ सिद्ध होती है।

जिसने दया-माता की मान्यता, आराधना, सेवा-पूजा नही की, उसकी क्या स्थिति होती है, यह बात किससे छुपी है? ऐसे लोग हर तरह से दुखी होते है। वे भीख के लिए गली-गली भटकते फिरते है, फिर भी पेट भर अन्न नही पाते! "अरे बाबूजी भूखा मरूँ हू, रोटी को टुकड़ो दे ओ नी!" की दीनता पूर्ण आवाजे लगाते फिरते है! जिन्होने दया-माता का गुणगान नही किया, जिन्होंने अपने मनो-मन्दिर मे दया देवी को विराजमान नही किया, उन्हे दुःख और दरिद्रता का सामना करना पडता है। अतएव अगर अपना भला चाहते हो, सब मनोरथ पूरे करना चाहते हो तो दया-माता की सेवा करो।

लोग पत्थर को सिन्दूर लगाते है और माता कह कर उसकी पूजा करते हैं। परन्तु यह नही समझते कि असली माता तो उन्ही के घट मे विराजमान है। अशिक्षित और अपढ़ लोग ही इस भ्रम मे पड़े हो, सो बात नही है, वरन् वहुतेरे सेठ, साहूकार और राजा लोग भी इसी भ्रम मे पड़े हुए हैं। वे असली माता को भूल गये है और उलटी मान्यता पकड़ बैठे है। इसका इतना दुष्परिणाम आया है कि बयान नही किया जा सकता। 'मेरा बच्चा अच्छा हो जायेगा तो बकरा चढ़ाऊँगा या पाड़ा चढ़ाऊँगा' इस प्रकार की निर्दयता पूर्ण मनोभावना लोगों की बन गई है! यह माताजी की मान्यता नही है, मजाक है, आराधना नही विराधना है; माताजी को राजी करना नहीं, वरन् नाराज करना है। ऐसे लोग माताजी को जगत् की माता मानते हैं, सब जीव धारियों को उनका पुत्र समझते है और फिर भी उनके ही सामने, उन्ही के निमित्त, उनके पुत्रो के प्राण लेते है? क्या इससे कभी माता प्रसन्न हो सकती है? क्या कोई माता अपने बच्चे का बलिदान चाह सकती है और उससे सन्तुष्ट हो सकती है? शेरनी जैसी क्रूर समझी जाने वाली माता भी

अपनी सन्तान की रक्षा करती है तो क्या सारे संसार की रक्षा नही चाहेगी ? अवश्य चाहेगी। यही नही, अगर वह सच्ची माता है तो अपनी सन्तान का घात करने वाले से वदला लिये बिना नही रहेगी।

कई लोग कहते है—क्या करे, जब बच्चा बीमार हो जाय तो उसको बचाने के लिए ऐसा करना पडता है। मगर उन्हें सोचना चाहिए कि एक प्राणी की हत्या से दूसरे प्राणी की रक्षा नही हो सकती। वह बालक, जो अकाल मे मर रहा है, पहले ऐसे ही काम करके आया होगा। उसने किसी के प्राण लिये होगे, पाप का उपार्जन किया होगा। इसी कारण वह अकाल मृत्यु का शिकार हो रहा है। वह पाप के फल को भोग रहा है। उस पाप के फल को नवीन पाप करके किस प्रकार रोका जा सकता है ? वकरे के प्राण ले लेने से वालक के प्राण कैसे बच जाएंगे ? अगर वालक थोडी उम्र लेकर आया है तो वह बचेगा नही, और तुम वकरे के प्राण लेकर पाप के भागी अलग ही वन जाओगे।

मै यह नही कहता कि बीमार वालक का इलाज मत करवाओ और उसे बचाने का प्रयत्न मत करो। मै तो मानवोचित विवेक से काम लेने की बात कह रहा हूं। मैं यह कहता हू कि कीचड को कीचड से धोने का प्रयास मत करो। खून के दाग को खून से धोने का प्रयत्न करना उपहासास्पद है ! इसी प्रकार हिंसा-जनित पाप-कर्म के फल से बचने के लिए हिसा को मत अपनाओ। दया-माता की करुणामयी मुद्रा को अपने सामने रख कर ही कुछ करो। दया को विसार कर काम करोगे तो अच्छा करने चलोगे और बुरा फल पाओगे। वकरा और पाड़ा जैसे पंचेन्द्रिय जीवो की हत्या से किसी का कल्याण होना सम्भव नही है। यह राक्षसी कृत्य है, अनार्यो का अनुकरण करना है। विवेकवान् आर्यपुरुप ऐसे कृत्य भूल कर भी नही करेगा। भगवान् ऋषभदेव के आदेश को स्मरण रक्खो। उन्होने कहा कि सभी जीवो को अपना-अपना जीवन प्रिय है। सभी जीवित रहना पसन्द करते है। क्या पशु, क्या पक्षी और क्या कीड़ा-मकोडा, सभी में जिजीविपा है—जीवित रहने की इच्छा है। अतएव उनके जीवन का घात मत करो। तुम वड़े हो और अधिक सामर्थ्यवान् हो तो तुम्हे अधिकार नही कि अपने से छोटो के प्राण लूट लो। वड़े भाई का काम छोटे भाई की रक्षा करना है। मनुष्य वडा भाई है, पशु-पक्षी उसके छोटे भाई है। उनकी रक्षा करो। कम से कम अपनी ओर से तो उन्हे कष्ट मत पहुँचाओ।

भाइयो ! दया समस्त दुखों की एक अमोघ दवा है। अगर आप दया-देवी को दिल मे बिठला लोगे तो आपके सारे दुःख और सारी दरिद्रता दूर हो जायगी। निश्चित समझो कि दया-माता के विरुद्ध प्रवृत्ति करने से सारे दु.ख होते है। अगर दया माता का सच्चा स्वरूप समझ कर

आराधना करोगे तो वह तुम्हारी रक्षा करेगी और तुम्हे सुख मिलेगा । इसे कभी विस्मरण मत करो । यह असली माता है और आखिर जगत् की माता है । इस माता की सवारी कौन-सी है ?

ज्ञानरूप सिंह की असवारी, तप-तिरशूलां हाथ ।
हाक धाक करती दुश्मन पर, करे रिपु की घात ।।

दया-माता ज्ञान रूपी सिंह पर सवार है । भगवान् ऋषभदेव का और अन्य तीर्थंकरों का जो दर्शन है, जो सिद्धान्त है उनके द्वारा उपदिष्ट जो द्वादशागी है, और आपके अन्तस्तल में रहने वाला जो शुद्ध विवेक है, वही ज्ञान है और उसी पर दया-माता की सवारी है । 'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात् ज्ञान आता है और फिर दया आकर उस पर बैठ जाती है । इस दया-माता के हाथ मे तपस्या का तीखा त्रिशूल है । तपस्या रूपी त्रिशूल से दया-माता अपने शत्रुओं का संहार करती है । दया का शत्रु कौन है ? हिसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, लोभ, काम, क्रोध, मद, मोह आदि अवगुण ही इसके शत्रु है । दया-माता तपस्या के त्रिशूल का प्रयोग करके इन सब पाप रूप रिपुओं का समूल सहार कर डालती है ।

जहाँ दया की देवी नहीं होती, वहाँ बड़े से बड़े अनर्थ होते हैं । अमेरिका से दया-देवी हट गई तो उसने परमाणु बम के द्वारा हजारों लाखों जापानियों के प्राण ले लिये । यह घटना एक संकेत है, इशारा है । इससे यह बात साफ हो जाती है कि जगत् की स्थिति दया पर ही निर्भर है । अगर दुनिया से दया उठ जायगी तो प्रलय मच जायगा ! दया के अभाव में भाई, भाई के प्राणों का ग्राहक बन जायगा । एक राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र का सहार कर डालेगा । कोई सुख-चैन से नही रह पाएगा । दया की बदौलत ही सारे सद्गुण हैं । दया के अभाव में एक भी सद्गुण नहीं टिक सकता । अतएव क्या आत्मा के कल्याण के लिए, क्या देश के कल्याण के लिए और क्या जगत् के कल्याण के लिए, दया ही एक मात्र समर्थ साधन है ! दया के बिना संसार का त्राण नही है । शान्ति की सैकड़ों योजनाएँ बनाई जाएँ, मगर वे विफल ही होगी, अगर उनके मूल में दया नही होगी । क्योंकि शान्ति का मूल आधार दया ही है ।

अष्ट कर्म का मुण्ड तोड़ कर, धरी रुंड की माल ।
अष्ट प्रकारे धार विभूति, गले मोतियन की माल ।।

आत्मा को दुःख देने वाले आठ कर्म है । काम, क्रोध आदि दुर्गुणों को उत्पन्न करने वाले भी यही है । अतएव यह आत्मा के दुश्मन हैं । जब दया-माता घट मे आकर विराजमान हो जाती है तो ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन आठो कर्मो के सिर काट लेती है और आशीर्वाद देती है—जा, तू केवल ज्ञान का भागी हो; तुझे

अनन्त दर्शन और निराबाध सुख प्राप्त होगा ! दया-माता इन आठो कर्मो के सिर की माला अपने गले में पहन लेती है और नौ तत्त्व रूपी मोतियो का नव लड़ा हार पहनती है। इस माता के भी चार हाथ हैं :—

दानादिक चउ भेद विराजे, भुजा-दण्ड विस्तार ।
विनय-मुकुट सिर ऊपर सोहे, ऐसो कियो सिणगार ।।

दया-माता की चार भुजाएँ है। दोनो तरफ दो दो हाथ हैं । पहला दान का, दूसरा शील का, तीसरा तपस्या का और चौथा भावना का है। जो आदमी दान नही देता, समझ लो कि उसने दया-माता का पहला हाथ तोड दिया है । जो ब्रह्मचर्य नही पालता उसने दूसरा हाथ तोड दिया है, तपस्या नही की तो तीसरा हाथ खण्डित कर दिया और जो भावना नही भाता, उसने चौथा हाथ काट डाला है ! ऐसा जीव मर कर वनस्पतिकाय आदि मे जन्म लेगा, जहां उसे हाथ-पैर नही मिलेगे । इसके विपरीत, जो भाग्यशाली पुरुष दया-माता के चारो हाथो का जतन करेगा, उसे परिपूर्ण अवयवो वाला सुन्दर शरीर मिलेगा और वह ऐसे सुख का भागी होगा कि सपने मे भी दुःख का सामना नही करना पड़ेगा।

भाइयो ! इस दया-माता की महिमा का क्या पूछना ? उसका प्रभाव अपरिमित है, उसका महात्म्य अनन्त है ! उसके गुणों का वर्णन करना सम्भव नही है। दया-माता के मस्तक पर विनय का अर्थात् नम्रता का सुन्दर मुकुट सुशोभित होता है । जिस मनुष्य में नम्रता हो, समझना चाहिए कि उसने दया-माता के मस्तक पर मुकुट चढाया है । नम्रता का मुकुट चढाने वाला इस लोक मे और परलोक मे मानव-समाज का मुकुटमणि हो जाता है। सब के आदर और सम्मान का पात्र होता है। सभी उसकी प्रशसा करते है । वह सर्वत्र सम्माननीय होता है । अतएव जिसे जो चीज पसन्द हो, जो जैसा फल प्राप्त करना चाहता हो, वह दया-माता की वैसी ही आराधना करे।

कोई पूछे कि दया-माता का मन्दिर कहाँ है ? उसका उत्तर यह है :—

मोक्ष-मन्दिर की है तू वासी, खासा सुख दातार ।
चार तीर्थ थारे आवे यातरी, भरा रहै तव द्वार ।।

भाई ! इस दया-माता का मन्दिर मोक्ष में है । आप कहोगे कि यह मन्दिर तो बड़ी दूर है ! मगर जिसे जरूरत होगी, तो जाएगा ही। जिसे धन की आवश्यकता होती है, वह देश-विदेश की परवाह नही करता । दूर-पास की गिनती नही करता। वह तो अपने प्रयोजन को सिद्ध करने की ही भावना रखता है। जिसे मोक्ष चाहिए, उसे पुरुषार्थ भी करना चाहिए । प्रयत्न भी करना चाहिए।

दूसरी माताजी के पास तो लोग कभी-कभी दशहरे आदि के अवसर पर ही जाते है, मगर दया-माता की सेवा में सदैव यात्री आते रहते है। उनका दरबार सदा भरा रहता है। देखो इन दया-माता के हम पन्डे है और इनकी उपासना के लिए तुम सब आये हो और प्रतिदिन आते हो! हमारी यह दया-माता अनन्त वरदायिनी है। अगर इन्हें प्रसन्न नही करोगे तो तुम्हारी क्या दशा होगी ? जानते हो, माता रुष्ट हो जाती है तो वह बच्चे को दूध नही पिलाती है। इसलिए हम प्रतिदिन और प्रतिक्षण दया-माता को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहते है। हम गॉव-गॉव में दया-माता का धाम बनाते और चलाते है। दया-माता की पूजा मे चारों तीर्थ सम्मिलित होते है। दूसरी माताजी के यहाँ तो नवरात्रि के समय ही बाजे बजते है, किन्तु यहाँ—

सतरह विधि संयम को थारे, बाजा का झणकार।
ध्यान ध्वजा थारे उड़े शिखर पर, लाग रही धूंधकार॥

सत्तरह प्रकार का सयम जिसका साधु और साध्वी पालन कर रहे हैं, वही दया-देवी के स्थान पर रात-दिन बजने वाले नगाड़े है। दया-माता के मन्दिर पर ध्यान रूपी ध्वजा चढ़ाई जाती है। जिसे ध्वजा चढ़ानी हो, वह ध्यान की ध्वजा चढ़ा कर अपने कल्याण की ध्वजा फहरा सकता है। कम से कम चार लोगस्स का सवेरे, दोपहर ओर शाम को तथा हो सके तो बारह बजे रात को ध्यान करना। जिसे लोगस्स का पाठ न आता हो, उसे नवक़ार मंत्र का ही ध्यान करना चाहिए। दया-देवी को किसी कपड़े की ध्वजा नही चाहिए। वह ध्यान की ध्वजा से सन्तुष्ट होगी। और फिर क्या है :—

ऋद्धि सिद्धि नव निधि दाता, भरे अखूट भण्डार।
अष्ट पहर थारा मगल गावे, हो रया मंगलाचार॥

दया-माता सब प्रकार की ऋद्धि-सिद्धि देने वाली है, उसके अनुग्रह से नव-निधियो की प्राप्ति होती है। वह ऐसा भण्डार भर देती है कि फिर कभी खाली ही नही होता। आठ प्रवचनो की आराधना करने वाला कर्मो की कोटी खपाता है और उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थकर गौत्र बाँधता है। जहाँ दया-माता है, वहाँ सब प्रकार का आनन्द होता है। किसी प्रकार का दु:ख दारिद्रय उसके आस-पास नहीं फटकता!

□□□

धर्म की रीढ़ : अहिंसा

□ उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि

धर्म ने मानव जाति की जो अनेकानेक दिव्य विभूतियाँ प्रदान की है, अहिसा उन सब में उत्कृष्ट है। अहिंसा ही मानव की आकृति में मानवत्व और देवत्व के प्राणो की प्रतिष्ठा करती है। कभी-कभी ध्यान आता है—मानव-मन मे यदि अहिसा की कोमल कमनीय भावना न होती तो इसकी क्या स्थिति होती ? मनुष्य ने परिवार, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित किया, मगर इन सब का मूलाधार अहिसा ही है। अहिसा के अभाव मे परिवार-समाज और राष्ट्र का अस्तित्व सुरक्षित नही रह सकते। मानव-जाति के महान् मनीषियों ने अब तक के विराट् और गम्भीरतम चिन्तन का सर्वोत्कृष्ट सार यदि कुछ है तो वह अहिसा ही है।

स्वामी समन्तभद्र ने कहा है—

अहिसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।[1]

व्यक्ति और समाज के जीवन का प्रधान अवलम्बन अहिसा है। अहिसा के प्राण ही उसमें स्पन्दित दिखाई देते है। जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास प्राण के अभाव मे व्यक्ति जीवित नही रह सकता, इसी प्रकार अहिसा के प्राण के विना भी व्यक्ति और समाज जीवित नही रह सकता।

अहिसा आत्मा का स्वभाव है :

पाश्चात्य सभ्यता की गन्दगी को, विना विचार और विवेक के, शिरोधार्य करने वाले नासमझ लोग धर्म के विरुद्ध कितना ही विष-वमन क्यों न करे, धर्म आत्मा मे एक रस है। वह आत्मा का स्व-भाव है, अतएव आत्मा की तरह ही अमर है, उसकी आदि नहीं, अन्त भी नही। इसलिए अहिसा भी अमर है। वह प्राणिमात्र मे नैसर्गिक है। घोर से घोर हिंसक समझे जाने वाले प्राणी के अन्तरतर मे भी अहिंसा के किंचित् सौम्य कण विद्यमान रहते है। अगर हम विचार के लोचनो मे उसके हृदय के आन्तरिक रूप को देख पाएँ तो वहाँ भी अहिसा भगवती का परम सुन्दर स्वरूप प्रतिष्ठित मिलेगा।

हिंस्र जन्तुओं पर विचार करते ही हमारा ध्यान सर्वप्रथम सिह की ओर आकर्षित होता है। व्याकरणशास्त्र के अनुसार भी 'हिस्' धातु के 'सिह' शब्द

१. वृहद् स्वयम्भूस्तोत्र

व्युत्पन्न हुआ है। वास्तव में सिह अत्यन्त खूँख्वार जानवर है और उसकी स्मृति ही साधारण मनुष्य के हृदय को प्रकम्पित कर देती है। सामना हो जाने पर तो कहना ही क्या है? बड़े-बड़े शूरवीरों के भी देवता कूच कर जाते है और होश-हवास गायब हो जाते है। मगर क्या कभी सोचा है आपने कि उस ओर हिस्र प्राणी के कलेजे मे भी करुणा की कोमल मूर्ति विद्यमान रहती है, जो अहिसा का एक ही रूप है। अगर सिह में अहिसा की वृत्ति न होती तो सिहजाति इस धरातल से कभी की समाप्त हो गई होती। सद्य प्रसूत सिह शावक की प्राणरक्षा कौन करता है? तब वह अपनी शक्ति के बल पर जीवित नहीं रहता, वरन् सिह-सिहिनी की अहिसा-करुणा की वृत्ति ही उसके प्राणों का सरक्षण और संपोषण करती है। इसीलिए कहता हूं कि अहिसा आत्मा का स्वभाव है और जो जिसका स्वभाव है, वह उससे पूरी तरह अलग नहीं हो सकता।

अहिंसा का इतिवृत्त :

अहिसा का इतिवृत्त क्या है? वह कब इस धराधाम पर अवतरित हुई? किस लोकोत्तर महापुरुष के मस्तिष्क मे उसने जन्म लिया? इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही है और न हो सकता है। पुरातन होने ही से कोई वस्तु उपादेय हो और नूतन होने से हेय हो जाय, यह हेयोपादेय की कोई कसौटी नही है। अहिसा अगर इस युग का आविष्कार होती तो भी अपनी विशिष्टता के कारण वह उपादेय ही होती, मगर ऐसा है नही। वस्तुत. अहिंसा सनातन सत्य है और किसी भी काल में उसके अभाव की कल्पना नही की जा सकती।

मेरा अभिप्राय यह नही है कि अनादि काल से अहिसा का एक ही रूप रहा है और युग के चिन्तन का उस पर कोई प्रभाव नही पड़ा। वास्तव मे अहिसा का स्वरूप अत्यन्त विराट् है और वह हमारे सहस्रो रोगो की एकमात्र अमोघ औषध है। इसी अतीत मे वह नाना रूपो मे मानव-जाति के समक्ष प्रस्तुत हुई है और जब समाज मे जिस रोग ने अपना सिर उठाया; उसके एक विशिष्ट रूप ने उसका प्रतिकार किया है।

जैन इतिहास के वेत्ता भलीभाँति जानते है कि भगवान अरिष्टनेमि ने, जिनका उल्लेख वेदो मे भी मिलता है, किस प्रभावशाली तरीके से हिसा का प्रतिकार किया था! तत्कालीन क्षत्रिय-वर्ग मे जिह्वा-लोलुपता ने अपना आसुरी स्वरूप ग्रहण कर लिया था। वे मासभक्षी हो गये थे। तव विवाह के ऐन अवसर पर अरिष्टनेमि तोरण से वापिस लौट गये पशुओ की सहानुभूति मे। श्रीकृष्ण ने सौ-सौ बार मनुहार की, परन्तु अरिष्टनेमि के उस सत्याग्रह को वे भग न कर सके। उनके इस त्याग ने क्षत्रियो के नेत्र खोल दिये।

भगवान पार्श्वनाथ ने अपनी कुमारावस्था मे नाग जैसे विषधर की भी रक्षा के लिए एक महान् गिने जाने वाले तपस्वी से मोर्चा लिया और अहिसा की सूक्ष्मता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।

भगवान महावीर के युग मे हिंसा ने धर्म से नाम पर पुनः सिर उठाया तो भगवान ने शक्ति के साथ उसका सामना किया है और बड़े-बडे याज्ञिकों को अहिंसा देवी के चरणो में झुकाया। उनके समय में वैचारिक संघर्ष ने उग्र और भीषण रूप धारण किया था। दार्शनिक विद्वान् विद्यामद से मतवाले होकर परस्पर एक-दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपना गौरव मानते थे और ऐसा करते हुए सत्य की हत्या करने में सकोच नही करते थे। तव त्रिशला-नन्दन ने अनेकान्त के रूप में वैचारिक अहिंसा का मधुर शखनाद किया और जगत् को एक सन्मार्ग प्रदर्शित किया।

भारत का राजशासन विदेशियो ने हथिया लिया और देश गुलाम वन गया तो गाँधीजी को अहिंसा की पुरातन विरासत की स्मृति आई। उन्होंने गुलामी की दीनता जनक व्याधि को दूर करने के लिए अहिंसा की रामवाण औषध का प्रयोग किया। उसका एक नया सामूहिक प्रयोग जनता के सामने आया और वह शान के साथ सफल हुआ।

विनोवाजी ने आर्थिक एव सामाजिक क्षेत्र मे फैली विपमता की वीमारी पर अहिंसा का प्रयोग किया।

अहिंसा और विश्वशान्ति :

अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न युगो में अहिंसा हमारे यहाँ विभिन्न प्रकार की कठिन समस्याओं को सुलझाने का साधन रही है और इसी से उसके नये-नये पहलू जनता के सामने आते रहे है। वास्तव मे अहिंसा की उपयोगिता अमर्याद और शक्ति अचिन्त्य है।

इस युग मे विज्ञान के दानव ने जो भयानक हिंसा के साधन प्रस्तुत किये है उन्हे देखकर विश्व के विचारशील नेता चिन्तित हो उठे है और अहिंसात्मक उपायो से उनके प्रतिकार का विचार और प्रचार कर रहे है। अहिंसा के अतिरिक्त विश्वशान्ति का दूसरा कोई उपाय नही हो सकता।

अहिंसा और पशुजगत्

इतना सव कुछ होने पर भी यह नही कहा जा सकता कि शासनक्षेत्र मे अहिंसा का व्यापक स्वरूप समझा गया है। ऐसा लगता है कि हमारे देश के राजकर्ता अहिंसा को मानव-जाति तक ही सीमित रखना चाहते है। मगर यह जगत् मनुष्य-जाति मे ही अशेप नही है। वहुत वडी दुनिया मानवेतर जीव-धारियो की भी है, जिन्हे हमारी तरह वाणी प्राप्त नही है और जो अपने विराट् सगठन और यूनियन नही वना सकते और चिल्लाहट नही मचा सकते। उन दीन-हीन प्राणियो के प्रति, जो हमारे ही परिवार के अविकसित और अबोध सदस्य है, हमारा क्या कर्तव्य है? जब तक हमारी करुणा की विमल धारा उन तक नही पहुँचती, तव तक अहिंसा लगडी ही रहेगी और

क्षमता नहीं आ सकेगी। अगर हम चाहते हैं कि एक देश दूसरे देश के प्रति, एक वर्ग दूसरे वर्ग के प्रति और एक जाति दूसरी जाति के प्रति अहिंसक व्यवहार करे और मनुष्य का अन्तःकरण हिंसा के दानवी संस्कार से छुटकारा पा ले तो हमें अपने परिवार के उन छोटे सदस्यों के प्रति भी सदय बनना पड़ेगा। जब तक हम मनुष्येतर प्राणियों के प्रति भी दयाशील न होंगे, तब तक हृदय में क्रूरता, कठोरता और हिंसा-भावना बनी रहेगी और जब हृदय में निर्दयता और हिंसाभावना विद्यमान होगी तो उसका प्रयोग मनुष्य, मनुष्य के प्रति भी करने से नहीं चूकेगा। अतएव मनुष्येतर प्राणी, प्राणी होने के नाते भी करुणा के पात्र हैं और इसलिए भी कि इस प्रकार की करुणा के अभाव में मनुष्य, मनुष्य के प्रति पूरी तरह करुणाशील नहीं बन सकता।

जिसका एक पंख काट दिया गया हो, ऐसे पक्षी से व्योम में उड़ान भरने की आशा नहीं की जा सकती। एक टांग के बल पर मनुष्य दुरूह पथ पर चल कर अपनी दूर की मंजिल तक नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार एकांगी अहिंसा भी अपने उद्देश्य को पूरा नहीं कर सकती—मानव के मन में से हिंसा के संस्कारों का समूल उन्मूलन नहीं कर सकती।

अहिंसा एक जीवनव्यवहार्य सिद्धान्त है। वह वाणी विलास नहीं है। तथापि यह आशा नहीं की जा सकती कि प्रत्येक दशा में, प्रत्येक मनुष्य उसका पूर्णरूपेण व्यवहार करेगा। मनुष्य को अहिंसा के पथ पर ही चलना चाहिए और जितना सम्भव हो, अग्रसर होते जाना चाहिए। किन्तु हमारे चलने की एक सीमा है, अतएव अहिंसा को भी हम सीमित कर लें और उसके आगे की अहिंसा को अहिंसा ही न समझें, यह बुद्धिमत्ता नहीं। शास्त्र कहता है—

जं सक्कइ तं कीरइ, जं च न सक्कइ तस्स सद्दहणं।
सद्दहमाणो जीवो, पावइ अयरामरं ठाणं ॥

—धर्मसंग्रह

मनुष्य अपने कर्तव्य का, धर्म का या सिद्धान्त का जितना व्यवहार (आचरण) कर सकता हो, करे किन्तु जिस अंश का व्यवहार करना उसकी शक्ति से परे हो, उस पर भी श्रद्धा अवश्य रक्खे, उसे प्राप्य माने और प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करे। इस प्रकार श्रद्धाशील पुरुष को एक न एक दिन मुक्ति मिल जाती है।

हिंसा क्या है?

जीवन में अहिंसा का अमल कितनी सीमा में किया जा सकता है। इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले यह जान लेना आवश्यक है कि वास्तव में अहिंसा क्या है और हिंसा क्या है? साधारणतया किसी भी प्राणी को प्राणों से वियुक्त करना हिंसा समझा जाता है; परन्तु हिंसा की यह व्याख्या परिपूर्ण नहीं है।

प्राणों का विनाश होना द्रव्य-हिंसा है, मगर द्रव्यहिंसा तभी हिंसा के पाप मे परिगणित होती है, जब वह प्रमाद-कषाय से प्रेरित हो। प्रमाद-कषाय ही वास्तविक हिंसा है और जैनागम उसे भाव-हिंसा कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दो में कहा है—

यत्खलु कषाययोगात्, प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं, सुनिश्चितता भवति सा हिंसा॥

क्रोध आदि कषायों के योग से किसी भी प्राणी के या अपने निज के प्राणों का व्यपरोपण करना निश्चित रूप से हिंसा है। और—

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥

—पुरुषार्थसिद्ध युपाय

जैनागमों मे हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत, विशद और गहन मीमासा की गई है। किसी अन्य धर्म के शास्त्रो में ऐसी मीमांसा नही मिलती इसका कारण यही है कि समग्र जैनाचार का आधार अहिंसा ही है।

कृत्य और अकृत्य की कसौटी :

क्या कृत्य है और क्या अकृत्य है, इसकी प्रमुख कसौटी अहिंसा ही है। सत्य भी धर्म है, अस्तेय भी उपादेय है, ब्रह्मचय भी आराधनीय है, पर यह सब धर्म अहिसा धर्म की ही शाखाये हैं। कहा भी है—

आत्मपरिणामहिंसन—हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवल—मुदाहृतं शिष्यबोधाय॥

असत्य भाषण, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—इन सब पापों के आचरण से आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है। अतएव भाव-हिंसा के कारण होने से ये सभी पाप हिंसा ही है। तथापि स्फुट रूप से समझाने के लिए और जिज्ञासु-जन किसी प्रकार के भ्रम में न पड़ जाये, इस दृष्टि से असत्यभाषण आदि की पृथक् गणना की गई है।

तात्पर्य यह है कि अहिसा ही सम्यक्चारित्र और पापाचार का मापक दंड है। समस्त कर्तव्यों मे अहिसा ही मूर्धन्य कर्तव्य है। अतएव आगमों मे उसके बारीक से बारीक व्याख्या उपलब्ध होना स्वाभाविक ही है। प्रत्येक व्यक्ति मे इतनी योग्यता नही हो सकती कि वह अहिसा विषयक समग्र श्रुत का अध्ययन और मनन कर सके। ऐसे जिज्ञासुओ के लिए आचार्य अमृतचन्द्र अहिंसाविषयक मन्थन का मक्खन प्रस्तुत करते हुए कहते है—जैनागमो में प्रतिपादित हिंसा-अहिसा का सक्षिप्त सार यही है कि रागादि कलुषित भावों का प्रादुर्भाव न होना अहिसा है और कलुषित भावों की उत्पत्ति होना हिंसा है।

हिंसा और अहिंसा का विश्लेषण :

वाचक उमास्वाति ने भी 'तत्त्वार्थसूत्र' में यही कहा है—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोहणं हिंसा ।'

यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि संयमी पुरुष यदि यतना के साथ, सावधान और सतर्क रहकर, किसी भी जीव के प्राणों का घात न होने देने की बुद्धि से, चार हाथ भूमि देख-देख कर चल रहा है, फिर भी यदि अचानक कोई जीव उड़ कर या अन्य किसी तरीके से उसके पैर से कुचल जाता है तो वह संयमी पुरुष हिंसा के पाप से लिप्त नही होता ।

अभिप्राय यह है कि प्रमाद और कषाय से किया जाने वाला प्राणवध हिंसा है । इस हिंसा से बचने का उपाय प्रमाद और कषाय का परित्याग करना है । इस विवेचन से पूर्वोक्त से निवृत्त होता जाता है, उतने ही उतने अंशों में हिंसा से बचता है ।

स्थूल (द्रव्य) हिंसा न करने पर भी जिसके अन्तःकरण से हिंसक भावना प्रचुर है, वह प्रचुर हिंसा का भागी होता है । इस सम्बन्ध मे तन्दुल मत्स्य का सुन्दर उदाहरण प्रसिद्ध है । अहिंसा का पालन करने के लिए आवश्यक है कि साधक अपने अन्तःकरण को स्वच्छ, पवित्र और अकलुष बनाए । अन्तःकरण मे क्रोध, मान, कपट, आसक्ति, राग, द्वेष, ईर्ष्या आदि की कालिमा का प्रवेश न होने दे । इतना करने पर वह अपना धर्मोपेत जीवन-व्यवहार चलाता हुआ भी अहिंसा की साधना कर सकता है ।

भ्रान्तधारणाओं का निराकरण :

अहिंसा के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ सुनने को मिलती है । कुछ लोग समझते है कि यह पृथ्वी सिर्फ हमारे लिए अर्थात् मनुष्य-जाति के लिए ही है । हमारा ही इस पर एकाधिपत्य है । अन्य प्राणियों को इस पर रहने और जीवन-निर्वाह करने का अधिकार नही । इस प्रकार की विचारधारा से प्रेरित होकर वे वन्य पशुओं का, कुत्तों का, बन्दरों का, हिरणों का और दूसरे जीवो का वध करते है, करवाते है या किये जाने वाले वध का समर्थन करते है । मगर निष्पक्ष विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह विचार-धारा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' इस पुरानी लोकोक्ति को चरितार्थ करती है । यह स्वार्थी विचार जंगलीपन की निशानी है । इसमे न्याय अथवा औचित्य के लिए कोई स्थान नही है । किसने धरती का पट्टा मनुष्य के लिए लिख दिया है ? वास्तव मे जो भी जीवधारी इस धरती पर जन्मा है, उसे इस पर रहने का और उससे पोषण प्राप्त करने का अधिकार है । सिर्फ इस कारण कि मनुष्य में, इतर जीवों की अपेक्षा अधिक सामर्थ्य है, वह दूसरों के जन्मजात

अधिकारो को नही छीन सकता। वह छीन सकता है तो प्रकृति उसे समुचित दंड दिये विना नही रहती।

इस प्रकार की संकीर्ण और स्वार्थमय भावना का दंड मनुष्य-जाति को किस प्रकार भुगतना पडता है, यह जानने के लिए तपस्या करने की आवश्यकता नहीं। यह भावना वढ़ते-वढते मनुष्य-मनुष्य मे भी इसी प्रकार की धारणा उत्पन्न किये बिना नही रहती। शासक वर्ग समझता है कि पृथ्वी उसकी वपौती है और शासितों को जीवित रहने का अधिकार नही अगर वे जीवित रहे तो हमारी सुख-सुविधा के लिए जीएँ। इस प्रकार की समझ के कारण अतीत मे मनुष्य ने मनुष्य के साथ भीषण और लोमहर्षक अत्याचार किये है और उन अत्याचारो की आज भी इति नही हो पाई है।

दुर्वृत्ति का उद्गम कहाँ से ?

प्रश्न यह है कि आखिर मनुष्य में इस वृत्ति का उद्गम हुआ कहाँ से ? विचार से विदित होता है कि इस दुर्वृत्ति का वीज मनुष्येतर प्राणियो के अधिकारो की अस्वीकृति मे ही छिपा है। जब तक मनुष्य, मनुष्येतर प्राणियो के प्रति न्याय नही करेगा, मनुष्य के प्रति भी न्याय नहीं कर सकता।

अहिंसा का उपासक इस प्रकार की अनैतिक एवं अधार्मिक वृत्ति को न अपने हृदय में स्थान दे सकता है, न इसका समर्थन ही कर सकता है।

लोग कहते है—सिंह, व्याघ्र और सर्प जैसे हिंस्र प्राणियो का वध करना अनुचित नहीं है, क्योंकि उनसे हमें खतरा है। मगर वे प्राणी भी यही कह सकते है। उन्हे भी मनुष्य से खतरा है। हिंस्र प्राणियो से मनुष्य को जितना खतरा हो सकता है. उसकी अपेक्षा उन्हें मनुष्य से कही वहुत अधिक खतरा होता है। मनुष्य के पास हिंसा के साधन शस्त्र है—और वह दूर से भी उन पर प्रहार करता है। दल वनाकर भी उसके प्राण लूटता है। वेचारे पशु इस प्रकार के आयोजन नही कर सकते।

आत्मवत् सर्वभूतेषु :

अहिंसा के सम्वन्ध में इसी प्रकार की अन्यान्य भ्रान्तियों भी फैली हुई है। मगर उन सवसे मुक्ति पाने का और सही स्वरूप समझने का सरल उपाय है—आत्म-साक्षी। ज्ञानियो ने हिंसा-अहिंसा का निर्णय करने के लिए एक अभ्रान्त कसौटी हमें पकडा दी है—**आत्मवत् सर्वभूतेषु।**' दूसरों द्वारा किये जाने वाले जिस व्यवहार को तुम अपने लिए उचित नही समझते, वह व्यवहार दूसरो के प्रति करना भी अनुचित है। दूसरों के अपने प्रति किये गये जिस कार्य से तुम्हें पीड़ा पहुँचती है, समझ लो वैसा तुम्हारा कार्य भी दूसरो को पीड़ा पहुँचाता है। इस प्रकार शुद्ध वुद्धि से न्यायपूर्ण विचार करने पर, स्वत:

हिंसा-अहिंसा का भेद समझ में आ जाता है।

प्राचीन काल में हिंसा के साधन आज की भाँति शक्तिशाली और दूर-दूर तक व्यापक प्रभाव डालने वाले नहीं थे। आज जब ऐसे अगणित साधन निर्मित हो चुके है और हिंसा अत्यन्त शक्तिशाली बन गई है, तब उसका प्रतिकार करने के लिए अहिंसा को भी अत्यधिक सक्षम बनाने की आवश्यकता है। इसी कारण अहिंसा के पक्ष में भी जोरदार आवाज उठने लगी है। अहिंसा के भक्तों और अनुयायियों को चाहिए कि अहिसक वातावरण के निर्माण में पूर्णरूपेण सहयोग दें।

त्याग : त्यागी

कर्म से, धन से अथवा सन्तान से विद्वानों ने अमृत रूप मोक्ष नहीं प्राप्त किया है।

—अज्ञात

छोटी वस्तुओ की अपेक्षा बड़ी वस्तुओं का त्याग है।

—मॉन्टेन

जिस आदमी की त्याग की भावना अपनी जाति के आगे नही बढ़ती, वह स्वयं स्वार्थी होता है और अपनी जाति को भी स्वार्थी बनाता है।

—महात्मा गाँधी

त्याग का प्रेम के साथ गहरा संबंध है—ऐसा संबंध है कि यह निश्चय करना कठिन है कि कौन आगे है और कौन पीछे। प्रेम के बिना त्याग नहीं होता और त्याग के विना प्रेम असम्भव है।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।

—जयशंकर प्रसाद

त्याग के समान कोई सुख नही है।

—महात्मा गाँधी

त्याग के सिवा इस संसार में कोई शक्ति नही है।

—स्वामी रामतीर्थ

त्याग से पाप का मूलधन चुकता है और दान से पाप का व्याज।

—विनोबा भावे

पतझड हुए विना पेड़ों में फल नहीं लगते हैं।

—रज्जव जी
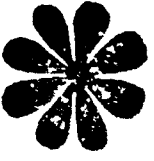
अहिंसा के नामों की सार्थकता

☐ अनुयोग प्रवर्तक श्री कन्हैयालजी म. 'कमल'

दसवें अंग आगम 'प्रश्न व्याकरण' के संवर द्वार मे प्रथम संवर अहिंसा है। इसमे अहिंसा के निम्नलिखित नामों की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है—

१. निर्वाण २, निवृत्ति ३. समाधि ४. शक्ति ५. कीर्ति ६. कान्ति ७. रति ८ विरति ९. श्रुतांग १०. तृप्ति ११. दया १२. विमुक्ति १३. क्षान्ति १४. सम्यक्त्व आराधना १५. महती १६. बोधि १७. बुद्धि १८. धृति १९. समृद्धि २०. ऋद्धि २१. वृद्धि २२. स्थिति २३. पुष्टि २४. नन्दा २५. भद्रा २६. विशुद्धि २७. लब्धि २८. विशिष्ट दृष्टि २९. कल्याण ३०. मंगल ३१. प्रमोद ३२. विभूति ३३. रक्षा ३४. सिद्धावास ३५. अनाश्रव ३६. केवलिस्थान ३७. शिव ३८ समिति ३९. शील ४०. संयम ४१. शील परिग्रह ४२. संवर ४३. गुप्ति ४४. व्यवसाय ४५. उन्नति ४६. यज्ञ ४७. आयतन ४८. यजन ४९. अप्रभाव ५०, आश्वासन ५१. विश्वास ५२. अभय ५३. अमारि ५४. चोंक्ख ५५. पवित्र ५६. शुचि ५७. पूजा ५८. विमला ५९. प्रभासा ६०. निर्मला।

१ **निर्वाण** :—जिस साधक के मन से कामदेव के पांचों काम-बाण निकल गये है, वह निर्वाण है। कामदेव का जन्म मन से होता है, इसलिए कामदेव को मनसिज कहा जाता है अथवा कामदेव मन को मथने वाला है, इसलिए मन्मथ कहा जाता है। कामदेव के पांच बाण प्रसिद्ध है :—

उन्मादन स्तापनश्च, शोषण स्तम्भन स्तथा।
समोहनश्चकामस्य, पंच बाणा प्रकीर्तिता ॥

जहा उन्माद नही है, वहा अहिसा है, जहां ताप (संताप परिताप) नही है, वहाँ अहिसा है, जहाँ शोषण नही है, वहां अहिसा है, जहां स्तम्भन नही है, वहाँ अहिसा है, जहा संमोहन नही है वहा अहिसा है। ये पांचों बाण जिसके मन से निकल गये है वहा निर्वाण है—अतएव निर्वाण अहिसा है।

१ **निर्वाण**—वात (वायु) रहित स्थिति निर्वाण है। जहा वायु जैसी चंचलता नही है अर्थात् स्थिरता है वहां अहिसा है।

२ **निवृत्ति**—वृत्तियाँ तीन प्रकार की है—१. कृषि २. [illegible] ३ वाणिज्य। जीवन-निर्वाह के लिए किए जाने वाले कार्य वृ[illegible] है। उक्त तीन वृत्तियो से जहाँ निवृत्ति है वहाँ अहिसा है।

३ **समाधि** :—सम भाव की प्राप्ति समाधि है । जहाँ समत्व की भावना है वहाँ अहिंसा है अथवा आधि-मन की व्यथा जहाँ समत्व से समाप्त हो गई है वहाँ समाधि अहिंसा है ।

४. **शक्ति** :—शक्ति दो प्रकार की है—१. शारीरिक शक्ति और २ आध्यात्मिक शक्ति । शारीरिक शक्ति पाशविक शक्ति है । आध्यात्मिक शक्ति अहिंसा है ।

५. **कीर्ति** :—अहिंसा परम–उत्कृष्ट धर्म है, अतः अहिंसक की कीर्ति सर्वत्र होती है ।

६. **कान्ति** :—क अन्ति कान्ति अर्थात् कष्टो का अन्त होना, कान्ति है । कष्टों वाले व्यक्ति का मुँह म्लान रहता है और कष्ट रहित व्यक्ति का मुँह कान्ति युक्त होता है । जहाँ कष्ट नही है वहाँ अहिंसा है ।

७. **रति** :—र से रज ति—तितिक्षा । रज की तितिक्षा रति है । रज से यहाँ कर्म-रज ग्रहण करे । कर्म-रज के त्याग की इच्छा ही अहिंसा है । पापे रति मा कृथा ।

८. **विरति** :—विगता रति, विरति । रति—मैथुन का पर्यायवाची है । मैथुन से निवृत्ति अहिंसा है ।

९. **श्रुतांग** :—श्रुत आगम में प्रतिपादित संवर का एक अंग अहिंसा है ।

१०. **तृप्ति** :—'तृ' से तृष्णा समाप्ति । यहाँ अतिम अक्षर लेकर शब्द रचना की गई है । तृष्णा की समाप्ति ही तृप्ति है । अतएव तृप्ति अहिंसा है ।

११. **दया** :—'द' से दर्द 'या' से याद । अपने दर्द को याद रखकर दूसरे के दर्द को समझना ही दया है । अतएव दया अहिंसा है ।

१२. **विमुक्ति** :—'वि' विशिष्ट मुक्ति विमुक्ति अर्थात् सर्वथा मुक्ति, बन्धन से मुक्त करना अहिंसा है । बन्धन दो प्रकार के है—१. द्रव्य बन्धन, २. भाव बन्धन । अहिंसा का आराधक इन दोनों बन्धनो से मुक्त हो जाता है ।

१३. **क्षान्ति** :—'क्ष अन्ति क्षान्ति' 'क्ष' से क्षत—दुःख, भय, खतरा आदि का अन्त होना क्षान्ति है, अतएव क्षान्ति अहिंसा है ।

१४. **सम्यकत्व** :—आराधना—जहाँ सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना है वहाँ अहिंसा है ।

१५. **महती** :—अहिंसा मन की चंचलता को हत करने वाली है अर्थात् अहिंसा चंचलता को समाप्त करके मन को स्थिर करने वाली है ।

१६. **बोधि** :—आत्मबोध होना अहिंसा है । अनन्तकाल से यह आत्मा आत्मबोध से रहित रहा है अतः ससार में भव-भ्रमण करता रहा है ।

१७. **बुद्धि** :—बुराई को जानने का ज्ञान बुद्धि है । दूसरे की बुराई को तो हर कोई जान लेता है पर अपनी बुराई को जानने वाले बहुत कम है, बुद्धि से अपनी बुराई को जानना और उससे बचना अहिंसा है ।

१८. **धृति** :—धृष्टता की इति अर्थात् समाप्ति धृति है । 'धृ' धृष्टता इति । यहाँ अन्तिम अक्षर से शब्द रचना की गई है । जो अहिंसा की साधना करता है वह धृति वाला होता है । जो धृति रहित होता है वह अहिंसा की आराधना नही कर सकता है ।

१९. **समृद्धि** :—समभाव की ऋद्धि समृद्धि है । सच्ची समृद्धि अहिंसा है ।

२०. **ऋद्धि** :—'ऋ' ऋजुता—सरलता की 'ध' ऋद्धि है । जहाँ हार्दिक सरलता है वहा अहिंसा है ।

२१. **वृद्धि** :—वृध विस्तृत—धि ज्ञान, विशाल धि—वृद्धि ।जहाँ वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना है वहाँ अहिंसा है ।

२२. **स्थिति** :—स्थिरता की इति पूर्णता अर्थात् पूर्ण स्थिरता अहिसा है ।

२३. **पुष्टि** :—'पु' पुण्य, पवित्र 'इष्टि' इच्छा-पुष्टि । पवित्र इच्छा अहिसा है ।

२४ **नन्दा** :—आनन्द की आप्ति-प्राप्ति नन्दा है, अतएव नन्दा अहिसा है ।

२५ **भद्रा** :—भद्र—कल्याण आप्ति-प्राप्ति भद्रा । प्राणी मात्र के कल्याण की कामना भद्रा है, अतएव भद्रा अहिसा है ।

२६. **विशुद्धि** :—'विशिष्टा शुद्धि विशुद्धि ।' शुद्धि दो प्रकार की है—१. शरीर-शुद्धि २. आत्म-शुद्धि । शरीर की शुद्धि करने वाले अनेक है । आत्म-शुद्धि करने वाले विरले है । शरीर-शुद्धि और आत्म-शुद्धि करने वाले अत्यल्प है, अतएव विशुद्धि अहिसा है ।

२७. **लब्धि** :—लाभ की 'धि' लब्धि है । लाभ दो प्रकार के है—१ लौकिक लाभ, २. लोकोत्तर लाभ । ये दोनों प्रकार के लाभ अहिसा से प्राप्त होते है, अतएव लब्धि अहिसा है ।

२८ **विशिष्ट दृष्टि** :—दृष्टियां दो प्रकार की है—१. सामान्य दृष्टि २ विशिष्ट दृष्टि । सामान्य दृष्टि वाले अनेक है । विशिष्ट दृष्टि वाले बिरले है । अथवा दृष्टिया दो प्रकार की है, १. सम्यग्दृष्टि २. मिथ्यादृष्टि । मिथ्या-दृष्टि वाले तो अनेक है । सम्यग्दृष्टि वाले बिरले है । सम्यग्दृष्टि ही वि[illegible] [illegible] । जहाँ सम्यग्दृष्टि है वहां अहिसा है ।

२९. **कल्याण** :—'सर्वे भवन्तु सुखिनः' यह प्राणीमात्र के कल्याण की कामना अहिंसा है। 'कल्ये प्राप्त अण्येते शब्धते इति कल्याणं' कल्य प्रातःकाल का पर्यायवाची है।

३०. **मंगल** :—'मं दुःखं गलति इति मंगल' दुखों का गल जाना, नष्ट हो जाना मंगल है, अतएव मंगल अहिंसा है।

३१. **प्रमोद** :—अहिंसा से प्रसन्नता होती है । अथवा प्रवल मोह का दमन अहिंसा है । आठ कर्मो में से सबसे प्रबल मोहनीय कर्म है, उसका दमन अहिंसा से होता है।

३२. **विभूति** :—'विशिष्ट भूति विभूति' यहां भूति ऐश्वर्य का सूचक है। विशिष्ट ऐश्वर्य की इति—पूर्णता अहिंसा से होती है।

३३. **रक्षा** :—'र' रहता है 'क्षा' क्षायक भाव। क्षायक भाव का रहना अहिसा है । सब भावों में क्षायक भाव सर्वोत्तम भाव है। कर्मों का क्षय क्षायक भाव से होता है। इसलिए अहिसा क्षायक भाव है।

३४. **सिद्धावास** :—सिद्धत्व का आवास अहिंसा मे है।

३५. **अनाश्रव** :—कर्मो का आना आश्रव है । अहिसा से कर्मो का आना अवरुद्ध होता है अतः अहिसा अनाश्रव है।

३६. **केवलिस्थान** :—कैवल्य की प्राप्ति अहिसां से होती है, इसलिए अहिंसा केवलिस्थान है।

३७. **शिव** :—'शि' शिक्षण 'व' वर श्रेष्ठ है, अहिसा का शिक्षणसर्वश्रेष्ठ है इसलिए अहिंसा शिव है।

३८. **समिति** :—विवेकपूर्वक चलना, बोलना आदि पांचों समितियां अहिंसा के विधेयात्मक रूप है इसलिए अहिंसा समिति है।

३९. **शील** :—'शी' शीर्ष स्थान–'ल' लब्ध प्राप्त। 'अहिसा परमोधर्म।' इस सूक्त से सब धर्मो में अहिंसा को शीर्ष स्थान—सर्वोच्च स्थान प्राप्त है, इसलिए अहिसा शील है।

४०. **संयम** :—इन्द्रियों का और मन का नियमन संयम है । संयमी ही अहिसा का साधक होता है, इसलिए संयम अहिंसा है।

४१. **शील परिग्रह** :—यहाँ शील स्वभाव का सूचक है । शील का परिग्रह ग्रहण करना अर्थात् स्वभाव का ग्रहण करना शील परिग्रह है। अहिसा आत्म-स्वभाव है उसको ग्रहण करना ही शील परिग्रह है।

४२. **संवर** :—'स' समभाव 'वर' श्रेष्ठ। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ समभाव है अतएव संवर अहिंसा है।

४३. **गुप्ति** :—'गु' गुणों की प्राप्ति अर्थात् आत्म-गुणों की प्राप्ति गुप्ति है। सभी आत्म-गुण अहिंसा में समाविष्ट है अतएव अहिंसा गुप्ति है।

४४. **व्यवसाय** :—व्यवसाय दो प्रकार के होते है—१. लौकिक व्यवसाय २. लोकोत्तर व्यवसाय। अहिंसा लोकोत्तर व्यवसाय है।

४५. **उन्नति** :—यहाँ उन्नति अभ्युदय का सूचक है, उन्नति दो प्रकार की है—१. लौकिक उन्नति २. लोकोत्तर उन्नति। अहिंसा की साधना मे सफल होना लोकोत्तर उन्नति है।

४६ **यज्ञ** :—अहिसा आत्मयज्ञ है। सभी यज्ञों से अहिंसा की आराधना श्रेष्ठ होती है इसलिए अहिसा यज्ञ भी है।

४७. **आयतन** :—आत्म-स्वरूप मे स्थित होने के लिए अहिसा एक सर्वोत्तम आयतन है।

४८. **यजन** :—कर्मो का यजन करने के लिए अहिंसा पवित्र यजन है।

४९. **अप्रमाद** :—सावधानी से चलना, बैठना आदि सभी क्रियाये करना अहिसा की आराधना है, अतएव अप्रमाद अहिंसा है।

५०. **आश्वासन** :—भयभीत को आश्वासन देना अहिसा की सर्वश्रेष्ठ आराधना है।

५१. **विश्वास** :—'वि'–विद्यमान 'श्वास' विश्वास। जब तक श्वास है तब तक अर्थात् जीव-पर्यन्त मै तुम्हे धोखा नही दूगा, विश्वासघात नहीं करूंगा, मैं तुम्हे यावज्जीवन समय-समय पर उचित एव आवश्यक सहयोग देता रहूंगा, इस प्रकार का विश्वास देना अहिसा है।

५२. **अभय** :—किसी भयभीत को भय न होने देना अहिसा है। मेरे से या अन्य किसी से तुझे किसी प्रकार का भय न होने दूगा, इस प्रकार अभय का आश्वासन देना अहिसा है।

५३. **अमारि** :—महामारी से बचाना अमारि है अथवा अकाल मृत्यु से बचाना अमारि है।

५४. **चोखा** :—चारो ओर से क्षालन करना अर्थात् स्वच्छ करना। स्वच्छता दो प्रकार की है—१. द्रव्य स्वच्छता २ भाव स्वच्छता। निर्मल विचार भाव स्वच्छता है। अहिसा से आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर स्वच्छ बनती है।

५५. **पवित्रता** :—यहां पवित्रता निष्पाप जीवन का सूचक है। पवित्रता दो प्रकार की है—द्रव्य पवित्रता २. भाव पवित्रता।

५६. **शुचि** :—'शु' शुद्धि 'चि' चित्त शुद्ध चित्त होना शुचि है। शुचि दो प्रकार की है—१. शारीरिक शुचि २. मानसिक शुचि। अहिंसा की साधना मानसिक शुचि वाला ही कर सकता है।

५७. **पूजा** :—'पू' पूर्ण हो जाना। अहिंसा से आत्म-शुद्धि पूर्ण हो जाती है।

५८ **विमला** :—'वि' विगत 'मला' विमला। मल दो प्रकार के है—१. शारीरिक मल २ मानसिक मल अथवा १. द्रव्यमल २. भावमल। दोनों प्रकार के मलो से मुक्त होने की सफल साधना अहिंसा से होती है।

५९. **प्रभासा** :—प्रभात सादृशी प्रभासा। अहिंसा प्रभात जैसी भावस्वर आभा वाली है।

६०. **निर्मलतरा** :—अहिंसा निर्मलतरा है। आत्मा को कर्म मल से सर्वथा मुक्त करने वाली अहिसा है।

अहिंसा के इन साठ नामों की अति संक्षिप्त व्याख्या शब्द नय का अनुसरण करके की गई है। प्रत्येक शब्द के अर्थ उसकी मूल भावना के अनुरूप यहां दिए गए है। आगमज्ञ पाठक कही कुछ संशोधन करने के लिए सूचित करेंगे तो मै उनकी सूचनायें हृदय से स्वीकार करने की भावना रखता हूं।

सूक्तियाँ

क्या वकरी क्या गाय है, क्या अपनो जाया।
सबको लोहू एक है, साहिब फरमाया॥
पीर पैगम्वर औलिया, सव मरने आया।
नाहक जीव न मारिये, पोपन को काया॥

साहव का कहना है कि सव प्राणियों का खून एक है, चाहे वह बकरी हो, गाय हो या अपनी सन्तान हो। पीर पैगम्बर और औलिया—सब एक न एक दिन मर जायेगे। इसलिए अपने शरीर का पालन करने के लिए जीव को व्यर्थ मत मारिये।

—गुरु नानकदेव

अहिसा प्रचण्ड शास्त्र है। उसमें परम पुरुषार्थ है, वह भीरु से दूर भागती है। वह वीर पुरुप की शोभा है, उसका सर्वस्व है। वह शुष्क, नीरस, जड पदार्थ है। वह चेतन है। वह आत्मा का विशेष गुण है।

—महात्मा गाँधी

अनेकों को जो एक रखती है, भेदो मे से अभेद ढूँढती है, वह अहिंसा है।

—विनोवा भावे

अहिंसा और निर्भयता

□ पं. र. श्री विनयचन्दजी म. सा.

जल अग्नि को शान्त कर सकता है, लेकिन वह उसी अवस्था मे कर सकता है जबकि उसका खुलकर प्रयोग किया जाय। वन में दावानल लगी हो और उस पर किसी ने एक घडा पानी लाकर छिड़क दिया तो क्या वह बुझ जायेगी ? कदापि नही । यही बात अहिंसा के विषय में भी है। जीवन मे तो अहिसा का बूंदभर भी उपयोग नहीं करते है और चाहते है कि देशभर मे घृणा और द्वेष का दावानल बुझ जाय तो यह कैसे सम्भव हो सकता है ? अग्नि शान्त करने के लिए पानी का अप्रतिबद्ध तीव्र प्रहार करने की आवश्यकता है । वैसे ही अहिंसा की भी जीवन में अजस्र धारा प्रवाहित करने की आवश्यकता है। अगर यह धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहेगी तो दुनिया में प्रदीप्त विद्वेष की लपटे सदा के लिए बुझती चली जायेगी। अहिंसा धर्म का प्राण है। प्राण रहित शरीर में जिस प्रकार कीड़े पड़ जाते हैं और कुत्ते और कौवे नोचने लग जाते है । वैसे ही अहिंसा रहित धर्म भी मुर्दे के समान है, उससे समाज में सड़न पैदा हो जाती है।

अहिसा और कायरता :

कुछ लोग अहिसा को कायरों का धर्म समझते है और उसे इसी सम्बोधन से पुकारते भी है। लेकिन उनका ऐसा मानना ठीक नहीं है। अहिसा कायरों का नही, वीरों का धर्म है। किसी दूसरों पर आक्रमण कर देना सरल है किन्तु दूसरों के आक्रमण को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेना ही सबसे बडी कठिन साधना है। माता कभी-कभी अपने बच्चे के हाथ की मार भी खाती है और ऊपर से उसे पुचकारती भी जाती है। यदि उसे माता की कायरता समझी जायगी तो फिर मातृ-प्रेम किसे कहा जायगा ? प्रेम में वह सहनशीलता न हो तो वह प्रेम फिर कहाँ रहा ? अत अहिंसा कायरो का नही, वीरों का धर्म है । अहिसा और कायरता मे जमीन-आसमान का अन्तर है। अहिंसा धर्म है तो कायरता पाप है। अहिंसा सम्यक्त्व है तो कायरता मिथ्यात्व है । अहिसा विश्व का शृगार है तो कायरता एक प्रकार की कोढ है।

अहिंसा के सिद्धान्त पर जिसकी पूर्ण श्रद्धा है, वह भय को भी जीत लेता है । जो किसी के डर से या भय से हिंसा नही करता है वह मानसिक हिंसा का शिकार कहा गया है। चूहा बिल्ली के प्रति अहिंसक है ऐसा नही कहा जा सकता; किन्तु वह निर्बल होने के कारण उस पर आक्रमण नहीं कर पाता है, यही उसकी कायरता है। जहाँ कायरता है वहाँ भले ही द्रव्य हिसा नही किन्तु भाव हिसा तो हो ही जाती है।

अहिंसा को समझने के लिए हिंसा के चार भेद समझ लेना आवश्यक है–

१. संकल्पिनी हिंसा—दूसरों का अहित सोचना।

२. उद्योगिक हिंसा—जीवन-निर्वाह के लिये १५ कर्मादान से होने वाली हिंसा।

३. आरम्भी हिंसा—पाक क्रिया (भोजनादि) से होने वाली हिंसा।

४. विरोधिनी हिंसा—अपने या पर (स्व-पर) की रक्षा के लिये की गई हिंसा।

गृहस्थो के लिए प्रथम हिंसा सर्वथा त्याज्य है। दूसरी हिंसा के लिए 'यत्नाचार' की आवश्यकता है। यत्नाचार को समझने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है।

अनहिलपुर के राजा पर मौका देखकर दूसरे राजा ने चढ़ाई कर दी। महाराजा बाहर गये हुए थे। महारानी ने मंत्री और राज्य कर्मचारियों से विचार-विनिमय किया और अपनी सेना भी शत्रु सेना के मुकाबले में खडी कर दी। मंत्री जैन था, उसने चीटी की विराधना हो जाने से "मिच्छामि दुक्कड़म्' दिया। यह सुनकर एक सैनिक महारानी के पास पहुंचा और बोला—मंत्री तो चीटी मारने से भी डरता है तो वह सारा युद्ध कैसे कर सकेगा? दूसरे दिन मंत्री ने समय देखकर शत्रु सेना के पड़ाव मे आग लगवा दी। हजारों सैनिक अपनी जान बचाने के लिये इधर-उधर भागने लगे। रानी ने यह सारा दृश्य देखा—तभी उसने मंत्री से पूछा—कल तो तुम एक चीटी के मर जाने से घबरा रहे थे। पर आज यह नर सहार कराते हुए तुम्हे वैसा क्यों नहीं हो रहा है? मंत्री ने उत्तर दिया—"जैन कभी भी अपनी ओर से प्रथम आक्रमण नहीं करता है, लेकिन कोई उस पर आक्रमण करता है तो वह उसका प्रतिकार अवश्य करता है। वह एक प्राणी की रक्षा के लिये अपना सर्वस्व देने के लिये त्याग कर सकता है परन्तु अन्याय का मुकावला करते समय उसको अपनी जान भी देना पड़े तो वह खुशी-खुशी उसके लिए सदा तैयार रहता है।" इससे आप यह भलीभांति समझ सकते है कि अहिंसा वीरो का धर्म है, कायरों का नही।

धर्म का सार :

हजारो नही लाखों वर्ष पहले भी पाँच और चार (५+४=९) नौ ही होते थे। किसी ने भी (५+४=९ किन्तु १० नही) पाँच और चार को दस नही कहा। कोई १० कह दे तो आप उसे क्या कहेंगे? गणित का सिद्धान्त सदा एक-सा ही रहता है। उसमे किसी भी तरह का परिवर्तन नही होता। आँख से देखना, कान से सुनना और जिह्वा से स्वाद का लेना यह प्रवृत्ति तीनो कालो मे एक-सी ही रहती है। आम की गुठली से आम, नीबू के बीज से नीबू,

गेहूं के बीज से गेहूं और जामुन के बीज से जामुन ही पैदा होगे, दूसरा और कुछ भी पैदा नही हो सकता । इसी प्रकार धर्म भी हमेशा अहिंसा मे ही रहेगा ।

हिन्दू, मुसलमान, क्रिश्चिन कोई भी क्यों न हो, २ और २=४ ही कहेगे । गणित शास्त्र में किसी भी जाति या धर्म वाले का मतभेद नही होता, इसी प्रकार अहिसा के बारे में भी सभी समान आदरभाव रखते है ।

ग्रीस मे 'जेनो' नामक एक ऐसा तत्त्ववेत्ता हो गया है जो अपने शरीर मे कीड़े पड जाने पर भी उनके मर जाने के भय से कभी उन्हें बाहर नही निकालता था । कदाचित् वे स्वयं नीचे गिर जाते तो उन्हे वापस उठाकर उसी स्थान पर रख देता था । इसी तरह के उदाहरण आपको मुसलमान आदि सभी धर्मग्रथों और साहित्यों में मिल सकते है । अत: किसी न किसी रूप मे प्रत्येक धर्म ने अहिसा को माना ही है ।

अहिसा में परस्पर विरोधी शक्तियो के वैरभाव को दूर करने का सामर्थ्य रहा हुआ है । सिंह-बकरी, चूहा-बिल्ली, बिल्ली-कुत्ता, सर्प-नेवला ये स्वभाव से एक दूसरे के विरोधी है किन्तु अहिसा के सम्मुख ये दोनो नि:वैर और आराम की नीद लेते है । उनका जन्मजात वैर भी मिट जाता है । यह अहिसक परमाणुओं का ही असर होता है । अहिंसक बनकर ही मनुष्य निर्भयता से जी सकता है ।

महात्मा गाधी के शब्दो मे "हिसा मृत्यु का कारण है तो अहिसा जीवन का । हिसा पशुबल है तो अहिसा मनुष्य का बल है । हिसा आसुरी शक्ति है तो अहिसा दैविक शक्ति है ।" मनुष्य यदि पूर्ण रूप से अहिंसक बन जाय तो वह शस्त्रधारी सेना की अपेक्षा दूसरे की रक्षा करने में अधिक शक्तिशाली साबित हो सकता है । पूर्ण अहिंसक बनने के लिए दृढ श्रद्धा का होना अनिवार्य है । अहिंसा की शक्ति इतनी मंगलमय है कि जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी समान भाव से ले सकते है । यदि जीवन मे सच्ची अहिसा आ जाय तो राज्य में पुलिस, कोर्ट, कचहरी जैसी नियमों का पालन करवाने वाली संस्थाओं की जरा भी आवश्यकता नही रहे । अहिसा भारतीय सस्कृति का जीवन-भूत तत्त्व । जैन धर्म की ख्याति भी मुख्यत· अहिंसा से ही है । 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में—अहिंसा को भगवती कहा गया है—

"एस सा भगवती अहिंसा जा सा भियाणं वीवसरणं"

कि यह भगवती अहिंसा भयभीत जीवों को भी शरण प्रदान करने वाली है ।
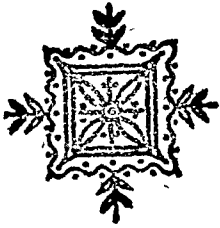
अहिंसा : स्वरूप और चिन्तन

☐ श्री रमेश मुनि शास्त्री

अहिंसा एक परम धर्म है। यह जैन आचार-संहिता के लिये प्राणवत् है। जैनाचार का अतीव विशाल व सुरम्य प्रासाद अहिंसा की सुदृढ नीव पर ही अत्यधिक आश्वस्तता के साथ आधारित है। अहिंसा मानव की शान्ति और सुख की जननी है। मानव और दानव मे अन्तर ही हिंसा और अहिंसा का है। मानव ज्यो-ज्यो हिंसक बनता जाता है, वह त्यों-त्यों दानवता के समीप होता चला जाता है और दानव ज्यों-ज्यों हिंसा का त्याग करता जाता है, यथार्थ मानवता के अत्युच्च गौरव से विभूषित होता चलता है। अहिंसा का सिद्धान्त वस्तुत: अतीव व्यापक व प्रभावकारी है। अहिंसक मानव मे स्वत: ही अनेकानेक सद्गुण विकसित होते चले जाते है और उसके भीतर की मानवीयता विशेष रूप से पुष्ट होती चली जाती है। वास्तविकता यह है कि अहिंसा सिद्धान्त की विराट् भूमिका मानव के मानस को ऐसा विस्तार प्रदान करती है कि वह सहज ही सृष्टि के समस्त प्राणियो को आत्मवत् स्वीकार करने लगता है, वह प्राणीमात्र का परम हितैषी हो जाता है और किसी की हानि करने की परिकल्पना से भी वह दूर, बहुत दूर हो जाता है।

यह 'सर्वप्राणातिपातविरति' की ऐसी अतीव विशिष्ट प्रतिज्ञा है जो मानव को अहिंसा महाव्रती और जीव मात्र का रक्षक बना देती है। वह किसी की भी हिंसा नही करने का सकल्प धारण करता है और उसका दृढ़ता के साथ पालन करता है। परिणामत: वह न केवल अन्य जनो की सुख-सृष्टि मे योगदान करता है, अपितु स्वयं अपने लिये भी अलौकिक सुख की संरचना कर लेता है। उसकी अन्तरात्मा राग, द्वेष, सर्व कल्मष और दुर्भावो की दुरभिसन्धि से मुक्त होकर विशुद्ध एवं प्रशान्त रहती है, आत्मतोष के अगाध सागर में निमग्न रहती है। अहिंसा धर्म के आराधक साधक के लिये यह एक सयम है और यही अन्य जन के लिये दया और रक्षा का विशेष भाव है। इसी भाव-श्लेष के कारण 'रक्षादया सर्वभूत क्षेमकारी' का प्रयोग अहिंसा के पर्याय रूप मे हुआ है। अहिंसा आत्मनिष्ठ है, आत्मा से उपजती है और समानता की सद्भावना से परिपुष्ट होती है। हिंसा की भावना से निवृत्त होने के पीछे अपने अनिष्ट की आशका विशेष रूप से काम करती है।

यह समूचा पृथ्वी-ग्रह नाना प्रकार के जीव-जन्तुओं का एक अद्भुत समुच्चय है। विभिन्न रंग-रूप, आकार-आकृति, गुण-धर्मादि के धारक होने के कारण ये समस्त प्राणी वैभिन्यमुक्त एवं अनेक वर्गों में विभाजित हैं। बाह्य और प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर यह वैभिन्य स्वीकार करना ही पड़ता है, किन्तु यह एक अति स्थूल सत्य है। इसके अतिरिक्त एक अति सूक्ष्म सत्य और भी है, वह यह कि विभिन्न प्राणी वर्गों के घोर असाम्य के समानान्तर रूप मे एक अमिट साम्य भी है। सभी प्राणी सचेतन है। सभी में आत्मा का निवास है। यह आत्मा सभी में एक-सी है। उदाहरणार्थ—मानव अन्य प्राणियो की अपेक्षा कई गुना अधिक सशक्त और विवेकशील है तथापि आत्मा की दृष्टि से उसका स्थान भी अन्य प्राणियो के समकक्ष ही है। मानव की अन्य कोई श्रेणी नही है। सचेतनता का धर्म मनुष्य का भी और अन्य प्राणियों का भी है। यह चैतन्य जीव वर्ण में ऐसा परिव्याप्त है कि इसी आधार पर जीवो को शेष अजीवो से पृथक् करके पहचाना जा सकता है। सुख-दु:ख आदि की अनुभूति चैतन्य का ही परिणाम है। ये अनुभूतियाँ प्राणियो के लिए ही है, निर्जीव जड़-पदार्थों के लिये नही, क्योकि वे चेतना-शून्य होते है, ज्ञान-विहीन होते हैं।

समस्त चेतन जीव दु:ख से वचना चाहते है और सुखमय जीवन की कामना करते है। सुख प्रत्येक आत्मा का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और सुख-प्राप्ति के मार्ग मे आगत वाधक परिस्थितियाँ दु:खानुभव का कारण वनती है। यह सत्य है कि आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान है, चेतनतावश सभी को सुख-दु:ख का अनुभव होता है। इस सम्वन्ध में मनुष्य और इतर जीवो में भेद नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त सभी आत्माएँ सुखकामी और दु खद्वेषी होती है। सुखाकांक्षा आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, सभी आत्माएँ सुख चाहती हैं। समस्त प्राणियो को आत्मवत् समझना चाहिये। किसी के लिये ऐसा कार्य मत करो, जो तुम्हारे लिये कष्टकारी हो। दूसरो से तुम जैसा व्यवहार अपने लिये चाहते हो, वैसा ही व्यवहार तुम भी दूसरो के साथ करो। जिस दिन तुम अपनी और दूसरों की आत्मा के मध्य भेद को विस्मृत कर दोगे, उसी दिन अहिंसा की साधना भी सफल हो जायेगी। अपने प्राणो की सुरक्षा चाहने वालो का परम कर्तव्य यही है कि वे दूसरो के जीवन-रक्षा सम्बन्धो अधिकार को भी मान्यता दे। अहिंसक व्यक्ति का उपदेश मात्र वाचिक नही होता, उसका समग्र जीवन ही अहिंसामय होता है। सर्व प्रकार से सर्व कालो मे सर्व प्राणियों के साथ अभिद्रोह न करना 'अहिंसा' है। विराट् भाव ही अहिंसा का मूलाधार है। इसमें आत्मा-आत्मा में ऐक्य और अभेद की स्थिति रहती है। प्राणिमात्र के प्रति समता का भाव, सभी के प्रति हितैषिता एव वन्धुता का भाव, सभी के साथ सह-अस्तित्व की ... ही किसी को अहिसक वना सकती है।

अहिंसा के गुणनिष्पन्न ६० नाम है। संक्षेप में उनका स्वरूप इस प्रकार है :—

१. **निर्वाण** —मोक्ष प्रदाता होने से इसे निर्वाण कहा गया है।
२. **निवृत्ति**—समस्त पापों और समस्त दु:खों से निवृत्त कर शान्ति और सुख प्रदाता है।
३. **समाधि**—चित्त को शान्ति देने वाली।
४. **शक्ति**—मोक्ष प्राप्त करने की शक्ति प्रदान करने वाली।
५. **कीर्ति** —यशःप्राप्ति करने वाली।
६. **कान्ति**—दीप्ति, तेज, सौन्दर्य बढाने वाली।
७. **रति**—मन को प्रसन्नता देने वाली।
८. **विरति**—पापों से हटाने वाली।
९. **श्रुतांग**—श्रुत ज्ञान से उत्पन्न।
१०. **तृप्ति**—संतोष देने वाली।
११. **दया**—अनुकम्पा करने वाली।
१२. **विमुक्ति**—कर्म-बन्धन से छुडाने वाली।
१३. **क्षान्ति**—क्रोध का निग्रह करने वाली।
१४. **सम्यक्त्वाराधना**—सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म की आराधना कराने वाली।
१५. **महंती**—सभी व्रतों में महत्त्व रखने वाली।
१६. **बोधि**—सम्यक्त्व प्रदान करने वाली।
१७. **बुद्धि**—निर्मल बुद्धि रूप।
१८. **धृति**—धैर्य युक्त।
१९. **समृद्धि**—समस्त प्रकार की सम्पन्नता से युक्त।
२०. **ऋद्धि**—आन्तरिक लक्ष्मी प्राप्त करने का कारण।
२१. **वृद्धि**—पुण्य प्रवृत्ति सम्पादन कर सुख-सामग्री बढ़ाने वाली।
२२. **स्थिति**—स्थायी निवास देने वाली।
२३. **पुष्टि**—पुण्य-संचय रूप पुष्टि देने वाली।
२४. **नन्दा**—स्व-पर को आनन्द देने वाली।
२५. **भद्रा**—स्व-पर का कल्याण करने वाली।
२६. **विशुद्धि**—पाप-मल को दूर कर आत्मा को निर्मल बनाने वाली।
२७. **लब्धि**—अनेक प्रकार की लब्धियाँ देने वाली।
२८. **विशिष्ट दृष्टि**—जिनेश्वर-प्रणीत स्याद्वादमय दृष्टि देने वाली।
२९. **कल्याण**—आत्मा को आरोग्य देने वाली।
३०. **मंगल**—अनिष्ट को मिटाने वाली या पाप को गलाने वाली।
३१. **प्रमोदा**—हर्ष उत्पन्न करने वाली।

३२. **विभूति**—सभी प्रकार के ऐश्वर्य देने वाली
३३ **रक्षा**—जीवो की रक्षा करने वाली।
३४. **सिद्धावास**—मोक्ष का शाश्वत स्थान देने वाली।
३५. **अनाश्रव**—आश्रव को रोकने वाली।
३६. **केवली स्थान**—केवल ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य आधार।
३७. **शिव**—उपद्रव रहित, स्थायी शान्ति देने वाली।
३८. **समिति**—निर्दोष प्रवृत्ति कराने वाली।
३९. **शील**—सदाचार रूपा।
४०. **संयम**—हिंसा से सर्वथा निवृत्ति या इन्द्रिय-दमन रूप।
४१. **शील-परिग्रह**—शुद्ध चारित्र रूप सदाचार का घर।
४२. **संवर**—कर्मो के आगमन को रोकने वाली।
४३. **गुप्ति**—मन, वचन, काया के अशुभ-व्यापार को रोकने वाली।
४४. **व्यवसाय**—शुभ अध्यवसाय रूप।
४५. **उच्छ्रय**—शुद्ध भावों में वृद्धि करने वाली।
४६. **यज्ञा**—भाव पूजा रूप।
४७. **आयतन**—गुणों का घर।
४८. **यजना**—अभय दान देने वाली, यतना-विवेक प्रदान करने वाली।
४९. **अप्रमाद**—प्रमाद को हटाने वाली।
५०. **आश्वासन**—कष्ट मे धैर्य देने वाली।
५१. **विश्वास**—विश्वास देने वाली।
५२. **अभय**—सब को निर्भय बनाने वाली।
५३. **आमाघात**—सभी प्राणियो के घात का निवारण करने वाली।
५४. **चोक्षा**—हृदय को स्वच्छ बनाने वाली।
५५. **पवित्रा**—हृदय को विशुद्ध बनाने वाली।
५६. **शुचि**—हिंसादि मलिन भावो से रहित कर हृदय शुद्ध बनाने वाली।
५७. **पूता**—पवित्र करने वाली, पूजा—देव पूजा रूप।
५८. **विमला**—विशेष रूप से मल-रहित करने वाली।
५९. **प्रभासा**—प्रकाश देने वाली, तेजयुक्त बनाने वाली।
६०. **निर्मलतर**—जीव को अत्यन्त विशुद्ध बनाने वाली।

अहिंसा अभया है। वह भीतो को शरण प्रदाता है। इसका आश्रय लेने वाला भयमुक्त हो जाता है और दूसरे जीवो को भयमुक्त बना देता है। पक्षियों के लिये आकाश-गमन भयप्रद नही होता। पृथ्वी पर वास या चलना उनके लिये भयप्रद है क्योंकि उन्हे हिंसक पशु और शिकारी मनुष्यो से भय बना रहता है, पर आकाश-गमन वे उपद्रव रहित होकर निश्चिन्तता से [illegible] हैं। इसी प्रकार अहिंसक भयमुक्त होकर निश्चिन्त गमन करता है और [illegible] पापों का विनाश कर शाश्वत स्थान को प्राप्त करता है।

जैसे प्यासे के लिये पानी और भूखों के लिये भोजन जीवन-प्रदाता है इसी प्रकार अहिंसा का अमृतपान कर जीव अमर बन जाता है। जैसे अगाध समुद्र में डूबे हुए प्राणी के लिये जलयान रक्षक होता है और उसका आश्रय लेकर वह पार पहुँच जाता है, उसी प्रकार अहिंसा रूपी पोत संसार-समुद्र से पार लगा देता है। जैसे पशुओं को अटवी मे सिंह, व्याघ्र आदि से भय बना रहता है, पर पशुशाला उसको उपद्रव-रहित कर देती है, उसी प्रकार अहिंसा रूपी पशुशाला जीव रूपी पशुओं को संसाराटवी में विचरते हुए क्रोधादि रूप हिंस्र पशुओं से सुरक्षित कर देती है। औषधि जैसे रोगो को विनष्ट कर देती है और आरोग्य प्रदान करती है वैसे ही अहिंसा पाप रूप रोग को नष्ट कर देती है। भयंकर वन मे पथ-भ्रष्ट मानवों को जैसे पथप्रदर्शक निष्कण्टक, सरल, उपद्रवरहित मार्ग बतलाकर भयमुक्त कर देता है, उसी प्रकार हिंसा के पथ पर चलने वाले पथभ्रष्ट मानवो को अहिंसा सत्पथ पर लगा देती है।

संक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि अहिंसा एक ऐसा उच्चकोटि का आध्यात्मिक धर्म है जो विराट् विश्व के समग्र चैतन्य को एक समानता के धरातल पर खडा कर देता है, उनके जीवन को अन्दर और बाहर दोनों ओर से आलोकित कर देता है।

संगठन और अहिंसा

श्री चम्पालाल छल्लाणी

एक संध्या में एक मुनि अपनी कुटिया के सामने ध्यान मग्न बैठे थे। ऊपर नील गगन में चिड़ियाँ अपने वसेरे को लौट रही थी। तभी मुनि को किसी की कातर चीख सुनाई दी। उन्होंने ऊपर देखा। एक बाज चिड़िया पर झपटा, वह चिड़िया को पंजे में पकड़े ले जा रहा था। शेष चिड़ियाँ दूर-दूर थी और डरी हुई थी। मुनि ने कहा—"हिंसा जगत् का नियम है। निर्बल जाति हिंसा को वढावा देती है, इसलिए संगठित होकर रहो।"

मुनि पुन ध्यान मग्न हो गये। कई वर्षो वाद एक दिन फिर आँखें आकाश की ओर उठी। सूर्य अस्ताचल को जा रहा था। चिड़ियां आकाश में विचर रही थीं। पर एक साथ। दूसरी ओर दो-तीन उदास वाज ताक रहे थे। चिड़ियाँ सकुशल चली गईं। वाज केवल ताकते रहे। मुनि मुस्कराकर वोले—"हिंसक आततायी काले वाजो! तुम अव कही अन्यत्र चले जाओ। यहां की चिड़ियाँ तो संगठित हो गई है।" इतना कहकर मुनि फिर ध्यान-मग्न हो गये। यह है संगठित शक्ति में अहिंसा।

—आर. के. बोस रोड, धुबड़ी (असम)

अहिंसा की साधना

□ महात्मा गांधी

१ आम तौर पर लोग सत्य का स्थूल अर्थ सत्यवादिता ही समझते है लेकिन सत्य वाणी में सत्य के पालन का पूरा समावेश नही होता; इसी तरह साधारणतया लोग अहिसा का स्थूल अर्थ यही करते है कि दूसरे जीव को मारना नही; किन्तु केवल प्राण न लेने से अहिसा की साधना पूरी नहीं होती।

२. अहिसा केवल आचरण का स्थूल नियम नही, बलिक मन की वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं भी द्वेष की गध तक नही रहती, वह अहिसा है।

३. इस प्रकार की अहिसा सत्य के समान ही व्यापक होती है। ऐसी अहिसा की सिद्धि के विना सत्य की सिद्धि सम्भव नही। अतएव दूसरी दृष्टि से देखे, तो सत्य अहिसा की पराकाष्ठा ही है। पूर्ण सत्य और पूर्ण अहिसा में भेद नही; फिर भी समझने की सुविधा के लिए सत्य को साध्य और अहिसा को साधन माना है।

४. ये—सत्य और अहिसा—सिक्के के दो पहलुओं की तरह एक ही सनातन वस्तु की दो बाजुओं के समान है।

५. अनेक धर्मों में ईश्वर को जो प्रेम-स्वरूप कहा गया है, उस प्रेम और इस अहिसा में कोई अन्तर नही है।

६. प्रेम के शुद्ध, व्यापक स्वरूप का नाम अहिसा है। जिस प्रेम में राग या मोह की गध आती है, उसमें अहिसा नही होती। जहाँ राग और मोह होते है, वहाँ द्वेष का बीज भी रहता ही है। प्रायः प्रेम में राग-द्वेष पाये जाते है। इसीलिए तत्त्ववेत्ताओं ने प्रेम शब्द का उपयोग न करके अहिसा शब्द की योजना की है और उसे परम धर्म कहा है।

७ दूसरों के शरीर या मन को दुःख अथवा चोट न पहुँचाना ही अहिसा-धर्म नही है, परन्तु उसे साधारणतः अहिसा-धर्म का एक आँखों दीखने वाला लक्षण कहा जा सकता है। यह सम्भव है कि दूसरे के शरीर अथवा मन को स्थूल दृष्टि से दुःख या चोट पहुचती दिखाई पड़े, और फिर भी उसमे शुद्ध अहिसा-धर्म का पालन हो रहा हो। इसके विपरीत, इस के दुःख अथवा चोट पहुंचाने का आरोप लगाने जैसा कोई काम न

फिर भी हो सकता है कि उस मनुष्य ने हिंसा की हो। अहिंसा का भाव आँखो से दीखने वाले परिणाम में ही नही, वलिक अन्तःकरण की राग-द्वेष रहित स्थिति मे है।

८. फिर भी आंखों से दीखने वाले लक्षण की उपेक्षा नही की जा सकती। क्योंकि यद्यपि यह एक स्थूल साधन है, तो भी अपने या दूसरे के हृदय मे अहिंसा-वृत्ति का कितना विकास हुआ है, इसका मोटा अन्दाज इस लक्षण से लग सकता है। जहां दूसरें भूत-प्राणियों को उद्विग्न न करने वाली वाणी के और वैसे ही कर्म कें दर्शन होते है, वहां साधारण जीवन मे तो इस बात का प्रत्यक्ष पता चल सकता है कि उसमें अहिंसा किस हद तक पुष्ट हुई है। निश्चय ही अहिसामय दुःख देने के प्रसंग भी आते हैं; उदाहरण के लिए, शुद्ध हेतु से, आत्म-शुद्धि के निमित्त किए गए उपवास से अपने प्रति प्रेम रखने वालों पर एक प्रकार का दबाव पड़ता है; किन्तु उस समय उसमें विद्यमान अहिंसा स्पष्ट दीखती है। जहां स्वार्थ की लेशमात्र भी गध है, वहां पूर्ण अहिसा सम्भव नही।

९. परन्तु इतने से यह नहीं माना जा सकता कि अहिंसा की साधना पूरी हुई है। अहिंसा का साधक केवल प्राणियों को उद्विग्न बनाने वाली वाणी का उच्चारण और कर्म का आचरण न करके अथवा मन मे भी उनके बारे में द्वेष भाव न रख कर ही सन्तुष्ट नही होगा, वलिक वह संसार के वर्तमान दुःखों का दर्शन करने, उनके उपाय खोजने और उन उपायों को अमल में लाने का प्रयत्न करता रहेगा; साथ ही दूसरो के सुख के लिये वह स्वयं प्रसन्नतापूर्वक कष्ट सहता रहेगा। तात्पर्य यह कि अहिंसा केवल निवृत्ति रूप कर्म अथवा निष्क्रिया नही है, बल्कि बलवान प्रवृत्ति अथवा प्रक्रिया है।

१०. अहिसा में तीव्र कार्य-साधक शक्ति विद्यमान है। उसमे विद्यमान अमोघ शक्ति का पूर्ण संशोधन अभी हुआ नही है। 'अहिंसा के निकट सारा विष और वैर शान्त हो जाता है', यह सूत्र केवल उपदेश-वाक्य नहीं है, वलिक ऋषि का अनुभव-वाक्य है। जाने-अनजाते, सहज प्रेरणा से, सव प्राणी एक दूसरे के लिए खपने का धर्म पालते है और इस धर्म के पालन से ही ससार निभता है। फिर भी इस शक्ति के सम्पूर्ण विकास का और सव कार्यो तथा प्रसंगो के लिए इसके प्रयोग का मार्ग अभी ज्ञानपूर्वक खोजा नही गया है।

११. हिंसा के मार्गो की खोज और उसके संगठन के लिए मनुष्य ने जितना दीर्घ उद्योग किया है और एक वडी हद तक उसका शास्त्र तैयार करने में जो सफलता प्राप्त की है, यदि उतना उद्योग वह अहिसा की शक्ति

की खोज और उसके संगठन के लिए करे, तो उससे यह सिद्ध हो सकता है कि अहिंसा मनुष्य जाति के दुःखों को दूर करने के लिए एक अमूल्य, कभी व्यर्थ न होने वाला और परिणाम में दोनों पक्षों का कल्याण करने वाला साधन है।

१२. जिस श्रद्धा और उद्योग से वैज्ञानिक प्राकृतिक शक्तियों की खोज करते हैं और उनके नियमों को विविध रीति से व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करते है, उसी श्रद्धा और उद्योग से अहिंसा-शक्ति की खोज करने और उसके नियमों को व्यवहार में उतारने का प्रयत्न करने की आवश्यकता है।

व्यर्थ का खून नहीं

□ श्री राजकुमार जैन

भारत के जिस राज्य पर सिकन्दर हमला करना चाहता था, उसी राज्य का राजा जब बिना बुलाए उससे मिलने आया तो सिकन्दर का सीना गर्व से फूल गया। उसने समझा कि वह राजा आत्म-समर्पण करने आया है। बातों के दौरान उस राजा ने पूछा—"हमने तो आपका कोई अपकार नही किया है, फिर भला आप हम पर आक्रमण क्यों करना चाहते है ?"

सिकन्दर ने गर्व भरा जवाब दिया—"ठीक है, हम तुम पर आक्रमण नही करेगे किन्तु तुम्हें सात साल तक 'कर' देना होगा।"

राजा ने सिकन्दर को समझाया कि इतने सारे धन के रहते हुए मामूली-सी कर की रकम से आपका क्या बन-बिगड़ जाएगा ? बात सिकन्दर के गले उतर गई। दोनों ने मित्रता स्वीकार करली। तब राजा ने सिकन्दर को सम्पूर्ण सेना सहित प्रीतिभोज पर आमन्त्रित किया।

अपने दल-बल सहित जब सिकन्दर राज्य की सीमा पर पहुँचा तो एक विशाल सेना ने घेर लिया। सिकन्दर तिलमिला उठा और बोला—"तुमने हमारे साथ विश्वासघात किया है।"

लेकिन राजा का उत्तर सुनकर शर्म से सिकन्दर का सिर झुक गया। उसने जवाब दिया—"मैं अपनी सेना की इस छोटी-सी टुकडी के साथ आपके स्वागत के लिए आया हूँ, युद्ध हेतु नही। आपको शायद यह गलतफहमी है कि अपनी सैन्य-दुर्बलता की वजह से हमने आपके साथ मैत्री की है, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि हम हिन्दुस्तानी व्यर्थ में खून बहना और बहाना पसन्द नही करते।"

सिकन्दर का गर्व टूट चुका था।

—राज स्टेशनर्स एण्ड जन
भवानीमण्डी (राज.) ३
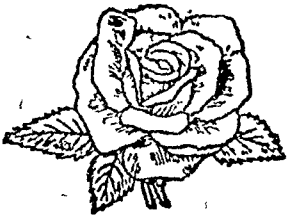
उदारता, सेवा और कर्त्तव्यपरायणता

☐ स्वामी शरणानन्द

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है । प्राकृतिक न्याय मे किसी का अहित नही है, अपितु सभी का हित है । इस दृष्टि से प्राणी का विकास प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग मे ही निहित है । पर परिस्थिति का सदुपयोग वे ही प्राणी कर सकते है जो परिस्थिति मे जीवन-बुद्धि नही रखते अपितु परिस्थिति को साधन-सामग्री ही जानते है । परिस्थिति स्वभाव से ही परिवर्तनशील है । जो परिवर्तनशील है उसके परिवर्तन का प्रयास करना प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है । इतना ही नही जो सामर्थ्य प्राणी को परिस्थिति के सदुपयोग के लिए मिला था उसका व्यय अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन मे अथवा परिस्थिति के परिवर्तन मे करना उसका दुरुपयोग है । सामर्थ्य के दुरुपयोग का बड़ा ही भयंकर परिणाम होता है अर्थात् प्राणी सामर्थ्य के दुरुपयोग से न तो प्रतिकूलता का ही अन्त कर सकता है और न उसे अनुकूलता ही प्राप्त होती है । ऐसी कोई परिस्थिति हो ही नही सकती जो सर्वांश में अनुकूल हो अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का समूह है । अनुकूलता की दासता तथा प्रतिकूलता का भय प्राणी को परिस्थिति का सदुपयोग नही करने देता, जिसके बिना किए न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होती है और न परिस्थितियो से अतीत के जीवन में प्रवेश ही होता है । प्राकृतिक नियम के अनुसार अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए आवश्यक अग है क्योंकि प्रतिकूलता के बिना वस्तुओ के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान नही होता और अनुकूलता के बिना प्राप्त वस्तुओ का उदारतापूर्वक सदुपयोग नही होता । वस्तुओं के स्वरूप का यथेष्ट ज्ञान हुए बिना वस्तुओ की दासता का अन्त नही हो सकता और वस्तुओं के सदुपयोग के बिना परस्पर मे स्नेह की एकता सम्भव नही है । स्नेह की एकता के बिना सघर्ष मिट नही सकता अथवा यो कहो कि स्नेह की एकता मे ही भेद तथा भिन्नता का नाश और सुन्दर समाज का निर्माण एव चिरशाति की स्थापना निहित है । इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ही में प्राणी का हित है । अत अनुकूलता की दासता और प्रतिकूलता का भय चित्त से सदा के लिए निकाल देना अनिवार्य है, जिनके निकलते ही अनुकूलता तथा प्रतिकूलता का सदुपयोग स्वत: होने लगता है और फिर पराधीनता शेष नही रहती, जिससे चित्त सुगमतापूर्वक शुद्ध हो जाता है ।

अधिकार-लालसा से रहित, प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही कर्त्तव्यपरायणना है और कर्त्तव्यपरायणता मे ही विद्यमान राग की निवृत्ति है। अधिकार-लालसा में आबद्ध प्राणी कर्त्तव्यनिष्ठ नही हो सकता कारण कि अधिकार की अपूर्त्ति उसे क्षोभित तथा क्रोधित कर देगी और अधिकार की पूर्ति उसमे नवीन राग उत्पन्न कर देगी । इस दृष्टि से अधिकार-लालसा के त्याग में ही कर्तव्यपरायणता निहित है। क्षोभित होने पर प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास हो जाता है और क्रोधित होने पर कर्तव्य की विस्मृति अर्थात् कर्तव्य के ज्ञान की विस्मृति आच्छादित हो जाती है। प्राप्त सामर्थ्य के ह्रास और कर्तव्य के ज्ञान की विस्मृति मे कर्तव्यपरायणता सम्भव नही है, क्योंकि कर्तव्य के ज्ञान तथा सामर्थ्य के द्वारा ही प्राणी कर्तव्य-निष्ठ हो सकता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति में कर्तव्यपालन सम्भव है, परन्तु जब प्राणी प्राप्त सामर्थ्य तथा ज्ञान का सदुपयोग नही करता तब कर्तव्य से च्युत हो जाता है। राग-निवृत्ति के लिए ही कर्तव्य अपेक्षित है, अतः नवीन राग की उत्पत्ति भी प्राणी को कर्तव्य-निष्ठ नही होने देती। इस दृष्टि से अपने अधिकार का त्याग किए बिना कोई भी प्राणी कर्तव्य-निष्ठ नही हो सकता । अधिकार के नाम पर कर्तव्य की बात कहना अकर्तव्य में कर्तव्य-बुद्धि रखना है। जो अकर्तव्य कर्तव्य के भेष में आता है वह बड़ा ही भयंकर होता है क्योंकि उसका त्याग कठिन हो जाता है। अकर्तव्य अकर्तव्य के रूप में अधिक काल तक जीवित नही रह सकता, क्योकि सर्वांश में कोई भी दोष किसी भी प्रकार से नही रह सकता । गुण का आश्रय पाकर ही दोष अपने अस्तित्त्व को सुरक्षित रख पाता है, अथवा यो कहो कि अकेला दोष रह ही नही सकता।

इस दृष्टि से कर्तव्य और अकर्तव्य का भेद जानना अनिवार्य है । अधिकार की माग अकर्तव्य की जननी है और दूसरों के अधिकार की रक्षा कर्तव्य की जननी है। जिस प्राणी की दृष्टि सदैव दूसरे के अधिकार पर ही लगी रहती है वही कर्तव्यनिष्ठ हो पाता है और जो प्राणी अपने ही अधिकार को देखता रहता है वह कभी भी कर्तव्यनिष्ठ नही हो पाता। इतना ही नही, वह बेचारा ऐसी भयकर परिस्थिति में आबद्ध हो जाता है कि एक दोष की निवृत्ति के लिए दूसरे दोष को अपनाता रहता है; जैसे किसी की रक्षा के लिए किसी की हिंसा, किसी के विकास के लिए किसी का ह्रास, किसी के लाभ के लिए किसी की हानि करता रहता है । प्राकृतिक नियम के अनुसार जिस रक्षा, विकास और लाभ के मूल मे हिंसा, ह्रास और हानि है उससे अन्त मे हिंसा, ह्रास और हानि ही सिद्ध होती है, क्योंकि जिससे जिसकी उत्पत्ति होती है उसका अन्त उसी में होना है। अत: अकर्तव्य के त्याग से जिस कर्तव्य का उदय होता है वही कर्तव्य वास्तव मे विकास का मूल है । अकर्तव्य का त्याग किए-बिना कर्तव्यनिष्ठ होना किसी भी

सम्भव ही नहीं है, अथवा यों कहो कि अकर्तव्य का त्याग भी निषेधात्मक दृष्टि से कर्तव्य ही है।

प्राकृतिक नियमानुसार प्राप्त सुख दुखियों की वस्तु है। उसे अपना मानना और उसका भोग करना पराई वस्तु को अपना मानना है। पराई वस्तु को अपना मानने से प्राणी का सर्वनाश हो जाता है। इस कारण जो सुख प्राप्त है उसका वितरण कर उसकी आसक्ति से रहित होना अनिवार्य है। सुख बांट देने पर दुःख सदा के लिए मिट जाता है और सुख-दु.ख से अतीत वास्तविक जीवन से अभिन्नता हो जाती है। जो प्राणी सुख-भोग तथा सुख की आशा मे आबद्ध हो जाता है वह कभी भी स्वाधीन नही हो सकता। स्वाधीनता के बिना चित्त की शुद्धि सम्भव नही है, क्योकि पराधीन प्राणी सर्वदा सुख की आशा में आबद्ध रहता है। सुख की आशा चित्त मे राग-द्वेष उत्पन्न करती है जिससे चित्त अशुद्ध हो जाता है। सुख की आशा से रहित होने पर राग-द्वेष, त्याग तथा प्रेम में बदल जाता है और फिर चित्त स्वतः शुद्ध हो जाता है। चित्त उसी प्राणी का शुद्ध हो सकता है जो दूसरो के कर्तव्य पर दृष्टि नही रखता और जिसकी प्रसन्नता किसी की उदारता पर निर्भर नही है; परन्तु जो स्वयं दूसरों के लिए उदार भी है और कर्तव्यनिष्ठ होकर दूसरो के अधिकार की रक्षा भी करता है, अर्थात् उदारता तथा कर्तव्यपरायणता ही जिसे अभीष्ट है उसी का चित्त शुद्ध हो सकता है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार वस्तुओ का सदुपयोग व्यक्तियो की सेवा में है और व्यक्तियों की सेवा उनसे सम्वन्ध-विच्छेद कराने मे समर्थ है। इस दृष्टि से न्यायपूर्वक सम्पादित वस्तुओ के द्वारा व्यक्तियों की सेवा करना और किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा न करना चित्त की शुद्धि का साधन है। जो प्राणी व्यक्तियो से सुख की आशा करता है वह व्यक्तियो की सेवा नही कर सकता और न उनकी ममता से ही रहित हो सकता है। इस कारण किसी भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति से सुख की आशा नही करनी चाहिए, अपितु सुख देने के लिए प्रयास करना चाहिए। सुख देने की भावना मे ही सुख की आशा का त्याग निहित है। सुख की आशा का त्याग सुख की दासता से रहित करने में समर्थ है। सुख की दासता से रहित होते ही चित्त स्वतः शान्त हो जाता है।

चित्त की शान्ति चित्त को स्वयं शुद्ध कर देती है और चित्त की शुद्धि से चित्त स्वस्थ हो जाता है, जिसके होते ही वड़ी ही सुगमतापूर्वक चित्त का निरोध अथवा चित्त से सम्वन्ध-विच्छेद हो जाता है, अथवा चित्त स्वतः अपने अधीन हो जाता है।

अहिंसा मनुष्य का स्वभाव है

□ आचार्य रजनीश

अहिसा मनुष्य का स्वभाव है और हिंसा मनुष्य की निर्मिति है। हिसा प्रकृति-प्रदत्त तथ्य है लेकिन मनुष्य का स्वभाव नहीं है, पशु का स्वभाव है। मनुष्य उस स्वभाव से गुजरा है इसलिए पशु के जीवन के सारे अनुभव अपने साथ ले आया है। हिंसा ऐसे ही है, जैसे कोई आदमी राह से गुजरे और धूल के कण उसके सिर पर छा जाएँ और जब वह महल के भीतर प्रवेश करे तब भी उन धूल के कणों को उतारने से इनकार कर दे और कहे कि वे मेरे साथ ही आ रहे है। वह मैं ही हूँ। वे धूल-कण है जो पशु की यात्रा पर मनुष्य की आत्मा पर चिपक गये है, जड़ गये है, स्वभाव नही है। पशु के लिए स्वभाव है, क्योकि पशु के लिए कोई चुनाव ही नही है। मनुष्य के लिए स्वभाव नहीं है क्योंकि मनुष्य के लिए चुनाव है। असल मे मनुष्यता शुरू होती है च्वायस (choice) से, चुनाव से। मनुष्य शुरू होता है निर्णय से, डिसीजन से। मनुष्य शुरू होता है सकल्प से। मनुष्य चौराहे पर खडा है। कोई पशु चौराहे पर नही खड़ा है। सब पशु डायमेंशनल रास्ते पर होते है। एक ही रास्ता होता है जिसमे कोई चुनाव नही है।

मनुष्य चाहे तो हिंसक हो सकता है, चाहे तो अहिसक हो सकता है। यह स्वतंत्रता है उसकी। पशु को यह स्वतंत्रता नही है। पशु की यह मजबूरी है कि वह जो हो सकता है, वही है। यह भी समझने जैसा है, पशु वहीं है, जो हो सकता है। इसलिए पशु के स्वभाव मे और पशु के तथ्य में कोई फर्क नही होता। पशु के भविष्य मे और पशु के अतीत में कोई डिस्टेस, कोई फासला नही होता। पशु के होने मे, और हो सकने की सम्भावना मे, कोई फर्क नही होता। पशु जो हो सकता है, वह है। दैट व्हिच इज पौसिवल, इज ऐक्चुअल। पशु की ऐक्चुअलिटी और पौसिबिलिटी मे कोई फर्क नही। आदमी का मामला एकदम वदल गया। आदमी उससे भिन्न हो सकता है। आदमी की एक्चुअलिटी उसकी पौसिबिलिटी नहीं है। जो आदमी वास्तविक आज है, कल उससे और कुछ हो सकता है। इसलिए किसी कुत्ते को हम नही कह सकते कि तुम कुछ कम कुत्ते हो, लेकिन आदमी से कह सकते है कि तुम कुछ कम आदमी मालूम होते हो। किसी कुत्ते से यदि हम कहेगे कि तुम कुछ कम कुत्ते हो तो बिलकुल एब्सर्ड स्टेटमेट होगा। इसका कोई मतलब नही होगा। सब कुत्ते बराबर कुत्ते होते है। कमजोर हो सकते है, ताकतवर हो सकते हैं, कुत्तेपन में कोई फर्क नही होता। बीमार हो सकते है, स्वस्थ हो सकते है, कुत्तेपन में कोई फर्क नही होगा। लेकिन आदमियत की मात्राओ मे फर्क है। किसी

कोठरी से निकले और काजल उसके शरीर पर लग जाय, उसके कपड़े पर लग जाय जो अनिवार्य था। पशु क्षम्य है, अनिवार्य है हिंसा उसके जीवन मे। आदमी को क्षमा नही किया जा सकता। हिंसा अब उसकी पसद है, अब अनिवार्य नही। अब वह चुन रहा है हिंसा। अगर कली जिद कर ले कली रहने की, तो रह सकती है। लेकिन यह उसकी अनिवार्यता नही, यह उसकी नियति, यह उसकी डेस्टनी नही है। यह उसका अपना ही भ्रांत निर्णय है। तब इसकी जिम्मेवार वह स्वय ही होगी, और तब किसी परमात्मा के समक्ष पहुँच कर वह यह नही कह सकेगी कि मुझे कली ही क्यो रखा ? क्योकि कली के भीतर फूल होने की सम्भावना परमात्मा ने पूरी दे दी थी। वह फूल हो सकती थी। कली होने की जिम्मेवारी उसकी होगी।

हिंसा, पशु के लिए अनिवार्यता है, हमारे लिए जिम्मेवारी है। पशु के लिए तथ्य, हमारे लिए सिर्फ ऐतिहासिक याददाश्त है। पशु का वर्तमान, हमारा अतीत है। चुनाव सामने है। आदमी अहिंसक होने का निर्णय ले सकता है, हिंसक होने का भी निर्णय ले सकता है। इसलिए जब कोई आदमी हिंसक होने का निर्णय लेता है तो कोई पशु उसका मुकाबला नही कर सकता। असल मे कोई पशु इतना हिंसक नही हो सकता जितना आदमी हो सकता है। क्योकि पशु सहज ही हिंसक है, और आदमी हिंसक आयोजना से होता है। इसलिए हम चगेज खाँ और तैमूर और नादिर और हिटलर और माओ और स्टालिन जैसे हिंसक, पशुओ मे नही खोजकर ला सकते। स्टालिन के पैरेलल या चगेज के समानान्तर अगर हम पशुओं के इतिहास से पूछे, कि क्या कोई एक पशु हुआ, जो हमारे चगेज खाँ के मुकाबले हो तो पशु कहेगे, हम बहुत दरिद्र हैं। इस मामले मे हमारे पास कोई याददाश्त नही है। एक बड़े मजे की बात है कि कोई भी जानवर सजातीय के प्रति हिंसक नही होता सिवाय आदमी को छोड़कर। कोई जानवर अपनी जाति के जानवर को नही मारता, हिंसा नही करता। इतनी पहचान पशु की हिंसा मे भी है। सिर्फ आदमी अकेला जानवर है जो आदमी को मारता है।

लेकिन यह कितनी दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि कोई पशु अपनी जाति के पशु पर हमला नही करता, पर आदमी करता है और कोई पशु अकारण कभी नही मारता है, यह भी मजे की बात है, सिर्फ आदमी को छोडकर। अगर कभी मारता भी है तो उसकी जरूरत होती है। भूख होती है तो मारता है। रक्षा करनी होती है तो मारता है। आदमी बेजरूरत मारता है। कोई जरूरत नही होती है, तब भी मारता है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि मारना होता है इसलिए जरूरत पैदा करता है। बिना मारे नही रह सकता, इसलिए जरूरत पैदा कर लेता है। कभी वियतनाम मे जरूरत पैदा करता है, कभी कोरिया में जरूरत पैदा करता है, कभी कश्मीर मे जरूरत पैदा करता है। कोई जरूरी

बात नहीं है। न कोई कोरिया मे, न किसी वियतनाम में, नही किसी कम्बोदिया में, कही कोई जरूरत नहीं है लेकिन आदमी जरूरत पैदा करता है। क्योंकि बिना जरूरत मारेगा तो जरा ठीक नही लगेगा। आदमी नेशनल है, सिर्फ एक अर्थ मे कि वह अपनी बेवकूफियों को भी रेशनलाइज करता है, और किसी अर्थ में वह रेशनल नहीं है। अरस्तू ने जरूर कहा था कि आदमी एक बुद्धिमान प्राणी है लेकिन आदमी का अब तक का इतिहास यह सिद्ध नहीं करता। अरस्तू को इतिहास ने गलत सिद्ध किया है। आदमी सिर्फ बुद्धिमानी एक बात मे दिखाता है कि वह अपनी बेवकूफियो को बुद्धिमानी सिद्ध करने की कोशिश करता है। मारता है तो भी रेशनलाइज कर लेता है। वह कहता है कि मारना ही पड़ेगा। क्योकि यह मुसलमान है, मारना ही पड़ेगा। क्योंकि यह हिन्दू है, मारना ही पड़ेगा। यह हिन्दुस्तानी नही, पाकिस्तानी है। जैसे किसी का पाकिस्तानी होना मरने के लिए काफी कारण है। काफी हो गई बात कि एक आदमी मुसलमान है, मारो। आदमी कारण खोजता है कि मारना पड़ेगा, कि यह आदमी पूजीपति है, मारना पड़ेगा। यह आदमी कम्युनिस्ट है, मारना पड़ेगा। पुराने कारण जरा पिट जाते है तो नये कारण खोजता चला जाता है। नये कारण ईजाद करता है कि अब चलो पुराना कारण बेकार हुआ, वह खेल बन्द करो, नया खेल खेलो। आदमी मारना चाहता है तो कारण खोज लेता है। पशु बिना कारण कभी नही मारते।

मैं यह कह रहा हूँ कि अगर हम आदमी की हिसा को समझे तो हम पायेंगे कि अकारण आदमी हिंसक होता है। तो यह उसका चुनाव है, और इसलिए आदमी इतना हिसक हो सकता है जितना कोई पशु नही हो सकता है। क्योंकि पशु का हिंसक होना सिर्फ स्वभाव है, वह उसका चुनाव नही है इसलिए नादिरशाह उसमे पैदा नही हो सकता, इसलिए उसमे महावीर भी पैदा नही हो सकते। अहिंसा का भी उमे कोई चुनाव नही। आदमी को अहिंसा का भी चुनाव करना पडता है। हमने अगर नादिरशाह, स्टालिन और माओ की खाइयाँ देखी है तो हमने महावीर, कृष्ण और क्राइस्ट की ऊँचाइयाँ भी देखी है। वे दोनों हमारी सम्भावनाएँ है। खाइयाँ हमारे अतीत का स्मरण है, ऊँचाइयाँ हमारे भविष्य की आकांक्षा है।

अहिंसा का अर्थ है ईश्वर पर भरोसा रखना।

—महात्मा गाधी

अहिंसा का मतलब इतना ही नही है कि हम किसी का बुरा नही चाहेंगे और नही करेंगे। नहीं, बल्कि हर किसी का भला सोचेगे और वह भला करने के लिए आगे बढ़ेगे।

—जैनेन्द्र कुमार

आपु समान जगत् जस चीन्हा

☐ साध्वी मणिप्रभा श्री

जीवन-निर्माण की दशा मे व्यक्ति किसी को हानि नही पहुँचाता। उसके विचार दूसरो के लिये किसी न किसी रूप मे लाभकारी होते है; लेकिन जीवन-निर्वाह की दिशा में वह दूसरो का शोषण भी कर सकता है। अतः जिसने आत्महित के लिये पुरुषार्थ प्रारम्भ कर दिया तो समझिये जनहित भी स्वतः ही शुरू हो जायेगा। आत्महित का विस्तृत रूप ही जगहित होगा। जिसने आत्मा का मूलरूप जान लिया है वह जान लेता है कि आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, मुक्त है, निरंजन है लेकिन वर्तमान मे जो उसकी परिणति है, वह कर्मो के कारण है। अज्ञान और मोह से बाधे गये कर्मो ने आत्मा को सुषुप्त अवस्था मे ला पटका है, ससार में परिभ्रमण करवाया है। ससारी आत्मा का लक्ष्य, उसके सारे प्रयत्न काया, कुटुम्ब, कचन, कामिनी एव कीर्ति के लिये है। उसका कार्यक्षेत्र कितना भी विस्तृत क्यो न हो—लेकिन लक्ष्य इन्ही की प्राप्ति का होगा। उसके लिये धन-धरती, सत्ता-सुन्दरी मे आकर्षण होगा। इन चारों शब्दो मे सम्पूर्ण जगत् का आकर्षण समाहित हो जाता है। अपने स्वार्थ की पूर्ति हेतु वह दूसरे के स्वार्थ को, दूसरे की आवश्यकता को, दूसरे की इच्छाओं को ठुकराता है, उनका हनन करता है। वह अपनी इच्छित वस्तु प्राप्त करता है लेकिन किसी का दिल दुखाकर, किसी की आँखो से आँसू निकलवा कर। कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका उद्देश्य जगत् को, जगत् के परपदार्थो को प्राप्त करना मात्र है, उसकी शक्ति सृजनात्मक कम होगी, विध्वंसात्मक ज़्यादा। मानव जीवन का उद्देश्य शक्ति का ऊर्ध्वारोहण होना चाहिये, अधोगमन नही।

ज्ञानियो ने भौतिक सुख को सुखाभास कहा है। दूसरो को दु.ख देकर प्राप्त किया जाने वाला सुख, सुख नही। हमे भी सुख मिले, हमारे माध्यम से दूसरो को भी सुख मिले, यह भावना होनी चाहिये।

" जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥ "

अर्थात् जो तुम अपने लिये चाहते हो वही दूसरो के लिये भी चाहो तथा जो तुम अपने लिये नही चाहते वह दूसरो के लिये भी न चाहो, यही जिनशासन है।

जिनशासन हो अथवा अन्य कोई धर्म, कोई मजहब, कोई पन्थ—यह नही कहता कि तुम दूसरो को दु.खी करके अपने को सुखी बनाओ, दूसरो की

झोंपडी हटाकर अपना महल बनाओ, दूसरो की रोटी छीनकर अपनी तिजोरी भरो ।

बन्धुओ ! जब आत्मीयता का विस्तार होने लगेगा, सभी प्राणियो के साथ मित्रता के भाव उत्पन्न होने लगेगे तब चराचर जगत् के प्राणियो के साथ वह अपने आप को जोड लेगा । उनका सुख उसका सुख होगा, उनका दु:ख उसका दु:ख होगा । वह महापुरुषो के पद-चिह्नो पर चल पडेगा । महापुरुष किसी भी काल मे हो, किसी भी देश मे हो, किसी भी जाति मे हों—उनका काल, देश, जाति स्तर पर तो अन्तर हो सकता है लेकिन भावात्मक स्तर पर नही । सभी की भावात्मक स्थिति एक होती है, जो महापुरुष होगा उसमें उदारता, उदात्तता, क्षमाशीलता आदि गुण सहज होंगे ।

इस भूमि (जोधपुर) का सम्बन्ध वीर तेजाजी के साथ है, न जाने कितने संत हो गये, कोई किसी के साथ जुड़ा, कोई किसी के साथ । महापुरुषों की धरती में जन्म लेने वाले, उनकी महिमा गाने वाले, उनकी पूजा-उपासना करने वाले हम, जरा विचार तो करे कि क्या अन्तरङ्ग मे भी हम उनके साथ जुड पाये ? क्या उनकी वाणी ने हमारे जीवन मे कुछ परिवर्तन किया ? जब उनकी वाणी हमारे हृदयतल को स्पर्श करेगी तब हमारी दृष्टि बदलेगी, जब दृष्टि बदलेगी तब पुरुषार्थ बदलेगा, जब पुरुषार्थ बदलेगा तभी उपलब्धि भी बदलेगी । स्वकाया के संरक्षण के लिये किसी अन्य काया का नाश करना हमारा उद्देश्य नही होगा । स्वयं को सम्पत्ति के साथ जोड़ने के लिये दूसरो को विपत्ति में नही डालेगे, हमारा व्यवहार बदलेगा, कर्म बदलेगा फिर जीवन बदलेगा । हृदय मे मेरे का घेरा विस्तृत हो जायेगा—"मित्ती में सव्वभूएसु" समस्त प्राणियो से मेरी मैत्री हो—ऐसी भावना जब उत्पन्न होगी वही से आत्मीयता का विस्तार होने लगेगा तो हम दूसरों को दु.ख नही दे पायेगे । साधारणत. जिनसे हमारी आत्मीयता होती है, उनके सुख-दु.ख मे हमारा मन भी सुखी-दुखी होता है । आत्मीयता का विस्तार जितना अधिक होगा, जगत् की मगलकामना की प्रवृत्ति भी उतनी ही अधिक होगी । जिस प्रकार एक मा अपने बच्चे का रोना नही देख सकती क्योकि उसमे वात्सल्य ममत्व, स्नेहभाव है, उसी प्रकार महापुरुषो की वाणी के साथ जुड़ने वाला सकल ससार से स्नेह करने लगेगा । दूसरो के कष्टनिवारण में वह अपनी शक्ति लगायेगा ।

हम अपने जीवन को देखे, सोचे—अपने जीवन में हम कितनो को सुखी कर पाए ? कितनो के हित मे शक्ति लुटा पाए ? आज तो सब कुछ विपरीत ही दिखाई देता है—सर्वत्र संघर्ष के, संक्लेश के समाचार मिलते है—यह क्या है ? आज हम अपनी शक्ति का उपयोग किसी को उठाने मे नही, उसे गिराने मे करते हैं । कोई लड़खड़ा रहा हो तो उसको सहारा देकर उठाते नही अपितु एक

ठोकर और लगा देते है—भले ही वह व्यापारिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो अथवा धार्मिक क्षेत्र हो । क्या यही हमारी धार्मिकता है ?

बन्धुओ ! हमने मानव-आकृति तो पाई परन्तु पता लगाइये मनुष्यप्रकृति भी मिली या नही ? पुनः यह मानवजीवन न जाने कब प्राप्त होगा । यह अमूल्य अवसर हमे प्राप्त हुआ है, सुनहरा मौका है—इस प्रकार ज्ञानी वरावर उद्वोधन देकर हमें सावचेत करते है, सावधान करते है । एक व्यापारी दूसरे व्यापारी को कभी नही कहेगा कि बन्धु ! मौका अच्छा है, लाभ उठा ले, इसके वाद तो भाव गिरने वाले है । लेकिन हाँ, अगर वहुत अधिक अपनापन होगा तो सूचना अवश्य दे देगा । सामान्यतः कोई व्यापारी यह कभी नही चाहेगा कि कोई मुझसे धन कमाने मे बाजी मार जाय या कोई मुझसे ज्यादा यश कमा ले अथवा कोई किसी भी क्षेत्र मे मुझसे आगे वढ जाए । लेकिन महापुरुषो के लिये तो सम्पूर्ण जगत् अपना है—"उदारचरिताना तु वसुधैव कुटुम्वकम् ।" वे हमे जागरूक बनाने के लिये वार-बार उद्वोधन देते है—यह मौका मत छोडो, इससे उत्तम जीवन कोई और नही है, पुनः यह जीवन मिले या न मिले, जो कमाई करनी है कर लो, इस मानव मस्तिष्क का लाभ उठा लो, इस शरीर से जितना सत्कर्म कर सकते हो, कर लो, इस वाणी से जितने मगलमय वचनो की वर्षा कर सकते हो, कर लो, इस मन से जितने शुभ संकल्प कर सकते हो, कर लो ।

दो व्यक्ति जा रहे थे । यात्रा लम्बी थी । कभी बैठते कभी फिर चल पडते । काफी दूर जाने के पश्चात् एक स्थान पर जव वे बैठे थे कि एक व्यक्ति आया और कहने लगा—उठा लो ! उठा लो !! वे विस्मित होकर पूछने लगे—क्या उठा लो ? और क्यों उठा लो ? उस व्यक्ति ने कहा—अपने पांवों के नीचे की मिट्टी उठा लो । वे हँस पडे, उपहास करने लगे अरे ! यह मिट्टी ही हम उठाने लगते तो हमारे पास न जाने कितना व्यर्थ भार हो जाता । इतनी देर से मिट्टी पर ही तो चल रहे है । आगन्तुक ने कहा—मित्रो ! यह मिट्टी सामान्य नही है, इसमे स्वर्ण-कण मिले है । अब तो यात्री भी चौंक कर नीचे देखने लगे और जल्दी-जल्दी मिट्टी उठाने लगे ।

वन्धुओ ! हम भो चल रहे है—अनन्त काल की यात्रा में—हमें शरीर कहां नही मिला ?—कभी चिडिया, कभी चीटी, कभी श्वान, कभी शूकर, कभी गजराज तो कभी गर्दभराज । प्रत्येक भाव मे काम-वासना भी रही, संग्रहवृत्ति भी रही, क्रोध-संघर्ष आदि वृत्तियां भी रही । हम कई वार देखते हैं—पशु-पक्षी जगत् मे भी, कि जब कोई चीज उनके बीच आती है तो वे उनके लिये [illegible] करने लगते है । स्वय की सुरक्षा, परिवार की सुरक्षा, संग्रह की भावना [illegible] विषा की भावना हर गति, हर योनि में मिली । एक चींटी को [illegible] शक्कर का एक-एक कण इकट्ठा करती रहती है । [illegible] भावनाएँ तिर्यञ्च आदि सभी योनियों में अनेक वार [illegible]

उत्तम मानव भव में भी वही—काया, कंचन, कामिनी, कुटुम्ब के लिये मस्तिष्क का उपयोग कर रहे हैं। जरा सोचिये-विचारिये !

जिस प्रकार उन यात्रियों ने कहा—मिट्टी तो हमें सर्वत्र मिली—क्यो उठा लें—उसी प्रकार ज्ञानी जन कहते है—यह परिवार, ये भावनाएं, ये मनोवृत्तियाँ तो हर पर्याय में मिली और हर भव में, हर शरीर मे इन्ही का पोपण किया लेकिन इस मनुष्य देह से सेवा का स्वर्ण निकालना है, सत्संग का स्वर्ण निकालना है, शुद्ध भावनाओ का स्वर्ण निकालना है।

पूज्य गुरुवर्या श्री विचक्षण श्री जी म० सा० कहा करते थे—तन भी मिट्टी, धन भी मिट्टी—लेकिन इन दोनो के योग से मनुष्य चाहे तो स्वर्ण प्राप्त कर सकता है। तन से सेवा करके किसी का हित करके, सत्कर्म करके तथा धन से परोपकार करके, दु:खियों को सहायता पहुँचा करके। किसी के तन-धन की शक्ति किसी अन्य का शोषण करने मे लगती है तो किसी की किसी अन्य का पोषण करने मे। नीतिकार कहते है—

"विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।।"

दुष्टों की विद्या विवाद के लिये, धन मद के लिये और शक्ति परपीड़न के लिये होती है जबकि साधुजन का आचरण इससे विपरीत होता है अर्थात् उनकी विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरो के रक्षण के लिए होती है।

अहिंसा का महत्व

मातेव सर्वभूतानामहिसा हितकारिणी।
अहिसेव हि संसारमरावमृतसारिणी ।।
अहिसा दु.ख दावाग्नि-प्रावृषेण्यघनावली।
भवभ्रमिरूगार्तानामहिसा परमौषधी ।।

—अहिसा माता के समान समस्त प्राणियो का हित करने वाली है। अहिसा ससार रूपी मरुस्थल में अमृत की नहर है। अहिसा दु.ख रूपी दावानल को नष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है। अहिसा भवभ्रमण रूपी रोग से पीड़ित जनों के लिए उत्तम औपध है।

—योगशास्त्र
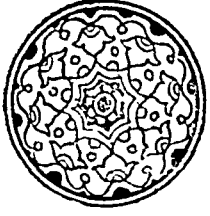
जैन आगमों में अहिंसा का स्वरूप

☐ श्री केवलमल लोढ़ा

ज्ञानियों ने संसार में जितने भी तत्त्व है, उनको तीन विभागो ज्ञेय, (जानने योग्य) हेय, (त्यागने रूप) व उपादेय (आदरने लायक) मे विभक्त किया है। नौ तत्त्वो में जीव, अजीव, पुण्य ज्ञेय रूप में, पाप, आश्रव, बंध हेय रूप में व संवर, निर्जरा तथा मोक्ष उपादेय रूप मे है। इन नौ तत्त्वो में जीव कर्ता है, जो स्वभाव (समस्त गुणों) व विभाव (अवगुणों) का धारक है। गुणों में अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि जीव के हितकारी होने से ग्राह्य है, व अवगुण हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्यादि त्याज्य है, क्योंकि ये आत्मा को मलिन करके अधोगति मे ले जाने वाले है। गुणों मे अहिंसा सब से प्रधान है, क्योंकि वीर प्रभु ने धर्म का प्रमुख लक्षण 'अहिसा' दशवैकालिक सूत्र[1] में निरूपित किया है। इसी सूत्र के छठे अध्ययन[2] मे छः व्रतों में अहिसा को प्रथम स्थान दिया है। सत्यादि दूसरे गुण इस अहिसा के पोषक व रक्षक है। जैसे कोई पुरुष झूठ बोलता है, चौर्य कर्म करता है, तो वह इस अनार्य कर्म से जिसको झूठे वचन कहे व जिसके पदार्थों का हरण किया है, उस-उस पुरुष के चित्त को आघात पहुँचता है। असत्य बोलना तो वर्जनीय है ही, पर सत्य भी अगर अप्रिय एवं मर्मकारी हो तो वह भी पापकारी होने से हेय है। जैसे कि सूत्रकृतांग[3] व दशवैकालिक सूत्रो मे प्रतिपादन है। मैथुन तो हिंसा का घर है। एक समय के भोग में लाखों जीवो का घात होता है। परिग्रह के मूल मे हिंसा ही है. क्योंकि अधिक संग्रह से दूसरे जीवो को क्षति पहुँचती है। अहिसा में समस्त गुण वैसे ही समाविष्ट है, जैसे हाथी के पैर मे सभी पशु-जगत् के पैर। ऐसी भगवती अहिंसा का जैनागमो में स्वरूप, महत्त्व, अधिकारी आदि का सक्षेप में वर्णन करना इस लेख का प्रयोजन है।

अहिंसा का स्वरूप—'न हिसति इति अहिंसा'। छः कायों में किसी भी जीव का वध न करना अहिसा है, जिसके दो रूप हैं.

(१) निषेधात्मक—प्राणी मात्र की मन-वचन-काय से स्वयं हिंसा करे नही, दूसरो से करावे नही, और न हिसा करने वालों की अनुमोदना करे [illegible] तीन करण तीन योग से हिसा से निवृत्त होना, ऐसी सम्पूर्ण हिंसा [illegible] श्रमण निर्ग्रन्थ करते है। प्रथम महाव्रत 'पाणाइवायाओ विरमणं' [illegible] तिपात विरमण व्रत मे आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवों की दया [illegible] 'दशवैकालिक' सूत्र के अध्ययन आठ में की गई है।[4]

(२) विधेयात्मक—यानी जीवों की रक्षा एवं दया करना, शांति, क्षमा, करुणा, प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, मैत्रीभाव, आदि। जिनेश्वर देव सभी जनजीवों की रक्षा व दया के हेतु प्रवचन फरमाते है[६]। अहिंसा को पूर्णतया समझने के लिये हिंसा की जानकारी भी आवश्यक है। हिंसा की व्याख्या 'तत्त्वार्थ सूत्र' अध्ययन ७ सूत्र ८ में "प्रमत्त योगात प्राण व्यपरोपणं हिंसा" के रूप में की गई है अर्थात् प्रमादवश जीवों के प्राणो का हरण हिंसा है। इस सूत्र में हिंसा के दो रूप-भाव हिंसा व द्रव्य हिंसा है। प्रमत्त योग यानी राग-द्वेष वश की गई हिंसा भाव हिंसा है, और प्राणों को नष्ट करना द्रव्य हिंसा है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीवों में ४, ६, ७, ८, ९ और १० प्राण क्रमशः होते है। उन सभी का घात करना पूर्ण द्रव्य हिंसा है। इसका पूर्ण चित्रण 'इच्छाकारेणं' की पाटी में 'अभिहयावत्तिया' से लेकर 'जीविया', 'ववरोविया' तक दृष्टव्य है। आचारांग सूत्र के अनुसार जीव हिंसा आठ कारणों से होती है। यथा अपने जीवन हेतु, प्रशंसा या यश की कामना, सम्मान के लिये, पूजा हेतु, संतानादि के लिये, मृत्यु प्रसंग पर, मुक्ति प्राप्त करने हेतु व दुःख निवारण के लिये। इनके अलावा इसी सूत्र में[८] देवता की वलि के लिये, चर्म, मांस, रक्त, केस, सीग, दांत, डाढ, अग, उपांग की प्राप्ति हेतु प्रतिशोध की भावना से व हिंसा की भावी आशंका से जीव का प्रयोजन व निष्प्रयोजन भूत घात किया जाता है। हिंसा के कारण हिंसक जातियाँ किन-किन जीवो की कौन-कौन से जीव करते है, 'जीवो जीवस्य भोजनं' उक्ति कैसे सार्थक है, और हिंसा के कटु फल, नारकी में भयंकर वेदनाएँ आदि का विस्तृत वर्णन 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र के प्रथम आश्रव द्वार में गुम्फित है। उसका स्वाध्याय करने से साधक जीव को हिंसा के प्रति घृणा उत्पन्न होगी, और वह हिंसक से अहिंसक वनने हेतु कदम वढायेगा। क्योंकि हिंसा को ग्रन्थि, मोह,[९] मृत्यु और नरक बतलाया गया है।

हिंसा स्व व पर के लिये अहितकारी व विनाशकारी है, तो अहिंसा, 'त्रस थावर सव्वभूए खेमकारी' है। (संवर द्वार, सूत्र १ ५)। यानी अहिंसा समस्त त्रस और स्थावर जीवो की क्षेमकुशल कल्याणकारी है। इसका सांगोपांग वर्णन 'प्रश्न व्याकरण' सूत्र के सवरद्वार मे देखने, समझने व आचरण योग्य है। इस संवर द्वार के कुछ तथ्य यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे है।

अहिंसा के साठ नाम वतलाये है, जैसे द्वीप, त्राण, गति, शरण, प्रतिष्ठा, निर्वाण, समाधि, कीर्ति, विरति, विमुक्ति, निर्मलता आदि।

अहिंसा की महिमा—'प्रश्न व्याकरण सूत्र, के सवर द्वार मे अहिंसा का महत्त्व इस प्रकार प्रतिपादित किया गया है—

१. भीयाणं विव सरणं—भयभूत प्राणियो के लिये शरणभूत।

२. पक्खिणं विव गमणं— पक्षियों के लिये आकाश मे उड़ने के समान।

३. तिसियाणं विव सलिलं– प्यासे प्राणियों के लिये जल के समान ।

४. खुहियाणं विव असणं– भूखों के लिये भोजनवत् ।

५. समुद्दमज्झे विव पोयवहण– समुद्र मे डूबते हुए जीवों के लिये जहाज के समान ।

६ चउप्पयाणं विव आसमपयं– चतुष्पद जानवरों के लिये आश्रय-स्थल ।

७. दुहट्ठियाण विव ओसहिवल– रोगियों के लिये औषधिवत् ।

८ अडवी मज्झे विव सत्थगयण– जगल में संघ के साथ गमन करने के समान ।

जिस प्रकार भयाकुल मनुष्यों को शरण, पक्षियों को आकाश, चौपाया पशुओं को अपना निवास स्थान और जंगल मे भटके हुए प्राणियो की सार्थवाह, सुरक्षा करते है, वैसे ही अहिंसा भगवती सकटग्रस्त जीवों को निर्भय बनाती है। जैसे जल प्यासे को, भोजन भूखे प्राणी को, औपधि पीडित जनो को शान्ति देती है, वैसे ही अहिंसा समस्त जीवों को शान्ति देती है। समुद्र में डूबते हुए प्राणी को जहाज तिरा देता है, उसी प्रकार अहिसा भव्य जीवों को ससार-समुद्र से तिरा देती है। आकाश, पानी, भोजन, दवाई आदि तो जीव को कुछ समय के लिये शान्ति देते है, परन्तु अहिंसा उनसे कही अधिक लाभदायक है। वह तो परंपरा से मोक्षदात्री होने से शाश्वत आनन्द प्रदायी है।

अहिसा की महिमा सम्बन्धी सूत्र अनेक आगमों मे यत्र-तत्र उपलब्ध है, उनमे से कुछ सूत्र नमूने के तौर से यहाँ दिये जा रहे है।

१. सव्वेपाणा परमाहम्मिया– सभी प्राणी परम सुख के इच्छुक है। दश· अ. ४

२. सव्वे जीवा वि इच्छंति जिविउं न मरिज्जइ– सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई नही चाहता। दश. अ. ६

३ सव्वे पाणा पिया उया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला, अप्पियवहा पिय जीविणो, जीविउ कामा, सव्वेसि जीवियं पियं–सभी जीवों को आयु प्रिय है, सभी सुख के इच्छुक है व दु·ख से घबराते हैं, वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है, सभी जीवित रहना चाहते है, सबको जीवन प्रिय है। आचारांग अ. २, उ ३, सूत्र ७

४ सव्वे अक्कंत दुक्खा य, अत्तो सव्वे ण हिंस्सिया– सभी प्राणियो को दु·ख अप्रिय है अतः किसी भी जीव की हिंसा न करो। सूत्रकृतांग अ. ११/९

५ एवं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसई किच्चंण–ज्ञान का सार यही है कि किसी जीव की हिसा नही करे—सूत्र. अ. ११/१०

६. सयं तिवायए पाणे, अदुवा अन्नेहिं घायए।
हणंतं वाऽणजाणाई, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥

जो व्यक्ति प्राणियों का स्वयं घात करता, करवाता है, व उसकी अनुमोदना करता है वह मारे जाने वाले जीवों के साथ मे वैर बढ़ाता है। सूत्र. १/३

७. अभओ पत्थिवा ! तुज्झ, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीव लोगम्मि, किं हिसांए पसज्जसि॥ (उ. १८/११)

आचार्य गर्दभालि सजय राजा को अभय देते हुये, उसको उपदेशित किया कि तुम भी जीवों को अभय दान देवो। इस अनित्य संसार मे हिसा में क्यों आसक्त हो रहे हो ?

८. अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भय वेराओ उवरए॥ उत्त. ६/७

अध्यात्म सुख तुझे इष्ट है वैसे ही दूसरों को भी इष्ट है। सबको जीवन प्रिय है अतः भय और वैर से उपरत पुरुष जीवों के प्राणों का घात न करे।

९. जई मुज्झ कारणा एए, हम्मति सु बहू जिवा।
न मे एय तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥ उ. सूत्र अ. २२/१९

भगवान अरिष्टनेमी कहते है कि यदि ये पशु-पक्षी मेरे विवाह के निमित्त से मारे जाते है तो यह हिसाकारी कार्य मेरे परलोक के लिये कल्याणकारी नही होगा।

१०. वहु जुणस्स पोयारे, दीव ताणं च पाणिणं।
एयारिसं नरहन्ता, महामोहे पक्कुवइ॥ दशाश्रुत स्कंध ९/१७

जो जनता का नेता है और जो दु.खी जनों के लिये द्वीप के समान रक्षक है, ऐसे व्यक्ति का घात करने वाला जीव महामोहनीय कर्म बाधता है।

११. सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता ण हतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघित्तव्वा ण परियावेयव्वा, ण उद्देवेयव्वा (आचारांग ४/२/६)– सभी प्राणी, भूत, जीव व सत्वों को न तो मारना चाहिये, न उन पर जवरन शासन करना चाहिये, न उनको, दास, गुलाम वनाना चाहिये, न परिताप देना चाहिये, न उनको हैरान करना चाहिये।

१२ तुमंसि नाम तं चेव ज चेव हंतव्व ति मन्नसि
तुमसि नाम त चेव ज चेव अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमसि नाम त चेव ज चेव परियावेयव्वं ति मन्नसि
तुमसि नाम तं चेव ज चेव परिघित्तव्वं ति मन्नसि
तुमसि नाम तं चेव ज चेव उद्देवेयव्वं ति मन्नसि
अंजू चेवं पडिबुद्धजीवी तम्हा न हता न विघायए। आचाराग ५/५/६

तू वही है, जिसको तू हनन योग्य, आज्ञा मे रखने योग्य, परिताप देने योग्य, दास बनाने योग्य व हैरान करने योग्य मानता है। यह आत्म ऐक्य (सभी आत्मा समान है) या 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की भावना है। अत किसी जीव को हनन करने की इच्छा मत करो।

अहिंसा के आराधक—अहिसा का सम्पूर्ण रूप से पालन करने वाले तीर्थंकर, केवल ज्ञानी, मनपर्ययज्ञानी, अवधिज्ञानी, मति और श्रुतज्ञानी, सामायिक आदि पाँचो चारित्र के धारक, पुल्वाक आदि पाँचो निर्ग्रन्थ, श्रुतधर आदि है। श्रमण निर्ग्रन्थों को छ काय जीवों की रक्षा, जिसका विस्तृत वर्णन 'दश वैकालिक' सूत्र के चतुर्थ अध्ययन मे है, करना अनिवार्य है और इसके अतिरिक्त उनके दैनिक जीवन की आवश्यकता यथा भोजन, वस्त्र, पात्र, पाट, स्थानक आदि के सेवन के लिये भी निर्दोष विधि की 'उत्तराध्ययन सूत्र' के चौवीसवे अध्ययन अष्ट प्रवचन माता (पाँच समिति तीन गुप्ति) मे प्ररूपणा की गई है। यत्नापूर्वक[10] चलना, खडे रहना, बैठना, शयन, भोजन और भाषण करना प्रथम तीन समिति—इर्या, भाषा, और एषणा—के क्षेत्र है। संयम पालनार्थ उपकरणों को अच्छी तरह से पूँज-देखकर काम मे लेना व रखना तथा परठने योग्य उच्चार (बडीनीत) पासवण (पेशाब) कुल आठ वस्तुओ को विधि पूर्वक परठने के लिये शेष दो समितियाँ निर्देश करती है। मन, वचन, काया की पापकारी वृत्तियों का निरूपण करने हेतु तीन गुप्तियाँ मार्गदर्शन करती है। अष्ट प्रवचन माता जो आठ अंगों का निचोड़ है, उसके सम्यक् आचरण से साधक ससार से ही मुक्त हो जाता है।[11]

मुमुक्षु को दान आदि परोपकार प्रवृतियाँ जिनमे देय पदार्थ हिंसा-उपार्जित है, उनके सम्बन्ध में पूछने पर[12-13] न हाँ कहे न मना करे क्योंकि साधक यदि उनका समर्थन करता है, तो उसमें होने वाली हिंसा का अनुमोदन होने से पाप का भागीदार होता है, और उसका निषेध करता है, तो उस दान से लाभान्वित होने वाले जीवो को अतराय लगती है। हिसा से निवार्णार्थ कैसा सूक्ष्म विश्लेषण है!

अहिसा का दूसरा आराधक श्रावक है, जिसके १२ व्रतों मे प्रथम व्रत—
थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—के अन्तर्गत संकल्प पूर्वक निरपराधी जीवों को आकुट्टी (वध करने) बुद्धि से हनन करने का दो करण तीन योग से त्याग होता है। उत्कृष्ट श्रावक ११ प्रतिमाओ का पालन करता है जिसमे अन्तिम पडिमा श्रमण के समान होती है। अहिसा सवरद्वार कर्मो का निरूधन करने वाली, पाप रहित, पाप निषेधक और निर्दोष प्रवृत्ति रूप होने से स्व व पर हित के लिये अवश्य सेवनीय है क्योंकि संसार मे कोई कल्याण करने वाली, दु खों से मुक्त कराने वाली, ससार-समुद्र से तिराने वाली यदि कोई क्रिया है तो वह

दया ही है। 'आचारांग' सूत्र में भगवान महावीर ने प्ररूपणा की है कि अहिंसा धर्म शुद्ध है, नित्य है, और शाश्वत है।[१४]

इस अहिंसा के सम्यक् आचरण से आराधक श्रमण निर्ग्रन्थ जघन्य उसी भव में और उत्कृष्ट पन्द्रह भवों में निश्चय ही अपने लक्ष्य सिद्धत्व को प्राप्त करते है। —ए-८-महावीर नगर, जयपुर ३०२०१५

संदर्भ संकेत—

१. धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवावि तं णमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

२. तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा णिउणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो। दशवैकालिक ६/९

३. (१) तहेव फरुसा भासा, गुरु भूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो। दशवैकालिक ७/११

(२) सच्चेसु या अणवज्जे वदति। सूत्रकृतांग

४. पढमं भंते महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं। सव्वं भंते! पाणाइवायं, पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा, णेव सयं पाणे अइवाइज्जा, णेवण्णेहिं पाणे अइवायाविज्या, पाणे, अइवायंते, वि अण्णे ण समणुजाणेज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण ण करेमि ण कारवेमि करंतंपि अण्णं ण समणुजाणामि। दशवै. ४/११

५. अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारि भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा। दशवै. ८/१३
सिणेहं पुप्फ सुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव य,
पणगं वीयहरियं च, अंड सुहुमं च अट्ठमं। दश. ८/१५

६. सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठाए पावयणं भगवया सुकहिय—प्रश्न व्या. २/११२

७. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण, माणण, पूयणाए, जाई-मरण, मोयणाए, दुक्खपडिघाय हेउ। आचा. १/१/८

८. अप्पेगे अच्चाए हहंति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणिताए वहंति, अप्पेगे हिययाए वहंति एवं पिताए, वसाए पिच्छाए, पुच्छाए, वालाए, सिजाए, विसाणाए, दताए, दाढ़ाए, नहाए, ण्हारुणीए, अट्ठिए, अट्ठिमिजाए, अट्ठाए, अणट्ठाए। आचा. १/६/७

९. एस खलु गंधे एस खलु मोहे एस खलु मारे, एस खलु निरए।
आचा. १/१/६

१०. जयं चरे जयं चिट्ठे, जयंमासे जयं सए।
जयं भुजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ। दश. ४/८

११. सो खिप्पं सव्व संसारा, विप्पमुच्चई पंडिए। उत्तरा. २४/२७

१२. जे य दाणं पससंति, वहमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेयं करंति ते।। सूत्रकृतांग ११/२०

१३. दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते। सूत्रकृतांग ११/२१

१४. एस धम्मे सुद्धे, णितिए, सासए सम्मेच लोयं
खेयण्णेहिं पवेइए। आचा. ४/१/१

यह दावा करना छोड़ दो

—कमल सौगानी

उन दिनो पटना के बड़े न्यायालय में एक कुशल वकील के रूप में राजेन्द्र बाबू की शौहरत फैली हुई थी। प्रसिद्ध समाज सुधारक श्री भवानीदयाल संन्यासी का एक आत्मीय जन उनकी चिट्ठी लेकर राजेन्द्र बाबू के पास पहुंचा। वह एक मुकदमा दायर करना चाहता था।

राजेन्द्र बाबू ने आगुन्तक के कागज पत्रों को देखकर कहा—"भाई, यदि यह मुकदमा चलाया जाये तो निश्चित है कि तुम जीत जाओगे, परन्तु उसके साथ ही एक विधवा का जीवन नष्ट हो जायेगा। मेरी तुमसे प्रार्थना है कि तुम यह दावा करने का आग्रह छोड़ दो, क्योकि एक विधवा की सम्पदा हजम करने पर तुम्हे शाति नही मिलेगी।"

उनके ये वचन सुनते ही वे महाशय अपने कागज पत्र लपेट कर लौट आये।

—स्टेशन रोड, भवानीमंडी (राज.)

'आचारांग सूत्र' में हिंसा-निषेध

☐ श्री राजवीरसिंह शेखावत

क्या मानवीय जीवन का कोई उद्देश्य है ? यह प्राचीन भारतीय दर्शनो की एक मुख्य समस्या रही है, जिसके समाधान में प्राय: सभी दर्शनो में, चार्वाको के अतिरिक्त, माना गया है कि मानवीय जीवन का उद्देश्य आत्यंतिक दु ख-निवृत्ति है अर्थात् सभी दु:खों का सदा के लिए नाश । किन्तु ध्यातव्य है कि सभी प्राचीन भारतीय दर्शनों का इस प्रश्न, मोक्ष का साधन क्या है ? के समाधान में मतैक्य नही है, क्योकि उनकी तत्त्व सम्बन्धी मान्यताओ मे भिन्नता है और यह प्रश्न कि मोक्ष का साधन क्या है, एक सीमा तक इस बात पर निर्भर करता है कि "तत्त्व" क्या है ? जैन धर्म और दर्शन का भी, अन्य दर्शनो की तरह, यही मानना है कि मानवीय जीवन का उद्देश्य "जीव" को अपनी पूर्ण एवं शुद्ध अवस्था में स्थापित करना है । जीव को यह अवस्था सुख-दु.ख के परे की अवस्था है अर्थात् इस अवस्था मे सभी दु:खो का सदा के लिए नाश हो जाता है । किन्तु प्रश्न है कि किस साधन या माध्यम के द्वारा जीव अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है ? इसके समाधान मे कहा गया है कि "धर्म" के द्वारा ।[1] पुन प्रश्न ऊठता है कि "धर्म" क्या है ? प्रत्युत्तर मे कहा गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही धर्म है ।[2] अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का साधन या मार्ग है ।[3] फिर प्रश्न किया जा सकता है कि सम्यग्दर्शन आदि का स्वरूप क्या है ? समाधान मे कहा गया है कि तत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन, ।[4] यथार्थज्ञान को सम्यग्ज्ञान और पाच पापो के परित्याग को सम्यक्चारित्र कहते है ।[5] अर्थात् हिसा, झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन और परिग्रह से विरक्त होना ।

पुन: प्रश्न उठता है कि "हिसा" क्या है ? इसके समाधान मे कहा गया है कि किसी प्राणी को प्राण-विहीन करना, दूसरे से प्राण-विहीन करवाना या किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्राणी को प्राण-विहीन करते हुए देखकर उसका अनुमोदन करना ।[6] किसी प्राणी पर शासन करना, दास बनाना, किसी भी प्रकार की पीड़ा देना, सताना, अशात करना हिसा है ।[7] अर्थात् **आचारांग** के अनुसार किसी प्राणी को प्राण-विहीन कर देना ही हिसा नही है अपितु किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप मे हनन भी हिसा है ।[8] यहा ध्याद देने की बात है कि **आचारांग** मे प्राणी या जीव को मनुष्य, पशु, पक्षी और कीट-पतंगो के अर्थ में ही नही, अपितु प्राणी या जीव को व्यापक अर्थ मे लिया गया है, जिसमे उन जीवो का भी समावेश हो जाता है जिन्हे सामान्य जन जड़ या अजीव कहते है। **आचारांग** मे उन सभी जीवो को छ: वर्गों मे

रखा है। ये वर्ग है—पृथ्वीकाय जीव, जलकाय जीव, अग्निकाय जीव, वायुकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव और त्रसकाय जीव।[९] यहाँ प्रश्न उठता है कि पृथ्वीकाय जीवों के अस्तित्व को कैसे स्वीकार किया जाये? इसके समाधान मे कहा गया है जिस प्रकार तुम्हारी सत्ता है उसी प्रकार उन जीवों की भी सत्ता है अर्थात् उन जीवो के अस्तित्व को नकारा नही जा सकता है, क्योकि उनके अस्तित्व को नकारने का अर्थ है स्वयं की आत्मा के अस्तित्व को नकारना। जैसाकि **आचारांग** मे कहा गया है कि "जो अन्य जीवो के अस्तित्व का निषेध करता है वह अपने अस्तित्व का निषेध करता है, जो अपने अस्तित्व का निपेध करता है वह अन्य जीवो के अस्तित्व का तिषेध करता है।[१०] इससे फलित होता है कि उन जीवों की सत्ता है। **आचारांग** में उन सभी जीवो की हिंसा का निषेध है, न कि किन्ही विशेप जीवों की हिंसा का अर्थात् उन सभी जीवों की न तो स्वयं हिंसा करे, न दूसरे से करवाये और न ही अनुमोदन करे।[११] किन्तु प्रश्न है कि किसी भी जीव की हिंसा नही की जाये तो क्यों नही की जाये? अर्थात् वे कौन-से कारण है जिनके कारण हिंसा का त्याग करना चाहिए? **आचारांग** में हिंसा निषेध या त्याग के अनेक कारण बतलाये गये है, जिनमें से मुख्य कारण है "कर्मवन्ध" अर्थात् हिंसा से जीव का, जिसने हिंसा की है, कर्मबन्ध होता है।[१२] कर्मवन्ध से जीव के शुद्ध स्वरूप मे न्यूनता आ जाती है अर्थात् कर्मो से जीव का स्वरूप विकृत हो जाता है, जिसके कारण वह जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।

दूसरे, हिंसा मोह का कारण है।[१३] अर्थात् हिंसा राग-द्वेष का कारण है। यद्यपि यह माना जाता है कि हिंसा का कारण राग-द्वेष है, किन्तु **आचारांग** मे हिंसा को राग-द्वेप का कारण माना है।[१४] यह ठीक है कि राग-द्वेष के कारण हिंसा होती है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि हिंसा के पश्चात् राग-द्वेष नहीं रहते है तथा न ही उत्पन्न होते है अर्थात् हिसा के पश्चात् राग-द्वेष पहले की अपेक्षा अधिक उत्पन्न होते है। इसीलिये **आचारांग** मे हिंसा को मोह या राग-द्वेप का कारण माना है। राग-द्वेप और कर्मबन्ध के कारण जीव के शुद्ध स्वरूप पर कर्मो का आवरण आ जाता है अर्थात् हिंसा से कर्मवन्ध और राग-द्वेष उत्पन्न होते है तथा राग-द्वेप से जीव का कर्म पुद्गलों से वन्ध हो जाता है जिससे उसके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति मे न्यूनता आ जाती है। उसमें न्यूनता आने के कारण वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति नही कर सकता है अर्थात् हिंसा दर्शन वोधि, ज्ञान वोधि और चारित्र वोधि की अनुपलब्धि का कारण है।[१५] इस वात को यों भी कहा जा सकता है कि हिंसा के कारण जीव त्रिरत्न की प्राप्ति नहीं कर सकता है और जो पहले से प्राप्त है उसमें भी न्यूनता आ जाती है। और त्रिरत्न के बिना जीव अपने यथार्थ एवं शुद्ध स्वरूप को प्राप्त नही कर सकता, अर्थात् हि

कारण जीव मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता है। इससे फलित होता है कि मोक्ष के लिए हिंसा का निषेध अनिवार्य है।[१६] अर्थात् जो अहिंसा का पालन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है और इसके विपरीत जो हिंसा करता है उसे नरक की प्राप्ति होती है।[१७]

जैन दार्शनिक स्वर्ग और नरक की कल्पना करते हैं तथा यह मानते हैं कि जो जीव अच्छे कर्म करता है उसे स्वर्ग मिलता, है, वहां वह सुख भोगता है और जो बुरे कर्म करता है उसे नरक मिलता है, वहां उसे दुःख ही दुःख भोगना होता है। जो हिंसा करता है उसे नरक मिलता है और वहां उसकी हिंसा की जाती है अर्थात् कोई व्यक्ति यदि किसी प्राणी की हिंसा करता है उसे, जिसने हिंसा की, नरक में जाना पड़ता है तथा वहां फिर उसकी हिंसा की जाती है। यहां प्रश्न है कि यह कैसे कहा जाये कि स्वर्ग और नरक की सत्ता है? यदि कुछ समय के लिए इस कल्पना को कि स्वर्ग एवं नरक हैं तथा वहां सुख-दुःख भोगने पडते है, न भी स्वीकार करें तब भी यह सिद्ध नहीं होता है कि हिंसा त्याज्य नहीं है, क्योंकि यह अकरणीय है।[१८] इसलिए कि हिंसा क्रिया भी है और फल भी। जो क्रिया है वे सब त्याज्य है।[१९] क्योंकि क्रिया हिंसा और ससार का कारण है तथा अक्रिया मोक्ष का।[२०]

यहां कहा जा सकता है कि न तो स्वर्ग है, न नरक है, न कर्मबन्ध और न ही मोक्ष। तब हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसके समाधान मे कहा गया है कि यदि कुछ समय के लिए उन्हे नही भी माने, तब भी हिंसा त्याज्य है, क्योंकि उससे अहित होता है।[२१] अहित दो प्रकार का होता है—आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक अहित को कोई न भी माने, किन्तु व्यावहारिक अहित नकारा नही जा सकता है। व्यावहारिक अहित भी दो प्रकार का है—'स्व' अहित और 'पर' अहित। 'स्व' अहित में हिसा करने वाला सदैव अशांत और भयभीत रहता है, जिससे उसका जीवन दु खमय हो जाता है। "पर" अहित मे हिसा मृत्यु का कारण है,[२२] अर्थात् हिसा से, जिस जीव की हिसा की जाती है, उसे प्राण रहित कर दिया जाता है, जबकि सब जीवों को अपना-अपना जीवन प्रिय है और मृत्यु अप्रिय अर्थात् कोई भी जीव मरना नही चाहता है।[२३] दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तुम मरना न ी चाहते हो उसी प्रकार दूसरे प्राणी भी मरना नहीं चाहते है अर्थात् सभी प्राणी जीना चाहते है। यही नही, प्रत्येक प्राणी जीवन के साथ "अभय" चाहते हैं अर्थात् जिस प्रकार तुम्हें अभय प्रिय है और भय अप्रिय है, उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी अभय प्रिय है और भय अप्रिय, अर्थात् सभी प्राणी अभय चाहते है।[२४] किन्तु हिंसा से अभय का हनन होता है।

पुनः कहा जा सकता है कि किसी व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा के लिए किसी जीव विशेष की हिंसा की जाये, तब उस हिसा मे क्या दोष है? इसके

समाधान में कहा जा सकता है कि जिस व्यवस्था या मूल्यो की रक्षा हिंसा से सम्भव है वह वास्तविक अर्थ में व्यवस्था या मूल्य है ही नही, क्योंकि हिंसा से व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा नहीं, ह्रास होता है। हिंसा से किसी व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा करने का अर्थ है हिंसा की रक्षा करना अर्थात् हिंसा से हिंसा को मिटाना चाहते है और हिंसा से हिंसा को मिटाते समय एक ओर दूसरी हिंसा को आमंत्रित करते है तथा दूसरी ओर उस हिंसा को जिससे पहली हिंसा को मिटाया गया है, मिटाने के लिए तीसरी हिंसा की आवश्यकता पड़ती है और तीसरी के लिए चौथी हिंसा की। इस प्रकार यह निरन्तर चलने वाली हिंसा है, जिससे व्यवस्था या मूल्यों की रक्षा कैसे सम्भव है ?

दूसरे, जब किसी जीव विशेष की हिंसा की जाती है तब वह हिंसा केवल उस एक जीव विशेष की ही हिंसा नही होती है, अपितु उसके आश्रय मे रहने वाले अन्य जीवो की भी हिंसा होती है अर्थात् अनेक जीव ऐसे है जो अन्य जीवो के शरीर के आश्रय मे रहते हैं। ऐसी स्थिति में उस एक जीव की, जिसके आश्रय में अन्य जीव रहते है, हिंसा करने से उसके आश्रय में रहने वाले जीवों की भी हिंसा होती है।[२५] तब प्रश्न उठता है कि उन अन्य जीवों की हिंसा क्यों ?

तीसरे, "हिंसा" हिंसा ही नहीं, वह चोरी भी है।[२६] क्योंकि हिंसा मे जीवो के प्राणों का हरण होता है और दूसरे के प्राणों पर हिंसक का कोई अधिकार नही होता है अर्थात् जिन प्राणियों की हिंसा की जाती है उनके प्राणों का स्वामी हिंसक नही होता है। जो वस्तु जिस स्वामी की है उसके दिये बिना लेना चोरी है और हिंसा में ऐसा ही होता है। अत. सिद्ध होता है कि हिंसा चोरी है, जो त्याज्य है।

हिंसा निषेध के पक्ष में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तर्क यह दिया जाता है कि हिंसा से जीवों को वेदना या कष्ट होता है और वेदना से दुःख।[२७] वेदना और दुःख जीवों को अप्रिय और प्रतिकूल है तथा सुख प्रिय और अनुकूल है अर्थात् दुःख भय और अशान्तिरूप है,[२८] जिसे कोई भी जीव नही चाहता है। यहां प्रश्न उठाया जा सकता है कि जो एकेन्द्रिय जीव है, जैसे पृथ्वीकाय जीव, अग्निकाय जीव, वनस्पतिकाय जीव आदि, उनके बारे में कैसे कह सकते है कि उनको वेदना होती है तथा वेदना का अनुभव भी होता है, क्योंकि वे न तो चलते है, न बोलते है, न देखते है और न ही सुनते है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जैसे मनुष्य को वेदना का अनुभव होता है वैसे ही एकेन्द्रिय जीवो को भी वेदना का अनुभव होता है, क्योकि उनमे चेतना है और जहा भी चेतना है वहां वेदना का अनुभव है। अन्तर केवल इतना है कि एकेन्द्रिय जीव वेदना को दूसरो के सामने अभिव्यक्त नही कर सकते है, जबकि मनुष्य आदि वेदना को अभि-

व्यक्ति कर सकते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि पृथ्वीकाय आदि जीवों को वेदना का अनुभव होता है।

आचारांग में तीन दृष्टान्तों द्वारा इस बात को सिद्ध किया गया है कि पृथ्वीकाय जीवो को वैसे ही वेदना का अनुभव होता है जैसे मनुष्य को।[२६] अर्थात् जैसे किसी के पैर, टखने, जंघा, भुजा, कमर, नाभि, उदर, पसली, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधा, हाथ, अंगुली, नख, ठोडी, गर्दन, दांत, जिह्वा, तालु, गाल, नासिका, आँख, ललाट, सिर आदि का छेदन-भेदन करे, तब उसे जैसी पीड़ा का अनुभव होता है वैसी ही पीडा का अनुभव पृथ्वीकाय जीवों को होता है। किन्तु मनुष्य उस पीड़ा को दूसरों के सामने अभिव्यक्त कर देता है और पृथ्वीकाय जीव उसे अभिव्यक्त नही कर सकते है। एक दूसरा दृष्टान्त है, जिसमें मनुष्य भी अपनी वेदना को दूसरों के सम्मुख अभिव्यक्त नही कर सकता है। जैसे कोई मनुष्य जन्म से अंधा, बहरा, गूंगा और पंगु है उस मनुष्य को यदि कोई तलवार आदि से पीडा दे, तब वह न तो देख सकता है, न सुन सकता है, न कह सकता है और बचने के लिए भी कही नही जा सकता। तब क्या उस व्यक्ति के बारे में ऐसा कहा जा सकता है कि उसे वेदना का अनुभव नही होता है? उस व्यक्ति के बारे में ऐसा नही कहा जा सकता है कि उसे वेदना का अनुभव नही होता है अर्थात् जिस प्रकार स्पर्शेन्द्रिय के अतिरिक्त इन्द्रियों का अभाव होने पर भी व्यक्ति को स्पर्श सम्बन्धी वेदना का अनुभव होता है किन्तु उसे प्रकट नहीं कर सकता है, ठीक उसी प्रकार स्पर्श इन्द्रिय से युक्त होने तथा अन्य इन्द्रियों का अभाव होने पर भी पृथ्वीकाय आदि जीवों को वेदना का अनुभव होता है।

वनस्पतिकाय जीव सजीव है तथा वेदना का अनुभव करते हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए **आचारांग** मे वनस्पतिकाय जीवो के शरीर और मनुष्य शरीर में समानता बतलाई है। समानता बतलाते हुए कहा गया है कि जैसे मनुष्य जन्म लेता है, बढता है, चेतनायुक्त है, आहार करता है, उसका शरीर उपचित-अपचित होता है, अनित्य और अशाश्वत है तथा अनेक प्रकार की अवस्थाओ को प्राप्त होता है, वैसे ही वनस्पति जन्म लेती है, बढती है, चेतनायुक्त है, आहार करती है, उसका शरीर उपचित-अपचित होता है, अनित्य है तथा अनेक प्रकार की अवस्थाओं को प्राप्त होता है।[३०] इसके आधार पर कहा जा सकता है कि वनस्पतिकाय जीवों को भी वेदना होती है।

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि एकेन्द्रिय जीवो को, अन्य जीवों की तरह वेदना तथा वेदना का अनुभव होता है। अतः एकेन्द्रिय जीवो की हिंसा भी निषिद्ध है।

ध्यातव्य है कि **आचारांग** में त्रस जीवों की हिंसा के त्याग के साथ-साथ एकेन्द्रिय जीवों-पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय

जीवों की हिंसा के त्याग पर विशेष बल दिया है। संभवतः इसके निम्नलिखित कारण हो सकते है—पहले, अधिकतर लोग इस बात से अनभिज्ञ होते है कि एकेन्द्रिय-पृथ्वीकाय आदि जीव होते हैं। दूसरे, यदि वे यह जानते है कि पृथ्वी-काय आदि जीव है, तब वे इस बात से अनभिज्ञ होते है कि उनको वेदना होती है। तीसरे, यदि कोई इन दोनों बातो को जानता है, तब भी वे उन जीवों को अधिक महत्त्व नही देते है। चौथे, उन जीवो की हिंसा सबसे अधिक होती है। ये चार कारण प्रकाश मे आये है। इन कारणों के अतिरिक्त भी कारण हो सकते है, जिनके कारण उन जीवों की हिंसा-त्याग पर विशेष बल दिया गया है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि हिंसा से जीवो को वेदना और दु:ख होता है। किन्तु इस पर हिंसक व्यक्ति कह सकते है कि हिंसा से हमें तो सुख मिलता है। तब हिंसा त्याज्य कैसे हो सकती है? इसके समाधान में कहा गया है कि जैसे तुम्हे हिंसा से सुख मिलता है वैसे ही उन जीवो को, जिनकी तुम हिंसा करते हो, दु:ख होता है और जैसे तुम सुख चाहते हो, दु:ख नही, वैसे ही वे जीव सुख चाहते है दुःख नही अर्थात् जिस प्रकार तुम्हे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है, उसी प्रकार दूसरे प्राणियो को सुख प्रिय है और दु.ख अप्रिय है।[31] अतः तुम दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम दूसरों से चाहते हो।

दूसरे, जिसकी तुम हिंसा करना चाहते हो उसमे और तेरे में कोई भेद नहीं है। दोनों का तात्विक स्वरूप एक है, जैसी प्रकृति या स्वभाव तुम्हारा है, वैसा ही अन्य जीवो का है, जैसा तुम चाहते हो वैसा ही वे चाहते है। इसी सदर्भ मे **आचारांग** मे कहा गया है,[32] कि तू वही है, जिसे तू मारने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू आज्ञा मे रखने योग्य मानता है, तू वही है, जिसे तू परिताप देने योग्य मानता है, तू वही है जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है। अत किसी जीव की न स्वयं हिंसा करे, न किसी दूसरे से करवाये और न हिंसा करते हुए को देखकर अनुमोदन करे।

इस प्रकार उपर्युक्त चर्चा के आधार पर कहा जा सकता है कि हिंसा त्याज्य है। किन्तु यहां प्रश्न है कि हिंसा का त्याग कैसे किया जाये? अर्थात् हिंसा का त्याग करने के लिए क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए? इस प्रश्न के समाधान के पूर्व निम्न दो प्रश्नों का समाधान आवश्यक है कि हिंसा का निमित्त या हेतु क्या है? दूसरे, किस प्रकार के व्यक्ति हिंसा करते है और किस प्रकार के व्यक्ति हिंसा नही करते है? इसे यो भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति कब हिंसा करते है और कब नही? पहले प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि वर्तमान जीवन की रक्षा के लिए, प्रशंसा, सम्मान, पूजा के लिए, जन्म-मृत्यु सम्बन्धी प्रसंगों के लिए, परम शांति प्राप्त करने के लिए, दु:खो को दूर करने के लिए और कुछ व्यक्ति निष्प्रयोजन ही हिंसा
ये हिंसा के निमित्त है।[33] दूसरे प्रश्न के समाधान में कहा गया है कि

के परिणामों को नहीं जानते हैं तथा दूसरे के दु:खों का अनुभव अपने दु.खों के अनुभव की तरह नहीं करते है, वे व्यक्ति हिसा करते है और जो हिंसा के परिणामों को जानते है तथा दूसरे के दु खों का अनुभव अपने दु खों के अनुभव की तरह करते है, वे हिंसा नही करते हैं ।[३४]

अब, इस प्रश्न कि हिसा त्याग के लिए क्या करना चाहिए, के समाधान में कहा जा सकता है कि सबसे पहले हिंसा के निमित्त या हेतुओं को जाने तथा उनको त्यागे, क्योंकि वे हिसा के निमित्त के साथ-साथ राग-द्वेष और परिग्रह है जो त्याज्य है। दूसरे, हिसा के परिणामो को जाने, क्योंकि जो उसके परिणामों को जानता है वह हिंसा नही करता है। हिसा के परिणाम क्या हैं? इस प्रश्न का समाधान ऊपर किया जा चुका है। तीसरे, अपने से भिन्न जीवो के दु:खो का अनुभव करें अर्थात् उनके दु:खों को अपने दु:खो के समान जानें, अर्थात् जैसे मेरी हिसा करने पर मुझे दु:ख होता है उसी प्रकार अन्य जीवों को दु.ख होता है, ऐसा जाने। चौथे, समता का पालन करे अर्थात् सभी जीवों पर समभाव रखे, सभी जीवो को अपने तुल्य समझे।[३५] पाचवे, पांच भावनाओं का पालन करे अर्थात् विवेकपूर्वक गमन करे, मन को खुश रखे, निर्दोष भाषा का प्रयोग करे, शारीरिक क्रियाएं विवेक पूर्वक करे और शुद्ध एवं विवेक पूर्वक आहार-पानी ग्रहण करे।[३६]

अन्त मे, संक्षेप में कहा जा सकता है कि किसी भी जीव या प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप मे हनन हिसा है, जिसे कर्मबन्ध, मोह, नरक, दु ख, चोरी, अशाति, अबोधि, अहित आदि का कारण जानकर निषेध करे। निषेध के लिए उसके हेतुओ को जानकर त्यागे, उसके परिणामो को जानें, दूसरो के दु.खो का अनुभव करे, सब जीवो पर समभाव रखे और सभी क्रियाओ को विवेक पूर्वक करे।

—१२ प्रतापनगर, शास्त्रीनगर, जयपुर—३०२०१६

संदर्भ-सूची—

१ पद्मनन्दिपञ्चविशंतिका-गत-श्रावकाचार, सूत्र १.२
२ वही, सूत्र १.२, ३. तत्त्वार्थसूत्र सूत्र १ १, ४. वही, सूत्र १ २
५. रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, सूत्र ४६
६. आचारांग सूत्र, १ १.२.१३, १.१.३ २४, १ १.३ ३५, १ १ ५ ४३, व १.१ ५ ४७, श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८०.
७ वही, १.१ ७ १३, १ १ ३ ७१, १ १ ४ ३८ व १ ५ ५ १७०.

८ आचारांग-चयनिका, प्रस्तावना पृ० (iii)
९ आचारांग सूत्र, सूत्र १ १.२ १०, १ १ २ १३, १ १ ३ २३, १ १.३ २४, १ १ ४ ३२, १ १ ५ ४२, १.१.६ ४९, १ १.७ ५८ व १ १ ७ ६२.
१० वही, १ १.३ २२ व १ १.४ ३२.
११. वही, १ १.२ १७, १.१ ३ ३०, १ १ ५ ४७, १ १ ६ ५४, १ १ ७ ६१, १ १ ७ ६२, १ ४ २.१३८, १ ५.३ १६०.
१२. आचारांग सूत्रम्, आचार्य श्री आत्माराम जी जैन प्रकाशन समिति, लुधियाना, १९६३, सूत्र १ १ ३.३१, १ १ ४ ३७, १ १ ४ ३२, १ १.५ ४६, १ १ ६ ५३, १ १ ७ ५९, १ २.२ ७७.
१३ आचारांग सूत्र, (व्यावर), सूत्र १ १ २ १४, १ १.३.२५, १.१ ४ ३६, १ १.५ ४४, १ १ ६ ५२, १ १.७ ५९.
१४. वही, १ १.२.१४, १ १ ४ ३६, व १ १ ५ ४४.
१५ वही, १ १ २.१३, १ १ ४ ३५, १ १ ५ ४३, १ १ ६ ५१, १.१ ७ ५८.
१६ आचारांग सूत्रम्, (लुधियाना), गाथा १ ३ २ ७, १ ३ २ ८
१७. आचारांग सूत्र, (व्यावर), सूत्र १ १ २ १४, १ १ ३ २५, १ १ ४ ३६, १ १ ६ ५२, १.१.७ ५९.
१८ वही, सूत्र १ १ ७.६२ १९ वही, सूत्र १ १ १ ५
२० वही, हिन्दी व्याख्या, पृ० ६
२१ वही, सूत्र १ १ २ १३, १ १.४ ३५, १ १ ५ ४३, १ १.६ ५१, १ १ ७ ५८
२२ आचारांग सूत्रम्, (लुधियाना), सूत्र १ १ ४ ३७, १ १ ४ ४६
२३ वही, सूत्र १ २ ३ ८१ २४. आचारांग सूत्र, (व्यावर), सूत्र १.१ ५-४०.
२५ वही, सूत्र १ १ २ १२, १ १ २.१४, १ १.३.२३, १.१.४.३४, १ १ ७ ५९ ।
२६ वही, १ १ ३ २६ २७ वही, १ १.६ ४९.
२८ आचारांग सूत्रम्, (लुधियाना), सूत्र १ १ ६ ५१, १.२ ३.८१, १ ३ ३ ११६.
२९. आचारांग सूत्र, (व्यावर), सूत्र १ १ २ १५. ३० वही, सूत्र १ १ ५ ४५.
३१ आचारांग सूत्रम्, (लुधियाना), सूत्र १ १.६.५१, १.३.३.११६.
३२ आचारांग सूत्र, (व्यावर), सूत्र १ ५.५ १७०.
३३. वही, सूत्र १ १ १ ७, १ १ २ १०, १ १ २ १३, १ १.३.२४, १ १ ४.३५, १.१ ४ ३६, १ १ ५.४३, १ १ ६ ५१, १.१ ६ ५२, १.१ ६.५८.
३४ वही, सूत्र १ १.२.१६, १.१.३.२९, १.१.४.३८, १.१ ५ ४६, १.१ ६ ५३, १ १ ५ ६०
३५ आचारांग सूत्रम्, (लुधियाना), गाथा १ ३ ३ १०
३६ वही, गाथा, २ १५.१, २.१५.२, २.१५.३, २ १५ ४, २ १५.५.
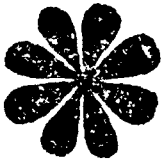
'आचारांग' में अहिंसा का स्वरूप

☐ श्री प्रकाश सालेचा

अहिंसा के विषय मे विभिन्न दर्शनो ने अपने-अपने स्तर पर चर्चा की है किन्तु अहिंसा के सम्बन्ध में जितना गहन एव सूक्ष्म विवेचन जैन दर्शन ने किया है, अपेक्षाकृत अन्य दर्शनों ने नही। अहिंसा के विषय में यद्यपि वैदिक दर्शन में भी चर्चा मिलती है, किन्तु अहिंसा वैदिक दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय नही है। वेद की दार्शनिक चर्चा सृष्टि के विषव में है। बौद्ध दर्शन में अहिंसा का विचार मिलता है किन्तु उसमें चार आर्य सत्यो की चर्चा मुख्य है। जैन दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ 'आचारांग' सूत्र माना जाता है। भगवान महावीर ने इसमें अहिंसा को मुख्य स्थान दिया है। 'आचारांग' सूत्र मे धर्म की दो प्रकार से व्याख्या की गयी है—

१. **अहिंसामूलक :**—अहिंसा को शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म वताया गया है—**'एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए'**।

२. **समतामूलक :**—अहिंसा का आधार समता है। समता के दो पक्ष है, प्रथम सवको अपने समान समझना। इसके आधार पर 'आचारांग' की घोषणा है **'तुमसि णाम तं चेव ण हंतव्वं ति मण्णसि'**। समता का दूसरा अर्थ है—छोटे और बड़े के बीच भेदभाव नही रखना, यथा—**णो हीणे णो अतिरित्ते'**।

अहिंसा की दृष्टि मे सव जीव समान है। न कोई छोटा है न कोई वड़ा है। इस दृष्टि से छोटे से छोटे जीव की भी उपेक्षा नही की जा सकती है। अग्नि, जल, वायु, पृथ्वीकाय जीव-विकास के क्रम मे सबसे नीचे है किन्तु 'आचाराग' मे अहिंसा की चर्चा इन्ही की अहिसा से चालू की गई है। वर्तमान भाषा मे महावीर की अहिसा का कार्यक्रम अन्त्योदय कार्यक्रम जैसा था। विशेष महत्त्वपूर्ण वात यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की अहिंसा की चर्चा आज के युग में सवसे ज्यादा प्रासंगिक है। क्योंकि यह वर्तमान की वहुत वड़ी समस्या पर्यावरण-प्रदूषण की रामवाण औषधि है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु की अहिंसा का अर्थ है प्रकृति के कार्यो में हस्तक्षेप नही करना और पर्यावरण-प्रदूषण से बचाने में यही एक मात्र अचूक रामबाण है। प्राकृतिक सन्तुलन वनाये रखने के लिए अहिंसा का होना अति आवश्यक है। इसलिए छोटे से छोटे प्राणी की हिंसा का समर्थन नही किया जा सकता।

अहिंसा का फल है सवको अभयदान यथा **'लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतो भयं।'** दुःख से हर व्यक्ति भयभीत है। हिंसा के अनेक कारण है—

'इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण–पूयणाए, जाइ मरण मोयणाए, दुक्खपडिग्घायहेउं जीव एमांरभति' अर्थात् प्रशंसा, आत्म-पूजा के लिए, जन्म-मरण के भय से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य हिंसा करता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के उपकरण प्राप्त करने के लिए भी मनुष्य हिंसा करता है और बिना किसी प्रयोजन के भी हिंसा की जा सकती है। हिंसा के लिए 'आचारांग' में एक शब्द प्रयुक्त हुआ है **'समारम्भ'**। सम्भवतः 'समारम्य' मे वही धातु है जो मीमांसा दर्शन के आलंभन यज्ञ मे पशु का आलभन करने के विधान रूप मे है। इसी कारण जैन-दर्शन में 'आरम्भ' या 'समारम्भ' हिंसा के लिए प्रयुक्त होने लगा। हमारे कर्म मात्र में समारम्भ निहित रहता है इसीलिये 'आचारांग' सूत्र में मुनि से कहा—**'जस्सेते लोगंसि कम्मसमारंभा परिण्णायश भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मेत्ति बेमि'** अर्थात् इस लोक में जो कर्म-समारंभ का ज्ञाता है वास्तव में वही मुनि परिज्ञात कर्मा है। 'परिज्ञा' के दो अर्थ है—(१) जानना और (२) छोड़ना।

वस्तुतः ज्ञान ही त्याग है। **'णाणं पचक्खाणं'** ज्ञान के भी दो विषय है—स्व और पर। 'स्व' का ज्ञान निश्चय अहिंसा है। 'पर' के ज्ञान से व्यवहार अहिंसा फलित होती है, इसलिए अहिंसा के लिए ज्ञान पर बहुत बल दिया गया है—**'पढमं णाणं तओ दया'**। अहिंसा के लिए वीतरागता आवश्यक है क्योंकि वीतरागी व्यक्ति ही सच्चा अहिंसक हो सकता है। वर्तमान में हम दूसरे के प्राणो का हनन करने मात्र को हिंसा मानते है, परन्तु दूसरों के प्राण हनन करने के पूर्व जीव अपने स्वयं के द्रव्य एवं भाव प्राणों का घात करता है। इस बात को समझाते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित 'पुरुषार्थ सिद्धयुपाय' नामक ग्रन्थ में हिंसा के चार भगों का निरूपण किया गया है—

यत्खलुकषाययोगात्प्राणानां, द्रव्यभावरूपाणाम्
व्यपरोपणस्य करणं, सुनिश्चितता भवति सा हिंसा (४३)

जिस पुरुष के मन, वचन, काया में क्रोधादिक कषाय प्रकट होते है, उसके शुद्धोपयोग रूप भाव प्राणों का घात तो पहले होता है, क्योंकि कषाय के उदय से भाव प्राण का व्यपरोपण होता है। यह प्रथम हिंसा है। पश्चात् यदि कषाय के तीव्र उदय में वह हस्तपादादिक से अपने अंग को कष्ट पहुँचाता है अर्थात् आत्मघात कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राणो का व्यपरोपण होता है। यह दूसरी हिंसा है। फिर उसके द्वारा कहे गये अशुभ वचनो से, हास्यादि से लक्ष्यपुरुष के अन्तरंग में पीड़ा होकर उसके भाव प्राणो का व्यपरोपण होता है, यह तीसरी हिंसा है। और अन्त में तीव्र कषाय और प्रमाद से लक्ष्यपुरुष को जो शारीरिक अग-छेदन आदि की पीड़ा पहुँचाई जाती है, पर द्रव्य प्राण, व्यपरोपण होता है, यह चौथी हिंसा है। साराश यह कि कषाय भाव से स्व एवं पर के भाव प्राण व द्रव्य प्राण का घात करना हिंसा का लक्षण है।

अपने शुद्धोपयोग प्राणों का घात रागादिक भावों से होता है अतः रागादिक भावों का अभाव ही सच्ची अहिसा है। राग का अभाव अहिसा तथा सद्भाव हिसा कहलाती है। अतः वीतराग व्यक्ति न किसी के प्रति आकृष्ट होता है और न किसी से खिन्न होता है—

यथा णारतिं सहती वीरे, वीरे णो सहति रतिं।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति"

'आचाराग' का प्रारम्भ 'शस्त्र परिज्ञा' से होता है। शस्त्र की परिज्ञा का अर्थ है शस्त्र का ज्ञान और शस्त्र को छोडना। अहिसा के दर्शन के लिए यह आवश्यक है कि अपनी तथा दूसरो की सत्ता मानी जाय। इसे आत्मवाद तथा लोकवाद कहा गया है। आत्मा मे कर्तृत्व मानना क्रियावाद है तथा कर्म का फल होता है यह कर्मवाद है। ये चारों अहिसा के आधार स्तम्भ है—

'से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी।'

अहिसा के तीन-भग है—करना, कराना तथा अनुमोदन। इन तीन भगों को तीन-करण मन, वचन व कर्म से गुणित करने पर अहिसा के नौ भग हो जाते है। यद्यपि अनेक जीव बोल नही पाते किन्तु उन्हें पीडा का अनुभव होता है, कुछ जीव अपने स्थान से हिल भी नही पाते किन्तु पीडा का अनुभव करते है। अहिसा का आधार यह नही कि जो अपनी पीडा अभिव्यक्त नही कर सके हम उसके प्रति अहिंसक न हो। अहिसा की दृष्टि में सब समान है इसलिए 'आचाराग' सूत्र के प्रथम अध्ययन मे ही वनस्पतिकाय के साथ-साथ जल, अग्नि, वायु तथा पृथ्वी के प्रति भी अहिसा का प्रतिपादन है। इन चारों को सत्व कहते है—

प्राणाः द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरु. स्मृता।
जीवा. पंचेन्द्रिया प्रोक्ताः शेषा. सत्वा उदीरिता॥

वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीव प्राण, वनस्पतिकायिक जीव भूत, पांच इन्द्रिय वाले जीव तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारक ये जीव एव पृथ्वी, अप, अग्नि और वायुकाय के जीव सत्व कहलाते है। इन चारो प्रकार के प्राणियो की हिंसा करने का 'आचाराग' सूत्र मे निषेध किया गया है।

'आचाराग' सूत्र का अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा फलित होता है कि हिंसा-अहिसा का विचार प्रमाद-अप्रमाद को केन्द्र मे रखकर हुआ है। आचार्य उमास्वाति ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' मे प्रमाद को ही हिसा का कारण बताया है **यथा— 'प्रमतयोगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा'** 'आचारांग' सूत्र एव 'सूत्रकृतांग' सूत्र मे अप्रमाद को लेकर संयम साधना की चर्चा की गयी है। जब तक जीव मे अज्ञानता है. प्रमाद है तब तक जीव मूढ है, धर्म को जान नही सकता। जो प्रमत्त है वही हनन-छेदन आदि करता है जैसा कि 'आचारांग' सूत्र मे कहा है—**जे पमत्ता से**

हंता छेता भेत्ता लुंपिता विलुंचिता उछवेत्ता उतासयिता अकडं करिस्मामि ति मण्णमाणे।' अतएव जो मुनि है, कुशल है, वह प्रमाद नही करता और उसे महाभय समझकर किसी की हिंसा नहीं करता। इस प्रकार पाप कर्म या हिसा मे प्रमाद की मुख्यता मानी गयी है।

पापजनकता प्रमाद मे मानी गयी है, केवल प्राणातिपात में नही। इस प्रकार 'आचारांग' सूत्र मे अहिसा का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। सभी जीवो के प्रति समता भाव रखने वाला जीव अहिसक हो सकता है।

कार्यालय सचिव,
स्वाध्याय सघ, जोधपुर।

हिंसा का डर

☐ डॉ० भैरूंलाल गर्ग

एक महान् मुस्लिम संत हुई है राबिया। एक बार वह एक जगल में घूमने गयी। वह बड़े प्रेम से इधर-उधर-उडने वाले पक्षियो और घूमने वाले जंगली पशुओं को देखसे लगी। इतने मे बहुत से जानवर उसके आस-पास आकर इकट्ठे हो गये। कुछ तो उसके बदन पर ही बैठ गये। यह देख राबिया को बडा सुख मिला।

तभी कही से एक दूसरे संत हसन बसरी उधर आ निकले। उन्होंने दूर से ही यह दृश्य देखा तो आश्चर्य चकित हो गये, उनकी खुशी का ठिकाना न रहा। लेकिन जैसे ही वे राबिया के निकट पहुँचे, सारे जानवर भाग गये और पक्षी इधर-उधर उड गये।

हसन बसरी को यह देख बुरा लगा। उन्होंने दु खी मन से राबिया से इसका कारण जानना चाहा। वे बोले, "राबिया, यह क्या बात है कि इतने जानवर और परिन्दे तुम्हारे पास जमा हो गये थे और बड़ी मुहब्बत से तुम्हे घेरे हुए थे, पर मेरे आते ही सब ऐसे भाग छटे जैसे मै कोई खूखार आदमी होऊं!"

राबिया ने पूछा, "तुम क्या खाते हो?"

हसनबसरी बोले, "उससे तुम्हे क्या काम?"

राबिया बोली, "काम है तभी तो पूछा है।"

हसनबसरी ने ज़बाब दिया, "मै गोश्त खाता हूँ।"

राबिया ने कहा, "गोश्त खाते हो और चाहते हो कि जानवर और परिन्दे तुम्हारे पास आवे। यह कैसे हो सकता है कि जिन्हे तुम मारते हो वे तुमसे डरे नही और भागे नही? जल्लाद से किसे डर नही लगता? [illegible] अपनी जान प्यारी नही होती?"

यह सुन हसनबसरी की आखे खुल गयी।

—हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, [illegible]

बौद्ध धर्म में अहिंसा

☐ डॉ. भागचन्द जैन भास्कर

तथागत बुद्ध धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उन्होंने विपाक्त वातावरण में पले-पुसे तत्कालीन धर्म और समाज में समता और अहिंसा का गहन सूत्रपात किया था। श्रमण सस्कृति के मनस्वी उद्घोषक के रूप में उनका अनुपम योगदान अविस्मरणीय है। महाकारुणिकता और मानवता के पुजारी भगवान बुद्ध का चुम्बकीय व्यक्तित्व चारित्रिक क्षेत्र में एक मील का पत्थर बन गया है। उनकी तप:पूत साधना ने भौतिकता की चकाचौंध में अंधीभूत संसार को जो नई ज्योति दी है, वह अपने आप मे एक मानदण्ड बनी हुई है।

अहिंसा शास्त्रो की देशना की आधारशिला है। उसी को उन्होंने 'सद्धम्म' की संज्ञा से अभिहित किया है। बौद्ध साहित्य मे 'धर्म' शब्द अनेक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। उन्हें हम समासत: तीन अर्थो में प्रयुक्त हुआ पाते है—पदार्थ, स्वभाव और शील। पदार्थ को यहाँ सस्कृत कहा जाता है जो उत्पत्ति, स्थिति और समाहार का प्रतीक है। हीनयान मे इन संस्कृत पदार्थो को स्वीकार किया गया था पर माध्यमिको ने उसे नही माना। वे संस्कृत पदार्थो का उत्पादन न सस्कृत रूप से मानते है और न असंस्कृत रूप से। उनकी दृष्टि में ये उत्पादादि न व्यस्त रूप से पदार्थ के लक्षण होंगे और न समस्त रूप से। वे तो तत्वत: नि:स्वभावी हैं। वाह्यार्थ वहाँ अस्तित्वहीन है। धर्म का अर्थ जब स्वभाव होता है तव उसे हम परमार्थ के रूप मे देखते हैं जो प्रतीत्यसमुत्पन्नता को ज्ञापित करता है। तृतीय अर्थ में वह सद्धम्म अथवा शील के सन्दर्भ में दृष्टव्य है। चन्द्रकीर्ति ने धर्म शब्द को इन्ही अर्थो में बांधा है—धर्मशब्दोऽय प्रवचने त्रिधाव्यवस्थापित स्वलक्षणधारणार्थेन कुगतिगमनविधारणार्थेन, पाञ्चगतिकसंसारगमनविधारणार्थेन (प्रसन्नपदा, माध्यमिककारिका, (पृ. ३०४)। मौग्गलान थेर ने अभिधानप्पदीपिका (३.७८४) में इसी तथ्य को पुष्ट किया है—

धम्मो सभावे परियत्तिपञ्ञा-भावेसु सच्चापकतीसु पुञ्ञे।
भेय्ये गुणाचार समाधिसूपि निस्सत्ततापत्तिसु कारणादो ॥

धर्म के प्रथम दो अर्थ पदार्थ की व्याख्या से सम्बद्ध है और तृतीय अर्थ व्यक्ति के आचार को स्पष्ट करता है। आर्यदेव ने शील के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि समासत: अहिंसा ही धर्म है। केवल स्वभावशून्यता को ही

निर्वाण कहा है। यही दोनों धर्म है। किसी प्राणी के अपकार की और अपकार के लिए किये गये शारीरिक और वाचिक कर्म हिंसा कहलाती है। उसके विपरीत अहिंसा है। दश कुशल कर्म ही उसके पथ है। किञ्चित भी परोपकार अहिंसा के अन्तर्गत आ जाता है। तथागतों ने संक्षेपतः धर्म और अहिंसा का ही प्रतिपादन किया है। स्वभावशून्यता को तथागतों ने निर्वाण माना है। जो अहिंसा से भी श्रेष्ठतर है। अहिंसा से स्वर्ग प्राप्ति होती है और शून्यता से निर्वाण मिलता है। तथागत द्वारा प्रतिपादित दोनो धर्म इसी में परिशुद्धि (केवल) को प्राप्त होते है—

धर्म समासतोऽहिंसां, वर्णयन्ति तथागतः।
शून्यतामेव निर्वाणं, केवल तदिहोभयम् ॥

चतुःशतक, २९८

आर्यदेव की इस व्याख्या से यदि हम सहमत है तो अहिंसा को प्रतीत्य-समुत्पाद और निर्वाण से सम्बद्ध मानना होगा। ऐसी स्थिति में बौद्धधर्म का सारा प्रासाद अहिंसा की भूमिका पर स्पष्टतः खडा हो जाता है। सम्बोधि के बाद बुद्ध के प्रथम वचन के विषय में बौद्ध परम्परा भले ही एकमत न हो पर अहिंसा की इस व्याख्या की सीमा में तथागत की वह सारी देशना समाहित हो जाती है जिसमें उन्होने चतुरार्यसत्य का वर्णन किया है। ब्रह्मयाचना की स्वीकृति महायान की आध्यात्मिकता की उत्पत्ति है, कारुणिकता का विकास है और सामुदायिक चेतना का उत्स है। इसकी मूल भावना 'सुत्तनिपात' के मेत्तसुत्त (४–५) में द्रष्टव्य है—

ये केचि पाणभूतत्थि तसा वा थावरा वा अनवसेसा।
दीना वा ये महान्ता वा मज्झिमा रस्मकाणुक थूला ॥
दिट्ठा वा येव अदिट्ठा ये च दूरे वसन्ति अविदूरे।
भूता वा संभवेसी वा सव्वे सत्ता भंवति सुखितत्ता ॥

'संयुत्तनिकाय' मे अहिंसक उसे कहा है जो काया, मन, वचन से हिंसा नही करता और दूसरे को नही सताता।[1] अहिंसक की यह परिभाषा बडी व्यापक और मानवता से आपूर है। हिंसामय यज्ञों का विरोध कर दान-पुण्य के कर्म को ही सबसे बडा यज्ञ भगवान बुद्ध ने माना है (चतुक्कनिपात, अंगुत्तरनिकाय)। तदनुसार व्यक्ति को तीन प्रकार की शुचिता प्राप्त करनी चाहिए—[2]

---

१. यो च कायेन वाचाय, मनसा च न हिंसति।
सर्व अहिंसको होति, यो पर न विहिंसती ति ॥

२. अगुत्तरनिकाय, तिकनिपात

(१) कायिक शुचिता—प्राणिहिंसा, चोरी एवं मिथ्याचार से विरति।

(२) वाचिक शुचिता—मृषावाद, पैशुन्य, कठोर वचन तथा व्यर्थ वचन से विरति।

(३) मानसिक शुचिता—क्रोध, लोभ, मिथ्यादृष्टि, आलस्य, औद्धत्य, कौकृत्य, विचिकित्सा आदि से विरति।

संयमी व्यक्ति सदैव इस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वयं के अनुकूल रहता हो। तदर्थ उसमे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भावनाओं पर वल दिया गया है।[1] सभी प्राणियो के प्रति मित्रता के भावप्रदर्शन को ही ब्रह्मविहार कहा गया है।[2] अहिसा का सम्वन्ध किसी का भी वंचन अथवा अपमान न करने से भी है।[3] प्राणियों के साथ अहिसक का व्यवहार मातृवत् होता है।[4]

बुद्धघोष की शील की व्याख्या मे अहिसा की व्याख्या देखी जा सकती है। उन्होंने विधेयात्मक और निषेधात्मक आधार पर शील को चारित्र और वारित्र के रूप मे विभक्त किया है और त्रिक में उसे हीन, मध्यम और प्रणीत आकार मे व्यवस्थित किया है। प्रणीतशील पारमिताशील है। अपनी मुक्ति के लिए पाला गया शील मध्यम शील है और भोग-सम्पत्ति के लिए पाला गया शील हीन शील है। चतुष्क शील में प्रातिमोक्षसवर, इन्द्रिय सवर, आजीव-पारिशुद्धि और प्रत्यय संनिश्रित शील को व्याख्यायित किया है। शील की इस वहुविध व्याख्या में अणुव्रत और महाव्रत का रूप भी दृष्टव्य है जिसे अहिसा के सन्दर्भ मे देखा जा सकता है।

तथागत बुद्ध के अधिकाश उपदेश भिक्षुओं को सम्वोधित कर दिये गये है। 'दिव्यावदान' मे तो गृहस्थ धर्म को आत्मवोधि मे अन्तराय माना है—आर्य अह तावद् गृहवासे परिगृद्धो विषयाभिरतिश्च।[5] वानप्रस्थाश्रम भी अपेक्षित नही। सीधे भिक्षु वना जा सकता है।[6] इसके वावजूद चूंकि सभी जन घर-वार नही छोड़ सकते थे, इसलिए उन्होंने कुछ धर्मदेशना गृहस्थों के लिए भी दी है। 'दीघनिकाय' (सिगालोवाद सुत्त), 'सुत्तनिपात' आदि ग्रन्थ वौद्ध गृहस्थ धर्म की दृष्टि से उपयोगी है। वुद्धघोप ने भी 'विमुद्धि-मग्ग' के शील-निर्देश में इसकी व्याख्या की है।

---

१. दीघनिकाय, तेविज्जसुत्त
२. विनयपिटक, पातिमोक्ख
३. मेत्तसुत्त
४. संयुत्तनिकाय, पदसुत्त
५ पांसुप्रदानावदान, पृ २१७
६. पूर्णावदान, पृ. २

बौद्धधर्म में अहिंसा के स्वरूप को विकासात्मक सोपानों में समझा जा सकता है। उसका प्रारम्भिक स्वरूप धर्मदेशना में दृष्टव्य है। वाद में चेतना कर्म के आधार पर चार पापकर्मो (पाणातिपात, अदिन्नादान, कामेसु-मिच्छाचार, मुसावाद)[१] और 'सुरामेय्यमज्जप्पमादट्ठान को जोडकर पंचपापों से विरमण रूप पञ्चशील को प्रस्थापित किया गया। 'मनोपुब्बंगमा धम्मा' के आधार पर अकुशल कर्म को तीन भागों में विभाजित किया गया—कायकर्म, वाक्कर्म और मन कर्म। प्राण, प्राणकी संज्ञा (ज्ञान), घातकचित्त, उपक्रम तथा मृत्यु, पे पांच प्राणातिपात की वधकचेतना के कारणीभूत अंग है। इन पांच अंगो के पूर्ण होने पर ही प्राणातिपात कर्मपाप होता है। अपराध का छोटा-वड़ा होना, मरने वाले के छोटे-बडे होने पर निर्भर करता है।[२] प्राणातिपात में ज्ञान, संकल्प, प्रयत्न और प्रयत्न के पदविसान के रूप मे मृत्यु होना आवश्यक है। प्रयत्नों में स्वद्वस्तिक, आज्ञप्तिक, नैसर्गिक, विद्याश्रय, ऋद्विमय और स्तम्भोत्कीर्णन मुख्य हैं।[3] इसी प्रकार अदत्तादान के सन्दर्भ में भी है। काम-मिथ्याचार के सन्दर्भ में कहा गया है कि मातृरक्षिता, पितृरक्षिता, माता-पितृ-रक्षिता, भगिनीरक्षिता, भ्रातृरक्षिता, ज्ञानिरक्षिता, गौत्ररक्षिता तथा धर्मरक्षिता महिलाओं के साथ किन्ही कारणवश सहवास किया जा सकता है। इसमें कायदुश्चरित होता है, काम मिथ्याचार नही। भ्रम से भी सपर्क होने पर पापचेतना न होने के कारण उसमें दोष नही लगेगा।[४] उत्तरकालीन स्थविरवाद मे पनपी इस विचारधारा का यह एक अश है जिसमें कामसेवन का चित्त न होने पर यदि कामसेवन किया जाये तो वह कर्मपथ नही होता। 'सूत्रकृतांग' मे शीलांकाचार्य ने इसी का वर्णन किया है।[५]

जातक कथा काल मे कदाचित् मांसभक्षण अधिक लोकप्रिय हो गया होगा।[६] नियुक्तिकार ने अट्टसालिनी के ही अनुसार हिसा के पांच कारणों का उल्लेख किया है और कहा है कि बौद्ध धर्म के अनुसार परिज्ञोपचित (मनो-व्यापार), अविज्ञोपचित (शरीर व्यापार), ईर्यापथ व स्वप्नातिक ये चतुर्विध-कर्म उपचय को प्राप्त नही होते। जैसे दीवाल पर फेकी गई धूलि स्पर्श के वाद ही बिखर जाती है इसी तरह ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के वाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन कर्मो का उपचय नही होता। इसके समर्थन में संयुत्तनिकाय (२.१२.७.३.) मे एक उदाहरण दिया गया है जिसका उल्लेख बुद्धघोष ने

---

१. दीघनिकाय, सिगालोवादसुत्त, ८ १ ४

२. अट्ठसालिनी, पृ ८०

३ सुमगलविलासिनी, भाग १, पृ ७०

४. अट्ठसालिनी, पृ ८०–८१

५. सूत्र वृत्ति पृ ६७/१; ११ २६–२८; ६३८–६४२; ११२२८

६ मोरजातक, सुमंगल जातक; जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृ. २१४

'विसुद्धिमग्ग' में किया है[1] कि जैसे राग-द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्ति के समय उसके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर मांस-भक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही साधु भी मासभक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध नहीं करता।

बौद्धाचार सम्बन्धी इन उल्लेखो के देखने से स्पष्ट है कि उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय अत्यधिक शिथिल हो गये थे। उनके धर्म के परिपालन में मांसभक्षण का निषेध नही था। शर्त यह अवश्य थी कि साधक का यह मासभक्षण त्रिकोटिपरिशुद्ध होना चाहिए।[2] पातिमोक्ख मे इस प्रकार के अनेक नियमों का विधान भी किया गया है। पालि साहित्य में भी बौद्धों को मांस भक्षण करते हुए देखा गया है। यहाँ तक कि भगवान बुद्ध को भी मास भक्षण करते हुए बता दिया गया है। सीह सेनापति बुद्ध का उपासक हो जाने पर बुद्धसंघ के लिए मांसमिश्रित भोजन देता है जिसका तीव्र-विरोध निगण्ठ करते हुए दिखाई देते हैं।[3]

'दीघनिकाय' के महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार अन्तिम यात्रा के समय चुन्द सोनार ने उन्हे 'सूकरमद्दव' दिया जो उनकी मृत्यु का कारण बना।[4] 'सूकरमद्दव' शब्द का अनुवाद विवादग्रस्त रहा है। बुद्धघोष ने इसका अर्थ सूकर का मांस किया है जबकि उदान अट्ठकथा ने उसे शकरकद का पाक माना है। अथवा यह कोई ऐसा पौधा है जिसे सूकर कुचल देते थे। कुछ विद्वान उसे अहिच्छत्तक नामक पौधा (mushroom) मानते है जो ऐसी जगह उत्पन्न होता है जिसे सूकर कुचल दिया करते है।[5] रिज डेविड्स ने उसका अर्थ गाठ-दार पौधा (a quantity of trubbles) किया है (Dial, II. ii. 137).

मेरी दृष्टि में महाकारुणिक भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व के साथ सूकर मांस भक्षण अकल्पित-सा लगता है। फिर इसकी दो सम्भावनाएँ हो सकती है। प्रथम तो यह कि आयुर्वेद ग्रन्थों मे पशुओ के नाम पर औषधियो के नाम उपलब्ध होते है। महाराष्ट्र में शकर कद के लिए डुक्करकद कहा जाता है। यह एक गोलाकार कंद होता है जो स्वाद मे कड़ुवा तथा नशीला-सा होता है। दूसरी बात यह कि यदि यह शूकर मांस है तो निश्चित ही यह अश उत्तरकालीन है अतः प्रक्षिप्त है। महापरिनिब्बानसुत्त रिपोर्टिंग मेटर प्रस्तुत करता है जो

---

१. कन्तारनित्थरणत्थिका पुत्तमसं विय, विसुद्धिमग्ग, पृ २८
हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृ. ३४; सूत्रकृताग वृत्ति, १.१ २.२८

२. तेलोवाद जातक, २४६

३. मज्झिमनिकाय, जीवकसुत्त

४. महापरिनिब्बानसुत्त, ३.१६.६२

५ उदान, अट्ठकथा, ३.१६६

बाद का ही होना चाहिए। पालि यद्यपि प्राकृत का ही प्राचीनतम रूप है पर महावीरनिब्बानसुत्त मे उत्तरकालीन प्राकृत की प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं—उदाहरणार्थ, लहुट्ठान (३.१.३), अभिण्हं (३.१.४), वुट्टहन्ति (३.१.४), अज्जतनाय (३.६.२३), आहुनेय्यो–पाहुनेय्यो (३.७.२९), अज्झत्त (३.१३.४३), निरवणाहि (३ १९.६२), पहूत (३.१९.६२), पहियत्त (३.१९ ६२), अलत्थ (३.२३ ८८) आदि। यही कारण है कि बुद्धचरित, सौन्दरानन्द आदि ग्रथों मे इस घटना का कही कोई उल्लेख नही है। लंकावतार सूत्र मे तो उसका स्पष्टत: खण्डन किया गया है।

बौद्ध धर्म में मुख्य कर्म चेतना कर्म माना गया है। उसे चित्त सहगतधर्म कहा गया है। मानसिक धर्म उसकी अपर संज्ञा है। यह चेतना चित्त को आकार विशेष प्रदान करती है और प्रतिसन्धि (जन्म) के योग्य बनाती है। चेतना के कारण ही शुभाशुभ कर्म होते है और तदनुसार ही उसका फल होता है। यह मनसिकार दो प्रकार का है—योनिशो मनसिकार और अयोनिशो मनसिकार। इनमे प्रथम सम्यक्त्व है और द्वितीय मिथ्यात्व। जैन धर्म मे इस चेतना कर्म को भाव कहा गया है। वह कुशल-अकुशल के समान शुद्ध-अशुद्ध होता है। चेतना कर्म के दो रूप है—दर्शन और ज्ञान। चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना ये सभी शब्द समानार्थक है। योनिशो मनसिकार को ज्ञान चेतना और अयोनिशी मनसिकार को अज्ञानचेतना कह सकते है। बौद्ध धर्म की अहिसा अज्ञानचेतना से अधिक सबद्ध प्रतीत होती है। बौद्धधर्म का अहिसक जैन धर्म की दृष्टि से हिंसक ही है क्योकि हिंसा के पीछे उस तथाकथित अहिसक की प्रेरक भावना काम करती है।

बौद्ध भिक्षु का शिथिलाचार थेरगाथा मे बहुत अधिक स्पष्ट हुआ है जहाँ कहा गया है कि पाप वासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षस जैसी खेल रही है। वे ठग है, असयमी हैं और आमिष का उपभोग करने वाले है।[1] शीलाकाचार्य ने भी उनकी जीवनचर्या का विशद वर्णन किया है।[2]

लगता है, पालि साहित्य मे उपलब्ध मांस भक्षण की विहितता के विरोध मे एक सबल आन्दोलन चला होगा। पालि साहित्य को छोड़कर वज्रयान के पूर्व तक का बौद्ध संस्कृत साहित्य साधारणत. मांस भक्षण को अस्वीकार करता है। उसका अहिसा का चितन और गहरा हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। पारमिताओ की बात करने के साथ मांस भक्षण युक्त अहिसा के चितन मे गहनता नही आ पाती। अप्रत्यक्षत: हिसा का दोष भक्षक पर आ ही जाता है।

---

१ थेरगाथा, ९२१, ९२८, ९३८–९

२ मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्त मध्ये पानकं चापरान्हे।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्धरात्रौ. मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्ट. ॥
—सूत्रकृताग, टीका, ११.

यह लोक चेतना लकावतार में प्रतिबिम्बित होती है जहाँ 'मांस भक्षण प्रतिषेध' नामक स्वतन्त्र परिवर्त लिखा गया है। वहाँ स्पष्ट शब्दो में कहा गया है कि मास भक्षण और अहिंसा का कोई सम्वन्ध नही है। उसे किसी भी स्थिति मे विहित नहीं माना जा सकता। वहाँ लिखा है कि महामति बोधिसत्व ने बुद्ध से पूछा—मांस भक्षण के गुण-दोष क्या है? उत्तर मे बुद्ध ने कहा—

(१) आज हमारे जो माता-पिता है, कल वे पशु-पक्षी होगे और हम उन्ही का मांस खायेंगे। इस स्थिति में मांस भक्षण विहित कैसे माना जा सकता है? प्राणि मात्र पर दया करने वाला बुद्ध मास भक्षण की वात कैसे कर सकता है?

(२) प्राय: यह देखा गया है कि शिकारी व्यक्ति को देखकर छोटे-छोटे प्राणी-एकेन्द्रिय जीव भी स्वत: भयभीत हो जाते है। ऋषियों का पवित्र भोजन ही बोधिसत्व का भोजन है। आश्चर्य है, कुछ लोग इस भोजन को अस्वीकार करते है, फिर भी वे अपने को धार्मिक मानते है। उन्हे धार्मिक कैसे कहा जा सकता है?

(३) मांसभक्षी को दु:स्वप्न दिखाई देते है। विभिन्न प्रकार के रोगों से भी वह ग्रस्त हो जाता है।

(४) समाज मांस भक्षी से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। सीह-सीदास नामक राजा मास भक्षी था। समाज ने उससे अपना सम्वन्ध तोड लिया।

(५) पूर्व जन्म में इन्द्र ने भी मांस भक्षण किया था। फलत: उसे दु:ख भोगना पड़ा। तव शिवि ने उस पर दया की।

(६) एक अन्य राजा ने भी मांस भक्षण किया। उसकी सन्तान भी मांस भक्षण की आदी हो गई। फलत: वे जन्म-जन्मान्तर में पिशाच-पिशाचिनी हुए।

(७) अभिमान-तुष्टि के लिए लोग हिसा करते है। यदि कोई मांस-भक्षण नही करे तो प्राणि-हिंसा होगी क्यों?

(८) वौद्ध उपासक को भी मांस भक्षण नही करना चाहिए, भिक्षु तो दूर रहा। त्रिकोटि परिशुद्ध मांस का भक्षण भी विहित नही माना जा सकता।

(९) वौद्ध साहित्य मे मांस भक्षण को कहीं भी विहित नही माना गया। यदि बुद्ध ने उसे कभी विहित माना होता तो आज उसका निषेध नहीं करता। मास भक्षण किसी भी परिस्थिति में स्वीकार नही किया जा सकता। धर्म-पालन के लिए मास-भक्षण का परित्याग करना नितान्त आवश्यक है। बुद्ध ने अपने जीवनकाल में मांस भक्षण किया, यह कहना गलत है। ऐसा कहने वाले को कर्मवन्ध होगा। मैने (बुद्ध ने) धर्म का भोजन माना, मांस का भोजन नहीं।

'लंकावतार' के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि बौद्ध समाज में भी अहिंसा के सही मूल्यांकन करने की ओर ध्यान आकर्षित हुआ और मास भक्षण के प्रति असन्तोष की भावना जाग्रत हुई। इसका रचना काल लगभग पांचवी शती माना जा सकता है। इसके बाद का साहित्य भी 'लंकावतार' से प्रभावित रहा है। आचार्य शातिदेव ने स्पष्ट लिखा है—एवं तावत् सतत भैषज्येनात्म भावरक्षा कार्या। तत्रापि न मत्स्यमांसेन, लंकावतार सूत्रे प्रतिषिद्धत्वात्। तथाह्यूक्तम्—मास सर्वमभक्ष्यं कृपात्मनो बोधिसत्वस्येति वदामि।......... .....रत्नमेघ मे भी निरामिष होने की बात कही गई है। यहाँ त्रिकोटिपरिशुद्ध की भी बात कही है पर गृद्धता पनपने के कारण उससे भी दूर रहने का आदेश दिया है।[1] इसी को उन्होने बोधिचर्यावतार के ध्यान-पारमिता मे भी प्रस्तुत किया है।

अहिंसा का फलित क्षेत्र पारमिता प्राप्ति है। दान, शील, क्षांति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा पारमिताएँ पूर्वापेक्षया श्रेष्ठ है।[2] शील पारमिता की प्राप्ति प्राणातियात विरमण से ही होती है (बोधि. ५.११)। शिक्षा समुच्चय में प्राणातिपातादि अकुशल कर्मो का विस्तार से फल भी बताया है (पृ. ४३–४५)। बोधिचित्त की प्राप्ति का मूल कारण अहिंसा भावना है (बोधि. ३.१–३३)। अनर्थ वर्जन भी उसी का अंग है (वही ५.४६)। मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय की पाच मूलापत्तियो मे ग्राम, नगर, राष्ट्र भेद करना भी अन्यतम है जो राष्ट्रीयता से ओतप्रोत है (शिक्षा. पृ. ३५–३८)। अशोक ने अहिंसा को धर्म-मगल कहा (शिलाप्रज्ञापन ९)। क्षेमेन्द्र ने इसी को सर्वोत्तम गुण माना है।[3] इसी का विकास समचित्तता मे हुआ है।

बौद्ध धर्म ने वैचारिक अहिंसा पर भी चिंतन किया है। वहाँ तत्त्व का विचार दो दृष्टियों से किया गया है—परमार्थ और प्रज्ञप्त्यर्थ। परमार्थ तत्त्व को अविपरीत तथा मूल स्वभाव माना है और प्रज्ञप्त्यर्थ वस्तु का व्यावहारिक स्वरूप है। इन्ही को क्रमश पारमार्थिक और सांवृतिक भी कहा गया है।[4] प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति इन्ही दो सत्यों की दृष्टि पर आधारित है (बोधिचर्यावतार)। इन सत्यों की तुलना जैनदर्शन के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो से की जा सकती है।

अनेकान्तवाद के समान भगवान बुद्ध ने प्रश्नों के समाधान के लिए विभज्यवाद को एक सशक्त माध्यम बनाया। उन्होने एकशवाद को मिथ्याप्रतिपत्ति और विभज्यवाद को सम्यक् प्रतिपत्ति के रूप मे स्वीकार किया है। पदार्थ के सम्यक् विवेचन के लिए उन्होने विभज्यवाद का प्रयोग किया। उसके अतिरिक्त वे एकस, अनेकस, पटिपुच्छा, ठापनीय आदि विधियो से भी इस प्रकार के

१ शिक्षासमुच्चय, पृ ७३–७४

२ बोधिचर्यावतार, पृ ५ ९०

३ बोधिसत्वावदानकल्पलता, कलकत्ता, १८८८, ।। ८४१–४.

४ अभिव्म्मत्थसंगहो, १ २.

विवादग्रस्त प्रश्नों का समाधान किया करते थे। चतुष्कोटि के साथ ही सांवृतिक और पारमार्थिक सत्यों का भी आधार लिया गया है। बुद्ध के विभज्यवाद को हम निम्नलिखित विकासात्मक अवस्थाओं में देख सकते हैं—

(१) अव्याकृततावाद, (२) एकसिक-अनेकंसिकवाद,
(३) व्याकरणीय प्रकार, (४) चतुष्कोटिक विधा,
(५) सत्य प्रकार, (६) मध्यमप्रतिपदा।

उत्तरकालीन तान्त्रिक परम्परा मे वज्रयान ने अहिंसा के एक अन्य रूप का विकास किया जिसमे वह अपने उच्चादर्श से पतित होता गया। पंच मकारों के प्रयोग ने स्थिति को और भयावह बना दिया। दशकुमारचरित, मालविकाग्निमित्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छासूत्र, मृच्छकटिक, महायानसूत्रालंकार, हेवज्रतन्त्र टीका आदि ग्रंथो में अहिंसा की विकृत अवस्था को देखा जा सकता है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में अहिंसा पर विभिन्न समयों मे विचार होता रहा है जो उसकी विकास-प्रक्रिया को द्योतित करते है। आचार और विचार के क्षेत्र में अहिंसा की अभिव्यक्ति उसके स्तरों मे अन्वेषणीय है। बौद्धकला भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रही। वज्रयानिक देवी-देवताओ की कल्पना मे ये स्तर दिखाई देते ही है।

• अध्यक्ष, प्राकृत एवं पालि विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपु

घाव और कीड़े

• श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन

अतीत में एक बहुत बडे मुसलिम संत हो गये है। नाम था उनका हजरत अयूव, पर-दुःख-कातर हजरत अयूब दया, करुणा और सवेदना के धनी थे। समभाव से अपनी पीडा पी लेने की तो उनमे क्षमता थी पर पर-पीड़ा उन्हें उद्वेलित व अभिभूत कर देती थी।

वृद्धावस्था में वे वीमार पड गये। चलना-फिरना दुश्वार हो गया। पलंग पर पड़े रहने से शरीर में घाव हो गये और घावों में कीडे भी पड गये पर उन्होंने कभी आह नही की, उफ नही किया और न कभी किसी ने उनको इतनी असह्य पीड़ा होते हुए भी पेशानी पर पीड़ा या परेशानी की कोई सिलवट देखी। एक दिन उनके घाव से कीडे खिर कर भूमि पर पड़ रहे थे। एक व्यक्ति ने यह सव कुछ देखा तो उसने द्रवित हो उनके शरीर से कीड़ों को निकाल देने का प्रस्ताव किया पर हजरत अयूब ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया, उल्टे भूमि पर पड़े कीड़ों को उठाकर अपने घावों में डाल दिये। वह व्यक्ति हतप्रभ हो हजरत से ऐसा करने का कारण पूछ वैठा तो हजरत ने हौले से कहा— "भाई ! इन कीडों की खुराक मेरे घावों में ही है। इनसे वाहर जाते ही ये मर जावेंगे। हम किसी निर्जीव में प्राण नही डाल सकते तो किसी जीव के प्राण लेने का हमे क्या अधिकार ?"

संत के इन शब्दों ने उस व्यक्ति को निरुत्तर कर दिया और मन ही मन उन महान् संत को प्रणाम कर वह वहाँ से चल दिया। • एडवोकेट, भवानीमंडी

'महाभारत' में अहिंसा-विचार

□ प्रा० अरुण जोषी

महर्षि व्यास, वैशपायन और सौति के योगदान से भारत भूमि पर जिस ग्रंथ का प्रादुर्भाव हुआ उसको हम 'महाभारत' नाम से पहचानते है। 'जय' से 'भारत' और तत्पश्चात् 'महाभारत' के नाम से विख्यात यह ग्रंथ भारतीय संस्कृति का प्रवर्धक, संवर्धक एवं संरक्षक ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ विशाल ज्ञान का भण्डार है अतएव कहा जाता है कि 'यद् इह अस्ति तत् सर्वत्र, यह इह नास्ति न तत्क्वचित्।' अर्थात् जो इसमें है वह सर्वत्र है और जो इसमें नही है वह कही भी नही है। इस ग्रंथ में लगभग एक लाख पद्य सम्मिलित है, अतएव महाभारत को 'सतसाहस्री संहिता' कहते है। इस ग्रंथ में अनेकविध अर्थ, अनेकविध कथाएँ, षड्दर्शन एव धर्म की चर्चा हमें मिलती है। 'बृहद्धर्म पुराण' पूर्व खण्ड ३०/३२ में कहा गया है—

भारते विविधा अर्था, भारते विविधा कथाः।
भारते षड्दर्शनानि, भारते धर्मसंचयाः॥

इसी तरह अन्य अनेक पुराणों में 'महाभारत' की महिमा का वर्णन हमें मिलता है। महाकवि कालिदास जैसे अनेक कवियों के लिए यह ग्रंथ उपजीव्य रहा है। 'भगवद् गीता' जैसा ग्रथरत्न भी इसी ग्रंथ की देन है। अन्य अनेक उपदेशरत्न की भी यह ग्रंथ खान है। 'महाभारत' के अन्त में भयानक युद्ध का वर्णन है किन्तु इस ग्रथ में जगह-जगह पर ऐसा वर्णन आया है कि लगता है मानो कवि हिसा के पक्ष में नहीं है। सर्वप्रथम तो प्रश्न उठेगा कि धर्म क्या है? युधिष्ठर ने भी भीष्म को यही पूछा था—

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मः प्रति विशंकिताः।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मः जन्मे ब्रूहि पितामह॥

(शांतिपर्व, अध्याय २५९, श्लोक १)

अर्थात् हे पितामह! ये सर्व मानव धर्म प्रति सर्व कुछ जानते नही है अतः आप बताइये कि धर्म का स्वरूप क्या है, उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई?

इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा है कि आचार ही धर्म का मुख्य आधार है। सत्य बोलना धर्म है। चोरी न करना धर्म है। दान देना धर्म है। हिसा न करना धर्म है। विद्वान कहते है कि जो कर्म सबको प्रीतिकर होता है और अहिंसा से युक्त होता है वह वस्तुतः धर्मरूप है। जो पुरुष जीवित रहने की

विवादग्रस्त प्रश्नों का समाधान किया करते थे। चतुष्कोटि के साथ ही सांवृतिक और पारमार्थिक सत्यो का भी आधार लिया गया है। बुद्ध के विभज्यवाद को हम निम्नलिखित विकासात्मक अवस्थाओं में देख सकते हैं—

(१) अव्याकृततावाद, (२) एकंसिक-अनेकसिकवाद,
(३) व्याकरणीय प्रकार, (४) चतुष्कोटिक विधा,
(५) सत्य प्रकार, (६) मध्यमप्रतिपदा।

उत्तरकालीन तान्त्रिक परम्परा मे वज्रयान ने अहिसा के एक अन्य रूप का विकास किया जिसमें वह अपने उच्चादर्श से पतित होता गया। पंच मकारों के प्रयोग ने स्थिति को और भयावह बना दिया। दशकुमारचरित, मालविकाग्निमित्र, राष्ट्रपालपरिपृच्छासूत्र, मृच्छकटिक, महायानसूत्रालंकार, हेवज्रतन्त्र टीका आदि ग्रंथों में अहिंसा की विकृत अवस्था को देखा जा सकता है।

इस प्रकार बौद्ध धर्म में अहिंसा पर विभिन्न समयों मे विचार होता रहा है जो उसकी विकास-प्रक्रिया को द्योतित करते है। आचार और विचार के क्षेत्र में अहिंसा की अभिव्यक्ति उसके स्तरों में अन्वेषणीय है। बौद्धकला भी इससे प्रभावित हुए बिना नही रही। वज्रयानिक देवी-देवताओं की कल्पना मे ये स्तर दिखाई देते ही है।

• अध्यक्ष, प्राकृत एवं पालि विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागरपु

घाव और कीड़े

• श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन

अतीत में एक बहुत बडे मुसलिम सत हो गये है। नाम था उनका हजरत अयूव, पर-दुःख-कातर हजरत अयूब दया, करुणा और सवेदना के धनी थे। समभाव से अपनी पीडा पी लेने की तो उनमें क्षमता थी पर पर-पीड़ा उन्हे उद्वेलित व अभिभूत कर देती थी।

वृद्धावस्था मे वे बीमार पड गये। चलना-फिरना दुश्वार हो गया। पलंग पर पडे रहने से शरीर में घाव हो गये और घावों में कीड़े भी पड गये पर उन्होंने कभी आह नही की, उफ नही किया और न कभी किसी ने उनको इतनी असह्य पीडा होते हुए भी पेशानी पर पीड़ा या परेशानी की कोई सिलवट देखी। एक दिन उनके घाव से कीड़े खिर कर भूमि पर पड़ रहे थे। एक व्यक्ति ने यह सब कुछ देखा तो उसने द्रवित हो उनके शरीर से कीडो को निकाल देने का प्रस्ताव किया पर हजरत अयूव ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया, उल्टे भूमि पर पड़े कीड़ों को उठाकर अपने घावों में डाल दिये। वह व्यक्ति हतप्रभ हो हजरत से ऐसा करने का कारण पूछ वैठा तो हजरत ने हौले से कहा—"भाई! इन कीडो की खुराक मेरे घावो में ही है। इनसे बाहर जाते ही ये मर जावेंगे। हम किसी निर्जीव मे प्राण नही डाल सकते तो किसी जीव के प्राण लेने का हमें क्या अधिकार?"

संत के इन शब्दों ने उस व्यक्ति को निरुत्तर कर दिया और मन ही मन उस महान् संत को प्रणाम कर वह वहाँ से चल दिया। • एडवोकेट, भवानीमंडी

'महाभारत' में अहिंसा-विचार

□ प्रा० अरुण जोषी

महर्षि व्यास, वैशपायन और सौति के योगदान से भारत भूमि पर जिस ग्रंथ का प्रादुर्भाव हुआ उसको हम 'महाभारत' नाम से पहचानते है। 'जय' से 'भारत' और तत्पश्चात् 'महाभारत' के नाम से विख्यात यह ग्रंथ भारतीय सस्कृति का प्रवर्धक, संवर्धक एवं संरक्षक ग्रंथ माना जाता है। यह ग्रंथ विशाल ज्ञान का भण्डार है अतएव कहा जाता है कि 'यद् इह अस्ति तत् सर्वत्र, यह इह नास्ति न तत्क्वचित्।' अर्थात् जो इसमे है वह सर्वत्र है और जो इसमें नही है वह कही भी नही है। इस ग्रंथ में लगभग एक लाख पद्य सम्मिलित है, अतएव महाभारत को 'सतसाहस्री संहिता' कहते है। इस ग्रंथ में अनेकविध अर्थ, अनेकविध कथाएँ, षड्दर्शन एवं धर्म की चर्चा हमें मिलती है। 'वृहद्धर्म पुराण' पूर्व खण्ड ३०/३२ में कहा गया है—

भारते विविधा अर्था, भारते विविधा कथाः।
भारते षड्दर्शनानि, भारते धर्मसंचयाः॥

इसी तरह अन्य अनेक पुराणों में 'महाभारत' की महिमा का वर्णन हमें मिलता है। महाकवि कालिदास जैसे अनेक कवियों के लिए यह ग्रंथ उपजीव्य रहा है। 'भगवद् गीता' जैसा ग्रंथरत्न भी इसी ग्रंथ की देन है। अन्य अनेक उपदेशरत्न की भी यह ग्रंथ खान है। 'महाभारत' के अन्त में भयानक युद्ध का वर्णन है किन्तु इस ग्रंथ में जगह-जगह पर ऐसा वर्णन आया है कि लगता है मानों कवि हिसा के पक्ष में नही है। सर्वप्रथम तो प्रश्न उठेगा कि धर्म क्या है? युधिष्ठर ने भी भीष्म को यही पूछा था—

इमे वै मानवाः सर्वे धर्मः प्रति विशंकिताः।
कोऽयं धर्मः कुतो धर्मः जन्मे ब्रूहि पितामह॥

(शांतिपर्व, अध्याय २५९, श्लोक १)

अर्थात् हे पितामह! ये सर्व मानव धर्म प्रति सर्व कुछ जानते नही है अतः आप बताइये कि धर्म का स्वरूप क्या है, उसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई?

इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म ने कहा है कि आचार ही धर्म का मुख्य आधार है। सत्य बोलना धर्म है। चोरी न करना धर्म है। दान देना धर्म है। हिसा न करना धर्म है। विद्वान कहते है कि जो कर्म सबको प्रीतिकर होता है और अहिंसा से युक्त होता है वह वस्तुतः धर्मरूप है। जो पुरुष जीवित रहने क

इच्छा रखता है वह अन्य का घात करने के लिए क्यो उद्यत हो ? इस तरह करीब ३० श्लोको मे धर्म का स्वरूप दिखाया गया है। इससे पता चलता है कि अहिंसामय आचरण धर्म है किन्तु अहिंसा को परम धर्म माना गया है क्योंकि सत्य, चोरी आदि की अपेक्षा अहिंसा तो जीवित रहने में अधिक उपयोगी होती है। अतएव कहा गया है –

जीवितं य. स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्।
यद्यदात्मनि चेच्छेत्, तत्परस्यापि चिन्तयेत्॥

(शांति पर्व, २५९.२२)

इस पद्य से अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट होता है। युधिष्ठर और भीष्म के बीच जो वार्तालाप होता है उसमे अहिंसा को सकल धर्म भी माना गया है। अहिंसा को हितकारक धर्म भी माना गया है। 'महाभारत' मे ऐसा भी कहा गया है कि **यः स्यात् अहिंसा संयुक्तः स धर्मः इति निश्चयः।** अर्थात् जो अहिंसायुक्त है वही धर्म है, ऐसा निश्चित है।

अहिसा का इतना गुणगान गाया गया है अतः प्रश्न उठेगा कि प्राचीन काल में यज्ञ भी होते थे और उसमें पशु-हिसा भी होती थी। अहिंसा को धर्म मानते थे और हिसा करके यज्ञयाग भी करते थे। इस शका का उन्मूलन 'शांतिपर्व' के अध्याय ३३७ से होता है। इस अध्याय के प्रारम्भ में एक सवाद जो ऋषियों और देवो के बीच होता है, वह इस प्रकार है—

अजेन यष्टव्यम् इति, प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो, नान्यः पशुरिनि स्थितिः॥

ऋपयः ऊचुः—

बीजैः यज्ञेषु यष्टव्यमिनि वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि च्छाग ना हन्तुमहर्थ।
नैष धर्मः सतां देवा, येत्र बध्यते वै पशु॥

(शांतिपर्व, ३३७ : ३–५)

अर्थात् पूर्वकाल में देवो ने ब्राह्मणो को कहा कि अज का वध करके यज्ञ करना, और अज का अर्थ 'वकरा' होता है यह वात ग्रहण करना। अन्य पशु का ग्रहण नहीं करना, ऐसा वेद में लिखा है। तब ऋपियो ने कहा कि यज्ञो मे अज अर्थात् वीज का ही उपयोग करना, ऐसा वेद मे कथन है। अज का पर्याय वीज ही होता है अत. यज्ञार्थ वकरे का वध करना उचिन नही है। हे देवगण, यज्ञ मे पशु का वध करना सत्पुरुपो का धर्म नही है। सर्व प्राणी के भीतर प्रभु का निवास है और प्रभु का वास पृथ्वी में, वायु में, अग्नि में और जल मे भी है अनः हिसा करने से प्रभु की हिंसा का प्रसग उपस्थित होता है, यह वात इस तरह कही गई है—

पृथिव्यामप्यहं पार्थ ! वायावग्नौ लेऽप्यहलेम् ।
वनस्पतिगतश्चाहं, सर्वभूतगतोऽप्यहम् ।।

(भगवद्गीता ११.३४)

अर्थात् श्री कृष्ण अर्जुन को जो कहते है उससे स्पष्ट होता है कि उस काल में अहिसा के बारे मे सूक्ष्मता का विचार किया जाता था। प्रभु को अहिसक व्यक्ति प्रिय था और प्रभु उसको सुरक्षित रखता है, ऐसा वचन निम्न पद्य मे है—

यो मां सर्वगतं ज्ञात्वा, न च हिंसेत् कदाचन ।
तस्थाहं न प्रणश्यामि, न च मां स प्रणश्यति ।।

(भगवद्गीता ४ २७)

अर्थात् जो मानव मुझको सर्वत्र व्याप्त मानकर कदापि किसी की हिसा नही करता है उसका मैं नाश नही करता हूँ क्योकि वह मेरा नाश नही करता है।

जिस ग्रथ में अहिसा के बारे मे इतना सूक्ष्म विवरण मिलता है उसमे मांसभक्षण का निषेध भी किया गया है, यह बात सर्वथा समुचित है।

'अनुशासन पर्व' के ११५वें अध्याय में युधिष्ठिर और भीष्म के बीच जो वार्तालाप होता है उससे फलित होता है कि जो हिसा का त्याग करता है वह रूप, आयुष्य, बुद्धि, सत्य, बल, स्मरण-शक्ति और अहीनअंगता प्राप्त करता है। जो व्यक्ति मद्य और मांस का सर्वथा त्याग करता है उसकी प्रशसा सर्जषि आदि ऋषिगण करते है। जो व्यक्ति मास का भक्षण नही करता है और अन्य के द्वारा हिसा नही करवाता है वह प्राणियो का मित्र बनता है। ऐसा स्वयभू मनु का वचन है। मांस भक्षण त्यागने वालो का कभी पराभव नहीं होता है और सज्जनो मे वह मान्य होता है। मदिरा और मास का त्याग करके मानव दान, यज्ञ और तपश्चर्या का फल प्राप्त कर सकता है। जो विद्वान प्राणीमात्र को अभय दान देता है वह प्राणदाता कहलाता है। मांस भक्षण का त्याग धर्म, स्वर्ग और सुख प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है। कहा भी है—

अहिंसा परमो यज्ञ-स्तथाऽहिंसा परमं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रम्, अहिंसा परमं सुखम् ।।

(शांतिपर्व ११५ ३७)

'उद्योग पर्व' में विदुर और धृतराष्ट्र के बीच जो वार्तालाप होता है, उसमे भी विदुर के मुख से हमे मालूम होता है कि जीव एक नदी है, पुण्य एक घाट है, ब्रह्म उत्पत्ति स्थान है, धैर्य किनारा है और अहिसा की जननी दया उस नदी मे तरग है।

इस तरह स्थान-स्थान पर अहिसा को परम धर्म माना गया है फिर भी 'महाभारत' मे महाभयानक हिसा से प्रेरित युद्ध भी हुआ था। ऐसा क्यो हुआ ?

'उद्योग पर्व' से हम जानते है कि आगामी युद्ध अवश्यंभावी न हो, इसलिये विदुर का प्रयत्न निष्फल रहा। श्री कृष्ण ने भी हिंसा को रोकने के लिये यथाशक्ति प्रयत्न किया। दुर्योधन की राजसभा मे प्रविष्ट होकर उन्होंने कहा कि मैं धीर पुरुषों का संहार न हो, इसलिये उपदेश देने के हेतु यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। मै आपके हित के लिए आया हूँ। कुरु वंश की विशिष्टता रही है कि उस वश में जन्म लेने वाले सरलता, आनृशस्य, क्षमा और सत्य में सबसे अधिक है। इस वश में जन्म लेने वाले दया के विरुद्ध वर्तन करे तो अनुचित होगा। पांडव तो मात्र पांच गॉव से भी सन्तुष्ट होंगे। यदि आप उपदेश से प्रतिकूल आचरण करेंगे तो समग्र पृथ्वी का नाश होगा। युद्ध से तो भयानक विनाश होगा। इस तरह श्रीकृष्ण ने हिंसा रोकने के लिए भरसक प्रयत्न किया, फिर भी उसका कोई परिणाम निकला नही क्योंकि—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानामि अधर्मं न च मे निवृत्तिः।

अर्थात् दुर्योधन धर्म का स्वरूप मात्र जानता था उसका आचरण करने में असमर्थ था। यदि वह अधर्म से निवृत्त हो गया होता तो भीषण युद्ध की नौबत ही न आती।

'महाभारत' के अन्त में भीषण संग्राम हुआ तथापि 'महाभारत' का मुख्य रस वीर कदापि नही है। मुख्य रस शान्त रस है। 'ध्वन्यालोक' (चतुर्थ उद्योत) में आनन्दवर्धन ने स्पस्ट प्रतिपादन किया है कि **सत्यं शान्तस्य एव रसस्य अंगित्वं महाभारते।'** क्योकि इस महाकाव्य मे अहिंसा आदि धर्म का प्रचार स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है।

'महाभारत' के शांतिपर्व मे अहिसा का फल भी दर्शाया गया है—

सर्वजीवदयार्थ, तु च न हिंससि प्राणिनः।
निश्चितं धर्म संयुक्ता, से नराः स्वर्गगामिः ॥

अर्थात् जो सर्व जीव की दया के हेतु प्राणियों की हिंसा नही करते हैं वे मानव धर्मयुक्त और पुण्यशाली वनकर स्वर्ग में स्थान प्राप्त करते है।

अन्य ग्रन्थों में भी अहिंसा के वारे में उत्कृष्ट विचार मिलते है। 'इतिहास समुच्चय' अध्याय २६ श्लोक १६७ मे कहा गया है कि—

नास्ति अहिंसा परं पुण्यं, नास्त्यहिंसापरं सुखम्।
नास्त्यहिंसापरं ज्ञानं, नास्त्यहिंसापर दमः ॥

अर्थात् अहिसा से उत्तम कोई पुण्य नही है। अहिंसा से उत्तम कोई सुख, ज्ञान और अन्य उत्तम इन्द्रिय-दमन भी नही है।

पुण्यवर्धन नृत्य कथा पत्रांक ८ श्लोक २०४ में कहा गया है कि—

लक्ष्मीः पाणितले तस्य, स्वर्गस्तस्य गृहाङ्गणे।
कुरुते यो जनः सर्वजीवरक्षां सदा आदरान् ॥

अर्थात् जो मानव सदा आदरपूर्वक सर्व प्राणियों की रक्षा करता है, उसके हाथ में लक्ष्मी का वास है और उसके घर के आंगन में स्वर्ग है।

'पद्मपुराण' मे भी कहा गया है कि—

अहिंसा परमो धर्मः हि, अहिंसा एव परं तपः ।।
अहिंसा परमं दानम्, इत्याहु मुनयः सदाः ।।

(अ. ३१, श्लोक २७)

अर्थात् अहिसा उत्तम धर्म है, वह ही उत्तम तप है, वह ही उत्तम दान है, यह मुनियो का कथन है।

श्री हेमचन्द्राचार्य विरचित 'योगशास्त्र' (२.२०) में कहा गया है कि—

आत्मवत् सर्वभूतेषु, सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।
चिन्तयन्नात्मनोऽनिष्टां हिंसामन्यस्थ नाचरेत् ।।

अर्थात् अपनी तरह सब प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है। इस तरह विचार रखते हुए बुद्धिमान को अपने को जो प्रिय नही है, ऐसी हिंसा का अन्य के प्रति आचरण न करना चाहिए।

हमारी सस्कृति के 'महाभारत' आदि कई संरक्षक ग्रंथ हैं उनमें वैरभाव मिटाने वाली अहिंसा का पद-पद पर उपदेश दिया गया है। पाच महाव्रतो में भी अहिंसा को स्थान मिला है। जैनधर्म मे सूक्ष्मता से अहिंसा का विचार किया गया है और साधु एवं गृहस्थ के लिये अहिंसा का पालन आवश्यक है, ऐसा कह कर गुप्ति और समितियों का पालन करने का भी उपदेश दिया गया है।

साम्प्रत काल में भी अहिंसा का आचरण ही हमारे लिये कल्याणकारक होगा। यदि हम अहिंसा का अनादर करेंगे और हिंसा में प्रवृत्त होगे तो हमने जो कुछ सिद्ध किया है उस सब का सर्वनाश हो जायेगा। हम सबमे और हमारे शासक वर्ग में सुमति का प्रसार होगा तो हमें शाति, समृद्धि और सुख मिलेगा। हम चाहते है कि हे प्रभु ! जगत् में कभी भी युद्ध न हो और सब हिलमिल कर रहें।

पुष्प्र सोसायटी, हील-ड्राइव, भावनगर (गुजरात)

जो जन अहिंसा-धर्म का पालन करेगा रीति से,
संसार सब गिर जायगा उसके पगों पर प्रीति से।
अति क्रूर भी उसके लिए अतिशय सरल हो जायगा,
उसके लिए मीठी सुधा के सम गरल हो जायगा।

जो व्यक्ति विधिवत् अहिंसा धर्म का पालन करेगा, सारा संसार उसके चरणों में नतमस्तक हो जायगा। बहुत ही निष्ठुर मनुष्य भी उसके लिए अत्यन्त सरल हो जायगा और विष उसके लिए अमृत हो जायगा।

—रामचरित

विभिन्न धर्मों में अहिंसा का स्वरूप

⊡ डॉ० मंजुला बम्ब

विश्व के जितने भी धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय है, उन सभी में अहिंसा के सम्बन्ध मे चिन्तन किया गया है। चाहे वैदिक धर्म हो, बौद्ध धर्म हो, यहूदी, पारसी, ताओ, कन्फ्यूशियस, इसाई, इस्लाम, शिन्तो, सिख और जैनधर्म हो— सभी ने अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया है। अहिंसा जीवन का एक सरस संगीत है। उसकी सुमधुर स्वर लहरियाँ जन-जन के जीवन को ही नहीं वरन् सम्पूर्ण प्राणी-जगत को आनन्द विभोर बना देती है। अहिंसा जीवन को सरसब्ज बनाने वाली एक महा सरिता है। जब वह सरिता मन, वचन और काया में इठलाती हुई, कल-कल, छल-छल करती हुई प्रवाहित होती है, तब मानव के जीवन में स्नेह-सद्भावना की हरियाली लहराने लगती है, अनुकम्पा के अंकुर फूटने लगते है, दया के सुरभित सुमन खिलने लगते है और विश्व-मैत्री के मधुर फल जन-जन के मन को परितृप्त करने लगते है। अहिंसा से जीवन रमणीय एवं मधुमय बनता है।

अहिंसा की विमल धारा प्रान्तवाद, भाषावाद, पंथवाद और सम्प्रदाय-वाद के क्षुद्र घेरे मे कभी आबद्ध नही हुई है और न किसी व्यक्ति विशेष की निजी धरोहर ही रही है। वह विश्व का सर्वमान्य सिद्धान्त है, मानवता का उज्ज्वल पृष्ठ है। इसीलिए भगवान महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है—

"एसा सा भगवती"[1]

अहिंसा एक विराट शक्ति है। अनादि काल से मानव अपने जीवन के विविध पक्षों मे उसका प्रयोग करता रहा है। मानव की कठिन से कठिनतम समस्याओ को अहिंसा ने सुलझाया है, उसके मार्ग को प्रशस्त किया है। अहिंसा वह अमोघ शक्ति है, जिसके सम्मुख ससार की सभी सहारक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती है। अहिंसा संस्कृति का प्राण है, धर्म और दर्शन का मूल आधार है। इसीलिए सभी मूर्धन्य मनीषियो ने अहिंसा की महत्ता और उपयोगिता को स्वीकार किया है, और उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

वैदिक धर्म में अहिंसा :

वैदिक परम्परा का आद्य स्रोत वेद है। वेद मन्त्र द्रष्टा ऋषियों की वाणी का अद्भुत संकलन है। ऋषियो ने प्रार्थना के रूप मे अहिंसा शब्द का

---

१. प्रश्न व्याकरण सूत्र १/१

व्यवहार किया है[1]। ऋषि कहता है "हम अभिगमन (संगति) प्राप्त करे। मित्रभूत या मित्र के द्वारा दिखाये हुए मार्ग से हम गमन करे। अहिंसक मित्र का प्रिय सुख हमे घर मे प्राप्त हो।[2]

अहिंसा अत्यन्त हितकारी है। वह सभी के साथ मैत्री सम्बन्ध सस्थापित करती है, आत्म-साम्य की विराट दृष्टि प्रदान करती है। ऋषि कहता है—"हे वरुण! यदि हम लोगों ने उस व्यक्ति के प्रति अपराध किया है जो हमे प्रेम करता था; यदि उसके प्रति कोई भूल हो गई है जो हमारा मित्र, साथी या पड़ौसी है; या किसी अज्ञात व्यक्ति के प्रति कोई घात किया हो तो हमारे अपराधों को क्षमा करो।[3] मानव के कर्तव्य पर प्रकाश डालते हुए ऋषि ने कहा—वह दूसरों की रक्षा करे।[4]

'यजुर्वेद' का ऋषि प्रार्थना के स्वर मे कहता है—मैं सभी को मित्र के समान देखूँ। परस्पर सभी एक दूसरे को मित्र के समान देखे।[5] शान्ति की भावना को व्यापक बनाते हुए ऋषि कामना करता है—पृथ्वीलोक से लेकर द्यु लोक, वनस्पतियाँ, और जितने भी देवता व ब्रह्म है, वे सभी को शान्ति प्रदान करें। विश्व ही पूर्ण रूप से शान्तिमय हो।[6]

अथर्ववेद में ऋषि कहते है—हम सभी एक साथ इस प्रकार प्रार्थना करे जिससे कि परस्पर सुमति और सद्‌भाव का प्रसार हो।[7] 'भगवन्! आपकी अतीव कृपा से मैं सभी मानवों के प्रति, चाहे मैं उनसे परिचित हूँ अथवा नही, सद्‌भाव रखूँ।[8]

---

१. अहिंसन्ती—ऋग्वेद १०, १२, १३
   अहिंसन्तीरमानया—अथर्ववेद ९, ८, १३

२. यन्नूनमश्या गति मित्रस्य याया पथा।
   अस्य प्रियस्य शर्मण्यहिंसानस्य सश्चिरे ॥ ऋग्वेद ५, ६४, ३

३ अर्यम्य, वरुण, मित्र्य वा सखाय वा सद्‌मिद् भ्रातर वा।
   वेशं वा नित्यं वरुणारुण वा यत् सीमागश्यकृमा शिश्रथस्तत् ॥
   —ऋग्वेद ५, ८५, ७

४ पुमान् पुमासं परियातु विश्वत ऋग्वेद ६, ७५, १४

५. मित्रस्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
   —यजुर्वेद ३६, १८

६ द्यौ शान्तिरन्तरिक्ष शान्तिः पृथ्वी
   शान्तिराप. शान्तिरोषधय. शान्ति'।
   वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवा. शान्ति—ब्रह्म शान्तिः सर्व शान्तिः शान्तिरेव
   शान्तिः सा मा शान्तिरेधि—यजुर्वेद ३६, १७

७ "तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे सज्ञानं पुरुषेभ्यः।"—अथर्ववेद ३, ३०, ४

८ याश्च पश्यामि याश्च न तेपु मा सुमतिं कृधि।"—अथर्ववेद १७, १, ७

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदयुग में ऋषियों की वाणी में अहिंसा की स्वर लहरियाँ झनझना रही है। मानव मात्र तक ही नहीं, उसकी अहिंसा की विराट भावनाएँ सभी प्राणियों के प्रति व्यक्त हुई हैं। मैत्री भावना का विकास उत्तरोत्तर व्यापक होता गया है। अहिंसा और मैत्री ये दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू है।

वेदों के पश्चात् उपनिषद् साहित्य का निर्माण हुआ। वेदों मे जिन विषयो पर विचार-चर्चाएँ नही हो सकी या संक्षेप मे चर्चाएँ हुई उनकी चर्चाएँ और विस्तार उपनिषदों में प्राप्त होते है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में ऋषि ने कहा—"जो आत्मा वेदों का अध्ययन करता है, सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अन्त:करण में स्थापित करता है, शास्त्र की आज्ञा को धारण करता हुआ अन्य प्राणियो की हिंसा नही करता है, आयु की परिसमाप्ति तक इस प्रकार आचरण करता है, वह ब्रह्म लोक को प्राप्त होता है, वह पुन: कभी ससार में नही लौटता।[1]

'प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्'[2] और 'आरुणिकोपनिषद्'[3] में अहिंसा, दया, शांति आदि सद्गुण अग्निहोत्र करने वाले व्यक्ति की पत्नी की कमी की पूर्ति करते है। ये सद्गुण जिस व्यक्ति में अंगड़ाइयाँ ले रहे हो और यदि उसकी पत्नी नही हो तथापि वह यज्ञ कर सकता है। उन्होने अहिंसा को यज्ञ का इष्ट कहा है। अहिंसा व्रत की परिपूर्णता के लिए ही यज्ञ आदि किये जाते है।

इस प्रकार उपनिषदों में भी यत्र-तत्र अहिंसा के स्वर मुखरित हुए हैं। उन्होने अहिंसा को महत्त्व प्रदान किया है। आत्म-दर्शन के लिए अहिंसा को अति आवश्यक अग माना है तथा स्पष्ट कहा है—यदि मन में, वचन में और कर्म में हिंसा की ज्वालाएँ धधकती रहेंगी तो आत्म-दर्शन सम्भव नही है।

उपनिषदों के पश्चात् 'स्मृति' साहित्य आता है। स्मृतियो मे 'मनुस्मृति' का स्थान मूर्धन्य है। 'मनुस्मृति' में हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में विस्तार से विश्लेषण किया गया है। यह पूर्ण सत्य है कि 'मनुस्मृति' वैदिक विधानों पर विस्तार से चिन्तन करती रही है।

---

१. तद्धैतद् ब्रह्मा, प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवेमनु: प्रजाभ्य. आचार्यकुला।
हेदमधीत्य यथाविधानं गुरो: कर्मातिरोणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ
देशे स्वध्यायमधीयानो धर्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्या—
—हिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्य: स खल्वेव। वर्तयन्यावदायुषं
ब्रह्मलोकमाभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त ते।। छान्दो० ८० ८, १५, १

२. स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नी संजाय:। —प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्, खण्ड ४

३ ब्रह्मचर्यमहिंसा चापरिग्रह च सत्य च यत्नेन
हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति।। ३।। —आरुणिकोपनिषद्

'मनु स्मृति' में स्पष्ट कहा गया है—"जो कार्य तुम्हें पसन्द नही है, वह कार्य दूसरों के लिए कभी न करों"।[1] जो किसी भी प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता, उसे बिना प्रयास के ही मनचाहा धर्म उपलब्ध हो सकता है।

वैदिक परम्परा में अश्वमेध यज्ञ का अत्यधिक महत्त्व रहा है। आचार्य मनु ने कहा—"एक व्यक्ति सौ वर्षो तक अश्वमेध यज्ञ करता है, दूसरा व्यक्ति मास नही खाता है। वे दोनो ही समान पुण्य के भागी है।"[2] अहिसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता और इन्द्रिय-निग्रह ये ऐसे धर्म है जो चारो वर्णो के लिए आवश्यक है।[3]

ऐतिहासिक दृष्टि से स्मृति साहित्य के पश्चात् 'सूत्र' साहित्य का स्थान है। सूत्रो में अन्य चर्चाएँ विस्तार के साथ की गइ है किन्तु अहिसा पर विशेष चर्चा नही हुइ है। गौतम ऋषि ने सभी जीवों पर दया करना, सहिष्णुता, अक्रोध, पवित्रता, शांति, अलोभ आदि आठ आत्मिक गुण वताये है, और कहा है कि—जो इन गुणों को धारण करता है वह ब्रह्मा को प्राप्त होता है या उसे स्वर्ग की उपलब्धि होती है।[4]

महाकाव्यों में अहिंसा :

सूत्र साहित्य के पश्चात् काव्य की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में वाल्मीकि रामायण मे मर्यादा पुरुषोत्तम राम का पवित्र चरित्र अकित है। उस चरित्र के माध्यम से उन्होने जीवन के विकास के लिए सद्गुणो का उल्लेख किया है। उन्होने अहिसा, सत्य, आत्मसंयम, दया, सहिष्णुता, क्षमा, आतिथ्य, शत्रुओ की सहायता, मन-वचन-कर्म की शुद्धि आदि पर अत्यधिक वल दिया है।[5] सामाजिक दृष्टि से अहिसा पर चिन्तन करते हुए हुए लिखा है—राजा, स्त्री, वालक, वृद्ध और शरणागत की रक्षा करनी चाहिये। उनका वध करना बहुत वडा पाप है।[6] इस ग्रन्थ मे अहिसा की चर्चा सीधे रूप से न करके पात्रो के गुणो का उत्कीर्तन करते हुए की गई है।

---

१ आत्मन. प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् —मनुस्मृति

२. वर्षे वर्षेऽश्वमेघन यो यजेत शत समा.।
मासानि च न खादेद्यस्तयोः पुण्यफलम् समम् ॥ मनुस्मृति अ. २, १५८

३. अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह ।
एत सामासिक धर्म चतुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः ॥ मनुस्मृति अ० १०, ६३

४ गौतम धर्मसूत्र, ७०, २२–२५

५ वा० रा० २, १०६, ३१, ६, ११३' ४३–४४, ६, १८–२७–२८

६ राजस्त्री वाल वृद्धाना वधे यत्पापमुच्यते ।
मृव्यव्यागे च यत्पाप तत्पाप प्रतिपद्यताम ॥ वा० रा० २, ७५, ३७

रामायण के बाद महाभारत का युग आरम्भ होता है। महाभारत वेदव्यास की अद्भुत कृति है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसका महत्त्व अत्यधिक है। महाभारत में पाडव–कौरवो की कथा के माध्यम से मानव-जीवन की दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का चित्रण हुआ है। यत्र-तत्र अहिंसा का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। अहिंसा की विराट भावना का महत्त्व बताते हुए वेदव्यास ने कहा–धर्म और अर्थ दोनों ही पुरुषार्थो से अहिसा उच्च कोटि की है।

इस प्रकार महाभारत मे अहिसा धर्म का स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। व्यास ने एक स्वर से अहिसा की महत्ता को स्वीकार किया है। उनका यह वज्र आघोष रहा कि अहिसा ही एक मात्र महान् धर्म है।

गीता में अहिंसा :

'श्रीमद्भगवद्गीता' महाभारत के 'भीष्मपर्व' का एक अश है। कुरुक्षेत्र के मैदान मे वीर अर्जुन को–श्रीकृष्ण ने जो उद्बोधन दिया वही प्रेरणादायी सदेश गीता में है। ज्ञान, भक्ति और कर्म–मार्ग का सुन्दर विवेचन इस ग्रन्थ-रत्न मे हुआ है। कर्म-मार्ग का निरूपण करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा—तप के विभिन्न प्रकार है। देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिसा आदि ये शारीरिक तप है। इसके विपरीत हिसायुक्त प्रवृत्ति-तामसी और राजसी प्रवृत्तियाँ है।[1]

श्री कृष्ण का यह दृढ मन्तव्य था कि अहिसा, समता, सन्तोप, दान आदि जितने भी सुकर्म है, वे सभी मेरे से ही उत्पन्न हुए है।

पुराण साहित्य में अहिंसा :

'श्रीमद्भगवद् गीता' के पश्चात् पुराण–साहित्य की गणना की जाती है। पुराण साहित्य मे अहिसा का विवेचन यत्र-तत्र हुआ है। 'वायु पुराण' का मन्तव्य है—मन, वाणी और कर्म से सभी जीवो के प्रति अहिसा का पालन करना चाहिए।[2] 'विष्णु पुराण' में कहा है—हिसा अधर्म की स्त्री है। वह सभी पातकों की जड़ है। उसका पुत्र झूठ और पुत्री निकृति (दुष्कर्म) है, इनसे नरक का भय रहता है, अर्थात् ये तीनो नरक में ले जाने वाले है। 'अग्नि-पुराण' मे भी कहा गया है—अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये पाँचो यम-मुक्ति और भुक्ति दोनो प्रदान करने वाले है।

'मत्स्य-पुराण' का मन्तव्य है कि अहिसा मुनिव्रतो में से एक है। चार वेदो के गम्भीर अध्ययन से या सत्य भाषण से जितना पुण्य होता है उससे कई गुना अधिक पुण्य अहिंसा-व्रत के पालन से होता है। ब्रह्मपुराणकार का

---

१ दिय द्विज गुरु प्राज्ञपूजन शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिमा च शरीरं तप उच्यते—गीता १७, १४, अ० १८ देखिये

२ अहिंसा सर्वभूताना कर्मणामनसा गिरा —वायुपुराण पूर्वार्द्ध अ० १८, १३

अभिमत है—जो मन से भी किसी भी प्राणी की हिंसा नही करता है वह स्वर्ग-गामी होता है। 'नारद-पुराण' मे कहा है—वे ही सत्य वचन है जिनसे किसी का विरोध न हो, किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचे। यही अहिसा का रूप है। इसी अहिंसा की निर्मल भावना से सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण होती है।

'नारदपुराण' में अहिसा की गणना 'यमो' मे सर्व प्रथम की गई है। 'शिवपुराण' में अहिसा को पुण्य कर्म में तथा हिंसा की परिगणना पाप कर्म में की है। जो व्यक्ति पाप कर्मों में रत है वह नरक गामी है। 'बृहद्धर्मपुराण' में श्रद्धा, अतिथि सेवा, सबसे आत्मीयतापूर्ण सद्व्यवहार, आत्मशुद्धि ये सभी अहिसा की पृथक्-पृथक् विधिधाँ है। 'कूर्म पुराण' में भी अहिंसा प्रियवचन अपिशुनता आदि गुणों को चारों वर्णो के लिए उपादेय माना है। 'भगवत पुराण' में महर्षि नारद ने धर्मराज से कहा—धर्म के बीस लक्षण है उनमे अहिसा प्रमुख है।[1]

इस प्रकार पुराण साहित्य मे अहिंसा का वर्णन स्थान-स्थान पर किया गया है। पुराणों में अहिसा को केवल संन्यासी या ब्राह्मण वर्ण तक ही सीमित न रखकर स्पष्ट निर्देश किया गया है कि अहिसा का पालन चारों वर्ण वालों को यथाशक्ति अवश्य करना चाहिए। अहिसा का पालन सभी के लिए आवश्यक है। यह जीवन को निखारने का अपूर्व साधन है।

बौद्धधर्म में अहिसा

बौद्ध धर्म भारत का एक प्रमुख धर्म रहा है। भारत की पवित्र भूमि मे जन्म लेकर विश्व के विविध अचलों मे इस धर्म ने अपना प्रभाव दिखाया। बौद्ध धर्म में अहिसा की प्रधानता रही। इस धर्म के प्रसिद्ध एवं मान्य ग्रन्थों में अहिसा की प्रेरणा दी गई है कि मन, वचन और कर्म से अन्य प्राणियों को कष्ट न दिया जाय। अहिंसा का पथिक न स्वयं किसी को कष्ट देता है, और न अन्य किसी को कष्ट देने के लिये उत्प्रेरित करता है।[2] स्थूल जीवो की ही बात नहीं, वह पेड़-पौधों को भी कष्ट नही पहुँचाता।[3]

भिक्षुओं को उपदेश देते हुए बुद्ध ने तीन प्रकार के शील पर प्रकाश डाला और कहा—आरभिक, मध्यम और महा ये तीन शील है, जो सभी भिक्षुओं

---

१. अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्।
त्रिशल्लक्षणवान्राजन्सर्वात्म येन तुष्यति॥
भागवतपुराण, प्रथम खंड, स्कन्ध ६, अ० ११०, ८–१२

२ धम्मपद, २५, ६–१०

३. विनयपिटक अनु, राहुल साकृत्यायन, पृ. २०६

के लिए आवश्यक है। इन शीलों में अहिसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य तथा नशीले पदार्थो का परित्याग समाविष्ट है। बुद्ध ने मैत्री भावना, करुणा भावना, मुदिता भावना और उपेक्षा भावना पर बल दिया है। इन भावनाओ मे अहिसा की निर्मल विचार लहरियाँ तरंगित हो रही है।

'सयुक्तनिकाय' मे राजा प्रसेनजित से बुद्ध ने कहा—राजन्! अपने मन को सभी दिशाओ मे घुमाओ। तुम्हे अपने से प्यारा अन्य कोई भी प्राणी नही मिलेगा। जैसे तुम्हे अपना जीवन प्रिय है, वैसे ही दूसरो को अपना जीवन प्रिय है अतः कभी भी दूसरो को न सताओ। विश्व के समस्त प्राणियो के साथ असीम मैत्री भावना बढाई जाय। तुम सदा मन मे यही भावना भाओ कि विश्व के सभी प्राणी सुखी हो। जिसके अन्तर्मानस मे प्राणियों के प्रति दया नहीं है, उसे वृपल यानी शूद्र (सही शब्दो मे वृष=धर्म, ल=लोप करने वाला=धर्म का लोप करने वाला, धर्म का पालन न करने वाला) समझना चाहिये। जैसा मै हूँ वैसे ही विश्व के प्राणी है और जैसे वे सभी प्राणी है उसी प्रकार मै भी हूँ। इस प्रकार अपने समान सभी प्राणियो को समझकर न किसी का वध करे न दूसरे से वध कराये। क्योकि मारने वाले को मारने वाला मिलता है और जीतने वाले को जीतने वाला।[1] पहले विश्व मे तीन ही रोग थे—इच्छा, भूख और जरा, किन्तु पशुवध प्रारम्भ होने पर अठानवे नये रोग पैदा हो गये।[2]

बुद्ध ने हिसापरक यज्ञ को अनुचित कहा। जब राजा प्रसेनजित हिसा-परक यज्ञ करने के लिए तत्पर हुए और तथागत बुद्ध को यह वृत्त परिज्ञात हुआ तो उन्होने राजा से कहा—राजन्! यज्ञ मे हिसा करने के फल अच्छे नही होते। यदि तुम्हे यज्ञ करना है, तो ऐसा यज्ञ करो जिसमे भेड, बकरी और गाये न कटती हों। ऐसा यज्ञ ही सुमार्ग पर ले जाने वाला है।

'सुत्त निपात' मे बुद्ध ने कहा—जंगम या स्थावर, दीर्घ या ह्रस्व, अणु या स्थूल, दृष्ट या अदृष्ट, दूरस्थ या निकटस्थ, उत्पन्न या उत्पद्यमान जितने भी प्राणी है वे सभी सुखपूर्वक, रहे। वे किसी के साथ वचना न करे, न किसी का अपमान करे। वे सभी प्राणियो को उसी प्रकार देखे जैसे माता अपने इकलौते पुत्र को देखती है।

बुद्ध का जीवन एक महा कारुणिक जीवन था। दीन-दु खियों को देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता था। उन्होने सामाजिक, राजनैतिक जीवन मे ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जिनमे अहिसात्मक प्रतिकार रहे है। उनके अहिसात्मक प्रतिकार से हजारो प्राणियो के वहते हुए खून रुक गये। बुद्ध ने हिंसा का निपेध कर अहिसा की प्रतिष्ठा की।

---

१ हन्ता लभति हन्तार, जेतार लभते जय ॥ सयुक्तनिकाय १, ३, १५

२ तयो रोगा पुरे आसु, इच्छा–अनसनं जरा।
पसून च समारभा, अट्ठानवुति मागमु ॥ सुत्तनिपात, २, १६, २८

यहूदी धर्म में अहिंसा :

यहूदी धर्म विश्व के प्रमुख धर्मों में से एक है। उसका मन्तव्य है—किसी व्यक्ति के आत्म-सम्मान को चोट न पहुँचाओ। किसी के सामने किसी व्यक्ति को अपमानित न करो। उसका अपमान करना उतना ही महान्-पाप है जितना कि किसी व्यक्ति का खून करना। वह व्यक्ति दुष्ट कहलाएगा जो किसी व्यक्ति को मारने के लिए हाथ उठाता है, शक्ति के अभाव मे भले ही वह न मारे। यदि तुम्हारा कोई शत्रु तुम्हें मारने के लिए तुम्हारे घर आए और यदि वह भूखा-प्यासा है तो तुम्हारा प्रथम् कर्त्तव्य है कि तुम उसे भोजन कराओ और पानी पिलाओ।

बन्धुत्व भाव को विकसित करने के लिए कहा है—बन्धुत्व का प्रेम जाति और धर्म की सीमाओं से ऊपर है। और पडौसी से प्यार करो। उनके प्रति तुम्हारे मन में किसी भी प्रकार की घृणा की भावना न रहे। उनसे ईर्ष्या न करो। उनसे घृणा करना ईश्वर से घृणा करने के समान है। अपने पड़ौसियो के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा तुम अपने प्रति चाहते हो। अपने साथियों की सेवा करना यह एक प्रकार का सुकर्म है, सुकृति है।

यहूदी धर्म ने मानवता पर बल दिया है। मानवता को विकसित करने के लिए ईमानदारी, ब्रह्मचर्य, सत्य, भक्ति प्रभृति सद्‌गुणों पर उनने अधिक बल दिया। दया और प्रेम को उन्होने ईश्वर माना। क्रोध, विलास, अन्याय आदि दुर्गुणो को नष्ट करने की प्रेरणा दी।

पारसी धर्म में अहिंसा :

पारसी धर्म के प्रवर्तक जरथुष्ट्र थे। उनका प्रमुख ग्रन्थ 'अवेस्ता' है। उनके अभिमतानुसार प्रत्येक व्यक्ति के तीन कर्त्तव्य है—

(१) अपने शत्रु को मित्र बनाना।
(२) दानव को मानव बनाना।
(३) अज्ञानी को ज्ञानी बनाना।

यह निर्विवाद सत्य है कि अहिंसा के द्वारा ही शत्रु को स्नेह-सद्‌भावना के आधार पर मित्र बनाया जा सकता है। यदि शत्रु के प्रति मन में दुर्भावनायें होगी, उसके प्रति हिंसापरक व्यवहार होगा तो उसके अन्तर्मानस मे मित्रता की हरियाली नहीं लहराएगी। अहिंसा से ही सद्‌भाव की वृद्धि होगी। सदा-सर्वदा मन में सद्‌विचारो के दीपक प्रकाशित रखो। पारसी धर्म ने दानादि सद्‌गुणो पर अत्यधिक बल दिया है जो अहिंसा का ही विधेयात्मक पक्ष है।

ताओ धर्म में अहिंसा :

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से थे। वे जिस समय पैदा हुये उस समय चीन मे राजनीतिक स्थिति अत्यन्त विषम थी। सामाजिक जनजीवन मे

भ्रष्टाचार पनप रहा था। सामाजिक और राजनैतिक विकृत स्थिति को देखकर लाओत्से ने चीन छोड़ने का निश्चय किया, किन्तु चीनवासियों की प्रेरणा से उन्होंने, अपना विचार स्थगित कर 'ताओ-तेह-किंग' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंने जीवन में सरलता पर अत्यधिक बल दिया। साथ ही उन्होंने इस बात पर भी अधिक बल दिया कि हिंसा से उत्पन्न घाव पर स्नेह का मरहम और दया की पट्टी लगाओ।

ईसाई धर्म में अहिंसा :

ईसाई धर्म के प्रवर्तक महात्मा ईसा थे। वर्तमान युग में विश्व के विविध अंचलों में यह धर्म फैला हुआ है। ईसा ने कहा—तुम अपनी तलवार म्यान में रख लो, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते है वे सभी तलवार से ही नष्ट किए जायेंगे। किसी के साथ भी दुर्व्यवहार न करो। तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारता है तो दूसरा गाल भी उसके सामने कर दो।

'जैसा को तैसा', 'आँख के बदले आँख', 'दाँत के बदले दाँत' और 'सिर के बदले सिर' लेनें के सिद्धान्त से समस्या का सही समाधान नहीं हो सकता। इससे शान्ति प्राप्त नही होती। उस पर तुम स्नेह की वर्षा करो और इस प्रकार की प्रशस्त भावना करो कि उसके विचारों मे परिवर्तन आ जाये।

ईसा ने ईश्वर को प्रेम के रूप में चित्रित किया। वस्तुत: प्रेम ही ईश्वर है, वही अहिसा है। जिसके हृदय में दया का साम्राज्य नही है, उसका ज्ञान शुष्क ज्ञान है। ईसा ने प्रेम, करुणा, सेवा आदि सद्‌गुणों को जीवन के लिए आवश्यक माना है। इस तरह ईसाई धर्म मे अहिसा की भावनाएँ मानव-सेवा और प्रेम के रूप में विकसित हुई है।

इस्लाम धर्म में अहिंसा :

इस्लाम धर्म का मुख्य केन्द्र अरब रहा है। इस धर्म का मन्तव्य है कि खुदा सारे जगत का पिता है और जगत में जितने भी प्राणी है; वे सभी खुदा के ही वन्दे और पुत्र है। 'कुरान शरीफ' के प्रारम्भ में अलला ताला का विशेपण "विस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम" है जिसका अर्थ है—खुदा दयामय है। खुदा के मन के कण-कण मे दया का निवास है।

मुहम्मद साहव के उत्तराधिकारी हजरत अली ने मानवों को सम्बोधित कर उपदेश देते हुए कहा—हे मानव तू! पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट मे मत वना। अर्थात् तू मांस का भक्षण न कर।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म मे भी अहिसा को प्रधानता दी गई तथा मदिरापान, ईर्ष्या, लालच, असत्य, कृपणता, अभिमान, हिंसा, युद्ध आदि को त्याज्य वताया है। ये जीवन को विकृत करने वाले दुर्गुण है। 'कुरान शरीफ' मे जहाँ-तहाँ भ्रातृत्व, दान, क्षमा, मैत्री, दया, प्रेम, कृपा,

संयम आदि सद्गुणों के ग्रहण करने पर बल दिया गया है। ये सद्गुण जीवन को विकसित करते है। इन सद्गुणों को धारण करने से जीवन में अहिंसा का पवित्र आचरण करने की भव्य भावना लहराने लगती है। इससे स्पष्ट है कि इस्लाम धर्म में भी अहिंसा की भावनाएँ विकसित होती रही है।

सूफी सम्प्रदाय में अहिंसा :

इस्लाम धर्म के अन्तर्गत ही सूफी सम्प्रदाय भी विकसित हुआ। सूफियों का मानना है कि मुहम्मद साहब को दो प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हुए थे। एक ज्ञान को तो उन्होंने कुरान के द्वारा व्यक्त किया और दूसरा ज्ञान उन्होने अपने हृदय में धारण किया। कुरान का ज्ञान विश्व के सभी व्यक्तियो के लिए प्रसारित किया गया जिससे वे सद्ज्ञान के द्वारा अपने जीवन को पावन बनावे। पर दूसरा ज्ञान उन्होंने कुछ प्रमुख शिष्यो को ही प्रदान किया। वह ज्ञान अत्यन्त रहस्यमय था। वह रहस्यमय ज्ञान ही सूफी कहलाया है। किताबी ज्ञान जो कुरान का ज्ञान था वह 'इल्म–ई–साफिनं' और हार्दिक ज्ञान "इल्म–ई–सिन" कहलाया।

सूफी दर्शन का रहस्य है—परमात्मा सम्बन्धी सत्य का परिज्ञान करना। परमात्म–तत्त्व की उपलब्धि के लिए सांसारिक वस्तुओ का परित्याग करना। सूफी सम्प्रदाय में प्रेम के आधिक्य पर वल दिया गया है। वे परमात्मा को प्रियतम मानकर सांसारिक प्रेम के माध्यम से प्रियतम के सन्निकट पहुँचना चाहते है। मानवीय प्रेम ही आध्यात्मिक प्रेम का साधन है, प्रेम परमात्मा का सार है। ईश्वर की अर्चना करने का प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्कृष्ट रूप है।

शिन्तो धर्म में अहिंसा :

यह जापान का मुख्य धर्म है। जापान में शिन्तो धर्म का जब प्रादुर्भाव हुआ उस समय तक अन्य धर्म का आगमन नहीं हुआ था। 'शिन्तो' वस्तुत: चीनी शब्द है जिसका जापानी नाम 'कामी नो मीची' है जिसका तात्पर्य है 'श्रेष्ठ जन तक ले जाने वाला मार्ग।'

शिन्तो धर्म के मुख्य सिद्धान्तों में पितृजन के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित की गयी है। उनका मन्तव्य है—अपने पितृजन के प्रति अपनी कृतज्ञता को न भूलो, यह भी न भूलो कि संसार एक परिवार है। दूसरों के क्रुद्ध हो जाने पर भी तुम स्वय क्रुद्ध न वनो। कार्य करने में आलस्य न करो। देवों के उदार सद्गुणो को विस्मृत न करो। इस प्रकार इस धर्म मे "वसुधैव कुटुम्बकम्" की निर्मल भावना के रूप में अहिंसा का प्रतिपादन हुआ है।

सिख-धर्म में अहिंसा :

सिख धर्म का उद्भव भारत में हुआ। भारत के प्राचीन धर्म से अनेक विशेषताएँ ग्रहण कर गुरु नानक ने नवीन धर्म की संस्

सिक्ख धर्म में कर्म मार्ग, योग मार्ग, ज्ञान-मार्ग और भक्ति मार्ग इन चार मार्गो का प्रतिपादन किया गया है।

अहिंसा के सिद्धान्त को महत्त्व देते हुए गुरु नानक ने कहा—जो सबकी भलाई करता है वही महान् है। सभी की भलाई बिना अहिंसा सिद्धान्त को अपनाना सम्भव नहीं है। अहिसा की निर्मल भावना से प्रेम-भाव की वृद्धि होती है। बिना प्रेम के प्रभु प्राप्त नहीं हो सकता।

'गुरुग्रन्थ साहब' में कहा है—रक्त लग जाने से वस्त्र पर दाग लग जाता है, वैसे ही रक्तयुक्त मांस खाने से मन मैला हो जाता है। इसलिए मांस ग्रहण करना दोषपूर्ण है।

सिक्ख धर्म में सात्त्विक भोजन पर बल दिया गया है। सिक्ख धर्म ने अन्याय को सहन करना हिंसा माना है इसलिए उसके प्रतिकार के लिए वे सतत तैयार रहे। उनकी युद्ध की भावना अन्याय के प्रतिकार के लिए थी। वे युद्ध के लिए युद्ध करना नही चाहते थे।

जैन धर्म में अहिंसा :

जैन धर्म मे अहिसा का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। हमने पूर्व पृष्ठो में देखा कि जितने भी धर्म, दर्शन और सम्प्रदाय हैं, उन सभी ने अहिसा पर चिन्तन किया, किन्तु जब हम गहराई से अध्ययन करते है तो सहज ही ज्ञात होता है कि अहिंसा का जैसा सूक्ष्म विश्लेषण जैन साहित्य मे उपलब्ध होता है वैसा अन्य साहित्य में प्राप्त नहीं होता। जैन धर्म के प्रत्येक क्रिया-कलाप में अहिंसा की दिव्य ध्वनि मुखरित हो रही हैं। चाहे चलना हो, चाहे बोलना हो, सभी में अहिंसा का नाद गूज रहा है।[1] अहिंसा केवल धार्मिक व्यवहार में ही नही; जीवन के प्रत्येक व्यवहार में व आचरण में आनी चाहिए। जैन-धर्म का मूल आधार ही अहिंसा है। श्रमण भगवान महावीर ने कहा है—जैसे जीवो का आधार पृथ्वी है वैसे ही भूत और भावी ज्ञानियों के जीवन दर्शन का आधार अहिंसा है।

हिसा कभी भी धर्म नही हो सकती। इस विराट विश्व में जितने भी प्राणी हैं वे चाहे छोटे हों या बड़े हों, पशु हो या मानव हों, सभी की एक ही कामना है और वह है जीवित रहने की। सभी जीवित रहना चाहते है, कोई भी मरना नहीं चाहता। जिस हिसक व्यवहार को तुम अपने लिए पसन्द नही करते, उस व्यवहार को दूसरा किस प्रकार पसन्द करेगा ? जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसन्द करते हैं। यही जिनशासन का सार है। किसी के प्राणो का नाश करना कभी भी धर्म नही हो सकता।

---

१ जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सये।
जय भुजंतो, भासंतो, पावकम्म न बधई ॥ दशवैकालिक सूत्र अ० ४/८

त्रस, स्थावर, सभी प्राणियों का मंगल करने वाली अहिंसा है। शत्रु और मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है। सभी प्राणियों के प्रति आत्म-तुल्य भाव रखो। किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही ज्ञानी होने का सार है। क्योंकि सभी के अन्तर में एक सदृश आत्मा है। जैसे हमे अपने प्राण प्यारे है, वैसे ही सभी को अपने प्राण प्यारे है, ऐसा समझकर भय और वैर से मुक्त होकर किसी-भी प्राणी की हिसा न करो। जो स्वयं हिंसा करता है, दूसरो से करवाता है या करने की प्रेरणा देता है वह अपने लिए वैर ही बढाता है। अतः प्राणियों के प्रति वैसा ही स्नेह भाव रखो जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो। अहिसा का मूल आधार समता है। समता से आत्म-साम्य की निर्मल दृष्टि प्राप्त होती है।

अहिसा को भगवान महावीर ने सभी जीवो के लिए कल्याणप्रद माना। अतः उन्होने कहा—जिसे तू मारना चाहता है वह तेरे समान ही है, जिसे तू आज्ञा देने की इच्छा करता है वह भी तेरे समान ही है, जिसे तू कष्ट देना चाहता है वह भी तेरे ही समान है; अतः तू किसी भी प्राणी को न सता, न मार, न किसी को प्रताड़ना प्रदान कर और न किसी को आकुल-व्याकुल ही कर। हिसा के अभाव का सूचक अहिसा है। अहिसा का अर्थ है हिसा का न होना, हिसा की भावनाओं और हिंसाजन्य क्रियाओ का अभाव होना।

'आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति' में भगवान महावीर और गणधर गौतम का सुन्दर सवाद है। गौतम ने भगवान महावीर से विनम्र स्वर में पूछा—भगवन ! दो व्यक्ति है; एक आपकी सेवा करता है और दूसरा दीन-दुःखियों की सेवा करता है। भगवन ! आपकी दृष्टि से महान् कौन है? समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा - गौतम ! मेरी सेवा करने वाले की अपेक्षा दीन–दुःखियों की सेवा करने वाले को मैं कही अधिक श्रेष्ठ समझता हूँ। वे मेरे सच्चे भक्त नही है जो केवल नाम ही जपते है। मेरे सच्चे भक्त वे जो मेरी आज्ञा का पालन करते है।

३, रामसिह रोड,
जयपुर–4

अहिंसा की शक्ति

शक्ति अहिसा की पत्थर के, दिल पिघला सकती है।
कट्टर दुश्मन को भी अपना, दोस्त वना सकती है॥
कभी किसी का दिल न दुखायें, करे सभी से प्यार।
अपने दुश्मन के प्रति भी हम, रक्खे शुद्ध विचार॥

—श्री निरंकारदेव सेवक

सभी धर्मों का मूल—अहिंसा

☐ कुमारी शकुन्तला जैन

विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म, मानवता की पवित्र धरोहर और जैन धर्म का आभूषण अहिसा है। 'सव्वभूएसु सजमो अहिसा' अर्थात् सभी जीवो के प्रति मन, वचन व शरीर से संयम रखना अहिसा है। सयम का पालन मन, वचन व काया से होता है पर उन सब में कर्तव्य आत्मा के होने से इसे आत्म-धर्म ही माना गया है, किसी सम्प्रदाय का नही !

वर्तमान जीवन मे सामाजिक, राष्ट्रीय, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक व अन्य क्षैत्रो मे अहिसा रूपी पवित्र धारा की अत्यन्त आवश्यकता है। वैसे तो विश्व में प्रत्येक समाज अहिसा को श्रद्धा एवं आदर की दृष्टि से देखता है। प्रत्येक माँ अपने बच्चे को जन्म से ही अहिसा के पथ पर चलने के लिए प्रेरित करती है। प्रत्येक गुरु अपने शिष्य को अहिसा रूपी चोले को धारण करने को कहता है। ससार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, जीने की इच्छा प्राणी मात्र का स्वभाव है। अहिसक दृष्टि सृष्टि पर सुधावृष्टि कर प्राणीमात्र को अमरता प्रदान करती है। हिसक को सामने खडा देख हर प्राणी भयभीत हो जाता है। एक चीटी विल से निकलने पर सामने आये प्राणनाशक तत्त्वो को देखकर मार्ग वदल लेती है। ऐसा क्यो ? स्पष्ट है, प्रत्येक प्राणी के मन मे जीने की प्रबल इच्छा का होना।

अत: जीवन को बनाये रखने मे अहिसा का सर्वश्रेष्ठ स्थान है। अहिसा प्रत्येक जीवन को मृत्यु-भय से दूर करती है तथा संरक्षण प्रदान करती है। इसी कारण संसार के सभी धर्माचार्य एव उनके धर्मशास्त्र अहिसा को ही धर्म का मूल मानते है। अहिंसा का अभाव, पाप, अनाचार, हिसा आदि दुर्गुणों को वढ़ाकर समाज-जीवन को अस्त-व्यस्त कर देने वाला है। धर्म, जीवन और समाज सबका अस्तितव अहिसा पर ही निर्भर है। यदि धर्म जीवन से अलग कर दिया जाये तो उसमें कुछ भी नही बचेगा। अहिसा से ही धर्म की सत्ता और स्थिति है और अहिंसा ही धर्म का मूल है।

अहिंसैव परोधर्म:, शेषस्तु व्रत विस्तरः ।
तस्यास्तु परिरक्षार्थं, पादपस्य यथावृतिः ।।

अर्थात् अहिसा ही सवसे वढकर धर्म है और शेप व्रत उसी का विस्तार है। अहिसा की रक्षा के लिए वे वृक्ष की बाड़ या घेराव के रूप मे है। जो लोग

अहिंसा को कायरता की निशानी या निर्बलता का चिह्न समझते है, वे इसके वास्तविक रूप से अनजान है। पाषाण युग से लेकर आज के इस परमाणु युग तक अनेक विध अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है और नित्य होता जा रहा है। ये एक से एक भयंकर एवं विनाशकारी है। इनकी सामर्थ्य विनाश तक ही सीमित है। ये जीवन को मिटा सकते है, पर वना नही सकते।

इसके विपरीत अहिसा अस्त्र एक अपूर्व शक्ति का भण्डार है जिसमे विनाश के स्थान पर सृजनता का निवास होता है। बिना रक्तपात व कष्ट पहुँचाये विजय प्राप्त कराने की क्षमता एकमात्र अहिसा के अस्त्र में ही है। अग्रेजों की शस्त्र सज्जित फौज का सामना महान् पुरुष महात्मा गांधी ने इसी अस्त्र के द्वारा किया था, परिणामस्वरूप स्वतन्त्र भारत आज हम सबके सामने है। साथ ही हमें गर्व है कि हम सब को दासता की कडी से बाधने वाले अंग्रेज आज हमारे देश के मित्र है। अत' हिसा अहिसा के आगे हृदय से झुक जाती है और अहिंसा की शर्तो को मानकर बन्धुवत् व्यवहार करने लगती है। अहिसा मे किसी के प्रति शत्रुता और वैर भावना का पीडादायक प्रतिकार नही होता। उसमे जीवन-अधिकार की सहज माँग मात्र रहती है।

वैसे तो संसार के सभी धर्म हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध, इसाई और अनेक सभ्य समाज मे अहिसा का बड़े जोर-शोर से समर्थन किया गया है और हिसा का विरोध, लेकिन हमें यह कहना होगा कि जैन सस्कृति का तो प्राण अहिसा ही है। भगवान ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर और आज तक कभी भी जैन धर्मावलम्बियो द्वारा किसी भी अवसर पर हिसा का समर्थन नही किया गया है। काल के इतने बड़े अंतराल में विविध परिवर्तनों के होते हुए भी अहिसा धर्म के मर्म को कभी भुलाया नही गया। इतिहास साक्षी है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणवहं घोरं, निग्गथा वज्जयंतिणं॥

अर्थात् सभी जीव जीना चाहते है, मरना नही, इसलिए प्राण वध पाप है और निर्ग्रन्थ इसका त्याग करते है।

यदि कहा जाये कि हिसा से बढकर कोई पाप नही है तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। जैन शास्त्र मे दुर्गति मे डालने वाली हिंसा के मुख्य दो भेद किये गये है—द्रव्य हिंसा और भाव हिसा। सासारिक कार्यो मे सावधानी रखते हुए भी किसी का उसके द्वारा मर जाना 'द्रव्य हिंसा' है और संकल्पपूर्वक किसी को मारना या उसका अहित करना भाव हिसा है। भगवान महावीर ने 'आचाराग सूत्र' में कहा है—

"जे अइया जे य पडुपन्ना, जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइवखंति एवं भासंति एवं पणवेति, एवं परुवेति, सव्वे पाणा, सव्वे—

भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हन्तव्वा, न अज्जवियव्वा, न परियेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्वेयव्वा, एस धम्मे धुवे नियइ, सासइ सम्मए ।"

अर्थात् अतीत में जितने तीर्थंकर हुए है, वर्तमान मे जितने तीर्थकर है एवं भविष्य मे जितने भी होंगे वे सब यही कहते थे, कह रहे है और कहेंगे कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्वों को मत मारो। किसी जीव को मात्र मारना ही हिंसा नही है वरन् उनको किसी तरह का कष्ट देना, पीड़ा पहुँचाना, परिताप देना तथा रुलाना भी हिसा ही है।

इस तरह जैन संस्कृति हिंसा की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या करती है तथा उससे बचने और बचाने की क्रिया को अहिंसा मानती है। अहिंसा व्रत पालन करने की जो सूक्ष्मता और बारीकी जैन संस्कृति मे पायी जाती है, निश्चय ही वह अन्यत्र दुर्लभ है। जैन धर्म के अतिरिक्त विश्व के अन्य धर्मग्रन्थों में भी अहिंसा को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। बड़े-बड़े महापुरुष अहिंसा को ही अपना आदर्श मानते रहे और समय-समय पर उन्होने अहिंसा का ही व्याख्यान किया है।

महाकवि गोस्वामी तुलसीदास ने अपने लोक विख्यात ग्रन्थ 'रामचरित मानस' में अहिंसा को परमधर्म श्रुति विहित अहिंसा कहकर उसे वेदसम्मत परम धर्म के रूप मे स्वीकारा है। अहिंसा की श्रेष्ठता बताते हुए 'कुरान' मे कहा है—'जहाँ रहम है वही रहीम है।' 'हिदिश' में लिखा है कि 'कत्ले शिदर' अर्थात् किसी को मत काटो! फारसी बेत में पैगम्बर हजरत मुहम्मद नवी और खलीफा जमाल हजरत अली का फरमान है कि तुम अपने पेट को पशु-पक्षियों की कब्र मत बनाओ। आगे उन्होंने कहा है कि संसार में अनेक ऐसे भयंकर काम हैं किन्तु हिंसा अर्थात् किसी को मारना सबसे बड़ा भयकर काम है। हिंसा के विषय मे वे बताते है कि "चाहे शराब पी कुरान को जला डाल, कावे में आग लगादे, और मदीना को खाक करदे, दरगाह शरीफ की नीव उखाड़कर फेंक दे परन्तु भूलकर भी कभी किसी प्राणी को दु ख मत पहुँचा, उसे उसके प्यारे जीवन से अलग मत कर।"

पारसियों के धर्मशास्त्र 'शातनामा' मे फिरदौसी ने लिखा है कि हमारा जरथुस्त धर्म ऐसा नेक है कि उसमें पशु वध, शिकार और मांस-भक्षण करना मना है। इसी तरह वेदों, स्मृतियों और उपनिपदों मे तो अहिंसा परमो धर्म की अनेकानेक प्रशस्तियां पद-पद मे पायी जाती है। 'मा हिंस्यात सर्वभूतानि' वेद का यह वाक्य प्रत्यक्ष रूप में हिंसा विरोधी एवं अहिंसा का प्रबल समर्थक है। इस तरह विश्व के सभी धर्मग्रन्थ अहिंसा की महिमा का ही गुणगान करते है।

निष्कर्ष रूप से अन्तिम चरण मे यही कहना होगा कि अहिंसा मानव

जाति के ऊर्ध्वमुखी विराट् चिन्तन का सर्वोत्तम विकास बिन्दु है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्वबन्धुत्व का जो विकास हुआ और हो रहा है, उसके मूल में अहिंसा की ही पवित्र भावना काम करती रही है। और यही कारण है कि विश्व के सभी धर्मों ने घूम फिर कर अन्ततोगत्वा अहिंसा का ही आश्रय लिया है। वर्तमान समय में इस बात को विशेष रूप से कहना होगा कि यदि सभी धर्मों को या कहा जाये मानवता को हरा-भरा एव अमरता प्रदान करनी है तो अहिंसा की इस पावन धारा को सागर रूपी इस ससार में अविरत गति से बहने देना होगा।

—११, श्री कृष्ण कॉलोनी, अंकपात मार्ग, अवंतिपुरा, उज्जैन-४५६००६

महानता | श्री अशोक श्रीश्रीमाल

दक्षिण भारत में तुकाराम नाम के एक प्रसिद्ध संत हुए है। तुकाराम स्वभाव से बहुत ही शान्त तथा निर्मल थे। वे अत्यन्त गरीब थे। अपने छोटे से खेत से वे अपने परिवार का गुजर-बसर करते थे। एक बार उन्होने अपने खेत में गन्ने बोए। जब गन्ने की फसल तैयार हो गई तो उन्होंने गन्ने काटे, उनकी गठरी बनाई और सिर पर रख कर घर ले जाने लगे।

रास्ते में गाँव के कुछ बच्चों ने उन्हे घेर लिया तथा गन्ने माँगने लगे। तुकाराम ने सभी बच्चो को गन्ने बाँट दिये। अन्त मे उनके पास सिर्फ एक गन्ना बचा जिसे लेकर वे घर लौटे।

तुकाराम की पत्नी का नाम रखुमाई था। वह बहुत ही गुस्सैल स्वभाव और चिड़चिड़े मिजाज की महिला थी। गन्ने की फसल का वह सुबह से ही इन्तजार कर रही थी। जब उसने तुकाराम को हाथ में केवल एक गन्ना लाते देखा तो वह सारी बात समझ कर तिलमिला उठी तथा उसने तुकाराम के हाथ से वह गन्ना छीन कर उन्ही की पीठ पर जोर से दे मारा। पीठ पर पड़ते ही गन्ने के दो टुकड़े हो गये।

तुकाराम तो सन्त स्वभाव के थे। क्रोधित होने के बदले वे मुस्कराते हुए बोले—"कितनी अच्छी हो तुम। हम दोनों के लिये इस गन्ने के दो टुकड़े मुझे करने पड़ते परन्तु यह काम तुमने कर दिया बिना मेरे कहे ही।" तुकाराम के इस व्यवहार से पत्नी सकपका गई। उसे अपनी गलती का अहसास हो गया। उसने तुकाराम के पैर छुए और अपने किये की क्षमा माँगी।

—बन्दा रोड, भवानीमंडी
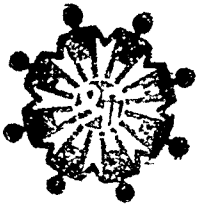
अहिंसा : स्वरूप और महत्त्व

☐ सुश्री सरोज कुमारी जैन

अहिंसा का स्वरूप :

"चारित्तं खलु धम्मो" चारित्र धर्म है। धर्म का मूल स्तम्भ सम्यक् दर्शन है। सम्यक्त्व के अभाव में ज्ञान और चारित्र सम्यक् नही होते अतएव सम्यग्दर्शन आत्मसत्ता की अवस्था है और स्वरूप विषयक यथार्थ दृढ निश्चय। आत्मसत्ता (आत्मस्वभाव) से विचलित करने वाली हिंसा की अनेक पर्यायें हैं यथा काम, क्रोध, मद, राग-द्वेषादि। यदि ये पर्यायें प्रगट हों तो जिनश्रुत के अनुसार स्व-पर को आत्म-धर्म में दृढ़ करना चाहिये[1] तथा सभी सार्धमियों में एवं अहिंसामय धर्म में निःकषाय वात्सल्य रखना चाहिये।[2] यही अहिंसा की श्रद्धा है।

जैन सिद्धान्त में प्रमत्तयोग से स्व-पर प्राणों के घात को हिंसा कहा है। अन्तरंग में रागादि भावों की उत्पत्ति हिंसा और उनकी अनुत्पत्ति अर्थात् राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा प्रमादादिक समस्त विभाव भाव का न होना अहिंसा है—यही जैनागम का सक्षेप सार है—

> अप्रादुर्भाव: खलु रागादीनां, भवत्यहिंसेति।
> तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति, जिनागमस्य सक्षेप.॥[3]

वस्तुत: हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध जीवों के सुख दु ख से न होकर आत्मा से उत्पन्न रागादि विकारी परिणामो से है। "अहिंसा का सम्बन्ध प्राणी के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नही, तर्क-वितर्क के साथ नही और न बधे-बधाये विवेकशून्य विश्वासो के साथ ही है, इसका सम्बन्ध अन्त करण के साथ है—भीतर की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है।"[4] हिंसा का फल वाह्यक्रिया अनुसार न होकर परिणामो के अनुरूप होता है। अप्रमत्त परिणाम वाले के वाह्य में किसी भी जीव की हिंसा हो[illegible] फल अहिंसा का और प्रमत्त परिणाम वाले

---

१. कामक्रोधमदादिपु चल[illegible]
श्रुतमात्मनः परस्य च [illegible]
[illegible], श्लो. २८

२. अनवरत[illegible]
सर्वेष्वपि [illegible]

३. वही. श्लो [illegible]
तीर्थंकर [illegible]

के बाह्य हिंसा न होने पर भी फल हिंसा का होता है। अत. किसी जीव को हिंसा का फल अहिंसा रूप और किसी को अहिंसा का फल हिंसा रूप प्राप्त होता है। यथा कोई डॉक्टर किसी रोगी को दुःखी देखकर उसकी चीरफाड़ कर यत्नपूर्वक कष्ट दूर करता है लेकिन चीरफाड में रोगी की पीड़ा बढ जावे या वह मर जावे तो डॉक्टर को अहिंसा का फल मिलेगा। किसी वन में ध्यानस्थ साधु को एक सिंह भक्षण करना चाहता है, वहीं एक शूकर उस सिंह से उस मुनि की रक्षा करना चाहता है। सिंह और शूकर, दोनों लड़-लड़कर मर जाते है तो इनमे सिंह क्रूर भावों से हिंसा और शूकर हिंसा करते हुए भी मुनि रक्षा के भावों से अहिंसा का पात्र है। हिंसा की लघुता और गुरुता प्राणियों के छोटे-वड़े होने पर नहीं तोली जाती, उसका तोल हिंसक का मन्द या तीव्रभाव आदि अनेक स्थिति सापेक्ष होना है।[1]

हिंसा चार प्रकार की होती है[2] · (१) संकल्पी, (२) उद्योगी, (३) आरंभी और (४) विरोधी। निर्दोष जीव का जान-बूझकर वध करना संकल्पी; जीविका-सम्पादन के लिये कृषि, व्यापार, नौकरी आदि कार्यो द्वारा होने वाली हिंसा उद्योगी; सावधानीपूर्वक भोजन बनाने, जल भरने आदि कार्यो में होने वाली हिंसा आरभी; एव अपनी या दूसरो की रक्षा के लिए की जाने वाली हिंसा विरोधी हिंसा कहलाती है। अहिंसाव्रत का धारी गृहस्थ सकल्पी हिंसा का नियमतः त्यागी होता है।

सभी धर्मग्रन्थों—जैन सिद्धान्त दीपिका,[3] उत्तराध्ययन सूत्र[4] ईश्वर गीता[5] रत्नकरण्डकश्रावकाचार[6], पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय[7], आचारांग आदि मे अहिंसा के विषय में शब्द-रूपान्तर अवश्य है लेकिन सभी का सार (अन्तरग मे रागादि भावों की अनुत्पत्ति) यही है।

सर्वधर्मों में अहिंसा :

अहिसा सब धर्मो का मूल है। कोई धर्म या पंथ ऐसा नहीं जिसमें अहिंसा का स्थान न हो। संसार के समस्त क्रिया-कलाप, आचार-विचार और

---

१ सूत्रकृताग २ ५ ६; २.६ ५२

२ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रथम खड, पृ ५१६

३ सर्वभूतेषु सयमः असिसा। ६–१

४ समया सत्ता भूएसु, सत्तु मित्तेषु वा जगे। १६–२६

५. कर्मणा मनसा वाचा, सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेश जननी प्रोक्ता, अहिंसा परमार्षिभिः॥

६. रागद्वेषनिवृत्तेर्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति। गुणव्रताधिकार, श्लो २

७. अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां, भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति, जिनागमस्य सक्षेप॥ श्लो ४४

व्यवहार अहिंसा की धुरी पर आधारित हैं। सभी धर्मो में अहिंसा के महत्त्व को मानते हुये उसे उत्तम धर्म स्वीकारा है। वैदिक धर्म में कहा है—

"अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राण-भृतांवरः।[1]"

म. तुलसीदास जी ने कहा है—

"परम धर्म श्रुतविहित अहिंसा।
पर निन्दा सम अघ न गिरीसा।"[2]

अहिंसा वास्तव में परमधर्म है। जीवन मे एक बिन्दु धर्म भी उतारना हो तो प्रथम अहिंसा को ही अपनाना पड़ेगा। कबीर हिंसा के विरोधी थे। कहा है—

बकरा पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जे नर बकरा खात है, वां को कौन हवाल॥

इस्लाम धर्म में भी अहिसा के सम्बन्ध में अनेक कथानक मिलते हैं। उर्दू के सुप्रसिद्ध कवि हाली ने कहा है—

मेहरबानी करो तुम, अहले जमी पर।
खुदा खुश होगा तुम पर, अरशे[3] बरी पर॥

ईसाई धर्म के मुख्य ग्रंथ 'बाइबिल' में कहा है—
"Thou shalt not kill" अर्थात् हिंसा मत करो।

जैन धर्म में अहिंसा :

जैन संस्कृति की सबसे बड़ी देन अहिंसा है। अहिंसा का महत्त्व जैन धर्म में सर्वाधिक है। जैन धर्म के अनुसार जीव मुख्यतः दो प्रकार के है—त्रस और स्थावर। त्रस के चार भेद हैं—बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय व पचेन्द्रिय। स्थावर के पांच भेद हैं—पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, व वनस्पति काय। सभी जीव प्राणों के धारक होते है। इनमे से किसी भी प्राणी का (चाहे वे एकेन्द्रिय हो) प्राण हनन करना या घात पहुँचाना जीवहिंसा है। कुछ लोग स्थावर पृथ्वी, अग्नि, वनस्पति (अनाज आदि) में जीव नही मानते जो भ्रम है। स्थावर एकेन्द्रिय जीव होते है जिनमें चार प्राण होते है। इन स्थावर जीवो की विराधना में इन्हे भी बड़ी वेदना व दु.ख होता है। भगवान महावीर ने कहा है—

"अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे, अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे, अप्पेगे गुप्फमब्भे, अप्पेगे गुप्फमच्छे, अप्पेगे ज़ाणुमब्भे, जाव अप्पेगे उद्दवए।"[4]

---

१. आदिपर्व, महाभारत, ११/१३
२. रामचरितमानस
३. खुदा के रहने का स्थान
४. आचारांग, अ. १, उ. १

अर्थात् एक जन्मांध गूगा, बहरा तथा अवयवहीन पुरुष जिसके दायी-बायी ओर जुदे-जुदे (बत्तीस-बत्तीस) आदमी तलवार लेकर खड़े हों। ये सब मिलकर उस आदमी पर अपने शस्त्रो से प्रहार करे तो जैसे वह पुरुष कुछ बोल नही सकता, देख नही सकता, चल नही सकता पर असह्य पीड़ा का तो वह अनुभव करता ही है; इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीव की पीड़ा भी आप देख नही सकते हैं किन्तु उसको भी वैसे ही पीड़ा तो होती ही है अतः स्थावर जीवों की हिसा करना भी पाप है।

आगम में स्पष्ट लिखा है—"पुढविकाय न हिंसति मणसा, वयसा, काएणं तिविहेणं करणं जाएणं संजया सुसमाहिया।" अर्थात् पृथ्वीकाय आदि जीवो की मन-वचन-काया से हिसा मत करो। जो संयमी जीव है वे तीन करण, तीन योग से इन जीवों की न हिंसा करते है, न कराते है और न अनुमोदन ही करते हैं–यही आचार्य समन्तभद्र ने कहा है[1]। अहिसा जैन धर्म का प्राण है। जैन धर्म की प्रत्येक क्रिया में चाहे वह साधना की हो या समाज से सम्बन्धित, उसमें अहिसा का पुट मिलता है। तीर्थंकरों ने मानव-जीवन की प्रत्येक क्रिया को अहिसा के मापदण्ड द्वारा मापा है। जो क्रिया अहिसामूलक है, राग-द्वेष और प्रमाद से रहित है, वह सम्यक् है और जो हिसामूलक है वह मिथ्या है। मिथ्या क्रिया कर्मबन्धन का कारण है और सम्यक् क्रिया कर्मक्षय का। धार्मिक विधि-विधानों मे ही अहिसा की आवश्यकता नही है अपितु जीवन के दैनिक व्यवहार में भी अहिसा की आवश्यकता है। कहा जाता है कि अहिसात्मक प्रवृत्ति के कारण हो २१वे तीर्थंकर नमिनाथ का धनुष प्रत्यञ्चाहीन रूप उनके क्षत्रियत्व का प्रतीक मात्र रह गया था। राम ने शिव-गांडीव को फिर प्रत्यञ्चा-युक्त किया। सीता-स्वयंवर के अवसर पर राम ने इसी प्रत्यञ्चाहीन धनुष को तोडकर धनुष पर पुनः प्रत्यञ्चा की परम्परा प्रचलित की। वस्तुतः अहिसा मे ही शौर्य और पराक्रम की वृत्ति निहित है।[2]

तीर्थंकर महावीर की वाणी की व्याख्या करते हुए इन्द्रभूति गणधर ने कहा है—"जिसे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास है वही हिसा का त्यागी हो सकता है। सहृदय व्यक्ति कभी किसी के प्राणो का वध नही कर सकता अतएव द्रव्य-हिंसा और भाव-हिसा के स्वरूप को ज्ञात कर ही व्यक्ति अहिसा धर्म का पालन कर सकता है। जो प्रमादवश क्रोध, मान, माया, लोभ के वशीभूत है वह प्राणी वध न करने पर भी हिंसा का भागी है। जो भावहिंसा है वह द्रव्यहिंसा

---

१. सकल्पात् कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्त्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः॥
—रत्नकरण्डक श्रावकाचार ३/७

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रथमखण्ड, पृ. १५

न करने पर भी हिंसा का पालकी बनता है। भावों की पवित्रता और लोकोपकारिता की वृत्ति अहिंसा में सम्मिलित है। जो संग्राम स्वार्थ, द्वेष, लोभ, अहंकारवश किया जाता है वह संग्राम अहिंसा धर्म की दृष्टि से वर्जित है पर देशोत्थान की कामना की दृष्टि से किया जाने वाला संग्राम अहिंसा धर्म में बाधक नही है।[1]" धर्म वही है जिसमें अहिंसा का आचरण हो। मन-वचन और काय की क्रियाएँ अहिंसक होने पर ही धर्म का रूप ग्रहण कर सकती है।

खान-पान व व्यवहार में अहिंसा

अभक्ष्य वस्तु का त्याग : जीवन को अहिंसक बनाने के लिए सर्वप्रथम अनन्त जीवो के धारक स्थान मद्य, मांस, मधु और पाँच उदम्बर फलो का त्याग करना आवश्यक है। इनका सर्वथा त्याग करने से बुद्धि निर्मल और जिन धर्म के उपदेश का पात्र हो जाता है[2]। जड़ के बिना वृक्ष नही उसी प्रकार इनके त्याग बिना श्रावक नहीं हो सकता, इसी कारण इनका नाम मूल गुण है। वे है—

मद्यं मांसं क्षौद्रं, पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव[3] ॥

मदिरा : मदिरा मन को मोहित करती है। चित्त के मोहित होने पर जीव धर्म को भूल जाता है। जीव द्वारा धर्म के भूल जाने पर निःशंक रूप से हिंसा का आचरण करेगा अतएव मदिरा साक्षात् एव परम्परा या हिंसा का कारण है[4]। अभिमान, भय, जुगुप्सा, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि हिंसा के भेद है। ये सब मदिरा के निकटवर्ती है। वैसे भी मदिरा रस तैयार करने मे अनेक एकेन्द्रिय, द्विइन्द्रिय जीव उत्पन्न होते है। मदिरा जीवों की हिंसा होने से मदिरापान मे हिंसा होती है। अन्य जो मादक अमल की वस्तु है, उनका उपयोग भी मदिरा तुल्य हिंसा के अन्तर्गत आता है।

मांस : प्राणियों के घात किये बिना माँस की उत्पत्ति नही होती है। जीवित प्राणियों के घात से तो हिंसा होती ही है लेकिन स्वयमेव यद्यपि मृत भैंस, बैल, मुर्गा आदि जीवो का माँस होता है उस माँस भक्षण मे भी हिंसा है क्योंकि उस माँस के आश्रित जो निगोद रूप अनन्त जीव होते है, उनका घात करना भी हिंसा है।[5]

---

१ तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रथम खड, पृ २४४

२. अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनाया भवन्ति, पात्राणि शुद्धधियः ॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो ७४

३. वही श्लो ६१

४. वही श्लो ६२, ६३, ६४

५ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो ६५–६८

मधु : मधु का कण भी बहुत प्रचुर मक्खियों की हिंसा रूप होता है[1]। जो मधु के छत्ते से, कपट से या स्वमेव मक्खियों द्वारा उगला हुआ मधु होता है वहाँ भी उसके आश्रयभूत प्राणियों का घात होता है अतएव मधुभक्षण हिंसा है।

पाँच उदम्बर फल : उदुम्बर, कठुम्बर, पीपल के फल, बड़ के फल, पीलू के फल इन पाँचों पर त्रसजीव होने के कारण ये हिसा स्वरूप है।[2] त्रस न होने पर भी हिसा का पात्र होता है अतः ये पाँच उदम्बर फल काल पाकर त्रस रहित तो हो जाते है लेकिन इनके भक्षण से एक रागभाव आ जाता है[3]। और जहाँ राग है वही हिसा है। यदि राग न हो तो इतना प्रयास ही नहीं करेगा।

रात्रि भोजन त्याग : अहिंसा व्रत के निर्दोष पालनार्थ रात्रि भोजन त्याग आवश्यक है, अतः रात्रि भोजन बनाने-खाने में असंख्य जीवों की हिंसा होती है। यदि उस समय दीपक न जोड़ा जाये तो बड़े-बड़े जीवो का पता ही न पड़े और यदि कदाचित् दीया जोड़ा या सावधानी रखी जावे तो कीट-पतंग आदि सूक्ष्म जीव भोजन में ही मिल जाते है[4] अतएव रात्रि भोजन में द्रव्यहिसा विशेष रूप से होती है।

दहेज निराकरण : सामन्त युग से प्रभावित रहने के कारण आज दहेज लेना-देना बड़प्पन का सूचक समझा जाता है। कली रूपी उपहार ने पुष्प रूपी दहेज का स्थान ग्रहण कर लिया है। उपहार वह होता है जिसमें वधू पक्ष परिवार की तरफ से कन्यादान स्वरूप अल्पाधिक स्थितिनुसार धनराशि, सामान आदि दिया जाता है जबकि दहेज में धनराशि, सामान आदि का निश्चित कर दिया जाता है—दोनों में यही अन्तर है। वस्तुतः निर्धारित धनराशि न मिलने पर सम्प्रति वधुओं पर अमानुषिक व्यवहार एक परम्परा सी बन गयी है। वधू को अनेक यातनाओं का सामना करना पड़ता है और अन्त में तंग आकर या तो जलने को या फिर आत्महत्या करने को विवश हो जाती है जैसा कि प्रायः

---

१. मधुशकलमपि प्रायो, मधुकरहिंसात्मक भवति लोके।
भजति मधु मूढ़धीको यः, स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो. ६९

२. योनिरुदुम्बरयुग्मं, प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवाना तस्मात्तेषा, तद्भक्षणे हिंसा॥ वही. श्लो. ७२

३. यानि तु पुनर्भवेयुः, कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा. विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥ वही, श्लो. ७३

४. रात्रौ भुञ्जानानां, यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्, त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥
अर्कालोकेन विना भुञ्जान., परिहरेत कथ हिंसाम्।
अपि बोधितः प्रदीपे, भोज्य जुषा सूक्ष्मजीवानाम्॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लो १२९ एव १३३

समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलता है। इस दृष्टि से दहेज हिंसा (उद्योगी) का रूप ही प्रतीत होता है।

पंचमहाव्रतों में अहिंसा : अहिंसा, अनृत, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ये पंच महाव्रत[1] है। इनमें अहिंसा प्रधान है। इसी के विशुद्ध पालनार्थ अन्य चारों व्रत है। जैसे खेत की रक्षार्थ बाड होती है, वैसे ही अन्य सब व्रत अहिंसा के ही रक्षार्थ है। जहाँ पर अहिंसा है वहाँ पर शेष व्रत सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह स्वतः पालित हो जाते है।

अहिंसा के बिना सत्य नग्न एवं कुरूप है क्योंकि प्रमाद रहित हित की प्राप्ति और अहित परिहारक वचन बोलना अहिंसा है। चोरी में स्वामी की आज्ञा बिना बाह्यधनादिक के हरण से उसे प्राणघात जैसा ही दुःख होता है अतः वध का हेतु होने से हिंसा स्वरूप ही है। अब्रह्म में असंख्य मनुष्याकार सम्मूर्छन पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा होती है। अपरिग्रह और अहिंसा मे आधार-आधेय का सम्बन्ध है।

संयम ही अहिंसा है : संयम अहिंसा रूपी विशाल वृक्ष की एक शाखा है। अहिंसा साध्य है और संयम साधन। संयम के अनुष्ठान से ही अहिंसा की साधना सम्भव होती है। संयम का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का दमन करना, उन्हें आत्मवशीभूत करना और हिंसा प्रवृत्ति से बचना। संयम दो प्रकार का है—इन्द्रिय-संयम और प्राणी-संयम। इन्द्रिय और मन को अपने-अपने विषयों मे प्रवृत्त करने से रोककर आत्मोन्मुख करना इन्द्रिय-संयम है और षट्काय जीवो की हिंसा का त्याग करना प्राणी-सयम है। इन दोनो संयमो मे पहले इन्द्रिय-संयम का धारण करना आवश्यक है क्योंकि इन्द्रियों के वश हो जाने पर ही प्राणियों की रक्षा सम्भव होती है। जिसने इन्द्रिय-संयम का पालन आरम्भ कर दिया, वह जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम सामग्री का उपयोग करेगा जिससे शेप सामग्री समाज के अन्य सदस्यों के काम आयेगी, संघर्ष कम होगा और विषमता दूर होगी। यदि एक मनुष्य अधिक सामग्री का उपयोग करे तो दूसरों के लिए सामग्री कम पडेगी, जिससे शोषण आरम्भ हो जायेगा, अतएव इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करना आवश्यक है। प्राणी संयम में षटकाय के जीवो की रक्षा अपेक्षित है। प्राणी संयम के धारण करने से अहिंसा की साधना सिद्ध होती है। जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा संयम से ही सम्भव है। अतएव महावीर ने अपने दसवें वर्ष की साधना मे संयम और समता-प्राप्ति के लिए पूर्ण प्रयास किये। क्योंकि तपोनिष्ठान से मनुष्य संयमशील बनता है और सयमशीलता से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है। जिस व्यक्ति के अन्तर में अहिंसा, संयम और तप की त्रिवेणी प्रवाहित होती है उसकी आत्मा निर्मल, निष्कलुष और निर्विकार हो जाती है, देव भी उसके चरणो में नमस्कार कर अपने को धन्य मानते है।

---

१ हिंसाऽनृत-स्तेयाब्रह्म-परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्—तत्वार्थसूत्र. ७/१

वस्तुतः संयम ही एक ऐसी औषधि है जो राग-द्वेष रूप परिणामों को नियन्त्रित करती है। अहिसा की साधना तितिक्षा और संयम के बिना सम्भव नहीं है अतः जहाँ अहिसा है वहाँ सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भी विद्यमान है। इन चारों महाव्रतों का सयम से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

अहिंसा का महत्त्व : अहिसा के महत्त्व को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

(१) अहिसा द्वारा हृदय परिवर्तन सम्भव होता है। यह मारने का सिद्धान्त नही, सुधारने का सिद्धान्त है। यह संसार का नही, उद्धार एवं निर्माण का सद्धान्त है। यह ऐसे प्रयत्नो का पक्षधर है जिसके द्वारा मानव के अन्तस् में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया जा सकता है और अपराध की भावनाओं को मिटाया जा सकता है।

(२) अहिसा द्वारा सबके कल्याण और उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। इसके आचरण से निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतन्त्रता और सत्यता बढ़ती है। अहिसा से ही विश्वास, आत्मीयता, पारस्परिक प्रेम, निष्ठा आदि गुण व्यक्त होते हैं। अहंकार, दम्भ, मिथ्या विश्वास, असहयोग आदि का अन्त भी अहिसा द्वारा सम्भव है। यह एक ऐसा साधन है जो बडे से बड़े साध्य को सिद्ध कर सकता है। एकता की भावना अहिसा का ही रूप है।

(३) अहिसा ही एक ऐसा शस्त्र है जिसके द्वारा विना एक बूद रक्त बहाये वर्गहीन समाज की स्थापना की जा सकती है। यद्यपि कुछ लोग अहिसा द्वारा निर्मित समाज को आदर्श या कल्पना की वस्तु मानते है पर यथार्थतः यह समाज काल्पनिक नही, प्रत्युत् व्यावहारिक होगा। क्योंकि अहिसा का लक्ष्य यही है कि वर्गभेद या जातिभेद से ऊपर उठकर समाज का प्रत्येक सदस्य अन्य के साथ शिष्टता और मानवता का व्यवहार करे। छल, कपट या इनसे होने वाली छीना-झपटी को अहिसा द्वारा ही दूर किया जा सकता है। वस्तुत. अहिसा मे ऐसी अद्भुत शक्ति है जिसके द्वारा आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को सरलतापूर्वक समाहित किया जा सकता है।

(४) अहिसा मानव को हिसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य, द्वेप, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहकार, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वसात्मक प्रवृत्तियाँ है, विकृतियाँ है, वे सब हिसा के रूप है। मानव-मन हिंसा के विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारो का शमन करने के लिए अहिसा की दृष्टि और अहिसक जीवन ही आवश्यक है। अत. क्रोध को क्रोध से नही क्षमा से, अहंकार को अहंकार से नही विनय-नम्रता से, दम्भ को दम्भ से नही सरलता-निश्चलता से; लोभ को लोभ से नही सन्तोष-उदारता से जीतना चाहिये। जिस प्रकार कुए मे गयी ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप मे वापिस लौटती है उसी प्रकार हिंसात्मक क्रियाओ का प्रतिक्रियात्मक प्रभाव कर्ता पर ही पड़ता है।

(५) कर्तव्य-स्वभाव का निर्धारण अहिंसात्मक व्यवहार द्वारा ही सम्भव हैं। माता-पि ा, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, पति-पत्नी आदि के पारस्परिक कर्तव्य का अवधारण भावात्मक विकास की प्रक्रिया द्वारा होता है और यह अहिंसा का ही सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है और यही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्भव एवं विकास का मूल है। यह सत्य है कि उक्त प्रक्रिया में रागात्मक भावना का भी एक बहुत बड़ा अंश है पर यह अंश सामाजिक गतिविधि में बाधक नही है।

(६) अहिंसा के द्वारा मनुष्य की प्रतिष्ठा सम्भव है। अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपने समस्त आत्मबल को लगा देना ही संघर्ष का अन्त करना है, और यही अहिंसा है। यह अन्याय और अत्याचार से दीन-दुर्बलों की रक्षा कर सकती है। यही विश्व के लिए सुखदायक है।

(७) अहिसा के आधार पर सहयोग और सहकारिता की भावना स्थापित करने से समाज धर्म की दूसरी सीढ़ी को बल मिलता है।

(८) हिसा के त्याग द्वारा श्रावक अपनी कायिक, वाचिक और मानसिक प्रवृत्तियों को शुद्ध करता है और अहिसक यत्नाचार का धारी होता है।

(९) अहिंसक व्यक्तित्व का प्रथम दृष्टिबिन्दु है—सह-अस्तित्व और सहिष्णुता। सहिष्णुता के बिना सहअस्तित्व सम्भव नही है। संसार में अनन्त प्राणी है। सभी इस लोक में रहते है। यदि वे एक-दूसरे के अस्तित्व को आशंकित दृष्टि से देखते रहे तो अस्तित्व का संघर्ष कभी समाप्त नही हो सकता। सघर्ष अशान्ति का कारण है। इस अशान्ति से बचने का उपाय अहिंसा ही है।

अहिसा परमो धर्मः

तीनो काल में अहिसा के समान धर्म नही होने से अहिसा उत्कृष्ट धर्म है। भगवान महावीर ने कहा है—"धम्मो मंगल मुक्किट्ठ अहिंसा सजमोतवो[1]।" अर्थात् अहिसा, संयम व तप रूप धर्म उत्कृष्ट मगल है। इन तीनों मे भी अहिंसा मुख्य है। पंचमहाव्रतों[2] मे भी अहिसा प्रधान है। उसी के विशुद्ध पालनार्थ अन्य व्रत हैं। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य समंतभद्र ने तो अहिसा को परमब्रह्मस्वरूप[3] कहा है और जिस आश्रमविधि में अणुमात्र भी आरम्भ न होता हो उसी के द्वारा उस अहिंसा की पूर्ण सिद्धि मानते थे। अहिंसा का महत्त्व दर्शाते हुए आगमकार कहते है—

---

१. दशवै, अ. १, गा १

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७.१

३. अहिसा भूताना जगति विदितं ब्रह्मपरमम्।
न सा तत्रारंभोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ॥

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं ।
अहिंसा समयं चेव, एतावत्तं वियाणिया ।।[1]

अर्थात् ज्ञानी होने का यही सार है कि किसी भी जीव की हिंसा न करें यही अहिसा का सिद्धान्त है, सार है । अन्य धर्मो में भी अहिंसा का प्रमुख स्थान हैं । वैदिक धर्म में अहिंसा को प्रधानता देते हुये उसे माता की उपमा दी है कहा है—

"मातेव सर्वभूतानां अहिंसा हितकारिणी ।"

जैनागम में भी इसी प्रकार कहा है—

जेय बुद्धा अतिक्कंता, जेय बुद्धा अणागया ।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयालं जगइ जहा ।।

अर्थात् जिस प्रकार जीवों का आधार पृथ्वी है, उसी प्रकार पहिले हुये व आगे होने वाले ज्ञानियो का जीवनदर्शन अहिंसा है । 'योगशास्त्र' में अहिंसा को कामधेनु कहा है—

दीर्घ आयु परं रूपमारोग्यं श्लाघनीयता ।
अहिंसायाः फल सर्व किमन्यत् कामदैव सा ।।[2]

अर्थात् दीर्घ आयु, परम रूप (श्रेष्ठरूप) नीरोगता एवं प्रशंसनीयता ये सव अहिसा के ही फल हैं । वस्तुत. अहिंसा सभी मनोरथों को सिद्ध करने वाली कामधेनु है ।

तीर्थंकर महावीर पर एक दृष्टि :

अहिसा के सच्चे साधक तीर्थंकर महावीर थे । भगवान महावीर का सिद्धान्त था कि अग्नि का शमन अग्नि से नही होता इसके लिए जल की आवश्यकता होती है इसी प्रकार हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नही, अहिसा से होता है । विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके मन में घृणा नहीं थी, द्वेष नहीं था । वे उत्पीड़क एव घातक के प्रति भी मंगल, कल्याणकारी, पवित्र भावना रखते थे । संगमदेव, शूलपाणी यक्ष जैसे उपसर्ग देने वाले व्यक्तियों के प्रति भी उनके नेत्रो में करुणा थी । तीर्थंकर महावीर का अहिंसक जीवन क्रूर एव निर्दय व्यक्तियों के लिए आदर्श था । वे बारह वर्षो तक मौन रहकर मोह, ममता का त्याग कर अहिसा की साधना मे सलग्न रहे । महावीर की अहिंसा-साधना के प्रभाव से उस समय प्रचलित बलि प्रथा का अन्त हुआ । महावीर के व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताओ मे अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाश के समान विशाल और समुद्र के समान अतलस्पर्शी है । दया, प्रेम और विनम्रता ने उन्होने अहिसा को सुसस्कृत किया था । आज आवश्यकता है भगवान् महावीर की अहिसा को पुनः प्रतिष्ठापित करने की ।

• ५७०, स्कीम नं. २, अलवर–३०१००१

---

१. सूत्रकृताङ्ग सूत्र
२ योगशास्त्र, २/५२
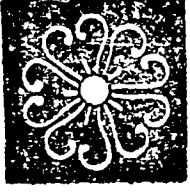
अहिंसा बनाम वीतरागता

☐ श्री सम्पतराज डोसी

विश्व में जितने भी धर्म एवं दर्शन प्रचलित है उनमे से अधिकाश दर्शनों एवं धर्मो ने प्राय: अन्य जीवों को किसी प्रकार की हानि, दु:ख आदि पहुँचाने या मारने को हिंसा और हानि, दु:ख न पहुँचाने को, न मारने को अहिंसा माना है। यह अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप है। इसके विधेयात्मक स्वरूप में दूसरे प्राणियों को दु:ख एवं मरने आदि से बचाना, उनकी रक्षा, करुणा, दया, सेवा सहायता आदि करना माना गया है। वेदव्यासजी से जब सारे पुराण एवं धर्म ग्रन्थों का अति संक्षिप्त सार पूछा तो उन्होने बताया—

अष्टादश पुराणेषु, व्यासस्य वचनंद्वयं ।
परोपकाराय पुण्याय, पापाय परपीड़नम् ।।

अर्थात् पर जीवों के हित या उपकार के समान पुण्य नही और पर जीवो को पीड़ित करने के समान दूसरा कोई पाप नहीं है।

व्यासजी ने सम्भवत: पुण्य में ही धर्म मान कर, अहिसा आदि का समावेश उस धर्म के पालनार्थ कर लिया है।

जैन दर्शन में भी अहिसा के पालन को, धर्म के नाम पर किए जाने वाले सभी अनुष्ठानों मे प्रथम स्थान दिया है। जैसे साधु के महाव्रतो मे सबसे प्रथम स्थान अहिंसा महाव्रत, श्रावको के वारह महाव्रतों में प्रथम अहिंसा अणुव्रत ही बतलाया गया है। धर्म के तीन भेदो में भी अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है, जैसा कि कहा है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमोतवो।—दशवै० अ० १ गा० १ ।।

इसी प्रकार सम्पूर्ण ज्ञान-प्राप्ति का फल एवं सार बताते हुए 'सूत्रकृताग' सूत्र में बतलाया कि किसी भी प्राणी की किंचित् मात्र भी हिसा न करे, उन्हे दु:ख न उपजाये। जैसा कहा है—

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचणं।—सूतकृतांगसूत्र ।।

हिंसा रूप प्राणी वध को घोर पाप बताते हुए कहा है—

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ।।

—दशवै० अ० ६ गा० ११ ।।

सभी जीव जीना चाहते है, मरना सब के लिए भयंकर दु.ख रूप है, इसलिए प्राणी-वध घोर पाप है। अतः साधक को इस हिंसा रूप पाप से बचना श्रेयस्कर है।

जैन धर्म का कोई भी सूत्र या ग्रन्थ शायद ही बचा हो जिसमे अहिंसा की चर्चा किसी न किसी रूप मे न हुई हो। आचाराग, सूत्रकृतांग, भगवती, प्रश्न-व्याकरण आदि सूत्रों मे तो हिंसा-अहिंसा के स्वरूप, लक्षण, भेद, प्रभेद, पालने के तरीके, हिंसा से हानियाँ एवं अहिंसा पालन से लाभ आदि विषयों का विवेचन विशेष रूप से उपलब्ध है।

सबसे बड़ी एव मुख्य बात यह है कि दार्शनिक दृष्टि से हिंसा एवं अहिंसा के स्वरूप की जो व्याख्या एव विवेचना जैन दर्शन मे मिलती है तथा वह जितनी तार्किक, मार्मिक, वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है उसकी मिसाल अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है। परन्तु उस विश्लेषण से जो तथ्य सामने आते है वे बडे विचित्र है। दूसरो की हिंसा वही कर सकता है जो पहले स्वय की हिंसा करता है और दूसरो की अहिंसा, दया, उपकार आदि भी वही कर सकता है जो अपनी अहिंसा, दया व उपकार करता हो। 'पर' की सारी हिंसा या अहिंसा का अन्तरंग रूप 'स्व' की हिंसा-अहिंसा मे ही छिपा हुआ है।

जैन दर्शन की उपर्युक्त मान्यता को अनुभूति के स्तर पर भी समझा जा सकता है कि 'पर' की जानबूझ कर विचारपूर्वक हिंसा करने वाले के पहले टेन्शन, तनाव, अशान्ति रूप स्वय की ही हिंसा होती है जिसका उसे ध्यान एव ज्ञान भले ही नही रहता और दूसरे की सच्ची अहिंसा, दया, करुणा आदि करने पर भी पहले स्वय को ही समता, प्रसन्नता, शान्ति रूप सच्चा सुख प्राप्त होता है जो स्वय की अहिंसा ही है।

कोई भी व्यक्ति जब दूसरे को किसी भी प्रकार से सकल्पपूर्वक दु.ख देने या मारने का प्रयत्न या इससे पूर्व विचार तक भी करेगा तो उसमे दूसरो के प्रति द्वेष उत्पन्न हुए बिना वह दूसरे का बुरा सोच भी नही सकेगा, फिर करना तो उससे बहुत आगे की बात है। द्वेष करने वाले को पहले संकल्प-विकल्प रूप तनाव, अशान्ति एव दुख हुए बिना द्वेष हो नही सकता। यह स्वय का अशान्त एवं तनावयुक्त होना ही स्वयं की हिंसा है। इससे भी और अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस स्व हिंसा रूप द्वेष का भी जो असली कारण है, वह राग अथवा मोह है। मोह अथवा राग के करने का कारण सुख का स्वार्थ है। जब इस स्वार्थ मे कमी होने लगती है या कमी की आशका होती है तब राग या मोह द्वेप मे बदल जाता है। वैसे तो मोह अथवा राग मे व्यक्ति सुख का अनुभव करता है क्योकि यह अपनी मानी हुई या चाही

हुई अनुकूलता में होता है । व्यक्ति जिस पर राग या मोह करता है, उसका भी हित ही सोचता एवं करता है परन्तु उसमे भी राग या मोह करने वाला स्वयं की तो हिंसा कर ही लेता है । यह कैसे और क्यो होती है, इस रहस्य को समझने के लिए हमे हिंसा-अहिंसा की व्याख्या पर चिन्तन करना आवश्यक है ।

जैन-दर्शन मे हिंसा का वास्तविक एवं गुण-सूचक नाम 'प्राणातिपात' दिया है क्योकि वास्तविकता भी यही है कि जीव स्वयं न नया जन्मता न मरता अर्थात् समूल नष्ट नही होता, इसलिए उसकी हिंसा तो कैसे हो सकती है ? इसी तरह वह दूसरे किसी भी जीव की हिंसा भी कैसे कर सकता है ? परन्तु जिस प्रकार से व्यक्ति पुराने कपड़े आदि छोड़कर नये वस्त्रादि धारण करता है, ठीक उसी प्रकार जीव के भी पुराने शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदि को छोडना उसका मरना है तथा नये शरीर, प्राणादि धारण करना उसका जन्म लेना कहलाता है । इसी कारण हिंसा का दूसरा नाम 'प्राणातिपात' दिया गया है । 'प्राणातिपात' अर्थात् हिंसा आदि सारे पापो एवं कर्मो का मूल राग-द्वेष को माना गया है । राग-द्वेष रूप हिंसा आदि से जन्म-मरणादि सभी दुःखों एवं पापो का सम्बन्ध किस प्रकार है, इसकी चर्चा 'तत्त्वार्थ सूत्र' के एक श्लोक से की जाती है । वहाँ हिंसा की व्याख्या करते हुए बताया है—

'प्रमत्त योगात् प्राण व्यपरोपणं हिंसा ।' —तत्त्वार्थ सूत्र अ ७/८

प्रमाद (प्रमत्त) की प्रवृत्ति (योगात्) से स्वय प्राणो की क्षति अथवा नाश करना या होना हिंसा है ।

उपर्युक्त सूत्र मे प्रमाद तथा योग एव इनसे होने वाली 'स्व' अथवा 'पर' प्राणो की क्षति अथवा नाश को हिंसा बतलाया गया है । जैन-दर्शन मे प्राण दो प्रकार के माने गए है । पहला भाव प्राण और दूसरा द्रव्य प्राण । भाव प्राण चार प्रकार के माने है जो आत्मा से सम्बन्धित है, वे है—सुख, सत्ता, चैतन्य और वोध । दूसरे शब्दो मे ज्ञान, दर्शन, सुख (शान्ति) और शक्ति (वीर्य) । ये आत्मा के विशेष गुण भी है जो कभी नष्ट नही हो सकते। द्रव्य प्राण दस प्रकार के माने गए है—पाँच इन्द्रियो की शक्तियाँ, मन, वचन, काया की शक्तियाँ, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य बल प्राण ।

स्वयं के इन भाव अथवा द्रव्य प्राणो का हनन-नाश अथवा क्षति पहुँचाना स्वयं का व्यपरोपण है तथा दूसरो के भाव प्राणो अथवा द्रव्य प्राणों को क्षति पहुँचाना अथवा नाश करना 'पर' का प्राण-व्यपरोपण कहलाता है। इनमें 'स्व' अथवा 'पर' के द्रव्य प्राणो का तो पूरा हनन अथवा नाश हो भी

सकता है, पर भाव प्राणों की तो क्षति ही हो सकती है, सर्वथा नाश कदापि नही क्योंकि वे आत्मा रूप ही हैं।

द्रव्य प्राणो की क्षति अथवा नाश पाँच प्रकार से हो सकता है—**प्रथम**–स्वयं के कर्मोदय के फल-स्वरूप जो सहज मे सभी जीवो के हर समय होता रहता है। जैसे आयु के निरन्तर घटते रहने से प्रति समय हर प्राणी का भाव मरण हो ही रहा है। **द्वितीय**–किसी वस्तु से अर्थात् अकस्मात जैसे कोई वस्तु अपने आप गिर पडी और उसके नीचे दब कर कोई प्राणी मर गया। **तृतीय**–एक जीव द्वारा सहज मे दूसरे का प्राण हनन होना, जैसे हम श्वास लेते या हमारी नाडी की धडकन होती है, उससे असख्य वायुकायिक आदि जोवो का प्राणनाश समय-समय पर होता रहता है। **चतुर्थ**–क्रोधादिवश जान-बूझकर स्वयं का अपघात अर्थात् आत्म-हत्या करना। **पंचम**–स्वार्थ आदि कारणवश या अज्ञान आदि से अकारण जानबूझकर दूसरो को मारना या कष्ट पहुँचाना।

उपर्युक्त पाँच में से प्रथम तीन प्रकार से होने वाले प्राणव्यपरोपण को हिसा नही माना गया। अगर इस प्राण व्यपरोपण के साथ प्रमत्त योग नही हो तो क्योकि इन तीनो प्रकारो मे सहजता, स्वाभाविकता है। बिना इच्छा एवं भावना रूप राग-द्वेष के अभाव मे भी ये स्वय का मरना या अशक्य परिहार रूप दूसरे का मरना भी चालू ही रहेगा। परन्तु अन्त के दो प्रकार चूकि राग-द्वेषादि अथवा क्रोधादिवश होने से प्रमाद-योग सहित प्राण व्यपरोपण है, इसलिए इसे हिसा माना गया।

इस सन्दर्भ मे मुख्य वात यह है कि द्रव्य प्राण शरीर से सम्बन्धित यानि पौद्गलिक है। आत्मा से पर है, इसलिए दूसरे जीवों अथवा पुद्गलो आदि से भी इनकी क्षति अथवा नाश हो सकता है। परन्तु भाव प्राण चूकि आत्मा से होते है, अरूपी है इसलिए इनकी क्षति स्वय के राग-द्वेष अथवा मोहादि से ही हो सकती है। दूसरे किसी व्यक्ति या वस्तु से इन भाव-प्राणों का नाश हो ही नही सकता। इसीलिए 'प्राण व्यपरोपण के पहले 'प्रमत्तयोगात्' शब्द आया है। 'प्रमत्त' अर्थात् प्रमाद और 'योगात्' अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति।

प्रथम—प्रमाद पाँच प्रकार का माना गया है—

मज्जं विषयकषाय, निद्दा विकहा पंच वि पमाया भणियव्वा।

अर्थात् मद्य, विषय, कषाय, निद्रा एवं विकथा। द्वितीय-योगात् अर्थात् आत्म-प्रदेशो का प्रकम्पन जिसके कारण से मन, वचन, काया इन तीनो की प्रवृत्ति होती है। इसलिए योग तीन प्रकार का माना गया।

जो भी व्यक्ति कषाय रूप प्रमाद से युक्त अर्थात् राग-द्वेष सहित है, उसके तनाव, संकल्प-विकल्प रूप **अशान्ति** आदि होने से आत्मा के मूल गुण अर्थात् ज्ञान, दर्शन, **शान्ति** (सुख) वीर्य आदि भाव-प्राणो की क्षति-रूप स्व की भाव-हिसा नियम से होगी ही और इससे आत्म-प्रदेशो मे प्रकम्पन भी होने से आत्मा से सम्बन्धित मन, वचन, काया आदि को भी प्रवृत्ति होगी ही, जिससे स्वय के द्रव्य-प्राणों का हनन भी होगा ही, जो स्वय की द्रव्य हिसा है। चूकि द्रव्य-प्राण शरीराश्रित होते है इसलिए जिन जीवो मे राग-द्वेष नही होता अर्थात् वीतरागियों या सर्वज्ञो मे भी स्वयं के शरीर का 'प्राण-व्यपरोपण' अर्थात् स्वयं के मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास एवं आयु आदि प्राणों की क्षति एवं आयु पूर्ण होने पर इन सभी द्रव्य-प्राणो का पूर्ण नाश भी होगा ही, परन्तु इसे हिसा नही माना गया है। सर्वज्ञो के भी जब तक शरीर है, तब तक हलन-चलन, बोलना, खाना-पीना आदि क्रियाएँ भी होंगी, कम से कम श्वासोच्छ्वास लेने अथवा नाड़ी एवं हृदय की धडकन रूप इस क्रिया से भी प्रतिक्षण असंख्य वायुकायिक आदि जीवो की विराधना रूप 'पर' का प्राण-व्यपरोपण क्रिया भी नियम से होता है परन्तु राग-द्वेष के अभाव में तथा स्वयं की भाव-हिसा न होने से इसे मात्र योगो की प्रवृत्ति से ईर्यापथिक क्रिया माना गया, न इससे पाप का बन्ध माना गया और न हिसा ही। मात्र योगो की प्रवृत्ति से होने वाले 'स्व' अथवा 'पर' के प्राण-व्यपरोपण को भी हिसा नही माना गया। अन्यथा मात्र 'प्राण-व्यपरोपण' अथवा 'योगात् प्राण-व्यपरोपण हिसा' ही कह देते जो शास्त्रकारों का इष्ट नही था तथा यह व्यावहारिक भी नही क्योकि इसमे जीव की परवशता है, अर्थात् यह अशक्य परिहार रूप 'स्व' अथवा 'पर' का प्राण नाश है।

इससे यह फलित होता है कि न तो 'स्व' अथवा 'पर' के मात्र प्राण नाश को और दूसरा बिना राग-द्वेष के मात्र योग से होने वाले 'स्व' अथवा 'पर' के द्रव्य प्राण-नाश को भी हिसा नही माना गया है। इससे यह तथ्य स्पष्ट सामने आता है कि हिसा के लिए 'प्रमाद' की अर्थात् राग-द्वेष की अनिवार्यता मानी गयी है। दूसरे शब्दों में राग-द्वेष ही हिसा है। इसमे भी प्रश्न हो सकता है कि फिर मात्र प्रमाद को ही हिसा कह देते, इसके साथ 'योगात्' एव 'प्राण-व्यपरोपण' की क्या आवश्यकता थी ?

इसका समाधान यह है कि जीव जब तक राग अथवा द्वेष करेगा तब तक उसमें योग भी नियम से रहेगा ही, क्योंकि राग-द्वेष से होने वाले आत्म-प्रदेशों के प्रकम्पन से मन, वचन, काया रूप योग प्रभावित हुए बिना रह नही सकते। जब तक प्रमाद सहित योग है तब तक राग-द्वेष से स्वय के भाव-प्राणों एवं योगों से स्वयं के द्रव्य-प्राणों का व्यपरोपण तो नियम से

चालू ही रहेगा और यह स्वयं की हिंसा भी है ही और इसी राग-द्वेष से पापों व कर्मों का बन्ध भी नियम से माना गया है। कहा भी है—

रागो य दोसो य बिय कम्म बीय। —**उत्तरा० अ० ३२ गा० ७**

पर विचित्रता यह है कि स्वयं की यह हिंसा तनाव एव अशान्तियुक्त होते हुए और स्वयं इसका अनुभव करते हुए भी जीव इसे समझ नहीं सकता, यह उसकी अज्ञानता का फल है अथवा अज्ञानता के फल-स्वरूप उत्पन्न हुए मोह के नशे का परिणाम है।

स्वयं की इस विचित्र एवं रहस्यमय हिंसा की जो मूल कारण राग-द्वेष है उसमें भी गहराई से विचारे तो द्वेष की जड़ भी राग ही है। द्वेष को खारा एवं काले रग का जहर अथवा बिच्छु काटने के समान माना है, क्योंकि इससे प्रायः दूसरों का अहित सोचना या करना होता है। इसलिये इससे होने वाले टेशन, क्रोध, आवेग एवं अशान्ति आदि को तो फिर भी आसानी से अनुभव भी किया जा सकता है और समझा भी जा सकता है। परन्तु राग एक ऐसा जहर है जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, सुगन्धित एवं स्वादिष्ट बादाम के हलवे की तरह मीठा लगता है। साँप के काटने से आने वाली गेल या नशे के समान है इसलिये इससे होने वाले तनाव एवं अशान्ति को न तो आसानी से समझा जा सकता है और न यह अनुभव मे ही आता है। क्योंकि इस सुखद एवं मधुर लगने वाली अशान्ति मे दुःख एव पाप रूप जहर भी मीठा एव धीमी गति से असर करने वाला होता है। इसलिये जैन-दर्शन ने राग को ही हिंसा और रागरहितता-वीतरागता को ही सच्ची अहिंसा एव धर्म माना है। इसके अनेक दूसरे प्रमाण भी है।

'जैन' शब्द स्वयं ही वीतरागता का द्योतक है क्योंकि 'जिन' अर्थात् राग-द्वेष के जीतने वाले को 'जिन' कहते है और 'जिन' के उपासकों को ही 'जेन' कहा जाता है।

इसी प्रकार जैन-दर्शन का सर्वमान्य मंत्र 'नमस्कार महामत्र' का पहला पद भी 'णमो अरिहंताणं' है। इसमें 'अरि'—अर्थात् राग-द्वेप रूपी शत्रु को 'हताणं' अर्थात् हनन करने वाले अथवा जिन्होंने हनन कर दिया, उन्हे मैं नमस्कार करता हूँ और उन्ही को सच्चे देव के रूप मे स्वीकार किया गया है।

जैन दर्शन में आत्म-विकास के क्रम-रूप में गुणस्थान स्वरूप मे भी मोह के भेद-रूप अट्ठाइस प्रकृतियों के क्षय-उपशम आदि को ही पूर्ण प्रधानता दी गई है। अठारह पापों मे सबसे बड़ा पाप मिथ्यादर्शन शल्य को माना है न कि प्राणातिपात को। सम्यग् दर्शन के अभाव में हिंसादि सत्रह पापों का त्याग मात्र द्रव्य त्याग है। सम्यक् दर्शन की प्राप्ति राग-द्वेष का मूल अनन्ता-

नुबन्धी कषाय चतुष्क एवं मिथ्यात्व मोहनीय आदि इन सात के क्षय-उपशम-क्षयोपशमादि से ही मानी है।

अहिंसा और वीतरागता मे फल और बीज जैसा सम्बन्ध है। वीतरागता बीज रूप है और उसका अन्तिम फल अहिंसा है। जिस प्रकार आम आदमी फल को प्रमुखता देता है और फल के अन्दर रहे हुए बीज की उपेक्षा ही करता है, उसी प्रकार आज अधिकाश जैन समाज ने भी वीतरागता रूप सच्ची अहिंसा को भुला कर ऊपरी प्राण-शून्य द्रव्य अहिंसा को ही सच्ची अहिसा समझा हैं। व्यक्ति जैसा समझता हैं वैसा ही वह आचरण करता हैं इसलिये धार्मिक क्रिया-कलापो में भी मूल वीतरागता के लक्ष्य को भूल कर मात्र ऊपरी क्रियाकाण्डों में ही धर्म की इति श्री मान ली गयी।

जिस ज्ञान और क्रिया के फलस्वरूप यदि वर्तमान जीवन में राग-द्वेष कम न हो तो वह ज्ञान मात्र गधे की पीठ पर शास्त्रो के बोझ की तरह भार रूप है और क्रिया भी मात्र कायक्लेश रूप है।

जैन दर्शन में हिंसा-अहिंसा की इतनी तार्किक, मार्मिक, व्यावहारिक एवं वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध होते हुए भी जैन धर्म के मानने एवं पालने वाले समाज की स्थिति आज बड़ी विचित्र, हास्यास्पद एव दयनीय हो रही है। उसका मूल कारण भी अहिंसा का मूल प्राण जो वीतरागता है, उसको प्रायः भुला देना ही है। हिसादि अठारह ही पापों जिनमें क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष एव मिथ्या दर्शन शल्य तक सम्मिलित है, उन सब पापो का करना, कराना, अनुमोदना रूप तीन कारणों से और मनसा, वाचा, कर्मणा रूप तीनो योगो से त्याग करके पूर्ण अहिंसक कहलाने वाले अधिकांश साधु-साध्वियाँ भी आज मम और अह अथवा राग-द्वेप घटाने के बजाय उल्टे बढ़ाने मे व्यस्त दिखाई देते है। धर्म, प्रशस्त राग अथवा धर्मानुराग के भुलावे मे सम्प्रदाय, संघ अथवा संगठन के नाम पर साम्प्रदायिकता का उन्माद इतना हावी होता जा रहा है कि 'मैं' और 'मेरेपन' के सिवाय मानो इनको कुछ नजर ही नही आ रहा है। जब 'तिन्नाण तारयाणं' कहलाने वाले गुरु वर्ग की स्थिति इस प्रकार की हो तो वेचारा गृहस्थ अथवा श्रावक समाज जिसमे ६५ प्रतिशत तो प्रायः इन धर्म-गुरुओ के अन्धभक्त ही होते है, वे इस वीतरागता रूप अहिसा के स्वरूप को समझ ही कैसे सकते है ?

अहिंसा को पूर्णरूपेण आचरण में उतारने का दावा करने वाले त्यागी वर्ग में भी जिस ज्ञान और क्रिया के फलस्वरूप जीवन में नम्रता, सरलता, उदारता, प्रसन्नता, समता, शान्ति, करुणा, मैत्री आदि जैसे सद्गुण न बढकर अगर उल्टे अहं, संकीर्णता, वक्रता, तनाव, ममता, राग एवं द्वेप आदि के फलस्वरूप अगर अन्तरंग अशान्ति बढ़ रही हो तो उस ज्ञान अथवा क्रिया

से न धर्म होता है न पुण्य ही। जिस प्रकार कुटुम्ब में स्वार्थ एवं रागवश किया गया त्याग अथवा सेवा से पुण्य या धर्म नही होता, इसी प्रकार जिस ज्ञान अथवा त्याग के अन्दर अगर 'अहं' या 'मम' का स्वार्थ रहा हुआ हो तो वह भी धर्म के नाम पर पाप ही है, स्व-पर की अहिंसा के नाम पर स्व की तो हिंसा ही है। ऐसे अहिंसा के पुजारी अपना तो अहित करते ही है साथ मे नव-युवकों एव अजैन समाज में सच्चे अहिंसा दर्शन एवं धर्म के प्रति आस्था बढ़ाने के बजाय उलटा घटाने का ही कार्य करते है। जिस प्रकार देश मे भी आज अपनी कुर्सी एव अपनी पार्टी की स्वार्थन्धिता में वोटों की राजनीति चल रही है, सच्चे देश-प्रेम के अभाव मे देश की भयंकर हानि हो रही है, फिर भी इन नेताओ को समझ मे आना मुश्किल हो गया; वही हालत आज के इन धर्म-नेताओ की भी है।

कैसी विचित्र, हास्यास्पद एवं दयनीय स्थिति है हमारी कि अहिंसा के पालनार्थ कच्चे पानी एव वनस्पति का त्याग करने वाला शरीर के रागवश दवाई के नाम पर मासाहारी दवाइयों का प्रयोग भी नही छोड़ सकता। घर एव स्थानक में कीड़ी-कुन्थुवे की दया पालने वाला लोभ के वश घी में चर्वी, इससे बढ़कर अण्डे-मछली के व्यापार या कत्लखाने तक भी खुलवाने मे नही हिचकता। लोभवश दहेज के लिये पुत्रवधुओं को मार देना, जला देना अथवा तंग करना तो मानो आम बात हो गई है। हमारे घरों, दुकानो अथवा फैक्टरियो मे काम करने वाले नौकरों को जानवर से ज्यादा कुछ नही गिनते। गिरवी जैसा धन्धा करते हम गरीबों का खून भी चूस जाने से नही चूकते।

पूर्ण अहिसक बनने हेतु धन, कुटुम्ब आदि को छोड़ने वालों मे अधिकांश साधु-साध्वी अपने मम एव अहम् के वशीभूत होकर संवत्सरी जैसे पर्व को एक दिन मनाने के लिये भी एक मत नही हो सकते। धर्म के प्रचार-प्रसार के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर; प्रदर्शन अथवा भक्तो की भलाई के नाम पर मन्त्र-तन्त्र एव चामत्कारिक प्रयोगों मे फॅस रहे है। स्वयं के अथवा सम्प्रदाय के ममत्व एव अहम्त्व-वश अन्य सम्प्रदायो, संघो आदि से ईर्षा, द्वेषवश निन्दा करना, कीचड़ उछालना, झूठे आरोप लगाना आदि तक से भी नही चूकते। अधिकाश संघ अथवा सम्प्रदाय भी आपसी गुटवाजी सघाडे-वाजी के कारण प्रेमपूर्वक रह नही सकते।

इन सबका नतीजा यह है कि जैन एवं अहिसक कहलाने वाले कुटुम्बो अथवा सम्प्रदायों मे भी अधिकाश व्यक्ति अन्तरग तनाव, अशान्ति आदि से त्रस्त हैं और प्रवुद्ध वर्ग अथवा अन्य समाजो के लिये हँसी के पात्र वने हुये है। जैन समाज की वर्तमान इस दुर्दशा का कारण भी अहिंसा सम्वन्धी ही कुछ मूल की भूले ही है जो निम्न प्रकार है :—

वैसे ये भूले मात्र जैनों में ही हो, ऐसी बात नहीं। प्रायः सभी धर्मो की हालत भी ऐसी ही है परन्तु चूंकि जैन धर्म एव दर्शन सबसे ज्यादा अहिंसक माना जाता है, इसलिये मुख्य रूप मे इसका नाम लिया गया है। वैसे तो आज के विश्व मे कितनी लड़ाइयाँ, हिंसादि प्रवृत्तियॉ, मारकाट आदि धर्म के नाम पर ही हो रहे है। हिन्दुस्तान की राजनीति मे भी आज धर्म को ही बहाना बनाया जा रहा है।

१ धर्म या अहिसा का मूल जो समता अथवा वीतरागता है उसको न समझ सकना या भुला देना। वास्तव में तो 'अहिसा परमो धर्मः' का नारा जिसे आज प्रायः सभी जैन एवं अधिकांश अजैन भी इसे जैनों का नारा मानते है तथा जो प्रायः हर जैन स्थानक, उपाश्रय आदि में लिखा हुआ भी मिलता है, यह जैनों का है ही नहीं, यह तो महाभारत के अठारहवे पर्व में आया वैदिकों का नारा है। जैनों का असली नारा तो 'वीतरागता परमोधर्मः' है। क्योंकि जैन-दर्शन का मानना है कि हिसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि सभी पापों के मूल में तो क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय है जिनका संक्षिप्त दो भेदों में नाम राग एव द्वेष तथा एक भेद में कहीं मोह, कहीं प्रमाद आदि दिया गया है। कषाय अथवा राग-द्वेष के बिना कोई हिंसादि पाप कर ही नही सकता और अगर हिसा, झूठ आदि प्रवृत्ति कषाय के अभाव में अशक्य परिहार के रूप हो जाती है तो उससे पाप का लगना नही माना जाता, इसे ऊपर विस्तार से सिद्ध किया जा चुका है। इसीलिये जैन दर्शन में पापों में प्राणातिपात को प्रथम रख कर भी इसे मुख्य नहीं माना गया। मुख्य तो मिथ्या दर्शन शल्य नामक अठारवां पाप ही माना गया है।

२. भौतिक सुखो की प्राप्ति को अर्थात् धन, कुटुम्ब, शरीर, यश आदि के मिलने को धर्म का फल माना जा रहा है, जबकि ये पुण्य रूप कर्म के फल-स्वरूप मिलते है न कि धर्म के फल-स्वरूप। भौतिक सुख जो साता वेदनीय या शुभ नाम कर्म के उदय के फल-स्वरूप है, अगर इनके भोग मे जीव राग करता है तो पाप का बन्ध करता है। पर आज के ९५ प्रतिशत जैनी इस अहिंसादि ऊपरी धर्म का पालन भौतिक सुखो के लिये करते है। कई धर्म गुरु स्वयं भी इस भूल के शिकार है। अपने भक्तो का दु.ख दूर करने या धन, पुत्रादि की प्राप्ति हेतु माला, जाप, मन्त्र, तन्त्र आदि बता देते हैं या मांगलिक सुनाया करते है। धर्म का फल शान्तियुक्त सच्चा आध्यात्मिक सुख है।

३. स्वार्थ एवं राग आदि से रहित जो अहिसा दया, करुणा, सेवा, परोपकार आदि धर्म का फल जो तत्काल शान्ति का मिलना है, जिसका सम्बन्ध पहले ज्यादा वर्तमान जीवन से है, उसको न समझ सकना और इसके

फलस्वरूप धर्म का फल परलोक से अर्थात् मरने के बाद स्वर्ग आदि का मिलना मानना। मम अथवा अहम् रूप स्वार्थ के नाश अथवा कमी करने की भावना युक्त होकर जो भी अहिंसादि संवर रूप अथवा स्वाध्याय, सेवा, परोपकार आदि निर्जरा रूप जो भी क्रिया की जाती है, उससे तत्काल शान्ति मिलती है। पानी पीते ही जैसे प्यास बुझती है। जैन दर्शन में नव तत्वों में धर्म के तत्व संवर, निर्जरा एव मोक्ष को ही स्वीकार किया गया है। इनकी न स्थिति बंधती है न अबाधा काल होता है। स्थिति बंध एवं अबाधा काल कर्म का होता है। धर्म के साथ जो पुण्य होता है वह कर्म है, धर्म नहीं इसलिये कालान्तर या परलोक आदि में जो फल मिलता है वह पुण्य का है। जिस प्रकार गेहूँ, चावल आदि धान्यों के साथ खाखला या भूसादि होता है, इसी प्रकार धर्म धान्य रूप है तो पुण्य खाखले रूप है। इस भूल का नतीजा भी आज समाज भोग रहा है कि अहिंसा, अपरिग्रह एवं अनेकान्त के रहस्य को समझने और जीवन में पालन करने का व्रत ग्रहण करने वाले भी अधिकांशतः तनाव एवं अशान्ति से अन्तरंग में ग्रस्त हैं। कारण कि अहं के स्वार्थ को भी स्वार्थ मानना समझ में नहीं आता जबकि धन एवं सेवा के स्वार्थ से बढकर मुख्य किन्तु सूक्ष्म स्वार्थ तो अहं का ही है।

४. अहिसा, दया, करुणा आदि की पालना में भी क्रम जो पंचेन्द्रिय उसमें भी सर्व प्रथम मनुष्य, फिर पशु-पक्षी आदि फिर क्रमशः चौइन्द्रिय. तेइन्द्रिय, वेइन्द्रिय फिर एकेन्द्रिय होना चाहिये था पर आज वह भी उल्टा पकड़ लिया गया। पानी एवं वनस्पति अथवा वेइन्द्रियादि की हिंसा से बचने का लक्ष्य या ध्यान तो फिर भी रह सकता है, उसके लिये तो हमेशा नियम भी लिये जाते हैं परन्तु सभी पंचेन्द्री जो पशु आदि है तथा मनुष्यों जिनमें हमारे कुटुम्बीजन, नौकर, ग्राहक आदि भी है, उन पर द्वेषवश क्रोधादि नही करने का नियम कब लिया जाता है? इससे हमारे कौटुम्बिक एवं सामाजिक दैनिक जीवन में तनाव एवं अशान्ति बढ़ती ही जा रही है, जो सबसे बड़ी हिसा है।

जैन दर्शन में मोह के क्षय को ही मोक्ष तथा कषाय से मुक्त होने को ही मुक्ति माना है। मोक्ष की साधना के लिये कहा गया है—सम्यग् दर्शन, ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः। —तत्वार्थ अ. १ सूत्र १।

विना सम्यग् दर्शन के अर्थात् मिथ्या दर्शन शल्य रूप अठारहवे पाप के त्याग के विना हिंसादि सत्तरह पापों के त्याग को मात्र द्रव्य त्याग कहा है। उसे धर्म या सच्ची अहिंसा की कोटि में स्वीकार नही किया गया। मोह की तीव्रतम गांठ मिथ्यात्व मोहनीय एवं राग-द्वेष की जड़ अनन्तानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के नाश किये विना सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नही ।

वर्तमान जीवन में भी सच्ची शान्ति एवं आनन्द राग-द्वेष की कमी तथा समता एवं वीतरागता की वृद्धि से ही प्राप्त हो सकता है। मुक्ति भी उसी जीव की होती है जो मनुष्य जन्म में ही पहले राग-द्वेष का सम्पूर्ण नाश कर वीतराग बनता है, फिर सर्वज्ञ बनता है, यही भाव मुक्ति है। वीतराग सर्वज्ञ का ही निर्वाण को प्राप्त होने पर देह मुक्त या द्रव्य मोक्ष होता है। राग-द्वेष से मुक्त होने पर जीव पहले स्वयं का पूरा एवं सच्चा अहिंसक बन जाता है और शरीर से मुक्त होने पर ही वह प्राणी मात्र की होने रूप हिंसा से भी बच कर 'स्व-पर' का सच्चा अहिंसक बन जाता है और सदा-सदा के लिये शाश्वत शान्ति एवं आनन्द का भागी बन जाता है।

—संयोजक, स्वाध्याय संघ, घोड़ों का चौक, जोधपुर

फिर भरो अहिंसा का प्रकाश

□ डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

[१]

ऋषियो-मुनियों की धरती पर,
नर-मेध नित्य अब होते है।
कर रहे हिंस्र पशु अट्टहास,
गीता-कुरान सब रोते है।
हिंसा के भीषण ताण्डव से,
भय-ग्रस्त हुआ सूरज युग का!
हे महावीर! तुम दो प्रकाश,
रोको विनाश, रोको विनाश!

[२]

सत्ता-विलास का लोभ बढ़ा,
जीवन के मूल्य विलीन हुए।
छल दम्भ और पाखण्ड ओढ़,
मानव, पशु से भी हीन हुए।
घिर रही चतुर्दिक मृत्यु-घटा,
अंगार भरे अन्यायों के।
हे महावीर! जीवन-रण मे,
फिर भरो अहिंसा का प्रकाश।

[३]

सब मे ममता, सब की समता,
जन-हृदय प्रेम का सागर हो।
विद्वेष वैर प्रतिशोध भाव,
सब मिटे शिवम् मय हर नर हो।
हे महावीर! हो उदय सत्य,
सब करें क्षमा में नित्य लास!
दो नई आश, रोको विनाश।
फिर भरो अहिंसा का प्रकाश॥

—४३/८४ उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर (राज.)

चैतन्य महाप्रभु और अहिंसा

☐ डॉ० उषा गोयल

विश्व के सभी धर्म मनुष्य मात्र कल्याण के लिए बने है। सभी धर्मो ने प्रेम, दया और परोपकार जैसे उच्च मूल्यों का संदेश दिया है। इस संदेश की प्रक्रिया-साधन पद्धतियाँ—चाहे भिन्न-भिन्न रही हों किन्तु लक्ष्य सभी का एक ही है—मानवता का विकास। भारतीय धर्म और संस्कृति के मूल मन्त्र है—प्रेम और अहिसा। इनके सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों से सम्बन्धित विपुल मात्रा मे सरस साहित्य की रचना हुई है जिसने भारतीय जन मानस को व्यापक रूप में, गहराई तक प्रभावित किया है। वैष्णव धर्म के अनुसार भगवद् प्रेम साध्य भी है और साधन भी। वैष्णव भक्ति में सेवा, परदुखकातरता व दीनता का विशेष स्थान रहा है। भक्त कवि नरसी मेहता ने सच्चे भक्त की परिभाषा इस प्रकार दी—"वैष्णव जन तो तैंने कहिये जे पीर पराई जाणे रे।" तुलसी-दास ने भी कहा—"परहित सरिस धर्म नही भाई। परपीड़ा सम नहीं अधमाई।" वास्तव में दूसरों को किसी भी प्रकार से कष्ट देना हिंसा और सुख देना अहिंसा है। अहिसा का यही व्यापक अर्थ वैष्णव-प्रेम-भक्ति में अभिव्यक्त हुआ है।

चैतन्य महाप्रभु प्रेम के साक्षात् स्वरूप थे, रसराज श्रीकृष्ण और उनकी आह्लादिनी शक्ति महाभावस्वरूपा श्री राधा के मीलित अवतार थे। बंगभूमि जब वाममार्गीय तान्त्रिक उपासना की हिंसात्मक व अनाचारपूर्ण साधना एवं वाह्य आडम्बरों व संकीर्ण विचारधाराओं में जकड़ी हुई थी, तब चैतन्य ने राधा-कृष्ण की सात्विक व भावमयी उपासना से जीवन को ऊर्ध्वगामी करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने नृत्य-गीत समन्वित महाभावपूर्ण संकीर्तन के द्वारा कृष्ण-प्रेम भक्ति की मधुर धारा से जन-मानस को आनन्द-रस में निमग्न किया। यही प्रेम—यही अखण्ड आनन्द, अहिसा और शांति का मूल स्रोत है।

चैतन्य महाप्रभु के अवतरण का मूल प्रयोजन नाम संकीर्तन द्वारा प्रेम-भक्ति का प्रचार करना था। उन्होने भगवद्-प्रेम को परम पुरुषार्थ—'प्रेमा पुमर्थो महान्'—माना। इसलिए उन्होंने किसी सम्प्रदाय विशेष की स्थापना न करके अपने आचरण द्वारा सार्वजनिक प्रेम-धर्म का प्रचार किया। कृष्ण-प्रेम के माध्यम से उन्होंने जीव मात्र के प्रति प्रेम को प्रचारित किया। उन्होंने कहा—

जीवे दया नामे रुचि, वैष्णव सेवन,
एइ त्रय धर्म आछे सुनो सनातन"

—चैतन्य चरितामृत

अर्थात् जीव मात्र पर दया, भगवान के प्रति प्रेम और मनुष्य मात्र की सेवा—ये ही तीन श्रेष्ठ धर्म है।

सच्चे प्रेम में अहं का विसर्जन और आत्म-समर्पण होता है। अभिमान-शून्यता और सहिष्णुता का भाव ही हमें मन, वचन और कर्म से अहिंसक बनाता है। चैतन्य महाप्रभु का मूल मन्त्र था—"कीर्तनीयः सदा हरिः"। उन्होंने संकीर्तन का सच्चा अधिकारी उस व्यक्ति को माना जो तिनके से भी अपने को तुच्छ समझे, वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु बने और स्वयं अभिमान रहित होकर दूसरो को सम्मान दे—

"तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरिः॥"

वस्तुतः चैतन्य ने संकीर्तन के माध्यम से, प्रेम और अहिंसा का सन्देश देकर अपने युग की समस्याओ का समाधान किया। उस समय की समस्याएँ भी बहुत कुछ आज जैसी ही थी। नाना प्रकार के विद्रोह, षड्यन्त्र, हत्या, व्यभिचार व विद्वेष से भय व आतंक का वातावरण था। ऐसे समय मे उन्होने भारत के विभिन्न स्थलों में स्वयं घूम-घूमकर और अपने पार्षदो को भेजकर प्रेम का प्रचार करके हिंसात्मक उग्र प्रवृत्तियो को शान्त किया। उनका महाभावपूर्ण संकीर्तन जड़ और चेतन दोनों को प्रेममय बना देता था। राक्षसी प्रवृत्ति वाले मनुष्य ही नही, शेर, चीते जैसे हिंसक जीव-जन्तु भी उनके प्रेम के वशीभूत हो प्रेमोन्मत्त हो जाते थे।

संकीर्तन रूपी प्रेमास्त्र आज के आणविक अस्त्र से बहुत अधिक शक्तिशाली है। आणविक अस्त्र मनुष्य की देह पर प्रहार करता है अतः विनाशकारी होता है लेकिन संकीर्तन रूपी प्रेमास्त्र मनुष्य के अन्तःकरण पर प्रहार करता है, इसलिए मंगलकारी होता है। महाप्रभु चैतन्य ने इसी मंगलकारी संकीर्तन के अस्त्र से स्वेच्छाचारी व हिंसात्मक शक्तियो को झुकाया। उनके समय मे जब काजी ने राजाज्ञा द्वारा कीर्तन पर प्रतिवन्ध लगाकर जनता की स्वतन्त्रता को छीना और मनमाना अत्याचार किया तो उन्होने उसे चुपचाप सहन नही किया और डटकर उसका विरोध किया लेकिन शान्तिपूर्ण तरीके से। उन्होने जन-शक्ति को जाग्रत कर काजी के सामने सामूहिक संकीर्तन किया और 'मामा' कहकर काजी को आत्मीयता से सम्वोधित किया। प्रेमास्त्र की मार से काजी का हृदय विदीर्ण हो गया और अन्ततः उसे आत्मसमर्पण कर अपनी निषेधाज्ञा वापिस लेनी पड़ी।

महाप्रभु ने काजी के द्वारा गोवध बन्द कराया और उसे अहिंसा व प्रेम का उपदेश देते हुए कहा—"गाय दूध देती है अतः तुम्हारी माता तुल्य है और बैल अन्न उत्पादन करते है अतः तुम्हारे पिता तुल्य है। माता-पिता का वध कर उनका भक्षण करना अधर्म और निन्दनीय कर्म है। जब मनुष्य में किसी प्राणी को जीवित करने की शक्ति नही है तो किसी को मारने का भी उसे क्या अधिकार है?" (चैतन्य चरितामृत—कृष्णदास कविराज, १/१७/१४७,१४८) महाप्रभु ने धर्म के नाम पर मूक, निरीह व निर्दोष पशुओं की बलि जैसी हिंसात्मक कुप्रथाओं की समाप्ति के लिए अनेक प्रयास किए। वे खण्डला और नासिक होते हुए जब सुराट नगर पहुँचे तो वहाँ अष्ट-भुजा देवी के मंदिर में एक ब्राह्मण बकरे को बलि चढ़ाने को तत्पर था। उन्होंने उसे रोकते हुए अहिंसा का शास्त्र सम्मत उपदेश दिया और कहा कि "कोई भी शास्त्र देवी को पशुबलि चढ़ाने के लिए नही कहते, शास्त्र तो अहिंसा धर्म का पालन करने और सब प्राणियों पर दया ही करने का उपदेश करते है।" इस सदुपदेश से ब्राह्मण के मन में अहिंसात्मक सात्विक भावो का उदय हुआ।

चैतन्य के प्रेम ने जगाई, मधाई जैसे दुराचारी व्यक्तियों और दुर्दान्त डाकुओ का भी हृदय-परिवर्तन किया। बगुला वन में पन्थ भील आदि डाकुओ के साथ तीन दिन रहकर हरिनाम—कीर्तन द्वारा उनके कठोर हृदय को द्रवीभूत किया। महाप्रभु ने उनकी प्रशसा करते हुए कहा कि "तुम पत्नी, पुत्र आदि किसी के मोह मे नही बंधे, गृहस्थियो की तरह विषय—वासनाओ मे नही फँसे, जगलो मे विरक्त साधुओं की तरह घूमते हो अतः तुम एक क्षण मे सब कुछ त्यागकर प्रभु के भजन मे लग सकते हो।" (चैतन्य लीलामृत—डॉ० अवधविहारीलाल कपूर, पृ० २६२)। इस प्रकार के प्रशंसापूर्ण वचनों को सुनकर डाकू के मन में आत्मग्लानि हुई और सहज रूप से पश्चाताप के भाव जाग्रत होते ही वह तुरन्त अपने पापो को स्वीकार कर महाप्रभु के चरणो मे गिर पड़ा। इसी प्रकार चोरानन्दी वन में नौरोजी डाकू ने भी संकीर्तनानन्द के प्रभावस्वरूप हिंसात्मक प्रवृत्तियाँ त्यागी।

प्रेम और अहिसा के द्वारा हृदय के परिष्कार पर चैतन्य ने सर्वाधिक बल दिया। उनका आचरण इसे भली भाँति प्रतिपादित करता है। उनके समय मे सुबुद्धिराय को षड्यन्त्र के द्वारा काशी के रूढ़िवादी पण्डितों ने जाति से बहिष्कृत कर दिया था और उनके पश्चात्ताप के लिए उबलते हुए घी के पान का विधान किया था। चैतन्य ने इस प्राणघातक हृदयहीन व्यवस्था को चुनौती दी और इस निर्मम दण्ड विधान को ठुकराकर सुबुद्धिराय को वृंदावन भेज दिया, जहाँ सकीर्तनामृत के मधुर आस्वादन द्वारा उनके जीवन को सार्थक दिशा प्रदान की। चैतन्य ने प्रेम से परिपूर्ण मधुर वचनों द्वारा अहिसात्मक

को प्रोत्साहन दिया। नागर नगर में एक ईर्ष्यालु ब्राह्मण ने कुछ अपशब्द बोलकर महाप्रभु का अपमान किया और उन्हें मारना चाहा। किन्तु महाप्रभु के मन में क्रोध का भाव नहीं आया अपितु उन्होने हँसकर कहा कि "तुम मुझे मार भले ही लो, उससे मुझे तनिक भी दुःख नही होगा किन्तु दयाकर एक बार मन से 'हरि' बोलो, जिससे मेरे प्राण शीतल हों। मैं तुमसे यही भिक्षा मांगता हूँ—

आमारे आघात कर ताते दुःख नाई।
प्राण भरे हरि बोलो एइ भिक्षा चाई।"

—अमिय निमाई चरित—शिशिर कु घोष (६/३/७०–७१)

प्रेम और करुणा के इस प्रवाह में ब्राह्मण की ईर्ष्याजन्य हिंसक वृत्तियाँ बह गई और उसका हृदय प्रेम-रस से भर गया।

चैतन्य महाप्रभु के जीवन चरित्र में ऐसे अनेकानेक प्रसंग मिलते है जिनसे यह ज्ञात होता है कि उन्होंने प्रेम के व्यापक, गहन व सहज प्रभाव द्वारा अहिंसा की भावना का प्रसार किया। सर्वोदय, अहिंसा और शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के ये आदर्श आगे चलकर महात्मा गाँधी, विनोबा और जयप्रकाशनारायण जैसे महापुरुषों के जीवन-दर्शन और कार्यों के महत्त्वपूर्ण व आधारभूत सिद्धान्त बने। हिंसा और तनाव से भरे आज के इस युग में भी हमारी समस्याओं का समाधान निस्संदेह प्रेम और अहिंसा में ही निहित है। इसी मार्ग पर अग्रसर होकर मानवता अक्षुण्ण बनी रह सकती है।

—वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग,
श्री सत्य साई कॉलेज फॉर वीमेन, जयपुर

पर दुःख कातर

☐ डॉ० गोवर्धन शर्मा

अपनी चमक-दमक पर मन ही मन मुग्ध होता जुगनू एक जलते दीपक के पास जा पहुँचा। बोला—"तुम चमकते तो हो पर प्रकाश के साथ ही यह काला-काला क्या उगलते हो ? मुझे देखो ! मै चमकता भी हूँ, पर तुम्हारी तरह कालिमा नही फैलाता।"

दीपक शान्त स्वर में बोला—क्या करूँ ? मेरा स्वभाव ही ऐसा है। मुझे दुःख इसी बात का है कि मेरी एक सीमा है, मर्यादा है। अपने घेरे के बाहर प्रकाश देकर मार्ग भटके हुए पंथी का पथ आलोकित नही कर पाता। अपनी इस अशक्ति और विवशता के ताप में जला जा रहा हूँ, उसी की यह आह है।

महात्मा गाँधी का अहिंसा-दर्शन

☐ डॉ० ज्ञानप्रकाश पिलानिया

महात्मा गाँधी का स्वभावतः अहिंसा मे अटूट विश्वास था। महात्मा गाँधी की अहिसा कोई निषेधात्मक धारणा नही थी वरन् अच्छाई से बुराई को जीतने का सिद्धान्त था, प्राणी मात्र के प्रति मनसा, वाचा, कर्मणा सद्भावना रखने का विचार था, सर्वोच्च प्रेम और आत्म-बलिदान की धारणा थी, जिसमें घृणा के लिए कोई स्थान नही था।

गाँधीवादी दर्शन के अनुसार अहिसा तीन प्रकार की हो सकती है—जाग्रत अहिंसा, औचित्यपूर्ण अहिंसा एवं भीरुओं की अहिसा। जाग्रत अहिंसा वह है जो व्यक्ति मे अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार स्वभावतः उत्पन्न होती है और व्यक्ति अहिसा को आन्तरिक विचारों की नैतिकता के कारण स्वीकार करता है। यह अहिसा का सर्वोत्कृष्ट रूप है जिसमे असम्भव को सम्भव बना देने की शक्ति है। औचित्यपूर्ण अहिसा वह है जो जीवन के क्षेत्र-विशेष मे आवश्यकता पडने पर औचित्य के अनुसार एक नीति के रूप मे अपनाई जाए। अहिसा का यह रूप दुर्बल व्यक्तियो के लिए है पर ईमानदारी और दृढता से पालन करने पर यह अहिसा काफी लाभदायक सिद्ध हो सकती है। भीरुओ की अहिसा तो निकृष्ट अहिसा है। "कायरता और अहिसा आग तथा पानी की भाँति एक साथ नही रह सकते।" अपनी नपुंसकता को छिपाने के लिए अहिसा का आवरण धारण करने से तो हिसक होना अधिक अच्छा है, क्योकि हिसक मे साहस होता है तथा उससे यह आशा की जा सकती है कि किसी न किसी दिन वह अहिसक बन जाएगा। कायर से इस प्रकार की आशा नही की जा सकती। महात्मा गाँधी ने जीवन के व्यावहारिक प्रयोग से यह सिद्ध किया कि अहिंसा आत्म-बल की प्रतीक है और यह ऐसा अमोघ शस्त्र है जो कभी खाली नही जा सकता। अहिसा को वैयक्तिक आचरण तक ही सीमित न रखकर मानव-जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे लागू किया जाना चाहिए। गाँधी की अहिसा मोक्ष-प्राप्ति का ही साधन नही है वरन् सामाजिक शान्ति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारिवारिक निर्माण का भी साधन है।

महात्मा गाँधी ने समस्त मानवीय समस्याओ और व्यथाओं के निराकरण के लिए बहुमुखी अहिसा का उपदेश दिया जिसे उन्होने कभी-कभी प्रेम मानव-सहयोग आदि की संज्ञा दी। उनकी एक मूलभूत मान्यता यह

अहिंसा जन-साधारण के लिए तो आवश्यक ही है, नेताओं को विशेष रूप से इसका पालन कर जनता के सामने आदर्श प्रस्तुत करना चाहिए।

गाँधीजी ने अहिंसा की परिभाषा करते हुए कहा—"मेरी सम्मति मे अहिसा किसी भी रूप में निष्क्रियता नही है। जैसा कि मैने अहिंसा को समझा है, यह ससार में सर्वाधिक क्रियाशील शक्ति है। अहिसा सर्वोत्कृष्ट एव सबसे महान् नियम है।"

गाँधीजी की अहिंसा में निष्क्रियता और कायरता लेशमात्र भी नही है। एक अवसर पर उन्होंने कहा—"भारत की इज़्ज़त की रक्षा के लिए, मैं यह अधिक श्रेयस्कर समझूँगा कि हमारा देश शस्त्र का सहारा ले बजाय इसके कि वह कायरों की तरह निस्सहाय होकर अपनी बेइज्जती होते हुए देखे।"

गाँधीजी ने अहिंसा को अपना धर्म स्वीकार करके अपने को कभी असहाय अनुभव नही किया। उन्होने कहा—"कठोरतम धातु भी पर्याप्त ताप के आगे पिघल जाती है। इसी प्रकार कठोर से कठोर हृदय भी अहिंसा के पर्याप्त ताप के आगे द्रवित हो जाता है और ताप उत्पन्न करने की अहिंसा की क्षमता की कोई सीमा नहीं है। मेरे सामने अपने पचास साल के अनुभव मे ऐसी स्थिति कभी नहीं आई जब मुझे यह कहना पड़ा हो, कि मेरे पास इसका कोई अहिसक इलाज नही है।"

महात्मा गाँधी के अनुसार—"वस्तुतः, अहिसा की अग्नि-परीक्षा यह है कि जब हिंसक बनने के लिए भयंकरतम उत्तेजना का अवसर मौजूद हो तब भी आदमी अहिसक रीति से सोचे, बोले और आचरण करे। भद्र और नेक पुरुषों के प्रति अहिंसक बनने में कोई बडप्पन नही है। अहिंसा ससार में वह सबसे बड़ी शक्ति है जो कि सबसे बड़े प्रलोभन का सामना करने की क्षमता रखती है।"

गाँधी के अनुसार—अहिंसा (किसी को हानि न पहुँचाना) का अभिप्राय है—असीम प्रेम। यह सबसे बडा नियम है। केवल इसी के द्वारा ही मानव जाति को बचाया जा सकता है। अहिंसा और सत्य एक दूसरे से अभिन्न है, और दोनों एक दूसरे की पूर्व कल्पना करते है। अहिंसा शक्तिशालियों और बहादुरो का अस्त्र है। भगवान् का सच्चा भक्त तलवार का प्रयोग करने की शक्ति रखता है, परन्तु वह यह जानते हुए कि प्रत्येक व्यक्ति भगवान् की प्रतिमा है, उसका प्रयोग नही करेगा। शात, दृढ निश्चयी और प्रभु से डरने वाली जनता के वेग के आगे दुनिया की कोई ताकत नही टिक सकती। अहिंसा संसार के समस्त शस्त्रों से अत्यधिक शक्तिशालिनी है। अहिसा सच्ची नम्रता की अपेक्षा रखती है, क्योंकि यह अपने पर निर्भरता नही, अपितु केवल भगवदाश्रितता है।

देश की आजादी में अहिंसा की भूमिका :

स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० के शब्दों में, "गाँधी ने इस पर बडा चिन्तन किया। शायद यह कह दिया जाय तो भी अनुचित नही होगा कि महावीर की अहिसा का व्यवहार के क्षेत्र में उपयोग करने वाले गाँधी थे। संसार के सामने उसूल के रूप मे अहिसा को रखने वाले महावीर के बाद मे ये पहले व्यक्ति हुए। उन्होंने सोचा कि हमारे लिए यह अमोघ शस्त्र है। हमारे गौरांग प्रभु के पास में तोपे है, टैंक है, सेना है, तबेला है और हमारे पास में ये सब नही है। गाँधीजी ने अहिसा का तरीका अपनाया। सबसे पहले उन्होने अहिसा को अपने जीवन मे और विश्व के सम्पूर्ण प्राणीमात्र के जीवन मे काम आने वाला अमृत बताया और कहा कि अहिसा का अमृत पीने वाला अमर हो जाता है। उसी अहिसा पर गाँधीजी को विश्वास हो गया। गाँधीजी के सामने भी देश को आजाद करने के लिये विविध विचार रहे।"

अष्टांग योग में अहिंसा :

पतंजलि ऋषि ने अष्टांग योग की साधना मुमुक्षुजनो के सामने रखी। अष्टांग योग मे पहला है—यम। यम पाँच प्रकार के है। अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सबसे पहला स्थान अहिसा को दिया गया है। उन्होंने कहा कि जब तक अहिसा को साध्य बनाकर नही चलोगे, तब तक आत्मा को, समाज को, राष्ट्र को और किसी को दुःख-मुक्त नही कर सकोगे। पतजलि के शब्दों मे ही "अहिसा प्रतिष्ठायां वैरत्याग.।" यदि आप चाहते है कि दुनिया मे आपका कोई दुश्मन न रहे, तो आप अहिसा को धारण करे। मानव समाज में मतभेद स्वाभाविक है। अधिकारो के लिए भी संघर्ष हो सकते है। हिसा जीवन का स्वभाव नही, अपितु मनोविकार है। अहिसा आत्मा का स्वाभाविक गुण है। देश आजाद हुआ। किससे? अहिसा, प्रेम और बन्धुत्त्व भावना की एक शक्ति के द्वारा।

अहिंसा-तत्त्व को जीवन में उतारें :

स्वर्गीय आचार्य श्री हस्तीमल जी म०सा० ने अहिसा के सिद्धान्त को अपनाने का आह्वान करते हुए कहा—"महावीर ने धर्म-क्षेत्र मे अहिंसा को अपनाने की शिक्षा दी। गाँधी ने राज्य-क्षेत्र में अहिसा को अपनाने की प्रयोगात्मक शिक्षा दी। महावीर ने अहिसा के द्वारा आत्मशुद्धि करने का बारीक से बारीक चिन्तन किया, लेकिन गाँधी ने चिन्तन किया कि घर गृहस्थी के मामलों को भी अहिसा हल कर सकती है। अहिसा के द्वारा कोई भी बात-चाहे समाज की हो या घर की, हल की जा सकती है। जिसके घर मे अहिंसा के बजाय हिंसा होगी, प्रेम के बजाय फूट होगी, वहाँ शक्ति, समृद्धि, मान-सम्मान सब का ह्रास होगा। उनका जीवन काम करने के लिये आगे नही बढ पायेगा।

इसलिये महावीर का अहिसा सिद्धान्त देश मे समस्त मानव जाति को सिखाना होगा, अमली रूप मे लाना होगा। सभी लोग इसे अमल में लावे, उससे पहले महावीर के भक्तों को इसे अपनाने की सबसे पहली आवश्यकता है। लेकिन महावीर के भक्तों को अभी अपनी वैयक्तिक चिन्ता लग रही है। सबके हित की बात तो बोल जाते है, लेकिन करने के समय अपना घर, अपनी दुकान, अपना धन्धा, अपने बाल-बच्चो की व्यवस्था आदि के सामने दूसरी बातो की ओर देखने की फुरसत नही है। सार्वजनिक सेवा करने वाले लोग व्यक्तिगत स्वार्थ को भुलाकर, ममत्व को भुलाकर देखे कि गाँधो जैसे व्यक्ति देश के लिये बलि हो गये, गोली खाकर मर गये, लेकिन उन्होने अहिसा तत्त्व को अन्त तक नही छोड़ा। मरते समय उनके मुँह से 'राम' निकला। जहाँ ऐसा नमूना हमारे सामने है, वहाँ जैन समाज और भारत के अहिसक समाज के लोगो को कितना उच्च शिक्षण लेना चाहिये ?"

—सदस्य, राजस्थान लोक सेवा आयोग—३०५००१

• □ •

सक्रिय सेवा

□ श्री मनोज इकबाल

पं० मदनमोहन मालवीय का जीवन बड़ा संयमी व परोपकारी था। एक बार की बात है। प्रयाग में घण्टा घर के पास एक भिखारिन किसी पीडा से हाय-हाय कर रही थी। मालवीयजी उसका हाहाकार सुनकर रुक गए। उससे उन्होंने पूछा—'क्या दर्द कर रहा है ?'

वह बोल न सकी, तव उसके पास वैठकर वे पूछने लगे—'कभी दवा करायी है ?'

वह फिर न बोली और उनकी ओर ताकती रही। तब उन्होंने मिश्राजी से कहा—'एक इक्का लाओ और इसे अस्पताल पहुँचाओ।' उसे इक्के पर विठाकर अस्पताल लाकर पूर्णरूप से दवा-इलाज करवाया तव उन्हे आत्म-सतुष्टि मिली। ऐसे इन्सानियत के पुजारी थे पण्डित जी !

—सुन्दर स्पोर्टस्, चेटक सर्किल, उदयपुर

अभिनव विज्ञान युग : अभिनव अहिंसा

□ आचार्य विनोबा भावे

सृष्टि की हर चीज में और हरएक व्यक्ति में दो तरह के मसाले है; एक को 'देह' कहते हैं, दूसरे को 'आत्मा'। देह और आत्मा, दोनो का दृढ़ सम्बन्ध है। दोनों का पोषण किये बिना मनुष्य को पूरा समाधान नही होता है। जो शरीर की तरफ ज्यादा झुकता है, वह सुखार्थी और आत्मा की तरफ ज्यादा झुकता है वह 'श्रेयार्थी' कहलाता है। शरीर के सुख के लिए 'विज्ञान' की और आत्मकल्याण के लिए 'आत्मज्ञान' की मदद मिलती है। प्राचीन काल से आज तक इन दोनों विद्याओं का विकास होता आया है। मानवजीवन में सुख-उपभोग के अनेक साधन बढ़े है। आज यहाँ बैठ कर दुनिया के किसी भी कोने से बातचीत हो सकती है। दूसरे ग्रहों मे, आकाश मे मनुष्य को प्रवेश मिला है। दूसरी तरफ, सत्यनिष्ठा, समत्व-बुद्धि, न्याय-वृत्ति, दया, प्रेम, वात्सल्य आदि गुणो का कुछ भान हुआ और प्रेम के विकास के लिए कुटुम्ब वने, समाज बना, राज्य बना, तरह-तरह की मर्यादाएँ और नियमन बनाये गये। पूरा विकास नही हुआ है। यात्रा अभी जारी है।

इस प्रकार मनुष्यरूपी पंछी के दो पंख हैं—(1) आत्मज्ञान और (2) विज्ञान। इन दो पंखों पर पक्षी विहार करता है। उनमे से एक भी पंख टूट जाये, तो उसकी उडान खतम हो जायेगी। इसलिए दोनो के विकास से ही जीवन मे सतुलन आयेगा। समाज की दृष्टि से देखा जाये तो दोनो हिस्सो का संतुलन करने से ही समाज में समाधान स्पापित हो सकता है। प्राचीन काल मे भारत में यद्यपि विज्ञान था, पर आध्यात्मिक तृष्णा अधिक थी। पश्चिम के देशो मे पिछले तीन-सौ सालो में विज्ञान का विकास अधिक हुआ। विज्ञान ने आज सुख-विस्तार किया है, परन्तु ऐसा नही कह सकते कि उसके साथ शांति-समाधान भी वढा है। विज्ञान के नाम से आज मनुष्य हिसा जगत् में वहुत आगे वढ़ चुका है।

आखिर विज्ञान एक ऐशी शक्ति है, जिसका सदुपयोग-दुरुपयोग, दोनों ही हो सकते हैं, जबकि अध्यात्म का कभी दुरुपयोग नही हो सकता। आज विज्ञान के नाम से एक समूचा देश दूसरे समूचे देश के खिलाफ लड़ाई में खड़ा हो जाता है। तव यह नही सोचा जाता कि दूसरे देश में भी अच्छे लोग है, वहां भी स्त्रियां और वच्चे हैं, पेड़ है, प्राणी है, जिन्होने हमें सताया नही है, और ऊपर से ऐसे वम वरसाये जाते है, जिससे सव खतम हो जाता है। आज नुक्स

साधन तो बढ गए, पर उसका नियन्त्रण करने की अक्ल नही है। वह तो आत्मा के गुणों में रहती है, उनका विकास नहीं होगा तो मनुष्य दुःखी होगा। जीवन में भी भोग का स्थान है, परन्तु एक मर्यादा में। हमने सूत्र बनाया है **'त२भ'**—जीवन में दो मात्रा त्याग की रहे, एक मात्रा भोग की रहे। विज्ञान अग्नि की खोज करता है परन्तु विज्ञान यह नही कहता कि अग्नि का उपयोग कैसे करना। वह आत्मज्ञान बताता है। आत्मज्ञान तय करता है कि अग्नि से रोटी पकानी है, मकान नही जलाना है। विज्ञान पर आत्मज्ञान का अंकुश चाहिए।

आज का युग विज्ञान-युग माना जाता है। विज्ञान-युग यानी पिछले दो-सवा दो-सौ वर्षो का युग। उसमें भी आखिरी पचास-साठ वर्षो मे विज्ञान की जो प्रगति हुई, वह उसके पहले के २०० वर्षो में भी नही हुई थी। मनुष्य अब केवल पृथ्वी पर रहना नही चाहता, वह अब दूसरे ग्रहों मे जाने लगा है। इसलिए कहना तो यह चाहिए कि अब 'अभिनव विज्ञान-युग' शुरू हुआ है।

विज्ञान समाज भावना ला रहा है :

यह विज्ञान-युग क्या-क्या ले कर आता है, यह समझ लेने की जरूरत है। विज्ञान एक शक्ति है। शक्ति का सदुपयोग हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है। इसलिए विज्ञान-युग में विवेक अनिवार्य है। आज विज्ञान इतना व्यापक हो गया है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व भी टिकने नही देगा। इस जमाने में वह समाज टिक सकेगा, जो अपने को समष्टि का अंश समझेगा। विज्ञान-युग में छोटे-छोटे सवाल भी एकदम अन्तर्राष्ट्रीय हो जाते है, और किसी भी देश का छोटा-सा सवाल समूची दुनिया को स्पर्श करता है, उस पर असर करता है। इस तरह आज विज्ञान मनुष्य को **'मै'** और **'मेरा'** की वृत्ति छोडने को कह रहा है; यह युग अहंता और ममता का छेदन करने खडा है। आज तक आत्मज्ञान तो इस पर प्रहार कर ही रहा था, अब विज्ञान भी संकुचित वृत्ति पर प्रहार कर रहा है। आत्मज्ञान का सिर पर प्रहार और विज्ञान का पाँव पर। विज्ञान-युग में संकुचित भावना टिक नही सकती।

विज्ञान + हिंसा = सर्वनाश :

विज्ञान ने आज ऐसे शस्त्रास्त्र ढूढे है, जिनके उपयोग से पृथ्वी श्मशान बन सकती है। विज्ञान आज हिसा के साथ नही, अतिहिसा के साथ जुड रहा है। इस दिशा में विज्ञान आगे बढता रहेगा तो सर्वनाश अटल है। परन्तु मनुष्य के चित्त मे अभी रक्षण के लिए शक्तिदेवी की उपासना ही चलती है। लोग शांति की उपासना करते है आत्म-समाधान के लिए, सामाजिक समता के लिए, मानसिक शांति के लिए। परन्तु रक्षण के लिए अंतिम 'सैंक्शन' (आश्रय) हिंसा ही मानी है। देश का रचनात्मक काम करना है तो सत्त्वगुण का उपयोग है; परन्तु अभी तक यह मान्य नही हुआ है कि रक्षण के लिए भी सत्त्वगुण समर्थ

है। दुनिया में आज कशमकश चल रही है; जबान पर तो 'ॐ शांतिः शांतिः शांतिः' है परन्तु तैयारियां विश्वयुद्ध की हो रही है। चाह है शांति की, परन्तु राह ली है अशांति की।

इसलिए रक्षण के लिए हिंसाशक्ति अब अपना तीव्र रूप धारण कर रही है। लेकिन यह शक्ति तो मूढ़ देवी है। जो देवी मूढ़ है, उसको देवी मानना ही गलत है—उस पर विश्वास रखना ही गलत है, तो फिर अंतिम विश्वास रखना तो और भी गलत है। इन दिनो, भयानक शस्त्रास्त्र निकलने के कारण राष्ट्रों में 'बैलन्स ऑफ पावर'—शक्ति के संतुलन की होड चली है। और वह होते-होते दोनों पलड़ो मे इतना बजन बढ़ रहा है कि तराजू टूटने की नौबत आ गयी है।

विज्ञान + आत्मज्ञान = सर्वोदय :

ऐसी परिस्थिति मे विज्ञान की मदद में आत्मज्ञान को जोडना होगा। आज विज्ञान की युति हिंसा के साथ होने जा रही है। उसको रोक कर उसकी युति अहिंसा से करनी होगी। यह तब होगा जब अहिंसा पर निष्ठा बढ़ेगी। हमारा विश्वास हिंसा या दण्डशक्ति पर नही; अहिंसा की करुणा की शक्ति पर, समझाने की विचारशक्ति पर होना चाहिए। हमारे रोजमर्रा के जीवन मे जो छोटी-छोटी हिंसाएँ व्याप्त है, वे जब तक नही मिटेगी, तब तक यह बडी हिंसा मिटने वाली नही है। मुझे तो इन छोटी-छोटी हिंसाओं का जितना डर है उतना इस बडी हिंसा का नही है। क्योंकि वह हिंसा नही, संहार है; और विश्वसंहार तभी होगा जब विश्वनियंता की इच्छा होगी। लेकिन छोटी-छोटी हिंसाओ को मिटाना ही होगा इसलिए समाज में क्षोभ पैदा न करनेवाली समस्या-मोचिनी क्षोभरहित शक्ति की खोज हमे करनी होगी। हमारी अंतिम श्रद्धा अहिंसा पर दृढ करनी होगी।

जैसे आज विज्ञान के साथ हिंसा जुड़ रही है, वैसे ही वर्तमान संकीर्ण राजनीति भी जुड रही है। वर्तमान राजनीति तोड़ने की राजनीति है। कोई भी मसला राजनीति से सुलझनेवाला नही है। ऐसी परिस्थिति में विज्ञान का राजनीति से नाता तोडना होगा। हमने आज की परिस्थिति का एक सूचक-सूत्र बनाया है। वह इस प्रकार है—

विज्ञान + सियासत (राजनीति) = सर्वनाश

विज्ञान + रूहानियत (आत्मज्ञान) = सर्वोदय

मतलब, विज्ञान के साथ रूहानियत को जोडना होगा। और, तोड़नेवाली नही, बल्कि सबको परस्पर जोड़नेवाली प्रक्रिया ढूढनी होगी। आत्मज्ञान अगर विज्ञान के साथ जुड जायेगा तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतरेगा, अन्यथा सर्व निश्चित है।

जब तक विज्ञान राजनीति का गुलाम रहेगा, तब तक दुनिया को नाश करनेवाली खोजे करता रहेगा। आइन्स्टाईन ने भी कहा था कि हमको ऐसे काम नही करने चाहिए, जिनसे दुनिया का संहार हो। संहारक शस्त्र खोजते-खोजते हम 'बैलेस्टिक वेपन्स'—प्रक्षेपणास्त्र तक पहुंच गये। आज दुनिया को सबसे बड़ा खतरा परमाणु-शस्त्र का है। यह सब विज्ञान की राजनीति की गुलामी है। इस गुलामी को काफी सहन कर लिया, अब हमें अपने को राजनीति से बिलकुल अलग कर लेना चाहिये और साफ कह देना चाहिए कि इससे आगे विज्ञान राजनीति के मार्गदर्शन में नहीं, अध्यात्म के मार्गदर्शन में चलेगा।

मानव को विज्ञान में ऐसी खोजें करनी चाहिए, जिनसे मानव का विकास हो, जैसे खेती है। विज्ञान का उपयोग खेत में उत्पादन बढाने मे हो, यह ठीक ही है, लेकिन उससे जमीन की ताकत ही कम हो, यह कुशलता नही मानी जायेगी। अब तो ऐसी औषधियाँ खोजी गयी हैं, जिनके कारण वातावरण दूषित होता है। उससे मनुष्य-जीवन में अनेक प्रकार की बीमारियां फैलती है। समुद्र मे भी प्रदूषण फैला है। परिणामस्वरूप समुद्र मे कई मीलों तक मछलियां मर रही है। विज्ञान के गलत उपयोग के कारण प्रदूषण जैसी अनेक समस्याएं पैदा हुई है। इसलिए मनुष्य-जीवन के लिए जो लाभदायी है ऐसी चीजो के लिए विज्ञान का उपयोग होना चाहिए। विज्ञान चद लोगों के हाथों मे नही रहना चाहिए। विज्ञान का विस्तार पूजीपति और राजनीतिवाले करेंगे तो समाज में झगड़े बढ़ेगें। विज्ञान लोकजीवन के लिए चाहिए। जैसे, छोटे-छोटे औजार ढूढ़ने में, रोग-बीमारियो को खतम करने में विज्ञान का उपयोग हो। इस प्रकार विज्ञान लोक-समस्या के साथ जुड़ जाये। सर्वोदय विज्ञान के लिए प्राणवायु है।

दिशा अध्यात्म, गति विज्ञान :

जैसे मोटरकार में दिशासूचक और गतिवर्धक, दो प्रकार के यंत्र होते है, वैसे ही हमारे जीवन के लिए विज्ञान गतिवर्धक यंत्र होगा और आत्मज्ञान दिशासूचक यंत्र, जो विज्ञान को नियन्त्रित करेगा। स्वय विज्ञान में यह शक्ति नही कि वह अपना सदुपयोग ही होने दे। इसलिए, उसका विवेकपूर्वक उपयोग करने के लिए विज्ञान के साथ दिशासूचक यत्र—आत्मज्ञान को जोड़ देना होगा।

विज्ञान-शक्ति 'सत्' के साथ जुड़ी हुई है। सत् तत्त्व की छानवीन करके उसकी गहराई प्राप्त करने का विज्ञान का प्रयत्न रहेगा ही। इसमे वह कभी संहारक शक्ति भी प्राप्त कर लेगा, यद्यपि उसका इरादा तो पृथक्करण का, सत्-प्राप्ति का ही होगा, संहार का नही। इसलिए मार्गदर्शक तत्त्व की वहुत जरूरत रहेगी। उसकी मदद में आत्मज्ञान जुड़ जायेगा, तो पृथ्वी पर नदनवन स्थापित होगा।

जैसे वर्तुल के दो सिरे अंत में मिल जाते हैं, वैसे हिंसा बढ़ते-बढते अतिहिंसा हो कर 'अहिंसा' के नजदीक आ रही है। इसलिए अब आत्मज्ञान को जोर करना होगा। और हमें अपने चित्त को मन से ऊपर उठाना होगा। विज्ञान-युग में मनुष्य को मन से ऊपर उठना होगा। उपनिषदों ने समझाया है कि ममोमय कोष से ऊपर विज्ञानमय कोष है। अब विज्ञानमय कोष को जागृत करने का समय आ चुका है। हमारा चिंतन अक्षुब्ध हो, यह आज नितांत आवश्यक हो गया है।

हमारा देश विविधता से भरा है। उसमे अनेक भेद हैं। इसवास्ते हमारे देश में सबसे महत्त्व की कोई बात हो तो वह अनुराग और स्नेह की है। मै तो सभी विचारधाराओं को गौण और स्नेहभाव को मुख्य मानता हूँ। जैसे-जैसे विज्ञान बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे लोग विचार को समझते जायेंगे। विज्ञान के साधनों का लाभ उठाना हो तो मतभेदों के कारण कभी भी कटुता पैदा नही होने देनी चाहिए। अक्सर न्यायप्रियता और मतभेदो के कारण कटुता, परस्पर वैमनस्य अथवा दुर्भावना पैदा होती है। फिर ऐसी परिस्थिति में विज्ञान के अद्यतन साधनों के अत्यंत खराब परिणाम आते है। इसलिए इस जमाने में मानसिक क्षोभ को स्थान देंगे तो विज्ञान से जो लाभ लेना था, वह तो नही ही ले सकेंगे, बल्कि विज्ञान से होने वाली हानि का ही पूरा फल भुगतेंगे। गाधीजी ने साधनशुद्धि की बात कही थी, उसका एक नया अर्थ मै यहाँ खोल रहा हूँ। साधनशुद्धि अर्थात् ऐसे साधनों का उपयोग, जिनसे हमारे मन मे क्षोभ पैदा न हो। चित्त का या समाज का या जिसका भी परिवर्तन करना हो, परिवर्तन विना क्षोभ का, अक्षुब्ध ही हो। केवल विचार-विमर्श से हो। अक्षुब्ध चिंतन आज के विज्ञानयुग का तकाजा है।

फिर सवाल उठता है कि क्षोभ पैदा ही न हो तो समाज आन्दोलित कैसे होगा? आन्दोलन के लिए तो मन का क्षोभ जरूरी है; आन्दोलन का अर्थ ही है—मन का क्षोभ! परन्तु यह पुराने चित्त की बात है। समाज को आन्दोलित करना है विचार से। शकराचार्य ने यही किया। विचार-भेदों का निरसन बुद्धि के क्षेत्र में होना चाहिए, मन के क्षेत्र में नही। मानसिक क्षोभ पैदा करने से शायद प्रश्न जल्दी हल हो जाये, परन्तु वह हमारे काम का नही है। विज्ञानयुग में चित्त अक्षुब्ध होगा तभी हम टिक पायगे।

नये चित्त का निर्माण :

साम्ययोग के आधार पर हमें नया समाज बनाना है। वास्तव में समाज नया तब बनता है, जब नये मनुष्य का निर्माण होता है, नये चित्त का निर्माण होता है। कुदरत, मकानात, पोशाक, रहन-सहन के ढग आदि सब बदल जाये, लेकिन दिल और दिमाग न बदले तो समाज नही बदला। हम मानवचित्त को नया परिवेश देना चाहते है। नया चित्त-निर्माण करना चाहते है। आज का युग विज्ञान-युग है, इसमे पुराना चित्त नही चलेगा।

हम विश्वनागरिक हैं, हम विश्वमानव हैं, इस युग में अब हम इससे छोटे नही रह सकते। यह विश्वमानववृत्ति पनपाने के लिए दिल को बड़ा बनाना होगा। आज विज्ञान के कारण दिमाग बड़ा बन गया है। आज छोटा बच्चा भी दुनिया का भूगोल जानता है और मनुष्य अब आकाश में घूमने लगा है। इतने विशाल और व्यापक ज्ञान के साथ-साथ अगर चित्त मे छोटे-छोटे राग-द्वेष रहेंगे तो हम टुकड़े-टुकड़े हो जायेंगे। ज्ञान की विशालता के अनुकूल हृदय भी विशाल होना चाहिए।

विराट के सामने हमारी हस्ती :

दिल व्यापक करने के लिए अपनी हस्ती का भान होना आवश्यक है। क्या है हमारी हस्ती? यह विश्व कितना लम्बा-चौडा है? करोडों गोलको के बीच एक सूर्य है। इतने बड़े गोलकों के सामने सूर्य की हस्ती तिनके के समान भी नहीं। उस सूर्य के इर्दगिर्द हमारी पृथ्वी घूमती है। उस पृथ्वी पर असंख्य प्राणी है। वैज्ञानिक मानते है कि पृथ्वी पर २०/२५ लाख प्रकार के प्राणी है। पुराणों में ८४ लाख योनियां बतायी है। जो भी हो, करोडों–लाखों की बात है, हजारों की नही। उनमे मानव एक छोटी-सी योनि। उस मानवसमाज मे भारत जैसा एक देश। उस देश में महाराष्ट्र प्रदेश का वर्धा नाम का छोटा-सा जिला। उसमें पवनार नाम का एक गाव। उस गांव में एक आश्रम, उसमें हम है। यानी हमारी कोई हस्ती ही नही। इतने विशाल ब्रह्माण्ड की कल्पना मनुष्य के सामने आती है और उसके सामने हम कितने छोटे हैं, इसका भ न होता है, तो अहकार मिटता है। फिर पाप की प्रेरणा हीं नही होती।

विज्ञान को, खास कर खगोलशास्त्र—'रेडियो अॅस्ट्रानामी' को मैं बहुत पसन्द करता हूँ। पहले हम जानते थे कि आकाश में यह जो 'मिल्की वे'—आकाशगंगा है, उसमे करोडों तारिकाएँ है। परन्तु अब पता चलता है कि आकाशगंगा का एक छोटा-सा हिस्सा ही हमे दिखायी देता है। ऐसी अनेक आकाशगंगाएँ होगी। यह पढ़ कर हमें हमारी मां की एक बात याद आयी। हमारी मा रोज अपनी पूजा पूरी करके अपने कान पकड़ कर भगवान से कहती, 'हे अनन्तकोटि ब्रह्मांडनायक! मेरे अपराधो को क्षमा कर।' अनन्तकोटि ही कह दिया फिर बचा क्या! इस तरह अनन्तकोटि ब्रह्मांड है।

'रेडियो अॅस्ट्रानामी' ने अभी यह भी जाहिर किया है कि प्लैनेट—ग्रह ग्यारह नही, लगभग पचास लाख है। मालूम नही उन ग्रहों पर क्या-क्या होगा! भगवान की सृष्टि में चारों ओर अनन्तता है। तब पाच इन्द्रियो वाले प्राणी मे ही समाप्ति हो जायेगी, यह सम्भव नहीं लगता। सम्भव है कि कहीं, किसी ग्रह पर आठ, नौ, दस इन्द्रियों वाले प्राणी भी हो। उनका संदेश समझने की शक्ति हममे नही है, इसलिए वे होंगे तो भी हमें मालूम नही होता। भगवान की बनायी सृष्टि बड़ी व्यापक है और हम अत्यन्त छोटे है, नगण्य है। हमें

नम्रतापूर्वक विश्व की सेवा करनी है। अब विश्व से कम चीज नही चलेगी। कुल विश्व और विश्व जिसके पेट में है वह विश्वेश्वर है !

वैज्ञानिक बुद्धि :

विज्ञान बढ़ेगा तो जिन्दगी जटिल नहीं बनेगी, बल्कि सरल बनेगी। हमने हमारे अंग्रेज मित्र डोनाल्ड से पूछा था कि आपके यहाँ लन्दन में भी यहाँ के जैसे हर दूकान में रेडियो चिल्लाता है ? तब उन्होने बताया कि वहाँ इसकी मनाही है। वहाँ विज्ञान काफी आगे बढ़ा है, और हमारे यहाँ अभी आया है, इसलिए यह फर्क है। विज्ञान के जमाने में आज के ढग नही टिकेंगे। बुद्धि वैज्ञानिक होगी। हमारा हृदय प्राचीन संस्कृति का बना रहेगा और बुद्धि आधुनिक विज्ञान से भरी रहेगी।

उस युग मे नम्बर एक की अहमियत इसको मिलेगी कि हर आदमी को खाने के लिए पूरा आसमान मिले। नम्बर दो मे हवा, तीन में सूरज की रोशनी, चार में पानी, पाँच में अनाज, छः में काम करने के लिए औजार, कपड़ा, आवास, और सात में मनोरंजन की चीजे आदि।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर सारी दुनिया को एक मानने वाले व्यक्ति थे। सकुचित वृत्ति के व्यक्ति नहीं थे। उन्होंने हिन्दुस्तान और योरप के मजदूरो की तुलना करते हुए कहा है कि दिन भ की थकान मिटाने के लिए योरप का मजदूर रात को शराब पीता है और भारत का मजदूर थकान मिटाने के लिए रात को भजन करता है। मै अध्यात्म के ख्याल से नही, विज्ञान की दृष्टि से पूछता हूँ कि रात को परमात्मा के सुन्दर भजन गा कर सोना ज्यादा वैज्ञानिक है या शराब पी कर सोना ? मेरी विज्ञान पर इतनी श्रद्धा है कि वह जो भी जवाब देगा वह मुझे मंजूर होगा। रात की नीद यानी इनसान की उस दिन की मौत है। मौत के समय जो विचार बलवान होंगे, उसके मुताबिक आगे गति मिलेगी, ऐसा शास्त्र भी कहता है। तो रात को क्या करना ज्यादा वैज्ञानिक है ?

दुनिया मे आज सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों मे वर्तमान समाज रचना कायम रख कर कुछ हलचले चल रही हैं। लेकिन विज्ञान-युग में वे निकम्मी साबित होंगी। हम समाज रचना की बुनियाद ही बदलना चाहते है, जैसे कि 'मै' की जगह 'हम' की स्थापना करनी होगी, विश्व को ही परिवार मानना होगा। इसकी बुनियाद है नया मन, परिवर्तित मन। पुराना मन राग-द्वेष, मान-अपमान, ऊँच-नीच-भाव, अहंकार, वासना आदि कायम रख कर सोचता है। चित्त को यह आदत छोडनी होगी। चित्त को एक नया परिवेश प्राप्त हो। वह विकारो मे न फस कर निर्विकार भूमिका में रहे और आत्मा में स्थित शक्ति-स्रोत का उसे स्पर्श हो। विज्ञान-युग मे ऐसे मुक्त चित्तवाले लोग होंगे तभी ठीक समय पर उचित निर्णय हो सकेगा।

विज्ञान-युग में ऐसे व्यापक और जटिल सवाल आयेगे जिनका f शीघ्रता से करना होगा। पुराने जमाने में ऋषि समाधि लगा कर व्युत

बाद सवालो का जवाब देते थे। लेकिन इन दिनों इतनी देरी के लिए अवकाश नही है। इसलिए आज अचूक उत्तर देने वाले स्थितप्रज्ञो की जितनी जरूरत है, उतनी पहले कभी नही थी। मेरा मानना है कि विज्ञान-युग का स्थितप्रज्ञ नैतिक और भौतिक योग्यता मे पहले के स्थितप्रज्ञों की अपेक्षा कही अधिक ऊँचा माना जायेगा। इसमे कोई सन्देह नही कि पहले कि अपेक्षा आज स्थित-प्रज्ञता प्राप्त करना कठिन है, क्योंकि चित्त की चंचलता के लिए अनेकविध कारण उपस्थित है। परन्तु स्थितप्रज्ञता इस युग की अनिवार्य आवश्यकता है, यह भी निर्विवाद सत्य है।

एक या समान चित्त नहीं, सहचित्त

ऋग्वेद के अंत मे एक शब्द आता है—**सहचित्तमेषाम्**। समान मन. **समिति समानी**—हम सबका मन, हम सबकी बैठक समान हो। सबका 'सह-चित्त' हो।

सहचित्त कहा, एकचित्त नही कहा। एकचित्त बनेगा तो विविधता का लाभ नही होगा। एकतानता आ जायेगी। विचार मे वृद्धि नहीं होगी, सशोधन नही होगा। चित्तलय होगा और चित्त लीन होने पर दुनिया का लोप होगा। वैसे ही, समान चित्त भी नही कहा। समान चित्त समान कार्यक्रम बनाने मे मददगार हो सकता है। यानी यह बात भी नही कही कि सर्वसाधारण, सर्व-सामान्य अंश सबको मान्य हो, 'मिनिमम अग्रीमेंट' हो। एकचित्त और समान चित्त से भिन्न यह जो सहचित्त शब्द है, वह बहुत जानदार और अच्छा शब्द है, उसमें समान चित्त का विरोध नही। लेकिन सहचित्त वह शब्द है, जिसमें एक-दूसरे के सामने एक-दूसरे के दिल खुल जाते है। सहचित्त की आज अत्यन्त आवश्यकता है।

सहचिंतन की प्रक्रिया चलनी चाहिए। सलाह-मशविरा हो, अन्योन्य प्रबोधन हो और अन्योन्य विश्वास हो। आज दुनिया मे अन्योन्य विश्वास की बहुत कमी है। गहराई मे पैठ कर एक-दूसरे को समझने की कोशिश नही की जाती। अक्सर होता यह है कि हम कुछ अंश जानते है, कुछ नही जानते इसलिए अंदाज लगाते है, फलतः कुछ गलत समझ लेते है और एक-दूसरे पर गलत हेतु का आरोप करते है। विश्वास खो बैठते है। विश्वास विश्व की एक महान शक्ति है। मनुष्य जीवन मे जो स्थान श्वास का है, वह स्थान सामाजिक जीवन मे विश्वास का है। (श्वास और विश्वास दोनों शब्द 'श्वस्' धातु से बने है) विज्ञान-युग मे सहचित्त की आवश्यकता है और उसके लिए परस्पर विश्वास अत्यन्त जरूरी है। एक-दूसरे का मन एक-दूसरे के सामने बिलकुल खुला रहेगा तभी सहचित्त होगा। समान चित्त से सर्वसामान्य कार्यक्रम बन सकता है, लेकिन सहचित्त न हो तो काम में जोश नही आयेगा। सामाजिक काम के लिए सहचित्त की आवश्यकता है। आज मानव के सामने असली समस्या चित्त-निर्माण की है। विज्ञान-युग के लायक नया चित्त अत्यन्त आवश्यक है। □

अहिंसा : व्यक्ति और संघ के संदर्भ में

☐ पं दलसुख भाई मालवणिया

देश, काल व परिस्थिति के अनुसार अहिसा की विचारणा मे नये-नये मोड़ आते रहे है। अहिसा की विकास-यात्रा मे उत्सर्ग और अपवाद के जो सोपान है वे केवल व्यक्तिगत साधना की दृष्टि से ही हो सकते है, किन्तु जब साधको का सघ बन जाता है, और सभी साधको के योगक्षेम की दृष्टि भी विचारणा में आती है, तब अहिसा की विचारणा नया मोड ले लेती है। उसमे व्यक्ति की साधना गौण हो जाती है और संघ की सुरक्षा प्रधान बन जाती है। यहाँ सर्वप्रथम भगवान महावीर का जो अहिसा का उपदेश व्यक्ति के लिए था उसका विवरण प्रथम देकर बाद में सघ-दृष्टि से अहिसा का विवरण देने का सोचा है।

व्यक्तिगत अहिंसा—भ० महावीर ने स्वय जो साधना की वह एकाकी रहकर की थी। न उनके कोई गुरु थे और न उनके कोई शिष्य। अतएव उनका सर्व-प्रथम अहिसा के विषय मे जो उपदेश था वह एकाकी विचरण करने वाले साधुओ के लिये ही था। उसमें प्रारम्भ में गृहस्थों की अहिसा का भी विचार नही था, केवल श्रमणों को अपनी साधना किस प्रकार करना है, यही लक्ष्य था, अतएव उसे हम व्यक्तिगत साधना की अहिसा अथवा परिभाषा में कहना हो तो जिनकल्पी की अहिसा कह सकते है। किन्तु यह व्यक्तिगत अहिसा भ० महावीर के समकक्ष साधकों मे ही सभव है अतएव भ० महावीर के अनुयायियों ने देश-काल की परिस्थिति देखकर अहिसा के अपवादो का विवरण देना शुरू किया और अहिसा का वह रूप जो भ० महावीर के प्राथमिक उपदेश में था, वह नही रहा। उसका स्थान नई-नई व्याख्याओ ने ले लिया।

अहिंसा का आचार—भ० महावीर का मुख्य उपदेश तो यह था कि किसी भी प्राणी की हिंसा न की जाय।[1] इसको ध्यान में रखकर श्रमण के जिए जरूरी था कि वह भिक्षाजीवी हो[2] जिससे कि भोजनपान के निमित्त उसे हिंसा नही करनी पडे। उस काल के भिक्षाजीवी आमंत्रण स्वीकार करते थे और उनके निमित्त से वना भोजन-पान स्वीकार करते थे, अतएव भ० महावीर के श्रमणों के लिए जो मुख्य नियम अहिंसा की दृष्टि से अर्थात् हिंसा करना नही, कराना नही और अनुमोदन भी नही करना—यह वना कि वह उसके निमित्त वनी कोई भी वस्तु स्वीकार नही कर सकता। अन्य जैनेत्तर भिक्षु के लिए ऐसा कोई

---

१ आचा १३२, सूय. १६३, ४४४–५१, ५०६, दशवै. ६ १०-११

२ दशवै अ ५, आचा २१, मू ५०६

नियम नही था 'जहा अन्नउत्थिया एगंतेणं उद्देसियातिहाण पसंसंति विहारातिकारेति' (आचा. चू. पृ. ६६) यह नियम जैन श्रमण के लिए केवल भोजन:पान के लिये ही नही, अपितु वस्त्र-पात्र निवास के लिए भी था। इस नियम को परिभाषा में कहना हो तो कहा जाय कि भिक्षु औद्देशिक वस्तु को स्वीकार न करे। सूय. ५१०

पर सापेक्ष वस्तु के स्वीकार के लिए य नियम बना किन्तु जीवन मे संपूर्ण अहिसा का पालन करना हो तो केवल इतने से नही चलता। उसकी समग्र व्यक्तिगत प्रवृत्ति भी ऐसा होना जरूरी है कि जिसमे किसी भी जीव की पीडा को अवकाश न मिले। ऐसा होने पर ही वह उनकी की हुई प्रतिज्ञा कि वह किसी भी जीव की हिसा नहीं करेगा, न करायेगा और न अनुमोदन करेगा—का पालन उचित रूप से कर सकेगा। इसके लिए जरूरी था कि वह अपरिग्रही हो क्योंकि भ. महावीर ने कहा है कि संसार में हिंसादि दोष जो होते है, उसका मुख्य कारण परिग्रह है[1]। अतएव भिक्षु अपरिग्रही हो– यह अत्यंत आवश्यक है[2]। यदि वह संपूर्ण अहिंसा का पालन करना चाहता है तो यह निश्चित हुआ कि वह सर्वथा नग्न रहेगा। असह्य शीत का या लज्जा का जीतना यदि शक्य न हो तभी वह वस्त्र का उपयोग करेगा। उत्सर्ग तो नग्नता का ही है। सहन शक्ति आ जाने पर और लज्जा-विजय होने पर वह नग्न ही बन जाय[3]। इसी प्रकार जब उसने अहिसा की प्रतिज्ञा की तब वह असत्य भाषण, चोरी, कामराग से भी मुक्त हो, यह भी जरूरी है, अतएव अहिंसादि पांच महाव्रत उसके लिए अनिवार्य माने गये। (आचा. ७७६)

भिक्षु आत्मार्थी होता है अतएव वह शरीर को उतना ही महत्त्व देता है जितने से उसकी धर्मप्रवृत्ति अप्रमत्त बनी रहती है। अतएव आवश्यक माना गया कि वह स्नानादि शरीर विभूषा के लिए आवश्यक प्रवृत्ति से विरत होगा (सूत्र. ४४८-६) और शरीर की चिकित्सा भी नहीं करेगा (आचा. ०६४, ३०२, ७२८)

सदैव अपने मन-वचन काया की प्रवृत्ति में जाग्रत रहना, अप्रमत्त रहना अनिवार्य है, अतएव वह अपने आपका निरीक्षण करे और दिन और रात्रि में लगे दोषों का निराकरण भी करे, यह अनिवार्य माना गया। प्रतिक्रमण की क्रिया उनके लिए अनिवार्य मानी गयी जिससे कि पापशोधन होता रहे।

(दशवै. १६४, १६६–२०६, ४१–४७, ४६–५३)

---

१. सूय. ४३६
२. सूय. ११८-११६
३. आचा. १८४, १८७, २१४, २१६, २२१, २२५, २२६

अहिंसा पालन के लिए जीव-ज्ञान आवश्यक—व्यक्तिगत अहिंसा की साधना के साथ-साथ तत्त्वविचारणा भी अनिवार्य है क्योंकि उसी के आधार पर समग्र जीवन नियमित बनता है। भ. महावीर ने देखा कि ऐसे गई लोग हैं जो अनगार तो बन गये है किन्तु जीवों का ज्ञान ही नहीं तो वे अहिंसा का पालन कैसे करेंगे? अतएव उनका सर्वप्रथम उपदेश जीवविज्ञान विषयक था। जीवनिकाय छह है—पृथ्वी, आप, तेज, वायु, वनस्पति और त्रस। यदि सच्चे अर्थ में अहिंसक बनना है तो इन जीवों की पीड़ा से, घात से, हिंसा से बचना जरूरी है (आचारांग का प्रथम अध्ययन) त्रस के अलावा स्थावर जीवो के सूक्ष्म और बादर ऐसे भी प्रकार बताये गये। (दशवै. ४२, प्रज्ञापना २०, २६, २९, ३२, ३५) अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ये जीव सर्वत्र व्याप्त है तो उनकी हिसा से कैसे बचा जा सकता है? अप्रमाद हो, जागृति भी हो फिर भी जो जीव हमारे चाक्षुष ज्ञान का विषय ही नही बनते, उनकी सुरक्षा हम कैसे कर सकते है? और यदि नही कर सकते तो हमारी प्रतिज्ञा कि हम किसी प्राणी की हिसा नही करेगे, उसका पालन कैसे होगा? सभी तीर्थंकरों का यह तो सामान्य उपदेश हैं ही कि किसी भी जीव का घात नही करना चाहिए। (आचा. १३२) ऐसी स्थिति मे हमारी प्रतिज्ञा में संशोधन जरूरी है अथवा हिसा की व्याख्या में ही सशोधन किया जाय।

व्यक्ति की अहिंसा के अपवाद—इस प्रश्न के समाधान में जो अपवाद किया गया कि सर्वजीव की हिंसा का अर्थ होगा—सूक्ष्मातिरिक्त सर्वजीव की हिसा क्योंकि सूक्ष्मजीवो की हिसा बादर से (स्थूल से) हो नही सकती। अतएव उसकी हिंसा का प्रश्न ही नही। उनकी हिंसा तो परस्पर से होती है। (आचा. चू. पृ. २२) फिर भी प्रश्न तो बना ही रहा कि हम कितना भी प्रयत्न करे जो स्थूल या बादर जीव माने गये है, वे भी सभी प्रयत्न करने पर भी हमारे द्वारा पीड़ा को प्राप्त नही होगे, यह संभव नहीं। अपना इरादा न होने पर भी जीव का घात होना संभव है ही। ऐसी स्थिति में हम हमारी प्रतिज्ञा का पालन कैसे कर सकेगे? इसका समाधान और एक अपवाद देकर किया गया कि यदि आप यतना से प्रवृत्ति करेगे तो जीव घात होने पर भी वह हिंसा मानी नही जायेगी। (दशवै. ६१-६३) जैसे डाक्टर या वैद्य शुभ निष्ठा से अपना कार्य करता है और रोगी को उससे पीड़ा होती है फिर भी वह दोषी नही माना जाता है, वैसे ही अणगार अपनी प्रवृत्ति मे यतना (अप्रमाद) को अपनाता है तो जीवघात होने पर भी वह हिंसक नही माना जायेगा।

इस विषय में और भी सूक्ष्म विचारणा हुई और अहिंसा का चिन्तन आगे बढ़ा। हिसा पाप है—इसीलिए कर्मबन्ध का कारण है और इसीलिए उसका त्याग मोक्षार्थी के लिए जरूरी है और केवल परघात करने से ही हिंसा ... नो बात नही। स्वघात करने से भी हिसा होती है क्योंकि स्वघात भी

का कारण है[1]। परिणामस्वरूप कहा गया कि किसी का घात होता है इसीलिए हिंसा, और घात नही होता है इसीलिए अहिसा, यह मानना उचित नही। और लोक मे सर्वत्र जीव व्याप्त हैं अतएव हिंसा होगी ही और जीव विरल हैं अतएव हिसा नही होगी, यह मानना भी उचित नही है। किसी को नही मारे फिर भी हिंसक होता है, यदि मन मे दुष्ट परिणाम हो। और अन्य को कष्ट देकर भी वैद्य की तरह आत्मा यदि विशुद्ध है तो अहिंसक होता है। वस्तुत देखा जाय तो पंच समिति और तीन गुप्ति का पालन करने वाला ज्ञानी ही अहिसक है। उसके विपरीत आचरण वाला हिसक होता है। आत्मा मे अशुभ परिणाम यदि है तो वह हिंसक है और यदि नही है तो वह अहिंसक है। बाह्य घात हो या नही, हो, इसके आधार पर हिंसा-अहिसा का निर्णय नही किया जा सकता। (विशेषा. २२१८–२३, प्रवचनसार ३.१७)

इस अहिसा की विचारणा मे जीव को पीडा देना या न देना—यह महत्त्व की बात नही किन्तु अपनी आत्मा की विशुद्धि पर जोर दिया है। इसके पूर्व यतना की चर्चा मे जीव घात हो तब भी यदि यतना हो तो अहिसा है किन्तु इस विचारणा मे जीव घात या अघात को कोई महत्त्व ही न मिला। आत्मा के परिणामों पर ही हिसा-अहिसा को छोडा गया है। यहाँ द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा के भेद पड़ते है—(आचा. चू. पृ. ४१)

इस तरह जीवघात ही हिसा है इस मौलिक या औत्सर्गिक व्याख्या से प्रारभ करके अन्य जीव के घात के साथ हिसा का कोई संबध नही है—यहां तक व्यक्तिगत हिसा की व्याख्या व प्रगति की है, यह स्पष्ट होता है।

सघ या समाज की अहिंसा-विचारणा—व्यक्तिगत अहिसा के विषय मे औत्सर्गिक और आपवादिक लक्षणों की चर्चा के बाद अब सघ या समाज की दृष्टि से अहिसा की विचारणा मे जो आपवादिक मार्ग अपनाया गया है, उसकी चर्चा की जाये। सघ की दृष्टि से अहिसा का अपवादमार्ग ही हो सकता है औत्सर्गिक नही। यह कह देना जरूरी है, क्योकि औत्सर्गिक अहिसा का मार्ग जब एकाकी व्यक्ति ही नही अपना सका तब ससूह मे रहने वाला अनगार उसे कैसे अपना सकता है? अतएव वह तो व्यक्तिगत अहिसा का जो आपवादिक मार्ग स्थिर हुआ, उसी का आश्रय लेकर आगे बढेगा। जैन समाज के इतिहास में जो भी सप्रदाय हुए है, वे तथाकथित शिथिलाचार के निराकरण के उद्देश्य से हुए और पुन शिथिलाचार का चक्र शुरू हुआ और नया संप्रदाय आवश्यक समझा गया किन्तु मानव स्वभाव मे रही हुई कमजोरियो की ओर पूरा ध्यान न देने के कारण यह चक्र सदैव चालू ही रहा देखा जा सकता है।

---

१. तुमं सि णाम तं चेव ज हतव्व सि मण्णसि...........तम्हा ण हत्ता ण वि घातए। आचा. १७०

प्रस्तुत में "अणगार चर्चा में अहिंसा, छेद-सूत्रों के संदर्भ में" विचार का विषय है, अतएव छेदसूत्रों के विषय में कुछ कहना आवश्यक है।

आचार के नियम आचार्यों द्वारा व्यवस्थित—छेदसूत्र अंग बाह्य होने के कारण गणधरकी रचना नही है और सभी छेदसूत्र एक काल के भी नही। प्रधान छेदसूत्र है—कल्प, व्यवहार और निशीथ। इनकी रचना आचार्य भद्रबाहु ने की, ऐसी सामान्य मान्यता है और वह प्राचीन काल से चली आ रही है। और इन्हीं छेद सूत्रों में मूलाचार के अपवादों की चर्चा और प्रायश्चित का विधान है। तो प्रथम प्रश्न यह उठता है कि भगवान महावीर ने जो कहा हैं, सूत्र में उसको जोडने का अधिकार किसी को है या नही? भगवान बुद्ध ने तो कह दिया था कि मैंने जो 'विनय' में कह दिया, उसमें परिवर्तन करने का किसी को अधिकार नही। किन्तु बौद्धाचार में कितना परिवर्तन हो गया है, यह किसी से अज्ञात नही है। किन्तु भगवान महावीर का कोई ऐसा सन्देश हमें मिला भी नहीं और यह बात भी विशेप रूप से जानना जरूरी है कि आगमो मे केवल भगवान के गणधरों की रचना को ही स्थान दिया हो, ऐसी बात नही है, किन्तु दशवीं शती तक आचार्यो की रचना को भी आगमो मे स्थान मिला है। इससे यह सूचित होता है कि भगवान महावीर के मौलिक उपदेशो की केवल व्याख्या ही नहीं, उसमे परिवर्तन-परिवर्द्धन का भी अवकाश दिया गया है।

आगमो के संकलन मे केवल 'आचारांग' और सूत्रकृतांग' में भगवान महावीर के मौलिक उपदेश की झलक हमे मिलती है। 'भगवती' मे भी अंशतः कुछ प्राप्त होता है। बाकी सब स्थविरो की रचना है। ऐसी स्थिति में क्या प्रमाण और क्या अप्रमाण—यह विवाद का विषय बने, यह स्वभाविक है और इतिहास साक्षी है कि उपलब्ध सभी आगमों का प्रमाण दिगम्बरो ने निषिद्ध कर दिया और स्थानकवासी और तेरापथ ने कुछ आगमों का।

अहिंसक आचार के नियमों का निर्माण—'आचारांग' और 'सूत्रकृतांग' का जो प्राचीन अश है, उसे देखने से पता चलता है कि भगवान महावीर ने आचार के नियम बनाये हो, ऐसा नही दीखता। 'आचाराग' मे अहिसा का सामान्य उपदेश दिया और उसके आधार पर आचार के नियम आचार्यो ने क्रमशः ग्रंथित किये और व्यवस्थित किये। 'दशवैकालिक' और 'आचारांग' का द्वितीय श्रुत स्कन्ध ही ऐसे है जिनमे आचार के व्यवस्थित नियमो की सूची हमे मिलती है। अतएव उनकी और व्यवस्था मे दोप आने पर प्रायश्चित्त का विधान, यह तो छेदसूत्रो की देन है। और उन्ही छेद सूत्रो मे अपवाद मार्ग का उत्तरोत्तर विकास, उनकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि टीकाओ के द्वारा हुआ है। अतएव मूल उपदेश से वह इतना दूर हट गया कि सवसे पहले यह चर्चा जरूरी हुई कि सूत्रो के विषय मे अर्थ की विचारणा क्यो आवश्यक है। अर्थात् टीकाकारो ने अन्त मे यह स्वीकार किया है कि—

ण वि किंचि अणुण्णायं पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं ।
एसा तेसिं आणा कज्जे सच्चेण होयव्वं ।।
कज्जं णाणदीयं उस्सग्गववायओ भवेसच्चं ।
तं तह समायरंतो तं सफलं होई सव्वं पि ।।
दोसा जेण निरूभंति जेण तिज्जीति पुव्यकम्माई ।
सो सो मोक्खोवाओ रोगावत्थासु समणं व ।।

—निशीथ भाष्य ५२४८–५२५०

तीर्थंकरों ने यह नही कहा कि तुम यह करो और यह न करो । उनकी सामान्य आज्ञा इतनी थी कि कार्य सिद्ध हो, ऐसा करो । कार्य हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उनकी सिद्धि । इतना समझ लो कि दोष का निरोध जिससे हो और जिससे पूर्व कर्म का क्षय हो, वह सब मोक्ष का उपाय है । जिस प्रकार रोगों का उपशमन जिससे हो भी हो, वह उपाय है । ऐसा कह करके आचार्यो ने अपना मार्ग प्रशस्त कर दिया और उत्सर्ग से अपवाद की ओर बढे ।

लोग सामान्यत: सूत्र की दुहाई देते है और कहते है कि मूल सूत्र में तो इतना ही कहा है, आप यह अपवाद मार्ग कहाँ से लाए तो उसका भी उत्तर दिया गया है कि सूत्र तो सूचक होता है अतएव सूत्रों की सूचनाओ को खोज निकालना व्याख्याताओं का कार्य है—(निशीथभाष्य–५२३३) जैन सूत्र रचना की विशेषता यह है कि तीर्थंकर अर्थ का उपदेश देते है, उसके आधार पर शब्द रचना गणधरों की है । अतएव शब्द का प्राधान्य नहीं किन्तु अर्थ का प्राधान्य है । और व्याख्याताओं का यह कार्य होता है कि वे शब्द मे से विविध अर्थो की खोज करे । यही कारण है कि शब्द से सूचित होने वाला अपवाद मार्ग भी तीर्थकर मान्य हो गया और उसे उतना ही महत्त्व दिया गया जितना उत्सर्ग को। यहाँ यह स्पष्टीकरण जरूरी है कि अपवाद मार्ग का सेवन स्थविर कल्पी के लिये है, जिन कल्पी के लिये नही । इससे स्पष्ट होता है कि एकचारी के लिये अपवाद की आवश्यकता ही नहीं, केवल जो गच्छवासी है, समूह में रहते है, उनके लिये ही अपवाद मार्ग की चर्चा है । (निशीथ गाथा चूर्णी ६६९७–९८) और यह भी जानना आवश्यक है कि जिस प्रकार औत्सर्गिक मार्ग का पालन न करने पर प्रायश्चित्त है उसी प्रकार अपवाद का पालन न करने पर भी प्रायश्चित्त का विधान है । (नि. गा. २३१)

इससे स्पष्ट है कि उत्सर्ग और अपवाद आचरण की दृष्टि से समकक्ष हो हो जाते है, इतना ही नही किन्तु उत्सर्ग का त्याग कर अपवाद का आचरण अनिवार्य हो जाने से उससे वलवान भी सिद्ध होता है ।

उत्सर्ग और अपवाद—संयमी पुरुष के लिये जो प्रतिषिद्ध है वह उत्सर्ग है और उन्ही प्रतिसिद्ध आचरणों को परिस्थितिवश करना अनिवार्य हो जाता

है तब वे विधि के अन्तर्गत हो जाते हैं और अपवाद या अनुज्ञा कहे जाते है (निशीथ ३६४ की चूर्णि, गाथा ५२४५) इसी विधान में एक ही अपवाद है और वह यह कि मैथुन विषयक प्रतिषेध का कोई अपवाद नही, बाकी के सब मूल और उत्तर गुण के विषय में अपवाद है।

कामं सव्वपदेसु वि, उस्सगपवाद धम्मता जुत्ता
मोतुं मेहुण धम्म ण, विणा सो रागदोसेहि ।।

— निशीथ ३६४

तात्पर्य यह है कि अपवाद के सेवन मे भी राग-द्वेष का अभाव आवश्यक है। दर्प से सेवन करने पर विराधक होता है और बिना दर्प के सेवन करने पर ही वह आराधक होता है—

रागद्दोसाणुगत्ता तु दप्पिया, कोप्पिया तु तद्भावा,
आराधतो तु कप्पे, विराधतो होति दप्पे ण ।। नि. ३६३
अकारण अपवाद का सेवन दर्प प्रति सेवन है जो निषिद्ध है।

नि. गाथा ८८, १४४, ३६३, ४६३, ७४, ९०, ९१.

और सकारण प्रतिसेवन कल्प है। संयमी पुरुष के लिये मोक्ष मार्ग पर चलना अनिवार्य है। और मोक्ष मार्ग है ज्ञान, दर्शन, चारित्र। ज्ञान और दर्शन जितना विशुद्ध होगा उतना ही चारित्र विशुद्ध होगा क्योंकि चारित्र के कारण रूप ज्ञान, दर्शन हैं। अतएव चारित्र के विशुद्ध पालन के लिये ज्ञान, दर्शन आवश्यक हैं।

तात्पर्य यह है कि ज्ञान दर्शन की हानि करके चारित्र पालन नही हो सकता अतएव अपवाद के पालन का प्रसंग वही आता है जहाँ ज्ञान दर्शन की हानि की सभावना होती है। परम्परा कारण मे दुर्भिक्ष आदि भी हो सकते है अर्थात् ज्ञान, दर्शन के लिये अपवाद सेवन को भगवान महावीर की अनुज्ञा के अन्तर्गत किया गया है। और यदि अपवाद का आचरण नही किया गया तो ज्ञान, दर्शन की हानि होने से प्रायश्चित्त का विधान भी किया गया। सारांश यह है कि ऐसी स्थिति में अपवाद मार्ग का सेवन अनिवार्य है। सारांश इतना ही है कि प्रमाद रूप सेवन निषिद्ध है। और अप्रमादी होकर सेवन अनुज्ञा है।

दरुप्पो जो पमादो, कप्पो पुण अपमत्तस्य।
कप्पइ त्ति कप्पो, ज भाषित आयारो ।।

— आचाराग चू. पृ. १२२

ज्ञान का महत्त्व चारित्र के लिये आवश्यक है। यह तो दशवैकालिक (६४) से स्पष्ट है किन्तु छेद सूत्रो में ज्ञान-दर्शन के लिये अपवाद की अनिवार्यता करार दी गई है, वह व्यक्तिगत अहिंसा की दृष्टि से नही थी किन्तु संघ

दृष्टि से थी, यह स्पष्टीकरण आवश्यक है। दशवैकालिक में ज्ञान का तात्पर्य जीवाजीवादि जैन सम्मत पदार्थों के ज्ञान से था किन्तु छेद सूत्रों मे जो ज्ञान की बात कही गई है, वह केवल उन पदार्थों के ज्ञान को लेकर नही है। वहां तो तत्काल के भारतीय धर्मो एव दर्शनो और अन्य विद्याओ के ज्ञान से तात्पर्य था। (देखे 'कुशल' की व्याख्या, आचाराग चू. पृ. ६५)

भगवान महावीर के बाद आचार को इतना महत्त्व मिला कि अपने शास्त्रों की सुरक्षा की भी उपेक्षा रही। पुस्तक का रचना भो पाप माना जाने लगा था किन्तु छेद की टीकाओं में पुस्तक नही रखने से पाप का विधान किया गया। यह सब परिस्थिति और संघ-सुरक्षा की दृष्टि से था। एक काल ऐसा था जब लोग भिक्षु के त्याग और तपस्या को देखकर उनका आदर करते थे किन्तु समय आया जब उनकी तपस्या से नही किन्तु ज्ञान-विज्ञान का आदर होने लगा। राजसभाओं मे भी वाद-विवाद होने लगे और उन विवादो के जय-पराजय के आधार पर धर्म और धार्मिक की प्रतिष्ठा होने लगी। जैसे—अहवारा-यादि उवसते बहवे उवसमंन्ति"—आचारांग चू. पृ. ६७। उपदेश देते समय कितनी सावधानी बरती जानी चाहिये, उसके लिये देखे आचाराग चू पृ. ६६-६८। राजा के द्वारा धर्मो की परीक्षण की बात के लिये देखे आचारांग चू पृ. १३२।

ऐसी स्थिति में केवल तपस्या को लेकर और अपने ही जीव विज्ञान के आधार पर कोई प्रतिष्ठा पा नही सकता था, अतएव उस काल में जिस प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की आवश्यकता थी, उसे प्राप्त करना अनिवार्य माना गया। और यदि वह कोई प्राप्त करने की शक्ति रखने पर भी उस ओर कदम नही बढाता है तो प्रायश्चित्त भी लेना पड़ेगा। ऐसे विधान बनाये गये। ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति अपने जैनाचार को जैसा कि वह चला आ रहा था, इतना आवश्यक नही समझा जाता था जितना कि विशुद्ध आचरण। अतएव ज्ञान-विज्ञान की ओर प्रवृत्ति न होना स्वभाविक था। किन्तु नई परिस्थिति में जबकि व्यक्तिगत विशुद्ध आचरण की अपेक्षा व्यक्ति के ज्ञान को महत्त्व मिला, उस परस्थिति मे जैन सघ की स्थिति खतरे मे पडना स्वभाविक था तो जैनियो के लिये दूसरा कोई रास्ता नही रह गया सिवाय इसके कि वे भी उस होड़ मे आ जावे और वे आ गये है, इसे स्पष्ट रूप से छेद की टीकाओ से जाना जा सकता है।

इतनी चर्चा के वाद हम अव देखे कि अहिसा का आचार किस प्रकार का जैन सघ ने अपनाया था और वह भी किस प्रकार विशुद्ध चारित्र की अपेक्षा जैन सघ के वचाव के नाम पर किस प्रकार अपने मूल मार्ग से हट गया था।

हमने इत पूर्व देखा कि हिंसा की व्याख्या मे जीव के प्राणो का घात मुख्य नही है, किन्तु आत्मा के अध्यवसाय को देखा जाता है। इतनी भूमिका ध्यान मे रख कर यहाँ जो प्रसग दिये गये है, उनका परीक्षण करे।

इतना तो माना ही गया है कि अपने विरोधी को स्वयं न मार कर उसके पुतले को ही मर्माहत करना, यह भी हिसा है, दर्प-प्रतिसेवना है ।—(नि चू. १५५) और उसके लिये प्रायश्चित्त का विधान भी है। किन्तु साधु-सघ-चैत्य की रक्षा के लिये ऐसा यदि किया जाए तो कोई पाप नही, वह तो जायज प्रतिसेवना मानी गई—नि. गाथा १६७) सघादि शत्रु की हत्या भी जायज मानी गई है।—(नि चू २८६) कोकणदेशस्थ वलिष्ठ साधु का दृष्टान्त देकर बताया है कि उसने जगल में रात्रि मे आचार्य आदि की रक्षा के निमित्त तीन सिहों की हत्या की फिर भी उसे विशुद्ध माना गया है।

आयरियादिकारणेसु वायाहिसो शुद्धो—(नि. चू. २८६) जैन संघ की सुरक्षा की दृष्टि से राज सभा में सैकडों बाह्मणो के सिरच्छेद करने पर भी एक साधु को विशुद्ध कहा है—एव पवयणत्थे पडिसेवतो विशुद्धो—(नि.चू. ४८७)

'सिद्धिविनिश्चय' और 'सन्मति' जैसे शास्त्रों के पठनार्थ कोई अकल्प सेवन करे, तब भी उसे शुद्ध माना गया है—"तथ्य सो सुद्धो अपायच्छिन्ती भवति ।—(नि चू. ४८६)

संघगत जैन अहिंसा का साम्य गीता से—हिसा-अहिसा की चर्चा में छेद शास्त्र के इतने दृष्टान्त काफी है। उन पर विचार किए जाए तो स्पष्ट होगा कि जिस प्रकार की हिंसा-अहिसा तत्काल मे देश में चल रही थी उससे कोई पृथक् वात जैनों की नही दीखती। विचार सूक्ष्मातिसूक्ष्म अहिसा का होकर भी जीवन मे जहाँ समस्या खड़ी हुई, वहाँ समाज की दृष्टि से कोई विशेष वात नही दीखती। व्यक्तिगत अहिसा पालन में विशेषता हो सकती है। वह तो अन्यत्र भी हो सकती है। अतएव 'गीता' की अहिसा और जैनो की अहिसा मे मुझे तो कोई विशेष भेद मालूम नहीं होता। सामाजिक अहिसा का अनुष्ठान कैसे हो, यह विचार तो भारत मे सर्व प्रथम गाँधीजी ने किया, यह मानना पडेगा।

आधुनिक समस्या—हमने देखा कि जैनों ने अहिसा की व्याख्या मे द्रव्य के स्थान मे भाव को प्राधान्य देकर उत्तरोत्तर परिवर्तन किया है किन्तु देखना यह है कि व्याख्या के परिवर्तन के साथ-साथ आचार के नियमो में भी परिवर्तन को अवकाश दिया या नही? यदि हिसा की व्याख्या यह है कि आत्मा के राग-द्वेष के आधार पर ही वह होती है तो आहार, निवास और वस्त्र के विपय में पूर्व काल मे जो नियम बने थे, उनमे भी तदनुकूल परिवर्तन किए गए या नही, यह देखना जरूरी है।

श्वेताम्वर-दिगम्वर के मतभेद को ही लिया जाए तो स्पष्ट होगा कि श्वेताम्वरो ने वस्त्र को अनिवार्य माना और दिगम्वरो ने नग्नत्व को अनिवार्य माना। यद्यपि दोनों यह कहते है कि मूर्च्छा ही परिग्रह है। 'जो तण्हं वोच्छिद्दति सो परिग्गह जहति। जो वा ममत्तं छिंदति सो ममाई तव्वं जहति—(आचारांग चू. पृ. ६२) निग्गंयो वज्झ मंतरेण गन्थेण निग्गंतो—(आचारांग चू पृ १०७)

परिग्रह को पाप दोनो ही मानते है। फिर भी दोनो परस्पर खंडन मे रत है। परिग्रह के कारण हिंसा होती है, यह जैनागम मानते है और दिगम्बर ग्रंथ भी। फिर भी दोनो के बीच कोई समाधान नही। जिस प्रकार जीव घात हो या न हो फिर भी राग-द्वेष के कारण हिंसा हो सकती है, यदि यह माना जाए तो वस्त्र हो या न हो, मूर्च्छा के कारण ही परिग्रह माना जावेगा। इस तथ्य को दोनों क्यों नही स्वीकारते ? स्पष्ट है कि हमारी विचारणा के अनुसार हमारे आचार को भी नया मोड जैन समाज ने दिया नही। केवल एक बार सम्प्रदाय दृष्टि से ग्रहण किया, उसे बदलने को कोई तैयार नही। अन्य बहुत बातें बदल दी गई फिर भी सवस्त्र और अवस्त्र के कारण दोनों मे मतभेद बना हुआ है क्योंकि उसी के आधार पर दोनों संप्रदाय पृथक् हुए है।

यही बात मूर्ति-पूजा और अमूर्ति-पूजा के विषय मे कही जा सकती है। मूर्ति पूजा करने वाले भी भाव पूजा का ही महत्त्व मानते है और मूर्ति को न मानने वाले भी भाव पूजा का महत्त्व मानते है। फिर भी यदि दो सम्प्रदाय बन गए तो इस विषय में समाधान की कोई गुंजाइश नही रही।

यही बात स्थानकवासी और तेरापंथी की भी है। दोनों में आज प्रवचन और आचार में कोई विशेष अन्तर दिखाई नही देता, फिर भी दोनो अपने-अपने स्थान में मौजूद है।

बात असल यह है कि शिथिलाचार की समस्या को लेकर ही ये सभी सम्प्रदाय बने और वे उत्तरोत्तर शिथिलाचारी होकर भी अपने को उत्तमाचारी मानकर अपने अहं की पुष्टि करते है। जिस प्रकार स्वयं समग्र जैन समाज का यह दावा है कि हम ही संसार मे अहिंसक है और शेष में तो हिंसा का साम्राज्य है, किन्तु जैनियों की ही हिंसा की व्याख्या को समक्ष रखा जाय तो मेरी समझ मे जैनों की यह मान्यता भी एक अपने अहं की पुष्टि के अलावा और कुछ भी नही है।

लाउड स्पीकर का प्रयोग करना कि नही और आधुनिक टायलेट का प्रयोग करना कि नहीं, ऐसे जो विवाद चल रहे है उसे अहिंसा की चर्चित व्याख्या के प्रकाश मे देखा जाए तो विवाद को कोई अवकाश रहता ही नही, फिर भी हमारी प्रकृति यह है कि कुछ भी नया करने पर, वह नया है, इसलिये नही अपनाना, यह सामान्य मत बनता है। उसके विषय मे पूरा विचार नही किया जाता। एक ही दलील दी जाती है कि ये अपवाद कहाँ जाकर अटकेंगे ? अतएव उनकी प्रवृत्ति नही करना किन्तु यदि वास्तविक परिस्थिति और हिंसा-अहिंसा की आज तक की विचारणा देखी जाय तो विवाद को कोई अवकाश रहता ही नही।

—पूर्व निदेशक, लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर,
गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद

□□□

अहिंसा*

प्रस्तोता—श्री पी. एम. चौरड़िया

[१]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा का अर्थ बताइये ?

उत्तर—(१) अहिंसा याने किसी को न सताना, किसी प्रकार का कष्ट नही पहुँचाना। मन, वचन, कर्म से किसी के प्रति अनिष्ट का चिन्तन न करना, अहिंसा है।

(२) अहिंसा अर्थात् प्रेम–सर्वांगीण प्रेम, सर्वस्पर्शी प्रेम, सर्वग्राही प्रेम।

(२) **प्रश्न**—द्रव्य अहिंसा एवं भाव अहिंसा का अर्थ बताइये ?

उत्तर—किसी भी प्राणी के इन्द्रियादि दस प्राणों मे से किसी भी प्राण का प्रमाद या कषायवश होकर घात न करना और रक्षा, सेवा, दया, करुणा आदि करना द्रव्य अहिंसा है।

आत्मा के शुभ परिणामों व गुणों का घात न करना किन्तु आत्म-परिणामो व गुणों में वृद्धि करना भाव अहिंसा है।

(३) **प्रश्न**—'धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'

दशवैकालिक सूत्र (१–१)

उपर्युक्त शास्त्र की वाणी का अर्थ बताइये ?

उत्तर—धर्म उत्कृष्ट मंगल है। वह अहिंसा, संयम और तप रूप है।

[२]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा का प्रारम्भ कहाँ से होता है और उसकी चरम स्थिति क्या है ?

उत्तर—अहिंसा का प्रारम्भ होता है—प्रमाद-त्याग और संयम से। करुणा, मैत्री भाव आदि के रूप मे उसका विकास होता है और जब प्राणी मात्र के प्रति अभेदानुभूति या अद्वैत भावना हो जाती है, वह उसकी चरम स्थिति है।

(२) **प्रश्न**—अहिंसा सभी तरह से कल्याणप्रद होने पर भी प्राणी अहिंसा पालन के लिए क्यों प्रयत्नशील नही होता ?

---

* श्री एस एस जैन युवक संघ, मद्रास द्वारा आयोजित कार्यक्रम जिसमे साहूकार पेट कोडम्बवाकम एवं सनँ सघ ने भाग लिया।

[६]

(१) **प्रश्न**—कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं मासे, कहं सए।
कहं भुंजतो, भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ।।
जयं चरे जयं चिट्टे, जयंमासे, जयं सए।
जयं भुंजतो, भासतो, पावं कम्मं न बंधई ।।

अर्थ—हम कैसे चलें, कैसे खड़े हों, कैसे बैठें, किस प्रकार लेटें, कैसे खायें और कैसे बोलें कि जिससे पाप कर्म कावन्ध न हो।

यतना पूर्वक चलने, खड़े होने, बैठने, लेटने, भोजन करने और बोलने से पाप बन्ध नहीं होता है।

उपर्युक्त शास्त्र की वाणी किस सूत्र से ली गई है ?

उत्तर—'दशवैकालिक सूत्र' (४-७-८)

(२) **प्रश्न**—'अहिंसा परमं पदमं'।

उपर्युक्त वाणी किस पवित्र ग्रन्थ से ली गई है ?

उत्तर—'भागवत पुराण'

(३) **प्रश्न**—'अहिंसाया य भूतानाममृतत्वाय कल्पते'

अर्थ—अहिसा प्राणियो के लिए अमृत के समान है। उपर्युक्त वाणी किस पवित्र ग्रन्थ से ली गई है ?

उत्तर—'मनु स्मृति'

[७]

(१) **प्रश्न**—अहिंसा की तुलना भूमि से किस प्रकार की जा सकती है ?

उत्तर—जमीन पर सब टिका हुआ है। विशाल महल, भवन, किले, पहाड़ आदि सभी तो जमीन पर टिके हुए है। उसी प्रकार अहिसा है तो सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह टिक सकेगा। अन्य सब व्रतों की जड अहिंसा है। अहिंसा के बिना सत्य, करुणा, क्षमा आदि कुछ भी नही टिक सकेंगे।

(२) **प्रश्न**—'पेट भरो, पेटी न भरो' ऐसा किस प्रयोजन से कहा गया है ?

उत्तर—भूख को शांत करने के लिए अपना पेट भरना चाहिए। भूख से अधिक भोजन करना, संग्रह करना चोरी है, अनीति है, हिसा है। अधिक परिग्रह का संचय बिना हिंसा के सम्भव नही। दूसरे के हक-सग्रह करने से प्राणी मात्र में मैत्री भाव का विकास नही हो सकता, अतः हम अहिंसक नही बन सकते।

(३) **प्रश्न**—अहिंसा का क्षेत्र एवं स्वरूप क्या है ?

उत्तर—अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है। किसी भी प्राणी के अधिकार का हनन न हो, उसको परिताप न दिया जाय, उस पर शासन न किया जाय और न ही उसके प्राणो का नाश किया जाये, यही अहिंसा का स्वरूप है।

[८]

(१) **प्रश्न**—तेरहवे गुणस्थान वाले केवलियो को सिर्फ पुण्य प्रकृति का ही वन्ध क्यों होता है, पाप प्रकृति का क्यों नही ?

उत्तर—हिंसा कषाय भाव मे है। किसी के द्वारा किसी जीव का मर जाना, अपने आप मे हिंसा नही है। केवलज्ञानो राग-द्वेष की स्थिति से सर्वथा अलग है। उनके अन्दर किसी भी प्राणी के प्रति दुर्भाव नही है, अपितु सर्वांगीण, सद्भाव है, अत· उनके शरीरादि से होने वाली हिंसा हिंसा नही है। केवली स्वभावत: हिंसा करते नही है, इसलिये पाप प्रकृति का वंध नही होता।

(२) **प्रश्न**—जैन धर्म मे साधु-संतों के अहिंसा व्रत एवं श्रावको के अहिसा व्रत मे क्या अन्तर है ?

उत्तर—साधु-संत सम्पूर्ण अहिसा का पालन करते है जबकि श्रावक अपने सामर्थ्य के अनुसार देश-अहिसा का। साधु के अहिंसा व्रत को अहिंसा महाव्रत कहते है, जब कि गृहस्थ के अहिंसा व्रत को अहिसा अणुव्रत कहते हैं।

(३) **प्रश्न**—जैन धर्म में अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार कौन २ से वताये गए हैं ?

उत्तर—(१) बन्ध—रोषवश गाढा बंधन बांधा हो।
(२) वध—गाढ़ा घाव घाला हो।
(३) छविच्छेद—अवयव (चाम आदि) का छेद किया हो।
(४) अति भारारोपण—अधिक भार भरा हो।
(५) भक्तपान विच्छेद—आहार, पानी का विच्छेद किया हो।

[६]

(१) **प्रश्न**—(i) 'अहिंसा सत्य का प्राण है। उसके बिना मनुष्य पशु है'।
(ii) 'अहिसा का अर्थ है, ईश्वर पर भरोसा रखना'।
(iii) 'अहिंसा में ही सत्य के दर्शन करने का सीधा और छोटा सा मार्ग दिखाई देता है'।

अहिंसा के सम्वन्ध में विभिन्न अवसरों पर ये उत्तम विचार किसने प्रकट किए ?

उत्तर—महात्मा गाँधी ने।

(२) **प्रश्न**—'यह अहिंसा भगवती भयभीतों को शरण के समान है। पक्षियों के लिए आकाश के समान है। प्यासों के लिए पानी के समान है। भूखो को भोजन के समान है। समुद्र के मध्य में जहाज के समान है। चौपायों के लिए आश्रम-स्थल के समान है। दुःखी-रोगियों के लिए औषध-बल के समान है। घोर जंगल में सार्थ के साथ गमन करने के समान है। यही नही, अहिसा इनसे भी विशिष्टतर है। वह पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय बीज, हरित, जलचर, स्थलचर, खेचर, त्रस, स्थावर समस्त प्राणियो के लिए क्षैम-कल्याण करने वाली है।'

उपर्युक्त वाणी किस शास्त्र से हिन्दी में अनुवाद है ?

उत्तर—'प्रश्न व्याकरण सूत्र' के प्रथम संवर द्वार से।

(३) **प्रश्न**—धर्म एवं देश, न्याय एवं नीति की रक्षा के लिए क्या अहिंसक गृहस्थ के लिए शस्त्र उठाना न्याय संगत है ? शास्त्रो में वर्णित उदाहरण देकर इसकी पुष्टि कीजिए।

उत्तर—अहिंसक का पहला कर्तव्य है कि वह धर्म, देश, न्याय-नीति की रक्षा करने के लिए सभी शांतिपूर्ण अहिंसक उपायों से काम ले, लेकिन ऐसा सम्भव न हो सके तो अहिंसक गृहस्थ का नैतिक कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने पर लादी गई हिंसा और अन्याय का समर्थ न्यायपूर्ण प्रतिरोध करे।

उदाहरण—(१) भगवान महावीर के उपासक वैशाली गणाध्यक्ष चेटक ने, जो व्रतधारी श्रावक थे, न्याय एवं नीति की रक्षा के लिए शरणागत की पुकार पर कोणिक के साथ युद्ध किया।

(२) राजा उदयन ने हार, हाथी और दासी के लिए न्याय की रक्षा हेतु चण्ड प्रद्योतन से युद्ध किया।

[१०]

(१) **प्रश्न**—।।नेमजी की जान बणी भारी ।।

(तर्ज—दया पालो बुध जन प्राणी....... ....)

नेमजी री जान बणी भारी, देखण को आवे नर नारी ।।टेर।।

घट रही हुक्का सरणाई, व्याह में आए बड़े भाई।
झरोखे राजलदे आई, जान को देखत सुख पाई।

दोहा—उग्रसेनजी देख के, मन मे कियो विचार।
वहुत जीव को करी एकठा, वाड़ो भर्यो तिवार।
करी जव भोजन की त्यारी........नेमजी .. ....

नेमजी तोरण पर आये, पशु सव मिलकर कुर्राये।
नेमजी वचन यूं फरमाए, पशु ये काहे को लाये।

दोहा—याको भोजन होवसी, जान वास्ते त्यार ।
एह वचन सुण नेमजी, थर थर कंपी काय ।
भाव से चढ़ गए गिरनारजी........नेमजी........

उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर—श्री नवल मल ।

(२) **प्रश्न**—भूल चुका है मनुज श्री........
कौन सुनेगा, आज यहाँ पर पीर को,
भूल चुका है आज मनुज श्री राम, कृष्ण महावीर को ।
कभी जटायु की सेवा मे, राम बलि-बलि जाते थे,
घायल पक्षी को हाथो मे, ले आसू टपकाते थे,
आज खडा है भाई आगे, भाई ले शमशीर को ।
भूल चुका है...........।।१।।
कभी वीर चन्दन बाला से, उड़द बाकुले पाये थे,
चण्डकौशिया विष के बदले, अमृत को बरसाये थे,
आज मनुज बरसाते है, कटु वाणी के विषतीर को ।
भूल चुका है...........।।२।।

उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर—श्री कुमुद मुनि

(३) **प्रश्न**—।।वीर जिनेश्वर सोई दुनिया....... ।।
वीर जिनेश्वर सोई, दुनिया जगाई तूने ।
ज्ञान की मधुर सुरीली, वंशी बजाई तूने ।।१।।
भारत की नैया डोली, मृत्यु आ सिर पर वोली ।
स्वर्ग से आकर भगवन्, पार लगाई तूने ।।२।।
पशुओ पै छुरियाँ चलती, रक्त की नदियाँ बहती ।
करुणा के सागर, करुणा-गंगा वहाई तूने ।।३।।

उपर्युक्त स्तवन के रचनाकार कौन है ?

उत्तर—'श्री अमर मुनि'

[११]

(१) **प्रश्न**—एक मछली को जीवन दान देने से मृगसेन धीवर को किन भव मे कई जीवन दान मिले ?

उत्तर—'दामनखा' के भव में ।

(२) **प्रश्न**—ढंढण मुनिराज को किस पूर्व भव की घटना से सदैव भिक्षा मे रूखा-सूखा भोजन ही प्राप्त होता था ?

उत्तर—पूर्व जन्म में ढंढण मुनि एक खेत का रखवाला था। राजा के खेत में मजदूरो एवं बैलों से कुछ घंटे काम का नियम था। जब दोपहर के विश्राम में छुट्टी मिलती थी तो वह अपना निजी कार्य करवाता था, जिससे वे सुख से भोजन भी नही कर पाते थे। यद्यपि यह सूक्ष्म हिसा थी, किन्तु अपने निजी स्वार्थ ने उसे मानवीय कर्तव्य से परे हटा दिया था। उन्ही पूर्व कर्मो के फल स्वरूप ढंढण मुनि को भिक्षा में रूखा-सूखा आहार मिलता था।

(३) **प्रश्न**—निम्न महान् आत्माओ को आज भी 'अहिसा' के सदर्भ मे क्यों याद किया जाता है ?

(१) नेमी नाथ तीर्थकर, (२) धर्म रुचि अणगार, (३) मैतार्य मुनि, (४) मेघरथ राजा

उत्तर—(१) नेमीनाथ तीर्थंकर—पशुओं पर करुणा करने से।
(२) धर्म रुचि अणगार—कीड़ियों पर दया करने से।
(३) मैतार्य मुनि—कुक्कुट की रक्षा के कारण।
(४) मेघरथ राजा—शरणागत कबूतर की रक्षा के कारण।

[१२]

(१) **प्रश्न**—अहिसा का आचार पक्ष के अलावा विचार और व्यवहार पक्ष भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। कृपया यह बताइये कि अहिसा का विचार एव व्यवहार पक्ष कौनसा है ?

उत्तर—(१) अहिंसा का विचार पक्ष है—अनेकान्त।
(२) अहिसा का व्यवहार पक्ष है—अपरिग्रह।

(२) **प्रश्न**—मन, वचन और काया के त्रियोग में मन की अहिसा (मानसिक अहिंसा) को सर्वोपरि महत्त्व क्यों दिया गया है ?

उत्तर—हिसात्मक भावनाएँ सर्व प्रथम मानस पर पनपती है, इसलिये मन को हिंसा से बचाना अत्यन्त आवश्यक है। वचन और काय हिंसा मानसिक हिसा होने के बाद ही सम्भव है, इसलिये मन की अहिसा को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है।

(३) **प्रश्न**—अहिसा के निषेधात्मक एव विधेय पक्ष की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए।

उत्तर—अहिसा का निषेधात्मक पक्ष है—किसी को मत मारो, किसी के मन, हृदय को आघात मत पहुँचाओ। दूसरी ओर अहिंसा का विधेय पक्ष है—मैत्री भाव स्थापित करना और अपने जैसा व्यवहार सबके साथ करना, अहिंसा का विधेय पक्ष है।

—89, Audiappa Naicken Street,
Sowcarpet, Madras-600 079

अहिंसा-तत्त्व

□ प्रो० कल्याणमल लोढ़ा

विश्व का रचनात्मक चिन्तन आज भौतिकवाद, हिंसावाद और आतंकवाद के विरुद्ध जागरूक होकर शान्ति के नए आयाम खोज रहा है—इसके साथ ही वर्तमान काल की भौतिकवादी उपभोक्ता अप संस्कृति की चकाचौंध मे वैचारिक ऊहापोह से संत्रस्त ऐसी धारा भी है जो युद्ध, हिंसा, प्रतिशोध, सत्ता और अधिकार की अन्तहीन महत्त्वाकांक्षा को मनुष्य की प्रकृति का जन्मजात और आवश्यक अंग गिनती है, तो दूसरी अहिंसा, समता, सहिष्णुता, मैत्री और सह अस्तित्व को। कुछ उदाहरण देखें। नीट्शे ने कहा था कि "दयनीय और दुर्बल राष्ट्रों के लिए युद्ध एक औषधि है।" रस्किन ने माना कि "युद्ध में ही राष्ट्र अपने विचारों की सत्यता और सक्षमता पहचानता है। अनेक राष्ट्र युद्ध मे पनपे और शांति में नष्ट हो गये।" मोल्टेक "युद्ध-हिंसा को परमात्मा का आन्तरिक अंग" गिनता था। उसकी धारणा थी कि स्थायी शान्ति एक स्वप्न है। डार्विन का शक्ति सिद्धान्त तो ज्ञात है ही। स्पेंगलर जैसा इतिहासज्ञ भी युद्ध को मानवीय अस्तित्त्व का शाश्वत रूप गिनता है। आर्थर कीथ ने 'युद्ध को मानवीय उत्थान की छँटाई गिना'। वैज्ञानिक डेसमोन्ड मोरिस, 'नैकड एप', राबर्ट आड्रे 'दि टेरीटोरियल इम्पेरेटिव', व कोनार्ड लारेंज 'आन एग्रेसन' मे फ्राइड की मान्यता के पक्ष धर है कि आक्रामकता और हिंसा मनुष्य की जन्मजात, स्वतंत्र, सहज एवं स्वाभाविक चित्तवृत्ति है।

इन भ्रान्त धारणाओं के विपरीत दूसरा व्यापक और स्वस्थ मत है उन विचारकों का, जो अहिंसा के सिद्धान्त और दर्शन को आज चिन्तन के नये धरातल पर प्रतिष्ठित कर उसे केवल धर्म और अध्यात्म का ही नही, दर्शन और मुक्ति का साधन ही नही, सामाजिक परिवर्तन, अहिंसक समाज, विश्वशांति और सार्वभौम मानवीय मूल्यों के परिप्रेक्ष्य मे भी स्वीकार कर रहा है। यूनेस्को जैसी संस्था ने भी इस पर गम्भीर विचार-विमर्श के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियां आयोजित की व सामाजिक सर्वेक्षण और शोध योजनाओं को विविध रूपेण क्रियान्वित किया। आज सभी देशो, वर्गो और समाजो के प्रवुद्ध चिन्तक यह स्वीकारते है कि स्थायी विश्वशान्ति के लिए आमूल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक, क्रान्ति की अपरिहार्य आवश्यकता है और वह केवल महावीर, बुद्ध व गांधी की अहिंसा से सम्भव है। यो कहना अधिक संगत होगा कि मानव सभ्यता का भविष्य अहिंसा व शान्ति पर ही निर्भर करता है। सम्भवतः यही कारण था कि महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने अपने व

महात्मा गाँधी का चित्र लगाया; किसी राजनेता और वैज्ञानिक का नही। मानव समाज की मूल प्रक्रिया मानवीय अभिप्रेरणा व प्रयोजन की संरचना शांति, सुव्यवस्था और समता की ओर उन्मुख रही है। द्वितीय महायुद्धोपरांत विनष्ट नागासाकी को देखकर प्रसिद्ध चिन्तक ब्रोकोस्वकी ने यह प्रस्ताव किया कि नागासाकी को उसके विध्वसक और विनष्ट रूप मे यथावत रखा जाय, जिससे आने वाली पीढ़ियाँ यह देख सके कि युद्ध और हिंसा कितनी भयावह और दुर्दान्त होती है। इस सम्बन्ध में एक और उदाहरण ध्यातव्य है। कुछ वर्ष पूर्व अमेरिका के सांसद भरविक डायमेफो ने कांग्रेस में यह प्रस्ताव रखा था कि सयुक्त राज्य में सेनापतियों, युद्ध विजेताओ और वीर सैनिकों की तो अनेक मूर्तियाँ है पर अब समय आ गया है कि हमें महात्मा गांधी का एक स्मारक वाशिगटन में बनाना चाहिए, जिससे अहिंसा, प्रेम और शांति का व्यापक सदेश मानव-कल्याण के लिए फैले।

सामाजिक मनोविज्ञान का मूलाधार जिस व्यवस्था और संस्थावाद को प्रमुखता दे रहा है, उसकी निर्मिति मैत्री, समता और भ्रातृत्व पर ही आधृत है। प्रसिद्ध विद्वान् सी. राइट मिल का कथन है कि आज मनुष्य की समस्त चिन्ताधारा विभ्रमित होकर तृतीय विश्व युद्ध को यथार्थ मानकर भ्रमवश विश्व शांति की सम्भावना स्वीकार नही करती। पो सोरोकिन का भी यही अभिमत है। उसकी दृष्टि मे आज सामाजिक व्यवस्था और सांस्कृतिक जीवन मूल्यहीन, प्रत्ययहीन, आस्थाहीन हो गए है और स्पर्धा एवं सकटग्रस्त होकर चारो ओर विनिष्टिवादी कटुता का बोलबाला है।

आइन्सटीन ने तो स्पष्ट कह दिया था, "हमें मानवता को याद रखना है जिससे हमारे समक्ष स्वर्ग का द्वार खुल जायेगा अन्यथा सार्वभौम मृत्यु को ही झेलना होगा। कोई अंधी मशीन हमें अपने विकराल वज्र दन्तों मे जकड लेगी।" एक ओर विश्व संहार का यह भय और आतंक है, तो दूसरी ओर यह मान्यता जोर पकड रही है कि रचनात्मक पदार्थवाद और नैतिक मानवीय मूल्यो के मानदण्ड के रूप मे ही अहिंसक समाज व संस्कृति के लिए स्थायी विश्वशाति के हेतु बन सकते है। सामाजिक व सांस्कृतिक विकास आज द्वयर्थक हो रहा है। एक ओर तकनीकी व वैज्ञानिक आविष्कारों ने राष्ट्रों के आचार-विचार-व्यवहार मे परिवर्तन कर दिया है तो दूसरी ओर सत्ता व शासन की अमित महत्त्वाकाक्षाओ ने चुनौतियां उत्पन्न कर तनाव और संघर्ष उपस्थित किया है। कोई राष्ट्र अन्य उन्नत राष्ट्रो से पिछड़ना नही चाहता, दूसरी ओर सामान्य जनता शान्ति, सुव्यवस्था और सामाजिक परिवर्तनों की माग कर परस्पर सौमनस्य और सौरस्य का आग्रह कर रही है। युद्ध की भयावहता इससे ही स्पष्ट है कि आज संहार अस्त्रों पर तीस हजार डालर प्रति सैकेण्ड खर्च हो रहे है और उधर हर दो सैकेण्ड पर बालक, चिकित्सा के अभाव में

विकलांग हो रहा है ।' अमेरिका नाभिकीय युद्ध के लिए रसायनिक और जैविक तत्त्वों के मिश्रण से ऐसे अस्त्र-बना रहा है, जो विशेष जातियों और नस्लो को पहचानकर समाप्त कर देंगे एवं मानवीय इच्छाओ का दमन कर जनता की मानसिकता और आचरण-क्षमता को स्वचालित शब्दो मे वदल देगे । इसके विपरीत प्रेमचन्द के शब्दो मे 'विश्व समर का एकमात्र निदान है विश्व-प्रेम ।' इस सन्दर्भ में आज विश्व साहित्य में तकनीकी सस्कृति का घोर विरोध हो रहा है, ब्रूस मेजलिस ने १९८० में लिखा कि "आविष्कारों की महानता और उनके परिणामों के हीनता की घोर विषमता से मै हैरान हूँ ।' नारमन फंजिल्स ने कहा कि 'अतरिक्ष की मानवयात्रा का महत्त्व यह नही है कि मनुष्य ने चद्रमा पर पैर रखे पर यह है कि उसको दृष्टि वहाँ भी अपनी पृथ्वी पर ही लगी रही ।' यही सोचना है कि मनुष्य की इस सर्वव्यापी चारित्रिक आन्तरिक बाह्य अस्मिता के संकट से मुक्ति का उपायक अहिंसक क्रान्ति देकर क्या वह स्थायी शांति और सुव्यवस्था का प्रमाण बन सकती है ? इसी दृष्टि से आज गम्भीर विचारक और चिन्तक अहिसा के दार्शनिक और धार्मिक पक्ष के साथ-साथ उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उपयोगिता और इयत्ता पर उन्मुक्त भाव से विचार कर रहे है ।

आज मनुष्य की हिसा प्रवृत्ति-आन्तरिक और बाह्य पक्षो में पाशविक सीमा को भी पार कर रही है । प्रकृति का संतुलन नष्ट हो रहा है । पर्यावरण का प्रदूषण अत्यन्त भयावह है—तकनीकी आविष्कार मनुष्य की आतरिक अस्मिता को नष्ट कर रहे है । इसके अनेक उदाहरण हमे आए दिन पत्र-पत्रिकाओं में मिलते है । कुछ वर्ष पूर्व लन्दन के एक वृद्ध की लकड़ी छीनकर उसे पीटा और फिर पकड़े जाने पर युवको ने इसे 'मनोरंजन' कहा । इसी प्रकार पार्क के एक कोने मे एक अन्धी स्त्री के साथ बलात्कार करने पर उसे भी एक साधारण घटना समझा गया । भारत में भी प्रत्येक दिन ऐसी घटनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञप्त होती है । अमेरिका के उद्धत छात्रों ने एक उपनगर की जल आपूर्ति को उसके दुष्परिणामों का अनुभव करने के लिए समाप्त कर दिया । निर्दोष पशुओ की क्रूरता का तो अन्त ही नही है । अब अनेक चिन्तक इस क्रूरता के विरुद्ध आंदोलन कर रहे है और इसके साथ ही मासाहार के विरोध में भी प्रचार । प्रसिद्ध जीव-वैज्ञानिक रेचल कार्स ने 'सायलेट स्प्रिग' पुस्तक लिखी और डी डी. टी के प्रयोग से फ्लोरिडा मे ऋतु पक्षियो से विहीन हो गयी और सृष्टि का संतुलनन विगड़ा । साइवेरिया मे भी चीटियो को मारने से वहाँ का पर्यावरण नष्ट हो गया—और इस क्रूरता को वद करना पड़ा । चीनियों ने फसल को नष्ट करने वाली गौरय्यो को मार डाला, इसमे अकाल पड़ा और तव उनकी, सुरक्षा का प्रबन्ध हुआ । वेरी कमाण्डर लेखक की 'क्लोजिंग सर्कल और जान मेडोस की 'डूम्सडे सिण्ड्रोम' पर्यावरण की ग

प्रकृति के संतुलन के लिए पशु क्रूरता के निवारणार्थ लिखी गयी। राजस्थान में प्रतिवर्ष आने वाले सारस पक्षियों की सख्या अब अत्यन्त कम हो गयी है, इसके कारणों का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है। आज जीव विज्ञानी जीवन की रहस्यात्मक सूक्ष्मता का अध्ययन कर रहे हैं। शेलड्रेक ने प्रसिद्ध ग्रंथ 'ए न्यू साइन्स आफ लाइफ' में एक शब्द का प्रयोग किया है 'मोर्फोजेनिटक रिजोनेन्स' (रूप-गुणाणु जन्य अनुवाद) यह शब्द जीव सृष्टि के अन्तर क्रियात्मक क्षेत्र का सशक्त वैज्ञानिक विवेचन करता है। इस प्रसग को आगे न बढाकर मै फ्रिट जाफ काप्रा का यह कथन उद्धत करना चाहूँगा 'जब मन अशान्त होता है तब पदार्थ की अनेकता पैदा होती है, परन्तु जब मन शान्त होता है तब पदार्थ की अनेकता नष्ट हो जाती है' और एकता सिद्ध होती है। एकता का यह परमबोध ही अहिसा का मूल तत्त्व है।

ऊपर मैने युद्ध-लिप्सा का उल्लेख किया है। इस सम्बन्ध में अमेरिका के राष्ट्रपति जिमी कार्टर के भाषण (१४,१,१९८१) का उल्लेख करना चाहूँगा, जिसमें उन्होंने कहा था कि 'यदि परमाणु युद्ध पृथ्वी पर छिड़ जाय तो दूसरे विश्वयुद्ध मे जितना विनाश हुआ था उतना विनाश प्रत्येक सेकेण्ड मे होगा' यह विचार ही युद्ध जन्य हिसा का घातक प्रमाण है—सृष्टि के विध्वस का। इसके साथ हमे यह भी स्मरण रखना होगा कि यदि विभिन्न देश युद्धार्थ अस्त्र-शस्त्र के निर्माण के लिए एक दिन मे जितना व्यय करते है उससे संयुक्त राष्ट्र के एक वर्ष का साधन जुट सकता है। अफ्रीका में प्रत्येक दिन अनुपाततः १४००० बालक भूख से मरते है—इस सब को देखकर रूथ सिवर्ड ने विनष्टि को "साइलेट होलोकास्ट" कहा था।

उपरिलित ये उल्लेख इस विसंगति के प्रमाण है कि आज मानवीय सस्कृति जिस विभीषिका से सत्रस्त है—उसका समाधान अहिसा से ही संभव है। और इसीलिए आज मानवीय चिन्तन अहिंसा की ओर आकृष्ट हो रहा है—आहार-व्यवहार-आचार-विचार-सभी-दृष्टियों से। डा. दौलतसिह कोठारी ने 'सिरेमल बाफना स्मारक व्याख्यान मे (विज्ञान और अहिसा) कहा था कि 'अहिंसा और विज्ञान के अन्तरावलबन पर विचार करते हुए हमे सहसा जीव विज्ञान के अधुनातन अनुसंधानों का स्मरण होता है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि' एक ही कोटि के प्राणी पारस्परिक हत्या मे लिप्त नही होते, पर मनुष्य ऐसा अभागा प्राणी है कि वह एक दूसरे की हत्या करने में नही हिचकिचाता'। उन्होने कार्ल पोपर के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'दि ओपन सोसाइटी एन्ड इट्स ऐनेमीज' का उद्धरण भी दिया है। पोपर कहता है कि "राजनीतिक सत्ता के अधिकारो का इतिहास केवल अन्तर्राष्ट्रीय सामूहिक हत्याओ और मानवीय अपराधों का इतिहास है"। इस का अन्य पक्ष यह है कि जिन मनुष्यों ने युद्धान्माद और हिसा को अपनाया, इतिहास मे वे केवल घटना बनकर

रह गए। सिकन्दर, चंगेजखां, नादिरशाह, महमूद गजनवी, तैमूरलग आदि आज कहाँ है ? सिकन्दर के लिए कहा गया कि ग्रीक दार्शनिक डायोजिनीज के लिए एक टब ही वहुत थी, पर सिकन्दर की महत्त्वाकाक्षा मे सारा विश्व उसके लिए छोटा रहा। कोलम्बस की क्रूरता के लिए अब कहा जाता है कि हिटलर अपनी नृशसता मे उसके समक्ष बौना लगता है। औरंगजेब ने मृत्यु के समय अपने पुत्रों को लिखे पत्र मे अपनी करतूतो के लिए पश्चात्ताप किया था।

हमे स्मरण रखना चाहिए कि समष्टि चेतना और सामूहिक संश्लिष्ट ऐक्य मानवेतर सृष्टि मे भी जव सहज, स्वसंभूत और सुलभ है, तव मनुष्य मे ही क्यो ग्राज इनका ग्रभाव है ? विख्यात मनोवैज्ञानिक एरिक इरिकसन ने इसे ही 'किकर्तव्यविमूढ़ता' कहा है। उनके अनुसार मनुष्य यह नही जानता कि वह क्या है, उसकी सलग्नता कहाँ ग्रौर किससे है ? यह एक भीपण मानसिक रोग है।

इसके विपरीत मानवेतर सृष्टि को देखे। एडवर्ड विल्सन ने ग्रपने आविष्कारों से यह प्रमाणित कर दिया कि प्रवाल, चीटी, सर्प आदि जीव-जन्तु भी पूर्णत सामाजिक और संवेदनशील है, उनकी सामाजिक संरचना ग्रत्यन्त सुव्यवस्थित है। आज तो विज्ञान ने पेड-पौधों में भी सवेदनशीलता, आत्मसुरक्षा ग्रौर ज्ञप्ति को प्रमाणित कर दिया है। इसी संवेदना का ग्रनुभव कर परमहंस श्री रामकृष्ण ने पत्ते, फूल ग्रौर पौधो को छूना तक नही चाहा। जैन साधु-साध्वी तो सदा से यही करते ग्रा रहे हैं।

हमें यह मानना चाहिए कि ग्रहिसा ग्राज के विघटित, संत्रस्त ग्रौर किंकर्तव्यविमूढ मनुष्य को निश्चित सुव्यवस्था देकर ग्रहिसक समाज की रचना करने मे समर्थ है। उदात्त ग्रहिसा ने सदैव मनुष्य जीवन को उच्चतम नैतिक भूमि पर ले जाकर उसे मानवीय गुणो से समन्वित किया। जिन्होने मानव जाति के विनाश का स्वप्न देखा, वे विस्मृत हो गए ग्रौर जिन्होंने उसके उत्थान का सत्संकल्प किया एव उसमें योगदान दिया, वे ग्रजर-ग्रमर। संस्कृति के विकास में उनकी देन अक्षय है। यह इस सत्य का प्रमाण है कि मनुष्य की आन्तरिकता मूलत. सर्वतोभावेन अहिसक, शान्ति-प्रिव, प्रेममय, करुणाश्रित और नैतिक है। जीवन के सभी आदर्शो के मूल मे ग्रहिसा है। ग्रहिसक समाज के लिए व्यक्ति का ग्रहिसक होना ग्रावश्यक है। वांशियवन्दी ने ग्रहिसक व्यक्ति ग्रौर ग्रहिसक समाज के पारस्परिक ग्रौर ग्रन्योन्याश्रित सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मन. वचन ग्रौर कर्म से ग्रहिसक व्यक्ति समाज मे सर्वत्र मैत्री. प्रेम ग्रौर सद्भाव का नियमन करता है। वह समूचे समाज परिवर्तन लाने की क्षमता रखता है।

आज जब पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, प्राकृतिक संतुलन बिगड़ रहा है, पशु-पक्षी, जन्तु मनुष्य की हिंसक वृत्ति से समाप्त हो रहे है, महावीर ने आचार-विचार और व्यवहार के साथ-साथ आहार को भी महत्त्व दिया। वे केवली थे—त्रिकालज्ञ, दिव्य। हिंसा पाप है, रौद्र है, भय है, मोह है . एसो सो पाणवहो पावो, चण्डो, रूद्दो ... ...मोह महब्भयत्तवहओ'। अहिंसा समस्त जीवों के प्रति संयमपूर्ण आचार-व्यवहार है—'अहिंसा निऊणा दिट्ठा, सव्व भूएसु संजमो।' वे सदा यही सिखाते रहे कि मनुष्य के चरित्र का आन्तरिक रूपान्तरण मुख्य है, और इसके साधन है, अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, और समता। यही मानवतावाद या समष्टिवाद की आधारशिला है। एक जैनाचार्य का कथन है—अहिंसा ही प्रमुख धर्म है, अन्य तो उसकी सुरक्षा के लिए है—'अवसेसा तस्स रखणट्ठा।' आध्यात्मिक चेतना ऊर्ध्व गति से ही संभव है—उसका सनातन मूल्य बोध भी वीर प्रभु ने इसी से शान्ति मार्ग पर चलने को कहा—

बुद्धे परिनिव्वुडे चरे,
गाम गए नगरे व संजए।
सन्ति मग्गं च बूहए,
समयं गोयम ! मा पमायए।। उत्तराध्ययन सूत्र १०/३६

अहिंसा की साधना ही शान्ति का मार्ग है। वे कहते है 'बुद्ध तत्वज्ञ और उपशान्त होकर पूर्ण संयतभाव से गौतम ! गॉव एव नगर मे विचरण कर। शान्तिपथ पर चल। अहिंसा का प्रचार कर। क्षण भर भी प्रमाद न कर।'

उन्होने बताया कि धर्महीन नीति समाज के लिए अभिशाप है और नीति-हीन धर्माचरण निरर्थक। ज्ञानी पुरुषों ने जिसका सदा आचरण किया, वह व्यवहार और आचरण ही अपेक्षित है। इस प्रकार महावीर ने अहिंसा को वृहत और व्यापक सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उनका विधान था 'चारित्तं धम्मो' सदाचार ही धर्म है। व्यक्ति की हो, चाहे समाज या शासन-तन्त्र की, हिंसा का कारण भय और क्रोध है। जैनधर्म कषाय को हिंसा का कारण मानता है—आवेश, लालसा, अधिकार-लिप्सा और वित्तैषणा हिंसा और परिग्रह के हेतु है, 'गथेहि तह कसाओ, वड्ढइ विज्झाइ तेहि विणा।' आधुनिक समाजशास्त्र व मनोविज्ञान मे भी क्रोध, मान, माया और लोभ का वैज्ञानिक पद्धति से निरूपण मिलता है। क्रोध को ही ले। क्रोध प्रतिशोध मॉगता है। वह मानसिक और शारीरिक संतुलन नष्ट कर देता है। 'भगवती सूत्र' मे इसकी विभिन्न अवस्थाओं का विवरण प्राप्त होता है। भगवान महावीर कहते है—क्रोध उचित-अनुचित का विवेक नष्ट करने वाला है। वह प्रज्वलन रूप आत्मा का दुष्परिणाम है।

आज मनोविज्ञान ने भी इस तथ्य को भली भाँति उजागर कर दिया है। चरक ने तो यही बताया कि क्रोध आदि विकार से व्यक्ति ही नही, उसके आसपास का वातावरज भी विकृत हो जाता है। व्यक्ति और समाज मे सार्वदेशिक शान्ति तभी संभव है जब हम अपनी जीवन-प्रक्रिया मे आमूल परिवर्तन करे। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इरिक बर्न का कथन है 'मनुष्य की रचनात्मक जिजीविषा और सहारात्यक विजीगिषा वह कच्चा माल है, जिसका आज मनुष्य और सस्कृति को उपयोग करना है। समाज और मानवजाति की सरक्षा के लिए उसे सहारात्मक विजीगिषा समाप्त कर रचनात्मक जिजीविषा को आध्यात्मिक व जागतिक समृद्धि मे लगाना होगा।' व्यक्ति का मानसिक विकास और उसकी सामाजिक शांति इस पर निर्भर करती है कि वह इन जन्मजात शक्तियों का किस उद्देश्य से प्रयोग करे। व्यक्ति का मानसिक सतुलन ही सामाजिक सतुलन का प्रथम चरण है। महावीर ने अपनी सारी शक्ति इसी मे लगाई। उन्होने अहिसा के सिद्धान्त को मनुष्य या पशु हिसा तक ही सीमित न रखकर समस्त सचराचर जगत् पर, षटकाय जीवो पर, जीवन के प्रत्येक पहलू और पक्ष पर, अनिवार्य समझा। अहिंसा के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों रूपो पर गहन विचार किया। भाव हिसा और द्रव्य हिसा का सर्वांगीण विवेचन कर हिसा के पाँच समादान बताए। उन्होने कहा—'अहिसा निउण दिट्ठा सव्व भूएसु सजमो (दशवैकालिक ६—९) क्योकि सभी प्राणियो को जीवन प्रिय है—सुख अनुकूल है और दु.ख प्रतिकूल।' 'अप्पिय वहा, पिय जीविणो जीविउ कामा, सव्वेसि जीविय पिय नाइवाएज्ज, कचणं (आचाराग १।३-४) महावीर की इस अहिसा-सस्कृति को ही आधुनिक युग मे महात्मा गाँधी ने अपनाया, विनोबा भावे ने सर्वोदय-सिद्धान्त मे प्रमुख गिना।

प्राचीन काल से लेकर आज तक पाश्चात्य जगत् मे भी मासाहार के विरोध मे व्यापक प्रचार था। प्राचीन दार्शनिक पाइथोगोरस ने मासाहार को पापमय भोजन गिना। ग्रीक दार्शनिक सैनेका ने पाइथोगोरस के प्रभाव से मांस खाना छोड दिया। प्लूटार्क मास का घोर विरोधी था। प्रसिद्ध चित्रकार लिनार्दोदिविसी का कथन था कि 'प्रकृति नही चाहती कि एक जीव दूसरे का घात करे।' प्रसिद्ध सगीतकार वैगनर पूर्णत शाकाहारी था। तालस्ताय भी जीवन के अंतिम समय मे पूर्ण शाकाहारी हो गये। आइन्सटीन का मत था कि शाकाहार मनुष्य के जीवन के लिए लाभप्रद है। जार्ज बर्नाडशा कहते थे कि 'मैं अपने पेट को पशुओं का कब्रिस्तान नही बनाऊँगा।' नोबल पुरस्कार विजेता [illegible] स्वाइटजर पशु-हत्या व मांसाहार को पूर्णत हेय समझते थे। आज तो शारीरिक स्वास्थ्य लाभ के लिए भी शाकाहार के लिए देश-विदेश मे व्यापक [illegible] हो रहा है। यहाँ तक कि कैंसर, हृदय रोग आदि घातक [illegible] निक मानसिक विक्षिप्तता के लिए भी [illegible] सीमा तक शाकाहार [illegible]

समझा जा रहा है। इसी प्रकार पेड पौधो, वनस्पति व प्राकृतिक सतुलन के लिए भी आज समस्त देश जागरूक है। इस सबंध में वैज्ञानिको ने पेड़ पौधों पर शोध करके यह प्रमाणित कर दिया है कि उनमें भी आत्मतत्त्व उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार मनुष्य में। उनमें भी वही संवेदना है जो मनुष्य मे। पशु क्रूरता निवारण के लिए तो ऐसा आन्दोलन संभवतः पहले कम ही हुआ हो। सी रिचार्ड केलोर तो पशु क्रूरता निवारण के लिए जी जान से लगे है। भारत मे साधु वासवानी का नाम विख्यात है। युनाइटेड नेशन्स को जो ज्ञापन पशु सुरक्षा के लिए (अन्तर्राष्ट्रीय एनीमल चार्टर) दिया उसमे कहा गया है कि पशुहत्या वद की जाय। प्रसिद्ध कवि ऐन्जिला गिल्स की कविता ने अत्यधिक प्रशसा पाई। उसकी कुछ पंक्तिया है 'प्रत्येक लघु चीटी अपने जीवन के भार से ईश्वर के पथ का ही संधान कर रही है' (अनुवाद-एनीमल सीटीजन, अक्टूबर १९६२ से) अनेक विद्वानो ने इस प्रकार ग्रंथ भी लिखे है, जिनमें प्रमुख है विलमूल की 'साइकिल पावर आफ एनिमल्स' यह सब जागरूकता अहिसा की जागरूकता है। यही कारण है कि आज विश्व की चेतना जैन सस्कृति की ओर आकृष्ट हो रही है और उसे अपनाने पर वल दे रही है।

डॉ टी. के. उन्नीथन एवं डॉ. योगेन्द्र सिह के सर्वेक्षण के अनुसार आज नेपाल, श्री लका और भारत का ७० प्रतिशत कुलीन वर्ग और ६३.८ सामान्य वर्ग अहिसा को प्रधानतः राजनीतिक और सामाजिक स्वरूप में स्वीकार करता है। ये वर्ग सभी धर्मों के है। इन वर्गों की दृढ मान्यता है कि अहिंसा की उपलब्धि से मानव जाति का नैतिक और आध्यात्मिक विकास होगा। उन्नीथन ने अहिसा की सगति और स्वीकृति का समाजशास्त्रीय पद्धति से विश्लेपण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि "हमारे समक्ष दो ही विकल्प है—या तो परम्परा से प्राप्त नैतिक व्यवस्था स्वीकार करे या फिर समाज से निःसृत उसकी प्रायोगिक मान्यता को। परन्तु यही प्रश्न उठता है कि वर्तमान अनैतिक समाज से हम किस प्रकार नैतिक व्यवस्था प्राप्त कर सकते है? सत्ता और व्यवस्था की संकल्पना लोकोत्तर होनी चाहिए, जो विद्यमान परिस्थितियों से उत्पन्न प्रत्ययात्मक और पारम्परिक हो।" डॉ राधाकृष्णन के शब्दो मे' 'अहिसा कोई शारीरिक दशा नही है, अपितु यह तो मन की प्रेममयी वृत्ति है।' मानसिक स्थिति के रूप मे अहिसा केवल अप्रतिरोध से भिन्न है। वह जीवन का एक समर्थ रचनात्मक पक्ष है। मानव कल्याण की भावना ही सच्चा वल और सर्वश्रेष्ठ गुण है। कहा गया है कि "यौद्धा का वल घृणित है, ऋपि का वल ही सच्ची शक्ति है"—"धिग्बलम् क्षत्रिय वलम्, ब्रह्म तेजोवल बलम्।" अहिसक मुनि, ऋपि या सन्यासी प्रत्यक्षत. सामाजिक सघर्ष मे भाग नही लेते पर उनका योगदान निर्विवाद है।

पुनः डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार वे "सामाजिक आन्दोलन के सच्चे निदेशक है। उन्हें देखकर हमे अरस्तू की 'गतिहीन प्रेरक शक्ति' का स्मरण हो

जाता है।" तात्सताय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास "युद्ध और शान्ति" मे लिखा है— "युद्ध एक सामूहिक हत्या है, जिसके उपकरण है, देशद्रोह को प्रोत्साहन, मिथ्या भाषण, निवासियो का विनाश आदि।"

हम अहिंसा द्वारा सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाओं पर विचार करे। एरिक फ्रोम के अनुसार आज साधन को ही साध्य समझना सामाजिक व्यवस्था की सबसे बडी विसगति है। भौतिक समृद्धि के लिए उत्पादन और उपभोग के साधन हमारे साध्य बन गए है, इसी से आज सम्पूर्ण समाज अपने आदर्श और उद्देश्य से च्युत हो गया है। मनुष्य मनुष्य से भयभीत है। उसकी वैयक्तिक अन्तहीन अधिग्रहण और अवाप्ति की लालसा ने उसकी स्वस्थ मानसिकता नष्ट कर दी है। हिगेल के शब्दों मे 'मनुष्य सबसे सौभाग्यपूर्ण प्राणी है क्यों कि वह अकेला (रोबिनसन क्रूसो की भाँति) नही रह सकता, पर वह सबसे अभागा भी है क्योंकि अन्य मनुष्यो के साथ सौमनस्य और प्रेम से भी नही रहता' अर्थात् सामाजिकता की प्रकृत आकांक्षा के साथ, उसमे विकृत असामाजिकता है। वह प्रकृति के सनातन नियमो को भूल गया है। आर्थिक व राजनैतिक जीवन की केन्द्रस्थ यान्त्रिकता में, वह व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता खो बैठा। उसके दिल और दिमाग पर शासन तन्त्र की क्रूरता और निरंकुशता हावी है। समाज शास्त्रियो ने व्यक्ति की इस विकृत मानसिकता का विशद विवेचन किया है। सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से एक ओर वह अतीव परिग्रहवादी है, दूसरी ओर वह वर्तमान संस्कृति की जडता से विच्छिन्न। इसी को समाजशास्त्र मे 'एनौमो' और 'एलिनेशन' कहा गया है। मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों में भिन्नदृष्टि से व्यक्ति के ऐलिनेशन पर विचार किया। एलिनेशन की विवेचना करते हुए गर्सन का मत है कि तकनीकी—औद्योगिक क्रान्ति, नौकरशाही, विलास, वैभवपूर्ण जीवन प्रक्रिया, आदर्शो का लोप, नैतिक मूल्यों का ह्रास, विकृत मनोविज्ञान (फ्राइड आदि का) इस मानसिक विच्छुति के कारण है। इसका अर्थ है कि आज व्यक्ति एकाकीपन, अनैक्य, असन्तोष का शिकार होकर वह अपने वृहत् सामाजिक सम्बन्धों को विस्मृत कर रहा है। उसे न तो अपने से सन्तोष है और न अपनी उपार्जन क्षमता से। वह असंयत है। सांस्कृतिक सकट उसे हतप्रभ कर रहा है। उसकी आकाक्षाओं और उपलब्धियों मे प्रचुर व्यवधान है। उसकी एपणाओं का अन्त नही। वह अर्थ रहित, मूल्यविहीन, एकाकी, आत्म निर्वासित और शक्तिहीन है। यही उसका सास्कृतिक विघटन है। आज यह आत्मविमुखता और सांस्कृतिक अलगाव चारो ओर व्याप्त है। एनौमी वह मानसिक दशा है, जिसमे नैतिक जड़ें नष्ट हो जाती है—मनुष्य विशृंखलित होकर अपना नैरन्तर्य खो बैठता है। आध्यात्मिक स्तर पर वह अनुर्वर और निर्जीव है। उसका दायित्व-बोध किसी के प्रति नही है। उसका जीवन पूर्णत. निषेधात्मक है। उसके जीवन मे न तो अतीत है, न वर्तमान और न भविष्य—केवल उसकी एक [illegible] क्षीण सवेदना ही विद्यमान है। (मेकन्वर) उसकी यह विक्षिप्त मानसिकता

समझा जा रहा है। इसी प्रकार पेड़ पौधो, वनस्पति व प्राकृतिक सतुलन के लिए भी आज समस्त देश जागरूक है। इस सबध मे वैज्ञानिकों ने पेड पौधों पर शोध करके यह प्रमाणित कर दिया है कि उनमे भी आत्मतत्त्व उसी प्रकार विद्यमान है जिस प्रकार मनुष्य मे। उनमें भी वही सवेदना है जो मनुष्य मे। पशु क्रूरता निवारण के लिए तो ऐसा आन्दोलन संभवतः पहले कम ही हुआ हो। सी रिचार्ड केलोर तो पशु क्रूरता निवारण के लिए जी जान से लगे हैं। भारत मे साधु वासवानी का नाम विख्यात है। युनाइटेड नेशन्स को जो ज्ञापन पशु सुरक्षा के लिए (अन्तर्राष्ट्रीय एनीमल चार्टर) दिया उसमे कहा गया है कि पशुहत्या वद की जाय। प्रसिद्ध कवि ऐन्जिला गिलस की कविता ने अत्यधिक प्रशसा पाई। उसकी कुछ पंक्तिया है 'प्रत्येक लघु चीटी अपने जीवन के भार से ईश्वर के पथ का ही सधान कर रही है' (अनुवाद-एनीमल सीटीजन, अक्टूबर १९९२ से) अनेक विद्वानो ने इस प्रकार ग्रथ भी लिखे है, जिनमें प्रमुख है विलमूल की 'साइकिल पावर आफ एनिमल्स' यह सब जागरूकता अहिंसा की जागरूकता है। यही कारण है कि आज विश्व की चेतना जैन सस्कृति की ओर आकृष्ट हो रही है और उसे अपनाने पर वल दे रही है।

डॉ टी. के. उन्नीथन एवं डॉ. योगेन्द्र सिह के सर्वेक्षण के अनुसार आज नेपाल, श्री लका और भारत का ७० प्रतिशत कुलीन वर्ग और ६३.८ सामान्य वर्ग अहिसा को प्रधानत. राजनीतिक और सामाजिक स्वरूप में स्वीकार करता है। ये वर्ग सभी धर्मो के है। इन वर्गो की दृढ़ मान्यता है कि अहिसा की उपलब्धि से मानव जाति का नैतिक और आध्यात्मिक विकास होगा। उन्नीथन ने अहिंसा की संगति और स्वीकृति का समाजशास्त्रीय पद्धति से विश्लेपण कर यह निष्कर्ष निकाला है कि "हमारे समक्ष दो ही विकल्प है—या तो परम्परा से प्राप्त नैतिक व्यवस्था स्वीकार करे या फिर समाज से नि सृत उसकी प्रायोगिक मान्यता को। परन्तु यही प्रश्न उठता है कि वर्तमान अनैतिक समाज से हम किस प्रकार नैतिक व्यवस्था प्राप्त कर सकते है? सत्ता और व्यवस्था की सकल्पना लोकोत्तर होनी चाहिए, जो विद्यमान परिस्थितियों से उत्पन्न प्रत्ययात्मक और पारम्परिक हो।" डॉ राधाकृष्णन के शब्दो मे' 'अहिंसा कोई शारीरिक दशा नही है, अपितु यह तो मन की प्रेममयी वृत्ति है।' मानसिक स्थिति के रूप मे अहिसा केवल अप्रतिरोध से भिन्न है। वह जीवन का एक समर्थ रचनात्मक पक्ष है। मानव कल्याण की भावना ही सच्चा वल और सर्वश्रेष्ठ गुण है। कहा गया है कि "यौद्धा का वल घृणित है, ऋषि का वल ही सच्ची शक्ति है"—"धिग्वलम् क्षत्रिय वलम्, ब्रह्म तेजोवल वलम्।" अहिसक मुनि, ऋपि या सन्यासी प्रत्यक्षत. सामाजिक सघर्प मे भाग नही लेते पर उनका योगदान निर्विवाद है।

पुनः डॉ राधाकृष्णन के अनुसार वे "सामाजिक आन्दोलन के सच्चे निदेशक हैं। उन्हे देखकर हमें अरस्तू की 'गतिहीन प्रेरक शक्ति' का स्मरण हो

जाता है।" तालसताय ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास "युद्ध और शान्ति" मे लिखा है— "युद्ध एक सामूहिक हत्या है, जिसके उपकरण है, देशद्रोह को प्रोत्साहन, मिथ्या भाषण, निवासियो का विनाश आदि।"

हम अहिंसा द्वारा सामाजिक परिवर्तन की सम्भावनाओं पर विचार करे। एरिक फ्रोम के अनुसार आज साधन को ही साध्य समझना सामाजिक व्यवस्था की सबसे बडी विसंगति है। भौतिक समृद्धि के लिए उत्पादन और उपभोग के साधन हमारे साध्य बन गए है, इसी से आज सम्पूर्ण समाज अपने आदर्श और उद्देश्य से च्युत हो गया है। मनुष्य मनुष्य से भयभीत है। उसकी वैयक्तिक अन्तहीन अधिग्रहण और अवाप्ति की लालसा ने उसकी स्वस्थ मानसिकता नष्ट कर दी है। हिगेल के शब्दों मे 'मनुष्य सबसे सौभाग्यपूर्ण प्राणी है क्यो कि वह अकेला (रोबिनसन क्रूसो की भाँति) नही रह सकता, पर वह सबसे अभागा भी है क्योकि अन्य मनुष्यो के साथ सौमनस्य और प्रेम से भी नही रहता' अर्थात् सामाजिकता की प्रकृत आकांक्षा के साथ, उसमे विकृत असामाजिकता है। वह प्रकृति के सनातन नियमो को भूल गया है। आर्थिक व राजनैतिक जीवन की केन्द्रस्थ यान्त्रिकता में, वह व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता खो बैठा। उसके दिल और दिमाग पर शासन तन्त्र की क्रूरता और निरकुशता हावी है। समाज शास्त्रियो ने व्यक्ति की इस विकृत मानसिकता का विशद विवेचन किया है। सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से एक ओर वह अतीव परिग्रहवादी है, दूसरी ओर वह वर्तमान संस्कृति की जडता से विच्छिन्न। इसी को समाजशास्त्र में 'एनौमो' और 'एलिनेशन' कहा गया है। मार्क्स ने अपने सिद्धान्तों में भिन्नदृष्टि से व्यक्ति के ऐलिनेशन पर विचार किया। एलिनेशन की विवेचना करते हुए गर्सन का मत है कि तकनीकी—औद्योगिक क्रान्ति, नौकरशाही, विलास, वैभवपूर्ण जीवन प्रक्रिया, आदर्शो का लोप, नैतिक मूल्यो का ह्रास, विकृत मनोविज्ञान (फ्राइड आदि का) इस मानसिक विच्छृति के कारण है। इसका अर्थ है कि आज व्यक्ति एकाकीपन, अनैक्य, असन्तोप का शिकार होकर वह अपने वृहत् सामाजिक सम्बन्धो को विस्मृत कर रहा है। उसे न तो अपने से सन्तोष है और न अपनी उपार्जन क्षमता से। वह असयत है। सास्कृतिक सकट उसे हतप्रभ कर रहा है। उसकी आकाक्षाओ और उपलब्धियो मे प्रचुर व्यवधान है। उसकी एषणाओं का अन्त नही। वह अर्थ रहित, मूल्यविहीन, एकाकी, आत्म निर्वासित और शक्तिहीन है। यही उसका सास्कृतिक विघटन है। आज यह आत्मविमुखता और सास्कृतिक अलगाव चारो ओर व्याप्त है। एनौमी वह मानसिक दशा है, जिसमे नैतिक जड़े नष्ट हो जाती है—मनुष्य विश्रृखलित होकर अपना नैरन्तर्य खो बैठता है। आध्यात्मिक स्तर पर वह अनुर्वर और निर्जीव है। उसका दायित्व-बोध किसी के प्रति नही है। उसका जीवन पूर्णत. निषेधात्मक है। उसके जीवन मे न तो अतीत है, न वर्तमान और न भविष्य—केवल इनकी एक एक क्षीण सवेदना ही विद्यमान है। (मेक्लवर) उसकी यह विक्षिप्त मानसिकता

हेय सामाजिक परिवेश का परिणाम है। एलीनेशन जहाँ मनोवैज्ञानिक है, एनौमी वहाँ सामाजिक व सांस्कृतिक। एनौमी समाज की नियामक संरचना के ह्रास का फल है, क्यों कि व्यक्ति की आकांक्षा और उसकी पूर्ति में भारी व्यवधान एवं संकट है। इस दुरवस्था के निवारण के लिए हृदय और मस्तिष्क का परिष्करण या दर्शन और ज्ञान का उदात्तीकरण आवश्यक है और यह व्रत साधन से ही संभव है। व्रत साधन का व्यष्टि से प्रारम्भ होकर समष्टि की और अभिनिविष्ट होना ही सही उपचार है।

नीग्रो नेता मार्टिन किंग लूथर का उद्धरण भी यहाँ समीचीन होगा- 'अहिंसक व्यक्ति की यह मान्यता है कि अपने विरोधी की हिंसा के समक्ष भी वह आक्रामक भाव न रखे अपितु यह सत्प्रयास करे कि उसकी हिंसात्मक या आक्रामक शक्ति का निरसन अहिंसा से संभव हो सकेगा।' लूथर कहता है 'धिक्कार के बदले धिक्कार वापस लौटने से धिक्कार का गुणन होता है, अंधकार कभी अंधकार दूर नहीं करता—हिंसा से हिंसा की वृद्धि होती है।' महात्मा गांधी ने इसको ही सार्वभौम प्रेम और सर्वाधिक दम कहा था। अहिंसा व्यक्ति को अभय करती है, और दूसरों को भी। 'अभयं वै ब्रह्म मा मैषी', यही अहिंसा मंत्र है। विनोबाजी के शब्दों में इससे मनुष्य सत्यग्राही होता है।

बेलजियन समाजवादी चिन्तक वार्ट डे लाइट ने लिखा—'हिंसा का प्राचुर्य जितना अधिक होगा, क्रान्ति उतनी ही कम।' ऐसीमोव का वाक्य है 'हिंसा असमर्थ आदमी का अन्तिम आश्रय है।' हिंसा और कटुता के मध्य सामाजिक परिवर्तन अपनी शक्ति और अर्थवत्ता समाप्त कर देता है। आज की जनतांत्रिक पद्धति की मूलभूत आवश्यकता हिंसाविहीन शासन तन्त्र से ही संभव है। महात्मा गांधी के अनुसार अहिंसा का विज्ञान ही यथार्थ प्रजातन्त्र की स्थापना का समर्थ साधन है (यंग इंडिया-मार्च १९, १९२२) हिंसा सामाजिक दुराग्रह है, अहिंसा सत्याग्रह। वर्तमान समय में जनता का विरोध व्यक्ति और सम्पत्ति के विरुद्ध हिंसापरक बन जाता है, ऐसा विरोध सामाजिक परिवर्तन का उपकरण कभी नहीं बन सकता, वह तो अव्यवस्था, तनाव और निराशा को पनपाकर और अधिक हिंसात्मक कार्रवाई का निमित्त बनता है।

आधुनिक चिन्ताधारा के अन्य सिद्धान्तों का तथ्यानुशीलन भी करें।

स्वीडन अर्थशास्त्री एडलर कार्लसन ने इस दृष्टि से 'विपर्यस्त उपयोगितावाद' की व्याख्या करते हुए लिखा है—'हमें अपनी सामाजिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण मनुष्य के कष्टों को कम करने के लिए करना चाहिए। जो आज धनी और समृद्ध है उनका आर्थिक स्तर बढ़ाना एक खोखला व सारहीन विचार है। जब तक प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो जाए, कोई भी अधिक समृद्ध न हो—इसके लिए आवश्यक है—नैतिक साधन न कि भौतिक उपाय।' ये नैतिक साधन ही व्यक्ति और समाज को शांति लाभ दे सकते हैं।

इसी से मनोविश्लेषणात्मक चिकित्सा भ्रत्र (जूलियस शेगल के शब्दो मे)—मानसिक रोग और पीडा से मुक्ति के लिए आत्म-परितोष पर अधिक बल देती है—आत्मोपलब्धि पर, क्योंकि इसी से व्यक्तित्व का स्वस्थ और स्वीकृत विकास संभव है। मनुष्य के प्रकृत मूल्य बोध से अव्यवस्था को भी सुव्यवस्था मे परिणत किया जा सकता है। ल्योन आइजन वर्ग ने इस पर जोर दिया है कि 'हमे मनुष्य की प्रकृति का ही मानवीकरण करना है क्योकि मानवीय हिंसा सामाजिक दमन का हेतु नही उसकी प्रतिक्रिया का परिणाम है।' इसका एक प्रतिपक्ष भी है। वर्तमान विसगति यह है कि आज बालक या किशोर वर्ग जब युवावर्ग को संघर्ष और हिंसारत देखता है, जब जातीय नेता स्वार्थ व सत्ता के लिए यही मार्ग अपनाते है, तो वह भी इस दुष्प्रभाव मे आकर उसी पथ पर चलता है, उनका अनुकरण करता है। इसी से ल्योन आइजनवर्ग कहता है कि हिंसा दुष्परिणाम है अन्तरवर्ग संघर्ष का, जिसे हमारे नेता बढावा दे रहे है। हमे समस्त मानव समाज को अविभक्त इकाई के रूप मे ग्रहण कर मानवीय मूल्यों का विकास करना होगा। भ्रातृत्व और मैत्री का सिद्धान्त प्राचीन है, पर आज मानव अस्तित्व की रक्षा की वह प्रथम अनिवार्यता है।

हमे यह नि:सकोच स्वीकार करना होगा कि मनुष्य ही अपना भाग्य विधाता है व पुरुषार्थ ही उसका नियामक है। प्रसिद्ध विचारक बर्ट्रेन्ड रसल ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्तों मे जीवन की इस आतरिक प्रक्रिया को-अहिंसा, सत्य, समता, अपरिग्रह और सात्विक आचरण को ही प्रमुख गिना है।

विद्वान् विचारक आज जिस तथ्य की ओर सकेत कर रहे है, शताब्दियों पूर्व भगवान महावीर ने यही बताया था। उन्होने 'आयओ बहिया पास तम्हा न हन्ता न विघाइए।' अहिंसा के द्वारा विश्व मैत्री का सदेश दिया, मनुष्य-मनुष्य को समान बताया—

"चरण हवइ सधम्मो, सो हवइ अप्पसमा वो'
सो राग रोस रहिओ, जीवस्स अण्ण परिणामो।"

न कोई जाति उच्च है और न कोई हीन— 'नो हीणो णो–आइरित्ते, णो पीहए' उन्होने सत्य की सापेक्षता के साथ-साथ सह अस्तित्व पर जोर दिया, पुरुषार्थ के लिए कहा—'पुरिसा! तुममेव तुम मित्त कि बहिया मित्तमिच्छसि'। कषाय व दुष्प्रवृत्तियो से मुक्ति का मार्ग बताया, आध्यात्मिक विकास के साथ मानवीय उच्चता और चारित्र पर दृष्टि रखी। उनका उद्घोष था—'सच्च मिधिति कुव्वह।' 'जहाँ सत्य है वहाँ भय नही'। 'न भाइयव्वं'। वे समझाते रहे' 'विसकटक ओव्व हिंसा परिहरिव्वा तदो होदि।'

सबके साथ मैत्री भाव रखो, किसी से वैर विरोध न हो। यदि युद्ध ही करना है तो अपने से करो। आन्तरिक शुद्धि ही सर्वश्रेष्ठ है, बाह्य शुद्धि ही सुमार्ग नही। धन और सग्रह प्रमाद का कारण है—वित्तेण ताण न लभे पमत्ते

इमम्मि लोए अदुवा परत्था। 'लाभस्सेसो अणु फासो, मन्ने अन्नयरा भावे'। उन्होंने सदैव जाग्रत रहने को कहा। विनय और विवेक को आत्मज्ञान की पीठिका बताया। शोषण और परिग्रह का खुलकर विरोध किया—क्यो कि 'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो—पवड्ढई। परिग्रही को शान्ति, सुख और संतोष कहाँ—वह तो–'सव्वतो पिच्छतो परिमसदि पल्लादि मुज्झदिय।' यही तो अहिसा का राजपथ है—शान्त, स्थिर सौम्य और श्रेष्ठ।

आज की भयभीत, संत्रस्त और अभिशप्त मानव जाति के लिए यही तो परमौषधि संजीवनी है, लोकहित और सर्वभूतहित की, सर्वोदय की, सामाजिक परिवर्तन की। महावीर की परम्परा में ही महात्मा गांधी ने भी यही मार्ग अपनाया और कहा—सामाजिक और. आर्थिक अहिंसा ही स्थायी शान्ति की जननी है। अहिसा से ही मानव समाज वर्तमान विभीषिका, विजीगिषा और विसंगति से मुक्त हो सकता है। उन्होने स्पष्ट कहा कि एक सच्चा अहिंसक व्यक्ति समस्त समाज का रूपान्तरण कर सकता है। महावीर ने यही किया और यही कहा। श्री गुणवन्त शाह ने ठीक ही कहा है कि आज जैन (और अहिंसा) दर्शन की सार्थकता अहिसक समाज की रचना की स्थापना में है।

ऐसे समाज में शाकाहार का बोलबाला होगा, प्रदूषण न्यूनतम होगा, शोषण नही के बराबर और आर्थिक असमानता एकदम कम होगी और युद्ध सदा के लिए नही होगा। आज हमे अहिसा को जीवन के साथ जोडना है। अहिसक समाज का अर्थ है, प्रेम, करुणा और मित्रता का समाज। इसी से आज के संघर्ष मे अहिसा के धार्मिक मूल्य के साथ सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्य एवं अर्थवत्ता भी नितान्त आवश्यक है, यदि यह नही होता है तो पृथ्वी पर जीवन के नाश के चिह्न स्पष्ट है। महावीर की विचार क्रांति ही हमारे आचार का आश्रय है, सम्बल है। सामाजिक परिवर्तन के लिए सूक्ष्म और महत् अहिसा व्यक्ति और समाज दोनो के लिए अनिवार्य है– वही केवल मात्र साधन है। आणविक युद्ध के न होने पर भी, पृथ्वी मौन भाव से हमारी कृत प्रक्रिया के कारण नष्ट हो रही है, उसे यदि बचाना है तो उसमे आमूल परिवर्तन करना अति आवश्यक और अनिवार्य है और यह अहिंसा की अपरिमेय शक्ति से ही सम्भव है।

—२ ए, देशप्रिय पार्क (पूर्व) कलकत्ता-७०००२६

संदर्भ स्थल ग्रंथ—

1. Carles Ronmolo : Truth and Non-Voilence (UNESCO-SYMPOSIUM)
2. C. Wright Mill : The Causes of World-War 1950.

3. P. Sorokin : The Reconstruction of Humanity.
4. Einstein : Interview, July, 1955
5. T. Unnithan & Yogendra Singh : Sociology of Non-Voilence
6. J. S. Mathur P. C. Sharma : Non-Voilence and Social Change.
7. Unto Tahzinen : Ahinsa.
8. Kausleya Walli : Ahinsa in Indian Thought
9. S. Radha Krishnan : Religion and Society.
10. P. Sorokin : Social and cultural Dynamics
11. Eric Berne : A Layman's Guide to Psychiatry and Psychoanalysis.
12. बी. एन. सिन्हा : जैन धर्म में अहिंसा।
13. गुणवंत शाह : महामानव महावीर
14. युवाचार्य महाप्रज्ञ : महावीर की साधना का रहस्य
15. मुनि नथमल : अहिंसा तत्त्व दर्शन
16 वेचरदास शास्त्री : महावीर वाणी
17. E. Hytton : Non-Voilence and Developmental work.
18. Alduous Muxley : Ends and Means
19. Edward Wilson : Sociobiology.
20. M. Francis Abraham : Sociobiology : (Modern Social Theory)
21. सर्व सेवाश्रम प्रकाशन : समता सूत्र
22. श्री चन्द रामपुरिया : महावीर वाणी
23. निर्मल कुमार : भगवान महावीर
24. डॉ. भागचन्द जैन : जैनदर्शन एवं संस्कृति का इतिहास
25. सीताराम जायसवाल : भारतीय मनोविज्ञान
26. व्यास देव : आत्म विज्ञान
27. नीरज जैन : मानवता की धुरी
28. वशिष्ठ नारायण सिह : जैन धर्म में अहिंसा
29. विभिन्न जैनागम, यंग इण्डिया, अमेरिकन रिव्यू आदि पत्रिकाएं।

इमम्मि लोए अदुवा परत्था। 'लाभस्सेसो अणु फासो, मन्ने अन्नयरा भावे'। उन्होंने सदैव जाग्रत रहने को कहा। विनय और विवेक को आत्मज्ञान की पीठिका बताया। शोषण और परिग्रह का खुलकर विरोध किया—क्यो कि 'जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो—पवड्ढई। परिग्रही को शान्ति, सुख और संतोष कहाँ—वह तो–'सव्वतो पिच्छतो परिमसदि पल्लादि मुज्झदिय।' यही तो अहिसा का राजपथ है—शान्त, स्थिर सौम्य और श्रेष्ठ।

आज की भयभीत, संत्रस्त और अभिशप्त मानव जाति के लिए यही तो परमौषधि संजीवनी है, लोकहित और सर्वभूतहित की, सर्वोदय की, सामाजिक परिवर्तन की। महावीर की परम्परा मे ही महात्मा गांधी ने भी यही मार्ग अपनाया और कहा—सामाजिक और आर्थिक अहिंसा ही स्थायी शान्ति की जननी है। अहिसा से ही मानव समाज वर्तमान विभीषिका, विजीगिषा और विसंगति से मुक्त हो सकता है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि एक सच्चा अहिंसक व्यक्ति समस्त समाज का रूपान्तरण कर सकता है। महावीर ने यही किया और यही कहा। श्री गुणवन्त शाह ने ठीक ही कहा है कि आज जैन (और अहिंसा) दर्शन की सार्थकता अहिसक समाज की रचना की स्थापना में है।

ऐसे समाज में शाकाहार का बोलबाला होगा, प्रदूषण न्यूनतम होगा, शोषण नही के बराबर और आर्थिक असमानता एकदम कम होगी और युद्ध सदा के लिए नही होगा। आज हमे अहिसा को जीवन के साथ जोडना है। अहिसक समाज का अर्थ है, प्रेम, करुणा और मित्रता का समाज। इसी से आज के संघर्ष मे अहिसा के धार्मिक मूल्य के साथ सामाजिक, राजनीतिक, सास्कृतिक और मानवीय मूल्य एवं अर्थवत्ता भी नितान्त आवश्यक है, यदि यह नही होता है तो पृथ्वी पर जीवन के नाश के चिह्न स्पष्ट है। महावीर की विचार क्राति ही हमारे आचार का आश्रय है, सम्बल है। सामाजिक परिवर्तन के लिए सूक्ष्म और महत् अहिसा व्यक्ति और समाज दोनों के लिए अनिवार्य है– वही केवल मात्र साधन है। आणविक युद्ध के न होने पर भी, पृथ्वी मौन भाव से हमारी कृत प्रक्रिया के कारण नष्ट हो रही है, उसे यदि बचाना है तो उसमे आमूल परिवर्तन करना अति आवश्यक और अनिवार्य है और यह अहिसा की अपरिमेय शक्ति से ही सम्भव है।

—२ ए, देशप्रिय पार्क (पूर्व) कलकत्ता-७०००२९

संदर्भ स्थल ग्रंथ—

1. Carles Ronmolo : Truth and Non-Voilence (UNESCO-SYMPOSIUM)
2. C. Wright Mill : The Causes of World-War 1950.

3 P. Sorokin : The Reconstruction of Humanity.
4. Einstein : Interview, July, 1955
5. T. Unnithan & Yogendra Singh : Sociology of Non-Voilence
6. J. S. Mathur P. C. Sharma : Non-Voilence and Social Change.
7. Unto Tahzinen : Ahinsa.
8. Kausleya Walli : Ahinsa in Indian Thought
9. S. Radha Krishnan : Religion and Society.
10. P. Sorokin : Social and cultural Dynamics
11. Eric Berne : A Layman's Guide to Psychiatry and Psychoanalysis.
12. बी. एन. सिन्हा : जैन धर्म में अहिंसा।
13. गुणवंत शाह : महामानव महावीर
14. युवाचार्य महाप्रज्ञ : महावीर की साधना का रहस्य
15. मुनि नथमल : अहिंसा तत्त्व दर्शन
16. बेचरदास शास्त्री : महावीर वाणी
17. E. Hytton : Non-Voilence and Developmental work.
18. Alduous Muxley : Ends and Means
19. Edward Wilson : Sociobiology.
20. M. Francis Abraham : Sociobiology : (Modern Social Theory)
21. सर्व सेवाश्रम प्रकाशन : समता सूत्र
22. श्री चन्द रामपुरिया : महावीर वाणी
23. निर्मल कुमार : भगवान महावीर
24. डॉ. भागचन्द जैन : जैनदर्शन एवं संस्कृति का इतिहास
25 सीताराम जायसवाल : भारतीय मनोविज्ञान
26. व्यास देव : आत्म विज्ञान
27. नीरज जैन : मानवता की धुरी
28. वशिष्ठ नारायण सिंह : जैन धर्म में अहिंसा
29. विविध जैनागम, यंग इण्डिया, अमेरिकन रिव्यू आदि पत्रिकाएं।

हिंसा - अहिंसा

☐ डॉ० राजेन्द्रस्वरूप भटनागर

ऐसा समझा जाता है कि 'अहिसा' हिसा का केवल विरोधी पद नही है, अपितु वह सकारात्मक रूप मे भी प्रयुक्त होता है। यही नही, यहा तक भी कहा जाता है कि 'अहिंसा' मौलिक रूप मे सकारात्मक व्यंजना ही रखता है तथा उसे समझने पर ही उसका उचित रूप में पालन किया जा सकता है। प्रस्तुत निबन्ध में हम इन बातो को मानकर चल रहे है। इन्हे स्वीकार करते हुए भी हमारा प्रयास 'अहिंसा' के नकारात्मक पक्ष को समझना है। हम 'हिसा मत करो'—इस आदेश को समझना चाहते है। इसका कारण यह है कि इस आदेश का ठीक-ठीक मन्तव्य केवल इतने से ही स्पष्ट नही होता है।

इस बारे में तो बहुत कुछ कहा गया है कि अनेक अवसरो पर साधारण रूप मे हिंसक प्रतीत होने वाला व्यवहार हिसक नही कहा जा सकता। शल्य चिकित्सा, बालको को ताड़ना देना, अपराधियो को दण्ड देना, युद्ध काल में शत्रु का सहार तथा ऐसे ही अनेक दूसरे उदाहरण हो सकते है, जहा किसी रूप में हिंसा हो तो भी उसे हिसा नही कहा जाता। कर्तव्य तथा न्याय के वृहद् परिप्रेक्ष्य में इन दृष्टान्तों मे अनुस्यूत हिसा अपना मूल देश खो देती है। इस प्रकार जीवन के निर्वाह के सन्दर्भ में वनस्पति जगत् के प्रति हिसा तथा किन्ही जीव-जन्तुओं का जाने-अनजाने नाश करना भी "जीवन की रक्षा" के निमित्त निन्दनीय नही रह जाता। यद्यपि ये सन्दर्भ "हिसा मत करो" आदेश की सीमा तथा प्रश्नात्मक स्थितियो को किंचित् स्पष्ट करते है, तथापि इन सन्दर्भो में निहित जो दूसरे मूल्य है—कर्तव्य, न्याय तथा जीवन रक्षा आदि उनके विषय में 'अहिसा' को लेकर विवेचन कम है। परन्तु जैसा पाठक देखेगे उनका तथा किन्ही अन्य सम्बन्धित अवधारणाओ का स्पष्टीकरण "अहिसा" की समझ के लिये अनिवार्य है।

"हिसा मत करो" इस आदेश को यो भी रख सकते है—"किसी को मन, वचन, कर्म से दुःख, कष्ट, हानि मत पहुँचाओ", "किसी का अहित मत करो।" अत्यन्त व्यापक रूप मे देखने पर लगता है कि यह तो ठीक है कि किसी का अहित नही करना चाहिये, किसी को दुख, कष्ट, हानि नहीं पहुँचानी चाहिये। सामान्य रूप मे हम इन आदेशो को ठीक मानते है, तथा क्योंकि उनके विरोधी आदेशों को हम साधारण रूप से भी ठीक नही समझते

इसलिये यहा इन आदेशो के औचित्य के प्रश्न को नही उठाना है । फिर भी कुछ प्रश्न उठते है । "दुख मत दो" इस आदेश को साधारण रूप में समझने मे कोई कठिनाई नही है । कोई ऐसी वात मत कहो, कोई ऐसा काम मत करो जिससे किसी को दुख पहुँचे । इस आदेश मे यह मान्यता पूर्वपेक्षित है कि कुछ कथन अथवा कुछ कर्म ऐसे है जिनसे दुख पहुँचता है । दूसरी मान्यता दु:ख के स्वरूप के सम्बन्ध में यह भी लगती है कि दु ख का स्वरूप स्पष्ट है । ये दोनो मान्यताएँ अन्वीक्षा पर ठीक नही वैठती । "दु ख" एक प्रकार की मनोदशा है तथा वहुत वडे अंश मे व्यक्ति विशेष की सवेदनशीलता, ज्ञानात्मक परिपक्वता तथा सहनशीलता की मात्रा से सम्वन्धित है । जिस वात से, अथवा कर्म से एक व्यक्ति दुखी हो और क्षुब्ध हो जाता है, उसी वात से अथवा उसी कर्म से दूसरा व्यक्ति भी दु.खी हो जाय, यह आवश्यक नही है । दूसरे, यदि दु:ख की मनोदशा तथा उसे उद्दीपन के संयोग के रूप मे देखे तो दु:ख का लक्षण वताना भी उतना ही कठिन होगा जितना कि 'सुख' का ।

फिर भी साधारण रूप मे तथा व्यवहार मे दुखी होना या दु.ख देना हमारे व्यवहार को समझने तथा उसके प्रति कर्म को करने मे सहायक होते है । यदि इस साधारण तथा व्यावहारिक सन्दर्भ को ध्यान मे रखे तो एक अन्य प्रकार की कठिनाई उपस्थित होती है । जब हम किसी वालक को ताडना देते है, उसे उसकी गलती वताते है, तो उसे दु.ख होता है । परन्तु वालक को ताड़ना देने वाला अथवा उसकी गलती वताने वाला वालक को दु.ख नही देना चाहता अपितु उसे भविष्य मे होने वाले कष्ट से वचाना चाहता है । इस वात को अनेक दूसरे उदाहरणो से देखा जा सकता है । जो सार की वात है वह यह है कि भविष्य के कष्ट से वचाने के निमित्त कभी-कभी ऐसा व्यवहार अनिवार्य हो जाता है जो सम्वन्धित व्यक्ति को दु.ख पहुँचाता है । पाठक यह लक्ष्य करेगे कि "हिंसा मत करो" यह आदेश यदि इस दूसरे आदेश का स्थानापन्न मान लिया जाय कि "दु.ख मत दो", तव "हिंसा मत करो" का पालन हमे उलझन में डाल देता है । किसी सीमा मे यदि उलझन "अहित" को लेकर भी देखी जा सकती है । यहा "दु.ख" "कष्ट" तथा "अहित" के वीच एक कामचलाऊ भेद कर लेना सुविधाजनक होगा । दु:ख, जैसा पहले कहा गया है एक प्रकार की मनोदशा है, "कष्ट" का संकेत शारीरिक अथवा कायिक पीडा की ओर है, तथा "अहित" मनोदशा तथा शारीरिक पीडा से कही अधिक व्यापक रूप मे प्रयुक्त होने वाला शब्द है ।

कहा [illegible] जाता है "जो प्रेय है [illegible] श्रेय नही है" [illegible]
[illegible]

विलोम देखिये "जो श्रेय है वह अप्रेय हो सकता है।" यदि यह स्वीकार कर रहे है तो यह भी स्वीकार कर रहे है कि जो श्रेय है वह कष्टकारी हो सकता है, वह दुखदायी हो सकता है। किसी भी बड़े, उत्कृष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में कर्ता को कायिक कष्ट तथा मानसिक मनोव्यथा को भोगना पड सकता है। यदि इन बातों में कोई सार है, तो यह स्पष्ट है कि "दुख", "कष्ट" तथा "हित" प्रयोग का एक ही विस्तार नही है। यही नही, अनेक अवस्थाओ में सुख तथा अहित के गठबन्धन के कारण "कष्ट" एव "दु:ख" का "हित" से सम्बन्ध जुड़ सकता है। "हिंसा मत करो" यह आदेश जैसा हमने पहले देखा, यदि इस रूप में ग्रहण किया जाय कि किसी को दु ख, कष्ट या हानि मत पहुँचाओ, किसी का अहित मत करो, तब स्पष्टतया एक अस्पष्ट रूप ग्रहण कर लेता है और यह बात धूमिल हो जाती है कि अहिंसा से क्या तात्पर्य लिया जाय।

"हित", "अहित" जो मानवीय व्यवहार के सामान्य प्रेरक कहे जा सकते है तथा जिनके द्वारा एक बड़ी सीक्ष में परोपकार का रूप भी निश्चित होता है, विवादास्पद अवधारणाएँ कही है। हित की बात सोचते समय एक ओर तो किन्ही भौतिक प्राप्तियों की ओर ध्यान जाता है, तथा दूसरी ओर किन्हीं अभौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपलब्धियो की ओर ध्यान जाता है। इसके अतिरिक्त हित का प्रश्न तात्कालिक अवस्था के सम्बन्ध मे उठता है तो वह जीवन के बड़े हिस्से को या उसकी सम्पूर्णता को ध्यान मे रखकर भी उठ सकता है। एक अन्य सन्दर्भ में हित की समस्या वैयक्तिक अथवा सामूहिक सदस्यों से भी जुड़ी जान पड़ती है। ये विभिन्न सन्दर्भ हित की अवधारणा को एक बहस का विषय बना देते है। यदि हित के विषय मे निर्णय करना समस्या मूलक है, तो "हिसा"—"अहिंसा" का प्रश्न भी जितनी सीमा में वह उससे जुड़ता है, उतनी सीमा में समस्या मूलक हो जाता है।

दूसरे रूप में कहे तो हित-अहित का प्रश्न व्यक्ति एव समष्टि के वाछित रूप से सम्बन्धित है। मनुष्य क्या है, उसका तात्विक स्वरूप क्या है, वह वस्तुतः क्या हो सकता है, तथा जिस जगत् में वह विचरता है, उसका आदर्श रूप क्या है—इन प्रश्नों का उत्तर दिये या पाये विना यह कहना कठिन होगा कि मनुष्य के लिए क्या हितकर है तथा क्या अहितकर ? वस्तुत. इन आधारभूत प्रश्नो के उत्तर के आलोक मे हो अन्य सम्बन्धित अवधाराणाओ को इसी आलोक मे समझा जा सकता है।

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए एक दृष्टात ले। अर्जुन की समस्या थी कि जिन लोगो से उसे लड़ना था उनमे वे भी शामिल थे जिनके प्रति

उसके मन में श्रद्धा, आदर और प्रेम था, जिनसे उसे किसी प्रकार का वैर नहीं था। इस समस्या को दार्शनिक रूप देते हुए उसने तर्क रखा कि रुधिर से सने राज्य को लेकर वह क्या करेगा ? उसे लगा कि युद्ध करने में वह हिंसा करने जा रहा है और इस कारण नहीं लड़ना ही श्रेष्ठ है। परन्तु कृष्ण अर्जुन की युक्तियो को ज्ञान से नही अज्ञान से उद्भूत मानते है। उसके अज्ञान को दूर करने के प्रयास के साथ वे उसे उठ खड़े होने तथा अपने कर्तव्य का निर्वाह करने के लिए प्रोत्साहित करते है। क्षत्रिय के रूप मे, तथा उस ऐतिहासिक क्षण में अर्जुन का कर्तव्य लड़ना था भले हो उसमे जीव हिंसा हो। तव प्रश्न उठता है कि कैसे वही कृष्ण अहिंसा को भी दैवी सम्पदा में शामिल करते है ? इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है, जब कृष्ण के दोनों कथनों को उसे वृहत तथा तात्त्विक परिप्रेक्ष्य मे रख कर समझा जाय जिसे 'गीता' के व्यापक-पटल पर उकेरा गया है।

जीवन तथा कर्म की न्यूनतम अनिवार्यताये ऐसी होती है कि कुछ हिंसा उद्दिष्ट नही होने पर भी अपरिहार्य हो जाती है। वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का प्रश्न सार्थक रूप तव ग्रहण करता है जव वह हमारे सोच-विचार-संकल्प से जुड़ता है। हम हिंसा-अहिंसा किसे समझते है ? कव हम हिंसा मे प्रवृत्त होते है ? यदि इन प्रश्नो पर विचार करे तथा अपने दैनन्दिन व्यवहार मे उनके जवाव को खोजे, तो हम पायेगे कि हिंसा करना हम किसी को कष्ट देना अथवा हानि पहुँचाना मानते हैं, तथा जव हम वदले की भावना से प्रेरित होते है, अथवा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध अथवा किसी अन्य आवेग के अधीन होते है, तव हमें हिंसक व्यवहार से ही सन्तोष मिलता है। पीछे जव चित्त शान्त होता है, जव हम अपने संचित विचारों से मुक्त होते हैं, जब हमारी वृत्ति निर्मल होती है, हमे अपनी गलती का पता चलता है। दूसरे शब्दों मे व्यक्ति को किसी रूप मे हिंसा-अहिंसा का वोध होता तो है, परन्तु उसी के व्यक्तित्व का अनात्त्विक पक्ष जव उन पर हावी होता है तो वह इस वोध से वंचित हो जाता है। अर्जुन मोह की अवस्था मे है, फलतः आवश्यकता उसके तात्त्विक वोध को जगाने की थी। अर्जुन को उसको यह स्मरण कराना आवश्यक था कि वस्तुतः उसका यहाँ क्या स्वरूप है, तथा इन समस्त सम्बन्धों का क्या स्वरूप है ?

कर्म की दृष्टि से तात्त्विक ज्ञान का महत्त्व इस बात में निहित है कि इसके स्मरण पर कर्ता अपनी संकुचित एवं नकारात्मक वृत्ति [illegible] मुक्त हो जाता है तथा कर्तव्य का वांछित रूप में अर्जुन निर्वाह [illegible] है। गीता के परिप्रेक्ष्य में अर्जुन का युद्ध में [illegible] उसके [illegible]

विलोम देखिये "जो श्रेय है वह अप्रेय हो सकता है।" यदि यह स्वीकार कर रहे हैं तो यह भी स्वीकार कर रहे है कि जो श्रेय है वह कष्टकारी हो सकता है, वह दुखदायी हो सकता है। किसी भी बड़े, उत्कृष्ट लक्ष्य को प्राप्त करने में कर्ता को कायिक कष्ट तथा मानसिक मनोव्यथा को भोगना पड सकता है। यदि इन बातों में कोई सार है, तो यह स्पष्ट है कि "दुख", "कष्ट" तथा "हित" प्रयोग का एक ही विस्तार नहीं है। यही नही, अनेक अवस्थाओ में सुख तथा अहित के गठबन्धन के कारण "कष्ट" एव "दुःख" का "हित" से सम्बन्ध जुड़ सकता है। "हिंसा मत करो" यह आदेश जैसा हमने पहले देखा, यदि इस रूप में ग्रहण किया जाय कि किसी को दु:ख, कष्ट या हानि मत पहुँचाओ, किसी का अहित मत करो, तब स्पष्टतया एक अस्पष्ट रूप ग्रहण कर लेता है और यह बात धूमिल हो जाती है कि अहिसा से क्या तात्पर्य लिया जाय।

"हित", "अहित" जो मानवीय व्यवहार के सामान्य प्रेरक कहे जा सकते है तथा जिनके द्वारा एक बड़ी सीक्ष में परोपकार का रूप भी निश्चित होता है, विवादास्पद अवधारणाएँ कही है। हित की बात सोचते समय एक ओर तो किन्ही भौतिक प्राप्तियों की ओर ध्यान जाता है, तथा दूसरी ओर किन्हीं अभौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक उपलब्धियों की ओर ध्यान जाता है। इसके अतिरिक्त हित का प्रश्न तात्कालिक अवस्था के सम्बन्ध मे उठता है तो वह जीवन के बड़े हिस्से को या उसकी सम्पूर्णता को ध्यान मे रखकर भी उठ सकता है। एक अन्य सन्दर्भ में हित की समस्या वैयक्तिक अथवा सामूहिक सदस्यों से भी जुड़ी जान पड़ती है। ये विभिन्न सन्दर्भ हित की अवधारणा को एक बहस का विषय बना देते है। यदि हित के विषय मे निर्णय करना समस्या मूलक है, तो "हिसा"—"अहिंसा" का प्रश्न भी जितनी सीमा में वह उससे जुड़ता है, उतनी सीमा में समस्या मूलक हो जाता है।

दूसरे रूप मे कहे तो हित-अहित का प्रश्न व्यक्ति एव समष्टि के वाछित रूप से सम्बन्धित है। मनुष्य क्या है, उसका तात्विक स्वरूप क्या है, वह वस्तुत: क्या हो सकता है, तथा जिस जगत् मे वह विचरता है, उसका आदर्श रूप क्या है—इन प्रश्नों का उत्तर दिये या पाये विना यह कहना कठिन होगा कि मनुष्य के लिए क्या हितकर है तथा क्या अहितकर ? वस्तुत: इन आधारभूत प्रश्नो के उत्तर के आलोक मे हो अन्य सम्बन्धित अवधाराणाओं को इसी आलोक मे समझा जा सकता है।

इस बात के स्पष्टीकरण के लिए एक दृष्टांत ले। अर्जुन की समस्या थी कि जिन लोगो से उसे लड़ना था उनमे वे भी शामिल थे जिनके प्रति

उसके मन में श्रद्धा, आदर और प्रेम था, जिनसे उसे किसी प्रकार का बैर नही था। इस समस्या को दार्शनिक रूप देते हुए उसने तर्क रखा कि रुधिर से सने राज्य को लेकर वह क्या करेगा ? उसे लगा कि युद्ध करने में वह हिंसा करने जा रहा है और इस कारण नहीं लड़ना ही श्रेष्ठ है। परन्तु कृष्ण अर्जुन की युक्तियो को ज्ञान से नही अज्ञान से उद्‌भूत मानते है। उसके अज्ञान को दूर करने के प्रयास के साथ वे उसे उठ खड़े होने तथा अपने कर्तव्य का निर्वाह करने के लिए प्रोत्साहित करते है। क्षत्रिय के रूप मे, तथा उस ऐतिहासिक क्षण मे अर्जुन का कर्तव्य लड़ना था भले ही उसमे जीव हिंसा हो। तब प्रश्न उठता है कि कैसे वही कृष्ण अहिंसा को भी दैवी सम्पदा मे शामिल करते है ? इस समस्या का समाधान तभी सम्भव है, जब कृष्ण के दोनों कथनो को उसे वृहत तथा तात्त्विक परिप्रेक्ष्य मे रख कर समझा जाय जिसे 'गीता' के व्यापक-पटल पर उकेरा गया है।

जीवन तथा कर्म की न्यूनतम अनिवार्यताये ऐसी होती है कि कुछ हिंसा उद्दिष्ट नही होने पर भी अपरिहार्य हो जाती है। वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का प्रश्न सार्थक रूप तब ग्रहण करता है जब वह हमारे सोच-विचार-संकल्प से जुड़ता है। हम हिंसा-अहिंसा किसे समझते है ? कब हम हिंसा मे प्रवृत्त होते है ? यदि इन प्रश्नों पर विचार करे तथा अपने दैनन्दिन व्यवहार मे उनके जवाब को खोजे, तो हम पायेंगे कि हिंसा करना हम किसी को कष्ट देना अथवा हानि पहुँचाना मानते है, तथा जब हम बदले की भावना से प्रेरित होते है, अथवा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध अथवा किसी अन्य आवेश के अधीन होते हैं, तब हमे हिंसक व्यवहार से ही सन्तोष मिलता है। पीछे जब चित्त शान्त होता है, जब हम अपने संचित विचारो से मुक्त होते है, जब हमारी वृत्ति निर्मल होती है, हमे अपनी गलती का पता चलता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति को किसी रूप में हिंसा-अहिंसा का बोध होता तो है, परन्तु उसी के व्यक्तित्व का अतात्विक पक्ष जब उस पर हावी होता है तो वह इस बोध से वंचित हो जाता है। अर्जुन मोह की अवस्था में है, फलतः आवश्यकता उसके तात्त्विक बोध को जगाने की थी। अर्जुन को उसको यह स्मरण करना आवश्यक था कि वस्तुतः उसका वहाँ क्या स्वरूप है, तथा इस समस्त अस्तित्व का क्या स्वरूप है ?

कर्म की दृष्टि से तात्विक ज्ञान का महत्त्व इस बात में निहित है कि उसके स्मरण पर कर्ता अपनी संकुचित एवं नकारात्मक वृत्ति एवं बन्धन से मुक्त हो जाता है तथा कर्तव्य का वांछित रूप मे अर्जुन निर्वाह कर सकता है। गीता के परिप्रेक्ष्य में अर्जुन का युद्ध से पीछे हटना हिंसा होता क्योंकि उससे उसके कर्तव्य की तथा धर्म की हानि होती है। यदि यह स्वीकार

करलें कि कौरव दुष्ट तथा हिंसक वृत्ति के प्रतीक थे तो उनका दमन न करना अधिक हिंसा के लिये मार्ग प्रशस्त करना होता—यदि दुष्टों का विनाश तथा साधुओं का परित्राण न हो, तो यह हिंसा को छूट देना होगा। इस सक्षिप्त विश्लेषण से प्रमुख रूप में पहले तो यह स्पष्ट होता है कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न किन्ही अन्य सम्बन्धित अवधारणाओं के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्धों के अभाव में असमाधेय होगा। दूसरे यह कि किसी विशिष्ट परन्तु व्यापक तात्त्विक दृष्टि के सन्दर्भ में ही हिंसा-अहिंसा अर्थ पाते हैं।

—प्रोफेसर, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

अहिंसा – निरूपण

☐ श्री श्रीचन्द गोलेछा

'अहिंसा' शब्द दो प्रकार के अर्थों का द्योतक है—(१) प्राणातिपात न करना और (२) हिंसा न करना। इन दोनों में से प्राणातिपात न करना दो प्रकार का है—(१) स्व प्राणातिपात न करना और (२) पर प्राणातिपात न करना। भोग-वृत्ति से अपनी इन्द्रियों की मन, वचन, काया आदि की प्राण-शक्ति का क्षय होता है, यह स्व प्राणातिपात है तथा अपनी भोग वृत्ति की पूर्ति के लिए दूसरों के प्राणों का हनन करना यह पर प्राणातिपात है। भोग-वृत्ति के त्याग से, संयम से, विरति से इन प्राणों का अतिपात रुकता है। यह प्राणातिपात न करने रूप अहिंसा है।

अहिंसा का दूसरा प्रकार है हिंसा न करना। हिंसा का अर्थ है—चित्त में जो भोगों की वृत्ति उदय हुई, उसकी प्रवृत्ति में लग जाना। अतः भोग प्रवृत्ति से विरत होना हिंसा न करना है। तात्पर्य यह है कि भोग प्रवृत्ति करने को उद्यत होना, प्रयास करना प्राणातिपात है और भोग प्रवृत्ति मे रत हो जाना हिंसा है और भोग-वृत्ति व भोग-प्रवृत्ति से निवृत्ति तथा विरति अहिंसा है।

—सी–२३, भगवानदास रोड,
'सी' स्कीम, जयपुर

अहिंसा का सम्बन्ध हृदय के साथ

☐ उपाध्याय अमर मुनि

अहिसा के सम्बन्ध में आज तक जितना लिखा गया है और कहा गया है, शायद ही किसी विषय पर इतना लिखा गया हो या कहा गया हो। पर, इसके साथ ही जितनी भ्रान्तियाँ अहिसा के सम्बन्ध में आज तक हुई है, और किसी भी विषय में नही हुई। इस विरोधात्मक स्थिति का एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक कारण है। इसी कारण का मैं स्पष्टीकरण कर देना चाहता हूँ।

जो सूक्ष्म है, यदि उसे स्थूल वना दिया जाता है, तो उसकी आत्मा समाप्त हो जाती है। यही वात अहिसा के सम्बन्ध में भी हुई है। अहिसा मात्र वाह्य व्यवहार का स्थूल विधि - निषेध नही है, बल्कि अन्तश्चेतना का एक सूक्ष्म अग है। किन्तु, दुर्भाग्य से कुछ ऐसी स्थिति वनती गई कि अहिसा का सूक्ष्म - भाव निरन्तर क्षीण होता गया और उसको स्थूल व्यवहार का, ओघबुद्धि से मात्र दिखाऊ विधि - निषेधो का रूप दे दिया गया। फलत. अहिंसा की ऊर्जा और आत्मा एक प्रकार से समाप्त ही हो गई। जब किसी सिद्धांत की ऊर्जा एव आत्मा समाप्त हो जाती है, तो वह निष्प्राण तत्त्व जीवन को तेजस्वी नही बना सकता। वह जीवन की समस्याओ का सही समाधान नही खोज सकता। वह स्वय ही एक दिन एक समस्या बन जाता है। क्या स्थूल व्यवहार से सम्बन्धित अहिंसा के सम्बन्ध में भी ऐसा नही हुआ है? पिछली कितनी ही सहस्राब्दियो से हमने अहिंसा की महान् धर्म के रूप मे उद्घोषणा की है। अहिसा को जीवन का सत्य मान कर उसकी उपासना की है। सामाजिक, आध्यात्मिक और राज-नैतिक जीवन की सुरक्षा का आधार अहिसा को माना है, विश्वव्यापी सिद्धात के रूप में हजारो वर्षो से पीढी-दर-पीढी इसकी चर्चा एवं परिचर्चा होती रही है। परन्तु प्रश्न है, कहाँ है इन सवकी फल - निष्पत्ति? हम अव तक अहिसक समाज की रचना क्यों नही कर पाए? इस प्रश्न के दो ही उत्तर हो सकते है। जिस अहिसातत्त्व की हम वात करते है, वह केवल बौद्धिक व्यायाम बन कर रह गया है। ऐसा लगता है, जैसे वह काल्पनिक दुनिया का कोई अलौकिक तत्त्व है, जिसका धरती की दुनिया के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध नही है। गलत समस्या के आस-पास हजारो मस्तिष्क व्यर्थ ही उलझते रहे है और आज भी उलझ रहे है। अथवा इसका दूसरा ही एक विकल्प है। वह यह कि अहिसा स्वय तो एक जीवित जागृत तत्त्व है, जनकल्याणकारी है, पर उसको सही अर्थ मे हमने जाना नही है। ऐसा होता है कि कभी-कभी वड़ी लम्वी कालयात्रा के

बाद अच्छे-से-अच्छे सिद्धान्त धूमिल हो जाते है या धूमिल कर दिए जाते हैं। मैं इस प्रश्न का दूसरा उत्तर सोचता हूँ।

अहिंसा का सम्बन्ध हृदय के साथ—वस्तुत: अहिंसा का सम्बन्ध मनुष्य के हृदय के साथ है, मस्तिष्क के साथ नही है, तर्क-वितर्क के साथ नही है, कुछ बँधे-बँधाए विवेकशून्य विश्वासों के साथ नहीं है, विभिन्न शब्दों के जाल में बंधी और उलझी हुई भाषा के साथ भी नही है, बल्कि अहिंसा अन्तर्जीवन के साथ है, अन्दर की गहरी आध्यात्मिक अनुभूति के साथ है। अहिंसा की भूमि जीवन है। जब भूमि से वृक्ष का सम्बन्ध टूट जाता है, तो वह फिर हरा-भरा एवं विकसित नहीं रह सकता। प्रवक्ता को अपनी बात साफ कहनी चाहिए, अतः साफ और बेलाग कह रहा हूँ कि अहिंसा भी जीवन से टूट चुकी है। मूल से असंपृक्त रख कर उसे किस प्रकार पल्लवित रखा जा सकता है ? यही कारण है कि अहिंसा आज केवल स्थूल व्यवहार की क्षुद्र परिधि मे सीमित हो गई है। जनजीवन मे उसका रस संचार क्षीण एवं क्षीणतर हो गया है। और इस प्रकार अहिंसा के प्राणो की एक तरह से हत्या ही हो गई है।

अगर अहिंसा की प्राण-प्रतिष्ठा करनी है, तो आवश्यकता है, अहिंसा को हम स्थूल व्यवहार की संकीर्ण परिधि से मुक्त कर व्यापक बनाएँ, जीवन की सूक्ष्म अनुभूति एवं हृदय की गहराई तक उसे अवतरित करें।

निवृत्ति और प्रवृत्ति के मध्य में वृत्ति का अर्थ है—चेतना का भाव। यही भाव मन को तरंगित करता है। अहिंसा इन्हीं उदात्त एवं कल्याणकारी तरंगो के आधार पर जीवन के स्थूल व्यवहारों के रूप में प्रगट होती है। इसे ही हम प्रवृत्ति कहते हैं।

धरती के समग्र आध्यात्मिक दर्शन व्यवहार के स्थूल विधि-निषेध के साथ अहिंसा का सम्बन्ध स्थापित नही करते है, प्रत्युत् मानव मन की मूल पवित्र वृत्ति के साथ ही अहिंसा को सम्बन्धित करते हैं। यही अहिंसा का बीज है। सब-कुछ है। अगर यह नही है, तो कुछ भी नही है।

> अज्झत्थं सव्वओ सव्व, दिस्स पाणे पियायए।
> न हणे पाणिण पाणं, भयवेराओ उवरए ॥ —उत्तराध्ययन ६।७
> जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
> संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाण जगई जहा ॥ —सूत्र. श्रु. १ अ. ११ गा. ३६

अहिंसा के क्रान्तद्रष्टा ऋषि उक्त बीज की जितनी चिन्ता करते हैं, उतनी इधर-उधर के विधि-निषेध रूप फल, फूल और टहनियों की नही। बाह्य व्यवहार के आधार पर खड़े किये गए अहिंसा के विधि-निषेध देश, काल तथा व्यक्ति की स्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं, मूल बीज नही बदलता है। किन्तु मध्यकाल के सामाजिक व्यवस्थापक, चाहे वे धार्मिक रहे हों या राजनीतिक,

अहिसा को उसकी मौलिक सूक्ष्मता से पकड़ नही सके है । निवृत्ति और प्रवृत्ति के स्थूल परिवेश में ही अहिसा को मानने और मनवाने के आसान तरीके अपनाते रहे और यथाप्रसग तात्कालिन समाधान निकालते रहे । किन्तु हिसा की समस्या ऐसी नही थी, जो प्रचलित परम्परा के स्थूल चिन्तन से एव विधि-निषेध के भावहीन विधानों से समाधान पा जाती । वह नये-नये रूपो मे प्रकट होती रही और मानव-जीवन के सभी पक्षो को दूषित करती रही । यही कारण है कि हजारो वर्षो से समस्या-समस्या ही बनी रही । कोई भी समाधान उभरते प्रश्नो को मिटा नही सका । यदि हम इधर-उधर के विकल्पो मे न उलझ कर अहिसा की मूल भावना को समझने का प्रयत्न करे, तो आज भी अहिसा के मूल केन्द्र स्वरूप आन्तरिक वृत्ति पर अहिसक समाज की रचना हो सकती है । मै यहाँ स्पष्टरूप से कह देना चाहता हूँ कि अहिसा के आधार पर परस्पर सहयोगी समाज की रचना के लिए निवृत्ति और प्रवृत्ति के प्रचलित व्यामोह के एकान्तिक आग्रह को क्षीण करना होगा, तभी हम मानव की आन्तरिक वृत्ति से सम्बन्धित अहिसा के वास्तविक रूप को समझ सकेगे ।

भय एव प्रलोभन पर आधारित अहिसा स्थायी नहीं—अहिसा का मर्म समझाते हुए मैने कुछ लोगो को सुना है—'किसी को कष्ट मत दो, किसी के प्राणो का वध मत करो, किसी को रुलाओ मत । अगर तुम दूसरो को कष्ट दोगे, तो तुम्हे भी कष्ट भोगने होगें, अगर किसी को मारोगे, तो तुम्हें भी मरना पडेगा और किसी को रुलाओगे, तो तुम्हे भी रोना होगा ।' अपने दु.खों की सभावना उन्हे पीड़ित कर देती है और इसी चिन्तनधारा मे दूसरो को परिताप पहुँचाने से अपने आपको बचाने की कोशिश करते है । इस उपदेश ने मनुष्य के मन मे एक भय की भावना पैदा की, जो स्वय अपने मे एक हिसा है । उक्त स्थिति मे प्रवृत्ति-निवृत्ति के स्थूल स्तर पर अहिसा दिखाई देती है और हम इतने भर से सन्तोष कर लेते है । परन्तु, अन्य किसी प्रसग विशेष पर जब यह समझाया जाता है कि 'अपने दुश्मनो को समाप्त कर दो, स्वर्ग मिलेगा । यज्ञ मे पशुओ को देवताओ के लिए समर्पित कर दो, वे प्रसन्न हो कर तुम्हे सुख-समृद्धि देगें । सघर्परत प्रतिद्वन्द्वियो को परास्त कर दो, तुम्हे सम्मान मिलेगा, सम्पत्ति मिलेगी ।' इतिहास का हर विद्यार्थी जानता है कि इन प्रलोभनो ने ममुष्य से कितने क्रूर और भयानक कार्य करवाए है । प्रश्न है कि यह सब किस कारण हो सका है ? स्पष्ट है कि भय के माध्यम से हिसा का त्याग कराया था । ज्यो ही भय के स्थान पर प्रलोभन आ खडा हुआ कि मानव गड़बडा गया । प्रलोभन ने हिसा को फिर से उत्तेजित कर दिया । प्रलोभन हिसा को इसी कारण उत्तेजित कर सका कि हमने अन्तर्मन में वृत्ति की हिसा को छोड़ने के लिए उचित ध्यान नही दिया । अगर वृत्ति की अहिसा जाग जाती है, तो दुनिया का कोई भी भय या प्रलोभन हिसा को जन्म नही दे सकता । जो अहिंसा केवल स्थूल

निवृत्ति मे है, विधि-निषेध में है, उसे साधारण-सा विरोधी वातावरण एव कारण भी समाप्त कर देता है। जन-जीवन में उसका मूल स्थायी नही होता।

वृत्ति में अहिंसा का अर्थ—वृत्ति मे अहिंसा का अर्थ है—जीवन की गहराई में अहिसा की भावधारा का सतत प्रवाहित होना। जो अन्दर की वृत्ति से अहिसक है, वह किसी को मार नही सकता, किसी को कष्ट नहीं दे सकता, किसी के प्राणों का वध नही कर सकता। अर्थात् वृत्ति के अहिसक होने में हिंसा की योग्यता ही निर्मूल हो जाती है। यह अहिंसा मरणोत्तर स्वर्ग के लिए, सामाजिक एव पारिवारिक सुख-सुविधा के लिए या प्रतिष्ठा के लिए नही होती। वृत्ति मे अहिंसा की स्वय ही यह सहज अवस्था हो जाती है कि वह हिसा कर ही नहीं सकता, चाहे उसके लिए प्राप्त प्रतिष्ठा ही क्यों न खोनी पड़े, जीवन को दॉव पर ही क्यों न लगा देना पड़े। उसके लिए अहिसा स्वभाविक हो जाती है। मुझे शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, यह उसका सिद्धान्त नहीं होता, अपितु दुनिया मे उसका कोई दुश्मन ही नही होता। वह यह बात नहीं कहता कि अहिसा की शिक्षा से हमें सबके प्रति द्वेष नहीं, प्रेम करना चाहिए, अपितु प्रेम के अतिरिक्त उसके पास करने को और कुछ होता ही नही। यह वृत्ति मे अहिंसा, जो अहिंसा का शाश्वत और सर्वव्यापी रूप है।

अहिंसा की निष्ठा और भावना में अन्तर—वृत्ति में अहिंसा होगी, तो अहिसा मे निष्ठा होगी। वही उसका सर्वग्राही रूप है। अहिसा, करुणा और सत्य की धाराएँ तो हमारे जीवन में बहती रहती है, भावनाएँ उमडती चली जाती है, पर जब तक अहिसा और करुणा की निष्ठा जागृत नही होती, तब तक वह दर्शन नही बन पाता।

एक माता के हृदय में पुत्र के प्रति जो करुणा और प्रेम का प्रवाह उमड़ता है, उसमे अहिसा की धारा छिपी भले ही हो, पर उसे हम अहिसा की निष्ठा नही कह सकते। उसकी करुणा के साथ मोह का अश जुड़ा हुआ है, व्यक्तिवाद जुडा है, इसलिए अनन्त-काल से करुणा का प्रवाह हृदय मे उमड़ते हुए भी उससे आत्मा का विकास नही हो सका, उत्थान नही हो सका।

बिल्ली जब अपने बच्चो को दॉतो से पकड़ कर ले जाती है, तो एक दॉत भी उसके शरीर पर गड़ने नही पाता। क्या बात है कि जब वे ही दॉत चूहे पर लगते है, तो रक्त की धारा बह चलती है, वह ची-ची कर उठता है। इसमे क्या अन्तर आया? भावना का ही अन्तर है! भावना मे एक जगह प्रेम और ममता है, दूसरी जगह क्रूरता है। खूँखार शेरनी भी अपने बच्चो को प्यार से दुलारती-पुचकारती है, उन्हे दूध पिलाती है। किन्तु यह प्रेम की भावना दया-अहिंसा के रूप मे वहाँ विकसित नहीं हुई है। इसलिए बिल्ली और शेरनी की ममता को अहिंसा का विकास नही कहा जा सकता, चूँकि वहाँ अहिंसा की दृष्टि

नही है। जहाँ अहिंसा निष्ठा और श्रद्धा के रूप मे नहीं है, वहाँ वह बन्धन से मुक्त करने वाली नहीं बन सकती। अहिंसा का आदर्श वहाँ जागृत नही हो सकता। अहिंसा की भावना और संस्कार होना एक बात है और उसमे निष्ठा होना दूसरी बात है।

अत: अहिंसा के बाह्यपक्ष पर ही मत उलझो। उसके हृदयपक्ष की ओर देखो! अपने मस्तिष्क से उत्पन्न तर्क को हृदय की सहज-सरल सौहार्दपूर्ण भावनाओ के रस से सिंचित करो। फिर जो अहिंसा का रूप निखरेगा, वही यथार्थ और चिरस्थायी होगा।

❀❀❀

अहिंसा और मैत्री के दोहे

मैं करता सबको क्षमा, करे मुझे सब कोय।
मेरे तो सब मित्र हैं, वैरी दिखे न कोय॥

देख दुखी करुणा जगे, देख सुखी मन मोद।
एवके प्रति मैत्री जगे, रहे समत्व का बोध॥

वैर वैर से ना मिटे, बढ़े द्वेष दुष्कर्म।
वैर मिटे मैत्री किये, यही सनातन धर्म॥

मैत्री करुणा प्यार से, तन मन पुलकित होय।
मानव जीवन सफल हो, सब विधि मंगल होय॥

निर्बल सब निर्भय बनें, सबल त्याग दे दण्ड।
जन-जन के मन प्यार की, गंगा बहे अखण्ड॥

दुखियारे दुःख मुक्त हों, भय त्यागे भयभीत।
वैर छोड़कर लोग सब, करे परस्पर प्रीत॥

दूर रहे दुर्भावना, द्वेष होय सब दूर।
निर्मल निर्मल चित्त मे, प्यार भरे भरपूर॥

मन-मानस मे प्यार ही, तरल तरंगित होय।
रोम-रोम से ध्वनि उठे, सबका मंगल होय॥

—श्री सत्यनारायण गोयनका

इस्लाम धर्म में प्रेम भाव और अहिंसा

□ श्री इकराम राजस्थानी

हमारा देश विभिन्न धर्मो और जातियो का केन्द्र है। अनेको संस्कृतियां आई और विलीन हो गई भारतीय एकता के सागर मे। हमारे यहा इस्लाम धर्म के अनुयायी बहुत बडी सख्या में रहते है और वे इस राष्ट्र की अखडता की धारा से जुड़े हुए है।

रस्ते अलग-अलग है, ठिकाना तो एक है,
मंज़िल हर एक शख्स को पाना तो एक है।

हम सभी लोग अलग-अलग तरीको से अपने गतव्य की ओर बढने का प्रयास कर रहे है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम इन सभी धर्मो के मूल भावों को पढे, समझे और जनसाधारण तक इसे सही रूप और सच्चे अर्थो में पहुँचाये।

धर्म तो हमारे जीवन का आभूषण है, पथ का आलोक है जो सत्य मार्ग की ओर हमें आगे बढाता है। अगर धर्म ही हमे पथ भ्रष्ट करने लगे तो वह सही मायने में धर्म नही है।

धर्म का अर्थ है—सत्य, आलोक, निष्ठा, प्रेम, सद्‌भाव, न कि षड्यन्त्र, छल, कपट, धोखा या प्रपंच। आज हमारा राष्ट्र धर्म के गोरखधन्धे मे उलझ कर मानव जाति की समस्या के लिए नया भ्रम उत्पन्न कर रहा है। आज प्रत्येक धर्म का सही स्वरूप सामने आये, इस प्रयास की महती आवश्यकता है।

इस्लाम धर्म भी ससार का एक बड़ा और महत्त्वपूर्ण मजहब है। इसके सम्बन्ध में हमे बुनियादी ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

आइये, सबसे पहले तो "इस्लाम" शब्द पर ही थोडी चर्चा की जाये।

'इस्लाम' शब्द मूलतः अरबी भाषा का है। इसके शाब्दिक अर्थ को आप समझेंगे तो अपने आप ही इसकी गहराई से परिचित हो जायेगे।

'इस्लाम' का अर्थ है—शाति, अमन, शुद्धता, समर्पण और वचनबद्धता।

अब आप सोचिए, जिस धर्म का मूल अर्थ हो शान्ति, सुलह, सद्भाव, समर्पण हो, वह धर्म किस तरह मानवता के विरुद्ध कोई कार्य कर सकता है ?

इस्लाम धर्म अल्लाह की रहनुमाई और उसकी शिक्षाओ का पूर्ण रूप से प्रतिग्रहण है।

इस्लाम धर्म कोई नया मज़हब नही है। पवित्र 'कुरान शरीफ' की एक सूरत 'आलेइमरान' मे यह कहा गया है "कह दो हम तो अल्लाह पर और उस चीज़ पर ईमान ले आए जो हम पर उतारी गई, और उस चीज पर जो हजरत इब्राहीम, हज़रत इस्माइल, हज़रत इस्हाक और हज़रत याकूब और उनकी सन्तानो पर उतारी गई और उस चीज़ पर जो हज़रत मूसा और ईसा और दूसरे नबियों को उनके पालनहार के द्वारा दी गई, हम उनमे से किसी चीज के बीच कोई अन्तर नही करते और हम उसी के मुस्लिम (आज्ञाकारी) है"।

—आलेइमरान, ८३

आपने दूसरे शब्द 'मुस्लिम' का अर्थ पढा "आज्ञाकारी"। अब आप स्वयं सोचे कि इस्लाम धर्म पूरे विश्व को प्रेम, शाति, भाईचारे का सदेश देता है या नही ? आज जब पूरे विश्व में वर्णभेद की समस्या अपना विकराल रूप धारण किये हुए है, ऐसे युग में भी इस्लाम अपना सनातन सन्देश देता है कि पूरी दुनिया के इन्सान एक है और उनमे रंग, नस्ल या फ़िरकापरस्ती के भेदभाव नही करने चाहिए। इस्लाम तो आरम्भ से ही कहता आ रहा है—

'एक ही सफ़ मे खड़े हो गए महमूदो अयाज,
न कोई बन्दा रहा और न कोई बन्दा नवाज़।
साइलो, मुफ़लिसो, मोहताजो ग़नी एक हुए,
तेरी सरकार मे पहुँचे तो सभी एक हुए।।

आज का आदमी तरक्की की सीढियाँ चढ़कर चाँद की धरती पर अपने क़दम रख सकता है लेकिन आपसी घृणा, भेदभाव और युद्धों को रोक नही सका है।

इस्लाम धर्म सैकडों बरसो से यही प्रेम और मुहव्वत का पैग़ाम पूरे ससार को देता आया है—आपसी फर्क कैसे दूर किये जायें, इसके लिए हर साल हज के मौके पर लाखों लोग मक्का मुअज्ज़मा मे इकट्ठे होते है। तमाम नस्लो और जातियों के लोग वगैर किसी भेदभाव के आपसी भाईचारे मे जुडकर दुनिया के सामने एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते है।

सारा विश्व, इस्लाम का यह चमत्कार अपनी खुली आँखो से देख रहा है।

इस्लाम मनुष्य के निःस्वार्थ प्रेम-भाव, नम्रता और प्रेम के गुणों का विकास कर उन्हें सही मायने में मानवतावादी बनाता है।

इस्लाम ने सदा ही प्रेम, प्रीत का परचम फहराया है। अहिंसा तो इसका मूलमंत्र है। जहां प्रेम, स्नेह, सद्भाव होगा वहां पर हिंसा का तो होना वैसे भी संभव नही है।

इस्लाम धर्म के आखरी पैगम्बर हजरत मुहम्मद (स.अ.) ने भी अपने जीवन में प्रेम और अहिंसा के सिद्धान्तो का ही प्रचार किया था। इस सम्बन्ध में हमारे राष्ट्र पिता, महात्मा गांधी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं।

"अब मुझे पहले से ज्यादा विश्वास हो गया कि इस्लाम के फैलाने में तलवार की शक्ति नही थी बलिक ये इस्लाम के पैगम्बर का अत्यंत सादा जीवन, प्रतिज्ञापालन, निःस्वार्थता, निर्भयता और सबके प्रति प्रेम की भावनाएँ थी"। वास्तव में इस्लाम धर्म प्रेम, शांति, स्नेह, सद्भाव का एक कोष है जो सारे विश्व में इन मानव मूल्यों का प्रचार सदियों से कर रहा है। जरूरत इस बात की है कि हम इसे समझे और दूसरों को समझाने का प्रयास भी करे।

—कार्यक्रम अधिकारी, आकाशवाणी, जयपुर

❀ ❀ ❀
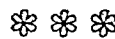
हिंसक का कोई मूल्य नहीं होता

तैमूरलंग एक अति क्रूर शासक था। एक बार उसके सामने दो गुलामों को पेश किया गया। दोनों को मृत्युदण्ड दिया। कवि अहमद को भी बन्दी बना कर लाया गया था।

तैमूर ने अहमद से पूछा—'तुम तो कवि हो, बताओ, इन दोनों गुलामों का क्या मूल्य होगा ?

'प्रत्येक का पॉच-पाँच सौ अशर्फियाँ'।

'अच्छा बताओ, मेरा मूल्य कितना आँकते हो ?' 'पच्चीस अशर्फियाँ'।

सुन कर तैमूर का क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। वह गुस्से मे बोला—'पच्चीस अशर्फियाँ!! अरे बेवकूफ, इतना भी नहीं जानते, पच्चीस अशर्फियाँ का मूल्य तो सिर्फ मेरी पोशाक का ही होगा।'

कवि अहमद ने कहा—'सही कहा आपने, मैंने आपकी पोशाक का मूल्य ही आंका है, पच्चीस अशर्फियाँ'। 'तो क्या मेरा मूल्य कुछ भी नही है ?'

'जी नही, आपका मूल्य कुछ भी नही है। जो आदमी क्रूर है, हिंसक है, उसका कोई मूल्य नही हो सकता।'
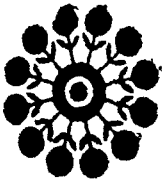
अहिंसा-सिद्धान्त : तुलनात्मक दृष्टि

□ डॉ० सागरमल जैन

अहिंसा के सिद्धान्त की सार्वभौम स्वीकृति के बावजूद भी अहिंसा के अर्थ को लेकर सब धर्मों में एकरूपता नही है। हिंसा और अहिंसा के बीच खींची गई भेद-रेखा सभी मे अलग-अलग हैं। कही पशुवध को ही नहीं, नरबलि को भी हिंसा की कोटि मे नही माना गया हैं तो कहीं वानस्पतिक हिंसा अर्थात् पेड-पौधे को पीडा देना भी हिंसा माना जाता है। चाहे अहिंसा की अवधारणा उन सबमें समानरूप से उपस्थित हो किन्तु अहिंसक चेतना का विकास उन सबमें समानरूप से नहीं हुआ है। क्या मूसा के Thou shalt not kill के आदेश का वही अर्थ है जो महावीर की **'सव्वेसत्ता न हंतव्वा'** की शिक्षा का है? यद्यपि हमें यह ध्यान रखना होगा कि अहिंसा के अर्थविकास की यह यात्रा किसी कालक्रम में न होकर मानव जाति की सामाजिक चेतना तथा मानवीय विवेक एव संवेदनशीलता के विकास के परिणामस्वरूप हुई हैं। जो व्यक्ति या समाज जीवन के प्रति जितना अधिक संवेदनशील बना, उसने अहिंसा के प्रत्यय को उतना ही अधिक व्यापक अर्थ प्रदान किया। अहिंसा के अर्थ का यह विस्तार भी तीनों रूपों में हुआ है—एक ओर अहिंसा के अर्थ को व्यापकता दी गई, तो दूसरी ओर अहिंसा का विचार अधिक गहन होता चला गया है। एक ओर स्वजाति और स्वधर्मी मनुष्य की हत्या के निषेध से प्रारभ होकर षट्जीवनिकाय की हिंसा के निषेध तक इसने अर्थविस्तार पाया है तो दूसरी ओर प्राणवियोजन के वाह्य रूप से द्वेष, दुर्भावना और असावधानी (प्रमाद) के आन्तरिक रूप तक, इसने गहराइयों मे प्रवेश किया हैं। पुनः अहिंसा ने 'हिंसा मत करो' के निषेधात्मक अर्थ से लेकर दया, करुणा, दान, सेवा और सहयोग के विधायक अर्थ तक भी अपनी यात्रा की है। इस प्रकार हम देखते है कि अहिंसा का अर्थविकास त्रि-आयामी (थ्री डाईमेन्शनल) है। अतः जब भी हम अहिंसा की अवधारणा को लेकर कोई चर्चा करना चाहते हैं तो हमें उसके सभी पहलुओं की ओर ध्यान देना होगा।

जैनागमो के संदर्भ मे अहिंसा के अर्थ की व्याप्ति को लेकर कोई चर्चा करने के पूर्व हमे यह देख लेना होगा कि अहिंसा की इस अवधारणा ने कहाँ कितना अर्थ पाया है।

यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में अहिंसा का अर्थविस्तार :

मूसा ने धार्मिक जीवन के लिए जो दस आदेश प्रसारित किये थे एक है 'तुम हत्या मत करो' किन्तु इस आदेश का अर्थ यहूदी समाज के

व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए अपनी जातीय भाई की हिंसा नही करने से अधिक नही रहा। धर्म के नाम पर तो हम स्वयं पिता को अपने पुत्र की बलि देता हुआ देखते है। इस्लाम ने चाहे अल्लाह को 'रहमानुर्रहीम'—करुणाशील कह कर सम्बोधित किया हो, और चाहे यह भी मान लिया हो कि सभी जीवधारियों को जीवन उतना ही प्रिय है, जितना तुम्हें अपना है, किन्तु उसमे अल्लाह की इस करुणा का अर्थ स्वधर्मियों तक ही सीमित रहा। इतर मनुष्यो के प्रति इस्लाम आज तक सवेदनशील नही वन सका है। पुनः यहूदी और इस्लाम दोनो ही धर्मो मे धर्म के नाम पर पशुबलि को सामान्य रूप से आज तक स्वीकृत किया जाता है। इस प्रकार इन धर्मो मे मनुष्य की सवेदनशीलता स्वजाति और स्वधर्मी अर्थात् अपनो से अधिक अर्थविस्तार नही पा सकी है। इस सवेदनशीलता का अधिक विकास हमे ईसाई धर्म में दिखाई देता है। ईसा शत्रु के प्रति भी करुणाशील होने की वात कहते हैं। वे अहिसा, करुणा और सेवा के क्षेत्र मे अपने और पराये, स्वधर्मी और विधर्मी, शत्रु और मित्र के भेद से ऊपर उठ जाते है। इस प्रकार उनकी करुणा सम्पूर्ण मानवता के प्रति बरसी है। यह बात अलग है कि मध्ययुग में ईसाइयो ने धर्म के नाम पर खून को होली खेली हो और ईश्वर-पुत्र के आदेशो की अवहेलना की हो किन्तु ऐसा तो हम सभी करते है। धर्म के नाम पर पशुबलि की स्वीकृति भी ईसाई धर्म मे नहीं देखी जाती है। इस प्रकार उसमें अहिसा की अवधारणा अधिक व्यापक वनी है। उसकी सबसे बडी विशेपता यह है कि उसमे सेवा तथा सहयोग के मूल्यों के माध्यम से अहिसा को एक विधायक दिशा भी प्रदान की है। फिर भी सामान्य जीवन मे पशुवध और मांसाहार के निषेध की बात वहाँ नही उठाई गई है। अत उसकी अहिसा की अवधारणा मानवता तक ही सीमित मानी जा सकती है, वह भी समस्त प्राणी-जगत् की पीड़ा के प्रति सवेदनशील नही वन सका।

भारतीय चिन्तन में अहिंसा का अर्थ-विस्तार :

चाहे वेदो मे 'पुमान् पुमास परिपातु विश्वत' (ऋग्वेद, ६ ७५.१४) के रूप मे एक दूसरे की सुरक्षा की वात कही गई हो अथवा 'मित्रास्याह चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे' (यजुर्वेद, ३६ १८) के रूप मे सर्वप्राणियो के प्रति मित्र-भाव की कामना की गई हो किंतु वेदो की यह अहिसक चेतना भी मानव-जाति तक ही सीमित रही। मात्र इतना ही नही, वेदो मे अनेक ऐसे प्रसग हैं जिनमे शत्रु-वर्ग के विनाश के लिए प्रार्थनाएँ भी की गई है। यज्ञो मे पशुबलि स्वीकृत रही, वेद विहित हिसा को हिसा की कोटि मे नही माना गया। इस प्रकार उनमे धर्म के नाम पर की जाने वाली हिसा को समर्थन ही दिया गया। वेदो मे अहिंसा की अवधारणा का अर्थविस्तार उतना ही है जितना कि यहूदी और इस्लाम धर्म मे। वैदिक धर्म की पूर्व-परम्परा मे भी अहिसा का सम्बन्ध

मानव जाति तक ही सीमित रहा। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' का उद्‌घोष तो हुआ, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वह मानव-प्राणी से अधिक ऊपर नहीं उठ सका। इतना ही नहीं, एक ओर पूर्ण अहिंसा के बौद्धिक आदर्श की बात और दूसरी ओर मांसाहार की लालसा एवं रूढ़ परम्पराओं के प्रति अंध आस्था ने अपवाद का एक नया आयाम खड़ा किया और कहा गया कि 'वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं है।'[1] श्रमण परम्पराएँ इस दिशा में और आगे आयीं और उन्होंने अहिंसा की व्यावहारिकता का विकास समग्र प्राणी-जगत् तक करने का प्रयास किया और इसी आधार पर वैदिक हिंसा की खुल कर आलोचना की गई। कहा गया कि यदि यूप छेदन करने से और पशुओं की हत्या करने से और खून का कीचड़ मचाने से ही स्वर्ग मिलता हो तो फिर नर्क में कैसे जाया जावेगा।[2] यदि हनन किया गया पशु स्वर्ग को जाता है तो फिर यजमान अपने माता-पिता की बलि ही क्यों नहीं दे देता ?[3] अहिंसक चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है श्रमण परम्परा में। इसका मुख्य कारण यह था कि गृहस्थ जीवन में रहकर पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार कर पाना सम्भव नहीं था। जीवनयापन अर्थात् आहार, सुरक्षा आदि के लिए हिंसा आवश्यक तो है ही, अतः उन सभी धर्म परम्पराओं में जो मूलतः निवृत्तिपरक या संन्यासमार्गीय नहीं थी, अहिंसा को उतना अर्थविस्तार प्राप्त नहीं हो सका जितना श्रमणधारा या संन्यास-मार्गीय परम्परा में सम्भव था। यद्यपि श्रमण परम्पराओं के द्वारा हिंसापरक यज्ञ-यागों की आलोचना और मानवीय विवेक एवं संवेदनशीलता के विकास का एक परिणाम यह हुआ कि वैदिक परम्परा में भी एक ओर वेदों के पशु-हिंसापरक पदों का अर्थ अहिंसक रीति से किया जाने लगा (महाभारत में शान्तिपर्व में राजा वसु का आख्यान—अध्याय ३३७–३३८—इसका प्रमाण है) तो दूसरी ओर धार्मिक जीवन के लिए कर्मकाण्ड को अनुपयुक्त मानकर औपनिषदिक धारा के रूप में ज्ञान-मार्ग का और भागवत धर्म के रूप में भक्ति-मार्ग का विकास हुआ। इसमें अहिंसा का अर्थविस्तार सम्पूर्ण प्राणीजगत् अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा के निषेध तक हुआ है। वैदिक परम्परा में संन्यासी को कन्दमूल एवं फल का उपभोग करने की स्वतन्त्रता है, इस प्रकार वहाँ वानस्पतिक हिंसा का विचार उपस्थित नहीं है। फिर भी यह तो सत्य है कि अहिंसक चेतना को सर्वाधिक विकसित करने का श्रेय श्रमण परम्पराओं को ही है। भारत में ई० पू० ६ठी शताब्दी का जो भी इतिवृत्त हमें प्राप्त होता है उससे ऐसा लगता है कि उस युग में पूर्ण अहिंसा के आदर्श को साकार बनाने में श्रमण सम्प्रदायों में होड़ लगी हुई थी। कम से कम हिंसा ही श्रामण्य-जीवन की श्रेष्ठता का

---

१. "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"।

२. अभिधान राजेन्द्रकोश, खण्ड ७, पृ० १२२६।

३. भारतीय दर्शन [दत्त एव चटर्जी], पृ० ४३ पर उद्‌धृत।

प्रतिमान था। सूत्रकृतांग मे आर्द्रक कुमार की विभिन्न मतो के श्रमणों से जो चर्चा है उसमें मूल प्रश्न यही है कि कौन सबसे अधिक अहिंसक है (देखिये सूत्रकृतांग, २।६)। त्रस प्राणियों (पशु, पक्षी कीट-पतंग आदि) की हिंसा थी ही, किन्तु वानस्पतिक और सूक्ष्म प्राणियो की हिंसा को भी हिंसा माना जाने लगा था। मात्र इतना ही नही मनसा, वाचा, कर्मणा, और कृत, कारित और अनुमोदित के प्रकारभेदो से नवकोटिक अहिंसा का विचार प्रविष्ट हुआ, अर्थात् मन, वचन और शरीर से हिंसा करना नही, करवाना नही और करनेवाले का अनुमोदन भी नही करना। बौद्ध और आजीवक परम्परा के श्रमणो ने भी इस नवकोटिक अहिंसा के आदर्श को स्वीकार कर उसके अर्थ को गहनता और व्यापकता प्रदान की। फिर भी बौद्ध परम्परा में षट्जीवन निकाय का विचार उपस्थित नही था। बौद्ध भिक्षु नदी-नालो के जल को छानकर उपयोग करते थे। दूसरे उनके यहाँ नवकोटि अहिंसा की यह अवधारणा भी स्वयं की अपेक्षा से थी—दूसरा हमारे निमित्त क्या करता है इसका विचार नही किया गया, जब कि जैन परम्परा मे श्रमण के निमित्त से की जाने वाली हिंसा का भी विचार किया गया। निर्ग्रन्थ परम्परा का कहना था कि केवल इतना ही पर्याप्त नही है कि हम मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसा न करे, न करावे और न उसे अनुमोदन दे अपितु यह भी आवश्यक है कि दूसरो को हमारे निमित्त हिंसा करने का अवसर भी नही देवे और उनके द्वारा की गई हिंसा मे भागीदार न बने। यही कारण था कि जहाँ बुद्ध और बौद्ध भिक्षु निमन्त्रित भोजन को स्वीकार करते थे वहाँ निर्ग्रन्थ परम्परा मे औद्देशिक आहार भी अग्राह्य माना गया था, क्योंकि उसमे नैमित्तिक हिंसा के दोष की सम्भावना थी। यद्यपि पिटकग्रन्थो मे बौद्ध भिक्षु के लिए ऐसा भोजन निषिद्ध माना गया है जिसमे उसके लिए प्राणीहिंसा की गयी हो और वह इस बात को जानता हो या उसने ऐसा सुना हो। फिर भी यह अतिशयोक्ति नही है कि अहिंसा को जितना व्यापक अर्थ जैन परम्परा मे दिया गया है, उतना अन्यन्त्र अनुपलब्ध ही है।

जैन और बौद्ध परम्पराओ मे अहिंसा सम्बन्धी जो खण्डन-मण्डन हुआ, उसके पीछे सैद्धान्तिक मतभेद न होकर उसकी व्यावहारिकता का प्रश्न ही प्रमुख रहा है। पं० सुखलालजी लिखते है, दोनो की अहिंसा सम्बन्धी व्याख्या मे कोई तात्त्विक मतभेद नही—जैन परम्परा ने नवकोटिक अहिंसा की सूक्ष्म व्यवस्था को अमल मे लाने के लिए जो बाह्य प्रवृत्ति को विशेष नियन्त्रित किया, वह बौद्ध परम्परा ने नही किया। जीवन सम्बन्धी बाह्य प्रवृत्तियो के प्रति नियन्त्रण और मध्यवर्गीय शैथिल्य के प्रबल भेद में से ही बौद्ध और जैन परम्पराएँ आपस में खण्डन-मण्डन मे प्रवृत्त हुईं। जब हम दोनों परम्पराओं के खण्डन-मण्डन को तटस्थ भाव से देखते है तब निःसंकोच कहना पड़ता है कि

वहुधा दोनों ने एक-दूसरे को गलत रूप से ही समझा है। इसका एक उदाहरण मज्झिमनिकाय का उपालिसुत्त और दूसरा सूत्रकृतांग का है।[1]

यद्यपि जैन परम्परा ने नवकोटिपूर्ण अहिंसा के पालन पर बल दिया, लेकिन नवकोटिक अहिंसा के पालन मे जब साधु-जीवन के व्यवहारो का सम्पादन एव संयमी जीवन का रक्षण भी असम्भव प्रतीत हुआ तो यह स्वीकार किया गया कि शास्त्रविहित प्रवृत्तियो मे हिंसा-दोष का अभाव होता है। इसी प्रकार मन्दिर-निर्माण, प्रतिमापूजन, तीर्थयात्रा आदि के प्रसग पर होने वाली हिंसा विहित मान ली गयी। परिणाम यह हुआ कि वैदिक हिंसा हिंसा नही है, इस सिद्धान्त के प्रति की गयी उनकी आलोचना स्वय निर्बल रह गयी। वैदिक पक्ष की ओर से कहा जाने लगा कि यदि तुम कहते हो कि शास्त्रविहित हिंसा हिंसा नही है तो फिर हमारी आलोचना कैसे कर सकते हो?[2] इस प्रकार आलोचनाओ और प्रत्यालोचनाओ का एक विशाल साहित्य निर्मित हो गया, जिसका समुचित मूल्यांकन यहाँ सम्भव नही है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि इस समग्र वाद-विवाद मे जैन, बौद्ध और वैदिक परम्पराओं मे मौलिक रूप से सैद्धान्तिक मतभेद अल्प ही है। प्रमुख प्रश्न व्यवहार का है। व्यावहारिक दृष्टि से जैन और वैदिक परम्पराओ मे निम्न अन्तर खोजा जा सकता है—

(१) जैन परम्परा पूर्ण अहिंसा के पालन सम्बन्धी विचार को केवल उन्ही स्थितियो में शिथिल करती है जिनमें मात्र सयममूलक मुनि-जीवन का अनुरक्षण हो सके, जबकि वैदिक परम्परा मे, अहिंसा के पालन में उन सभी स्थितियो में शिथिलता की गयी हैं जिनमे सभी आश्रम और सभी प्रकार के लोगो के जीवन जीने और अपने कर्तव्यों के पालन का अनुरक्षण हो सके।

(२) यद्यपि जैन आचार्यो ने सयममूलक जीवन के अनुरक्षण के लिए की गयी हिंसा को हिंसा नही माना है, तथापि परम्परा के आग्रही अनेक जैन आचार्यों ने उस हिंसा को हिंसा के रूप में स्वीकार करते हुए केवल अपवाद रूप मे उसका सेवन करने की छूट दी और उसके प्रायश्चित्त का विधान भी किया। उनकी दृष्टि मे हिंसा, चाहे वह किसी भी स्थिति मे हो, हिंसा है। यही कारण है कि आज भी जैन सम्प्रदायों मे संयम एव शरीर-रक्षण के निमित्त भिक्षाचर्या आदि दैनिक व्यवहार में होने वाली सूक्ष्म हिंसा के लिए भी प्रायश्चित्त का विधान है।

(३) वैदिक परम्परा मे हिंसा धार्मिक अनुष्ठानों का एक अग मान ली गयी और उनमें होने वाली हिंसा हिंसा नही मानी गयी। यद्यपि जैन-परम्परा

---

१ दर्शन और चिन्तन : प० सुखलाल सघवी, खण्ड २, पृ० ४१५.

२. अभिधान राजेन्द्रकोश. खण्ड, ७, पृ० १२२६

में कुछ आचार्यो ने धार्मिक अनुष्ठानों, मन्दिर-निर्माण आदि कार्यो मे होने वाली हिंसा का समर्थन अल्प-हिंसा और बहु-निर्जरा के नाम पर किया, लेकिन जैन-परम्परा में सदैव ही ऐसी मान्यता का विरोध किया जाता रहा और जिसकी तीव्र प्रतिक्रियाओं के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय में तेरापंथ और तारणपंथ तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय में लोंकागच्छ, स्थानकवासी एवं तेरापंथ (श्वेताम्बर आम्नाय) आदि अवान्तर सम्प्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का तीव्र विरोध किया।

(४) वैदिक परम्परा मे जिस धार्मिक हिंसा को हिंसा नही माना गया उसका बहुत कुछ सम्बन्ध पशुओ की हिंसा से है, जबकि जैन-परम्परा मे मन्दिर-निर्माण आदि के निमित्त से भी हिंसा का समर्थन किया गया, उसका सम्बन्ध मात्र एकेन्द्रिय अथवा स्थावर जीवों से है।

(५) जैन परम्परा में हिंसा के किसी भी रूप को अपवाद मानकर ही स्वीकार किया गया, जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा आचरण का नियम ही बन गयी। जीवन के सामान्य कर्तव्यों जैसे यज्ञ, श्राद्ध, देव, गुरु, अतिथि पूजन आदि के निमित्त से भी हिंसा का विधान किया गया है। यद्यपि परवर्ती वैष्णव सम्प्रदायों ने इसका विरोध किया।

(६) प्राचीन जैन मूल आगमों में संयमी जीवन के अनुरक्षण के लिए ही मात्र अत्यल्प स्थावर हिंसा का समर्थन अपवाद रूप में उपलब्ध है। जबकि वैदिक परम्परा में हिंसा का समर्थन सांसारिक जीवन की पूर्ति तक के लिए किया गया है। जैन-परम्परा भिक्षु के जीवन-निर्वाह की दृष्टि से अपवादों का विचार करती है, जबकि वैदिक परम्परा सामान्य गृहस्थ के जीवन के निर्वाह की दृष्टि से भी अपवाद का विचार करती है।

अहिंसा का विधायक रूप—जैन धर्म निवृत्तानुलक्षी होने से उसमे अहिंसा का निषेधात्मक स्वरूप ही अधिक मिलता है। श्वेताम्बर तेरापंथी जैन समाज तो केवल अहिंसा के निषेध रूप को ही मानता है। अहिंसा के विधायक पक्ष मे उसकी आस्था नहीं है। पूर्वकाल के जैन सन्त अहिंसा के इस निषेध पक्ष को ही अधिक प्रस्तुत करते थे, इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता। फिर भी जैन सूत्रो मे अहिंसा का विधायक पक्ष मिलता है।

अहिंसा का विधायक पक्ष प्राणियों के हित-साधन मे ही निहित है। जैन धर्म की अहिंसा इस रूप में विधायक है। 'आचारांगसूत्र' में तीर्थस्थापना का उद्देश्य समस्त जगत् के प्राणियों का कल्याण बताया गया[1]। इस प्रकार अहिंसा मे जीवों के कल्याण-साधन का तथ्य निहित है, जो विधायक अहिंसा का मूल है। इतना ही नही, आचारांग-सूत्र में कहा गया है कि समस्त तीर्थंकरो ने 'अहिंसा-धर्म' का प्रवर्तन समस्त लोक के खेद को जानकर ही किया है[2]।

---

१ आचारांग, २।१५।६५८।

२ वही, १।४।१।२७।

'खेयन्नेहिं' शब्द के मूल में अहिंसा का विधायक रूप स्पष्ट बोल रहा है। इसमें अहिंसा का उद्देश्य मनुष्य का अपना कल्याण न होकर लोक-कल्याण ही स्पष्ट होता है। इतना ही नहीं, तीर्थंकर अरिष्टनेमि का विवाहप्रसंग तथा शान्तिनाथ के पूर्व-भव में कबूतर की रक्षा का प्रसंग, ऐसे अनेक प्रसंग, जैन कथा-साहित्य में है जिनमें अहिंसा का विधायक स्वरूप स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैन-संघों द्वारा संचालित औषधालय, गोशालाएँ, पिंजरापोल (पशु-रक्षा गृह) आदि संस्थाएँ भी इस बात के प्रमाण है कि जैन-विचारक अहिंसा के विधायक पक्ष को भूले नहीं है। पुण्य के नौ भेदों में अन्नदान, वस्त्रदान, स्थान (आश्रय) दान आदि इसी विधायक पक्ष की पुष्टि करते है। विधायक पक्ष का एक और प्रमाण जैन तीर्थंकरों की गृहस्थावस्था में मिलता है। सभी तीर्थंकर संन्यास लेने के पूर्व, एक वर्ष तक प्रतिदिन स्वर्णमुद्राएँ याचकों को दान करते है[1]। इस प्रकार जैन धर्म अहिंसा के दोनों पक्ष स्वीकार करता है।

बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में अहिंसा का विधायक पक्ष :

यह निस्सन्देह सत्य है कि बौद्ध और वैदिक परम्पराओं ने अहिंसा को अधिक विधायक स्वरूप प्रदान किया। साधना के साथ सेवा का समन्वय करने में भारतीय धर्मों में बौद्ध धर्म और विशेष रूप से उनकी महायान शाखा अग्रणी रही है। यद्यपि जैन धर्म में भी ग्लान, वृद्ध, रोगी, शैक्ष्य आदि की सेवा का निर्देश है, मात्र यही नहीं मुनियों की सेवा को गृहस्थ धर्म का अनिवार्य अंग मान लिया गया है फिर भी मानवता के लिए सेवा और करुणा का जो विस्फोट जैन धर्म में होना चाहिए था, वह न हो सका। अहिंसा और अनासक्ति की जो सूक्ष्म व्याख्याएँ की गईं, वे ही इस मार्ग में सबसे बाधक बन गईं। असंयती की सेवा को और रागात्मक सेवा को अनैतिक माना गया। यही कारण था कि जहाँ हम बौद्ध भिक्षुओं और ईसाई पादरियों को सेवा के प्रति जितना तत्पर पाते है, उतना जैन भिक्षु संघ को नही। जैन भिक्षु अपने सहवर्गी के अतिरिक्त अन्य की सेवा नहीं कर सकता। जबकि बौद्ध भिक्षु प्राचीन काल से ही पीड़ित एवं दुःखित वर्ग की सेवा करता रहा है।

हिन्दू परम्परा में सेवा, अतिथिसत्कार, देवऋण, पितृऋण, गुरुऋण तथा लोकसंग्रह की अवधारणाएँ अहिंसा के विधायक पथ को स्पष्ट कर देती है। तुलनात्मक दृष्टि से हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए कि सैद्धान्तिक रूप में जैन मुनिवर्ग की अहिंसा निषेधात्मक अधिक रही। किन्तु जहाँ तक व्यावहारिक जीवन का प्रश्न है—जैन गृहस्थ समाज एवं लोकसेवा के कार्यों से किसी भी युग में पीछे नही रहा है। आज भी भारत में जैन समाज द्वारा जितनी लोक कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ चल रही है, वे आनुपातिक दृष्टि

---

१. आचारांग, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, अ० १५।१७९ मूल एवं टीका।

से किसी भी अन्य समाज से कम नहीं है। यही उसकी अहिंसा की विधायक दृष्टि का प्रमाण है।

हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार—हिंसा और अहिंसा का विचार हमारे सामने एक समस्या यह भी प्रस्तुत करता है कि किसी विशेष परिस्थिति में जब एक की रक्षा के लिए दूसरे की हिंसा अनिवार्य हो—अथवा दो अनिवार्य हिंसाओं मे से एक का चयन आवश्यक हो, तो मनुष्य क्या करे ? इस प्रश्न को लेकर तेरापंथी जैन सम्प्रदाय का जैनों के दूसरे सम्प्रदायों से मतभेद हैं। उनका मानना है कि ऐसी स्थिति मे मनुष्य को तटस्थ रहना चाहिए। दूसरे सम्प्रदाय ऐसी स्थिति मे हिंसा के अल्प-बहुत्व का विचार करते है। मान लीजिए, एक आदमी प्यासा है, यदि उसे पानी नही पिलाया जाय तो उसका प्राणांत हो जायेगा; दूसरी ओर, उसे पानी पिलाने में पानी के जीवों (अपकाय-जीवों) की हिंसा होती है। इसी प्रकार, एक व्यक्ति के शरीर में कीड़े पड़ गये है, अब यदि डॉक्टर उसे बचाता है तो कीड़ों की हिंसा होती है और कीडो को बचाता है तो आदमी की मृत्यु होती है। अथवा प्रसूति की अवस्था में माँ और शिशु मे से किसी एक के जीवन की ही रक्षा की जा सकती हो तो ऐसी स्थितियों में क्या किया जाय ? अहिसा का सिद्धान्त ऐसी स्थिति मे क्या निर्देश करता है ?

पण्डित सुखलालजी ने यह माना है कि वध्य जीवों का कद, उनकी सख्या तथा उनकी इन्द्रिय आदि के तारतम्य पर हिसा के दोष का तारतम्य अवलम्बित नही है, किन्तु हिसक के परिणाम या वृत्ति की तीव्रता-मंदता, सज्ञानता-अज्ञानता या बलप्रयोग की न्यूनाधिकता पर अवलंबित है।[1] यद्यपि हिंसा के दोप की तीव्रता या मदता हिसक की मानसिक वृत्ति पर निर्भर है, तथापि इस आधार पर इन प्रश्नों का ठीक समाधान नही मिलता। इन प्रश्नों के हल के लिए हमे हिंसा के अल्प-वहुत्व का कोई वाह्य आधार ढूंढ़ना होगा।

जैन परम्परा में परम्परागत रूप से यह विचार स्वीकृत रहा है कि ऐसी स्थितियो में हमें प्राण-शक्तियों या इन्द्रियो की संख्या एव आध्यात्मिक विकास के आधार पर ही हिंसा के अल्प-वहुत्व का निर्णय करना चाहिए। इस सारी विवक्षा में जीवो की सख्या को सदैव ही गौण माना गया है। महत्व जीवों की संख्या का नही, उनकी ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास-क्षमता का है। 'सूत्रकृतांग' में हस्तितापसों का वर्णन है, जो एक हाथी की हत्या करके उसके मांस से एक वर्प तक निर्वाह करते थे। उनका दृष्टिकोण यह था कि अनेक स्थावर जीवो की हिंसा की अपेक्षा एक त्रस जीव की हिसा से निर्वाह

1 दर्शन और चिन्तन, खण्ड २, पृ० ६०।

कर लेना अल्प पाप है, लेकिन जैन विचारकों ने इस धारणा को अनुचित ही माना।[1]

'भगवतीसूत्र' मे स्पष्ट ही कहा गया है कि यद्यपि सभी जीवों में आत्माएँ समान है,[2] तथापि प्राणियो की ऐन्द्रिक क्षमता एवं आध्यात्मिक विकास के आधार पर हिंसा-दोष की तीव्रता आधारित होती है। एक त्रस जीव की हिंसा करता हुआ मनुष्य तत्सम्बन्धित अनेक जीवो की हिंसा करता है।[3] एक अहिंसक ऋषि की हत्या करने वाला एक प्रकार से अनन्त जीवो की हिंसा करने वाला होता है।[4] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि स्थावर जीवों की अपेक्षा त्रस जीवो की और त्रस जीवो मे पंचेन्द्रियों की, पंचेन्द्रियो में भी मनुष्य की और मनुष्यों मे भी ऋषि की हिसा अधिक निकृष्ट है। इतना ही नही, त्रस जीव की हिंसा करने वाले को अनेक जीवों की हिंसा का और ऋषि की हिंसा करने वाले को अनन्त जीवों की हिंसा का करने वाला बता कर शास्त्रकार ने यह स्पष्ट निर्देश किया है कि हिंसा-अहिंसा के विचार में संख्या का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण नही है, महत्त्वपूर्ण है प्राणी की ऐन्द्रिक एव आध्यात्मिक विकास-क्षमता।

जब अपरिहार्य बन गई दो हिंसाओं में किसी एक को चुनना अनिवार्य हो तो हमे अल्प-हिसा को चुनना होगा। किन्तु कौन-सी हिंसा अल्प-हिंसा होगी यह निर्णय देश, काल, परिस्थिति आदि अनेक बातों हर निर्भर करेगा। यहाँ हमे जीवन की मूल्यवत्ता को भी आँकना होगा। जीवन की यह मूल्यवत्ता दो बातों पर निर्भर करती है—(१) प्राणी का ऐन्द्रिक एवं आध्यात्मिक विकास और (२) उसकी सामाजिक उपयोगिता। सामान्यतया मनुष्य का जीवन अधिक मूल्यवान है और मनुष्यों मे भी एक सन्त का, किन्तु किसी परिस्थिति मे किसी मनुष्य की अपेक्षा किसी पशु का जीवन भी अधिक मूल्यवान हो सकता है। सभवतः हिंसा-अहिसा के विवेक में जीवन की मूल्यवत्ता का यह विचार हमारी दृष्टि में उपेक्षित ही रहा, यही कारण था कि हम चीटियो के प्रति तो संवेदनशील बन सके किन्तु मनुष्य के प्रति निर्मम ही बने रहे। आज हमें अपनी सवेदनशीलता को मोड़ना है और मानवता के प्रति अहिंसा को सकारात्मक बनाना है। यह आवश्यक है कि हम अपरिहार्य हिसा को हिंसा के रूप मे समझते रहे, अन्यथा हमारा करुणा का स्रोत सूख जावेगा। विवशता मे चाहे हिंसा करनी पड़े, किन्तु उसके प्रति आत्मग्लानि और हिंसित के प्रति करुणा की धारा सूखने नही पावे, अन्यथा वह हिंसा हमारे स्वभाव का अंग बन

---

१ सूत्रकृतांग, २।६।५३–५४।

२ भगवतीसूत्र, ७।८।१०२।

३ वही, ६।३४।१०६।

४ वही, ६।३४।१०७।

जावेगी जैसे—कसाई बालक में। हिंसा-अहिंसा के विवेक का मुख्य आधार मात्र यही नही है कि हमारा हृदय कषाय से मुक्त हो, किन्तु यह भी है कि हमारी संवेदनशीलता जागृत रहे, हृदय में दया और करुणा की धारा प्रवाहित होती रहे। हमें अहिंसा को हृदय-शून्य नही बनाना है। क्योंकि यदि हमारी संवेदनशीलता जागृत बनी रही तो निश्चय ही हम जीवन में हिंसा की मात्रा को अल्पतम करते हुए पूर्ण अहिंसा के आदर्श को उपलब्ध करेंगे, साथ ही वह हमारी अहिंसा विधायक बनकर मानव समाज मे सेवा की गंगा भी बहा सकेगी।

—निदेशक, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी।

अन्तरात्मा जाग उठी

☐ डॉ. भैंरुलाल गर्ग

एक बार संत तुकड़ोजी गांधी जी के आश्रम में कुछ दिनों रहने के लिए आये। प्रतिदिन गांधी जी और संत तुकड़ोजी में विचार—विनिमय होता रहता। एक बार गांधी जी ने उन्हें अपनी बात समझाने के लिए एक कहानी सुनाई।

एक गरीब आदमी था और एक अमीर। दोनों के घर आस-पास ही थे। एक दिन गरीब के घर में चोर आ घुसे। उसने देखा कि चोर इधर-उधर परेशान होकर चीजे खोज रहे है। वह उठा और बोला, 'आप क्यों हैरान होते है। मेरे पास जो कुछ है, वह आपके पास लाकर रख देता हूँ।' यह कह कर उसके पास जो दस-पांच रुपये जमा-पूंजी थी, उसने चोरों के हवाले कर दी।

चोर रुपये लेकर चलते बने। पर उतने से उनका मन भरा नही। वे धनी आदमी के यहाँ पहुँचे। वह पहले से ही जाग रहा था। उसने उनकी बातें सुन ली थीं। सोचा 'जब गरीब ऐसा कर सकता है तो वह क्यों नही कर सकता?' उसने चोरों से कहा, "आप लोग बैठो। मेरे पास जो कुछ है, वह मैं दिये देता हूँ।' उसने सब कुछ चोरों के सामने लाकर रख दिया। चोरों पर तो मानो घड़ो पानी पड़ गया। उनकी अन्तरात्मा जाग उठी। वे अमीर-गरीब का सारा माल छोड़कर वहाँ से चले गये और अपना धंधा त्यागकर साधु बन गये।

यह कहानी सुनाकर गांधी जी ने कहा, "मैं हिंसा के मुख मे अहिंसा को इसी तरह झोक देना चाहता हूँ।" आखिर कभी तो हिंसा की भूख शान्त होगी। अगर दुनिया को शान्ति से जीना है तो मेरी जानकारी मे इसका दूसरा और कोई रास्ता नहीं है।"

सकारात्मक अहिंसा पर आपत्तियाँ और उनका निराकरण

□ श्री कन्हैयालाल लोढ़ा

१. **आपत्ति** :—प्रवृत्ति रूप योग क्रिया कर्म की जनक है फिर वह दान, दया, परोपकार, सेवा व रक्षा करने रूप सद्प्रवृत्ति होती ही है और सद्वृत्तियाँ कर्म बंध की ही हेतु हैं । कर्म बध त्याज्य है, हेय है उपादेय नही ।

निराकरण :—यह ठीक है कि प्रवृत्ति क्रिया रूप होती है परन्तु सभी क्रियायें सकर्मक नहीं होती है, बहुत सी क्रियायें अकर्मक ही हैं । कर्म-बंध करने वाली क्रिया वह है जिस क्रिया के साथ कषाय व विषय-सुख रूप फल की आशा व इच्छा लगी हो, कर्ता भाव व भोक्ता भाव हो परन्तु जो क्रिया कर्मोदय से या निसर्गत स्वतः होती है जिसके साथ कर्ता व भोक्ता भाव नही होता, जो केवल दृष्टा व साक्षी भाव से होती है वह क्रिया बंध का कारण नहीं होती । जैसे अघाती कर्म की उदय रूप क्रियायें कर्म-बंध करने वाली नही होती । इसीलिए उन्हें अघाती कहा है । देश घाती भी नही कहा—उदाहरणार्थ वीतराग के निरन्तर मन-वचन-काया से क्रिया होती रहती है परन्तु उनके कर्म-बंध नही होता, भले ही वे श्वास ले, चले, प्रवचन दें ।

यही नही, वीतराग केवली द्वारा दया, दान, वात्सल्य आदि प्रवृत्तियां या क्रियायें भव्य जीवों के निमित्त से स्वत, सहज, स्वाभाविक रूप से होती रहती है, वे अनन्त दानी, जगत-वत्सल है परन्तु दया, दान आदि क्रियाओं से उनके बंध नहीं होता क्योंकि उनकी ये क्रियायें उसी प्रकार होती है जैसे ढोलक हाथ की थपकी के निमित्त से बोलने लगती है, उसमें करने का संकल्प नही होता । संकल्प पूर्वक की गई क्रिया कर्तृत्व भाव की द्योतक होती है तथा कर्म-बंध में हेतु होती है । आँख खोलते ही जगत् के अच्छे-बुरे सब पदार्थ दिखाई देते है, कान में इधर-उधर से शब्द सुनाई पडते रहते है परन्तु वस्तुयें दिखाई देने मात्र से या शब्द सुनाई पड़ने मात्र से कर्म-बंध नहीं होना है । कर्म-बंध होता है क्रिया के साथ रहे हुए संकल्प-विकल्प से, कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव से, राग-द्वेष-मोह कषाय से । कहा भी है—

सुख-दु ख दोनों वसत है, ज्ञानी के घट माहि ।
गिरिसर दिसे मुकुर मे, भार भीजवो नाहि ।।

अर्थात् जैसे दर्पण में पर्वत और तालाव दोनो दिखाई देते है परन्तु दर्पण पर्वत से भारी नही होता और तालाव के जल से गीला नही होता। इसी प्रकार ज्ञानीजन के हृदय में सुख-दुःख रूप साता या असाता का वेदन (अनुभव) होता है परन्तु उन्हें उनके कारण से कर्म-बध नहीं होता है। आशय यह है कि क्रिया बध का कारण नही है । बध का कारण उसके साथ रहा हुआ कषाय है । अत. सद्-प्रवृत्तियां त्याज्य या हेय नहीं है, कषाय हेय है ।

२. **आपत्ति** :—सद् प्रवृत्तिया पुण्य रूप होती है और पुण्य बध का कारण होने से मुक्ति मे दया, दान आदि बाधक है ।

निराकरण :—पुण्य को कर्म-बंध का कारण मानना भूल है, कारण कि कर्म की सत्ता (सत्व) तभी सम्भव है जब स्थिति बंध हो, स्थिति बध के अभाव मे कर्म-बंध सम्भव नही है । स्थिति बंध कषाय से होता है । कषाय कभी भी पुण्य रूप नही होता सदैव पाप रूप होता है अतः पुण्य मुक्ति-प्राप्ति में किसी रूप में बाधक नहीं है, प्रत्युत् मुक्ति-प्राप्ति में सहायक है । पुण्य के प्रकर्ष या उत्कर्ष से ही सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती है। पुण्य रूप विशुद्धि-लब्धि के विना सम्यग्दर्शन हो ही नही सकता । सम्यग्दर्शन के विना सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र सम्भव ही नही है । सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र के अभाव मे मुक्ति हो ही नही सकती । अत. पुण्य मुक्ति-प्राप्ति मे साक्षात् व परम्परा कारण है ।

यह नियम है कि पुण्य का क्षय किसी भी साधना से नही होता। साधना के दो मुख्य अग है—संवर और निर्जरा। इन दोनो से पुण्य के अनुभाग का उत्कर्ष (वृद्धि) होता है, क्षय नही होता । पुण्य का यह उत्कृष्ट उदय सिद्ध अवस्था की प्राप्ति के अन्तिम क्षण तक रहता है। सिद्ध अवस्था प्राप्ति होने पर पुण्य स्वतः उसी प्रकार छूट जाता है जिस प्रकार यात्री के अपने गन्तव्य स्थल पर पहुँच कर अपने वाहन से उतरने पर वायुयान, रेल, कार आदि वाहन स्वतः छूट जाते है । उन्हें छोड़ने का प्रयत्न नही करना पडता और न वह यात्री इन्हें त्यागने का संकल्प ही करता है । सच तो यह है कि यात्री अपने वाहन की सहायता से ही गन्तव्य स्थल या लक्ष्य तक पहुँचता है । अत सद् प्रवृत्तियाँ मुक्ति में सहायक है, लेश मात्र भी बाधक नहीं है ।

यदि सद् प्रवृत्तियाँ मुक्ति में कहीं भी, किसी भी रूप मे वाधक होती तो जैसे मुक्ति में बाधक पाप का त्याग किया जाता है वैसे ही दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो का भी त्याग किया जाता। परन्तु समस्त जैनागमो व उनकी टीकाओं मे सद् प्रवृत्तियों या पुण्य के त्याग का न कोई पाठ ही आता है और न कोई उल्लेख ही। व्रत-ग्रहण पाप के त्याग का ही होता है पुण्य त्याग का व्रत नही लिया जाता।

जैनागमानुसार 'दुष्प्रवृत्ति' पाप व अधर्म है और सद्प्रवृत्ति पुण्य व धर्म है जैसा कि उत्तराध्ययन सूत्र के बीसवे अध्ययन की गाथा ३७ में कहा है— "अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय–सुप्पट्ठिओ।" अर्थात् आत्मा की दुष्प्रवृत्तियाँ अपनी शत्रु है और सद्प्रवृत्तियाँ अपनी मित्र है। जैन धर्म ग्रन्थो में कर्मो की सक्रमण प्रक्रिया का अति महत्त्वपूर्ण विस्तृत वर्णन है तद्नुसार यह नियम है कि जव कोई प्राणी दुष्कर्म-पाप करता है तो उसके पूर्वोपार्जित सत्ता में स्थित 'पुण्य-कर्म' पाप-कर्म मे परिवर्तित हो जाते है। इसी प्रकार जब कोई सद्-प्रवृत्ति करता है तो उसके पूर्वोपार्जित पाप कर्मो का स्थिति व अनुभाग बध का अपवर्तन हो जाता है अर्थात् पाप कर्म घट जाता है, क्षय हो जाता है। साथ ही पाप कर्मो का पुण्य में रूपान्तरण हो जाता है, इसे वर्तमान मनोविज्ञान में उदात्तीकरण (Sublimation) कहा जाता है। इस प्रकार दया, दान, सेवा, परोपकार, अनुकम्पा, करुणा, वात्सल्य रूप सद्प्रवृत्तियो से पाप कर्मो का नियम से क्षय होता है व निर्जरा होती है। पाप के क्षय से 'मुक्ति' होती है। अत. दया, दान, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्तियाँ मुक्ति के साधन व सहायक है। इन्हें मुक्ति में वाधक मानना जैन धर्म का अपलाप करना है।

यदि पुण्य को किसी भी रूप मे कोई हेय माने तो उसके लिए उसका पुण्य क्षय करना आवश्यक होगा और पुण्य का क्षय सवर-निर्जरा रूप साधना से तो होता नही। उल्टा उनसे पुण्य का उत्कर्ष ही होता है। पुण्य-क्षय करने का एक मात्र उपाय पाप-प्रवृत्ति रह जाता है। पाप प्रवृत्तिको पुण्य के क्षय के उपाय के रूप मे ग्रहण करना मुक्ति में वाधक ही होगा।

यही नही पुण्य पूर्ण रूप से अघाती कर्म है अर्थात् इससे जीव के किसी भी निज गुण का लेशमात्र भी घात नही होता। जिससे जीव के किसी भी गुण को किंचित् भी हानि नही पहुँचती, उसे मुक्ति में वाधक मानना न युक्ति-युक्त है न उचित ही।

३. **आपत्ति :**—सद्‌प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप होती है। पुण्य धर्म नही होता और धर्म के बिना मुक्ति नही मिलती।

निराकरण :—सद्‌प्रवृत्तियाँ पुण्य रूप भी होती है और धर्म रूप भी। यही नही पुण्य और धर्म सहचर है अतः जहाँ धर्म होगा वहाँ पुण्य होगा ही। पुण्यहीन कभी धर्मात्मा नही हो सकता। धर्म के साथ पुण्य उसी प्रकार जुड़ा हुआ है जैसे काया के साथ छाया। धर्म और पुण्य को अलग करके नही देखा जा सकता। कारण कि सद्‌प्रवृत्तियाँ रूप सद्‌गुणो के दो पहलू है—(१) भावात्मक और (२) क्रियात्मक। सद्‌प्रवृत्तियों का भावात्मक पक्ष है अपने राग-द्वेष, विषय-कषाय जन्य सुख का त्याग करना। त्याग मे ही धर्म है अतः सद्‌प्रवृत्तियों का भावात्मक रूप धर्म है। सद्‌गुणो का क्रियात्मक रूप है दया, दान, सेवा, वात्सल्य आदि की प्रवृत्ति करना। इसी क्रियात्मक रूप को पुण्य कहा जाता है। ये दोनो पक्ष एक सिक्के के समान दो पहलू हैं जिन्हें एक-दूसरे से अलग करके नही देखा जा सकता। अत. जहां धर्म होगा वहाँ पुण्य होगा ही और जहा पुण्य होगा वहां धर्म होगा ही। क्योंकि पुण्य कहा ही उसे जाता है जो आत्मा को पवित्र करे और आत्मा को पवित्र करे, वही धर्म है। उसे अधर्म कदापि नही कहा जा सकता। इसीलिए जैनागम मे दया, दान, करुणा, सेवा (वैयावृत्य), वात्सल्य आदि सद्‌प्रवृत्तियों को धर्म कहा है।

दान, दया आदि समस्त सद्‌प्रवृत्तियाँ सद्‌गुण है। सद्‌गुण स्वभाव होता है, विभाव नहीं। स्वभाव धर्म होता है अधर्म नही। यदि स्वभाव को ही धर्म न माना जाय तो धर्म का अभाव हो जायेगा।

४. **आपत्ति :**—दया, दान आदि सद्‌प्रवृत्तियो मे एकेन्द्रिय व हलते-चलते जीवों की हिंसा होती है। हिसा पाप है, कर्म बंध का कारण है। अत सद्‌प्रवृत्तियां साधक के लिए त्याज्य है।

निराकरण :—पुण्य या धर्म रूप सद्‌प्रवृत्तियो से एकेन्द्रिय जीवो की जो मृत्यु होती है वह अनायास होती है। वह किसी भी प्रकार के आयाम या प्रयासपूर्वक की नही जाती है। हिंसा आदि पाप-बंध का कारण करण और योग ये दोनों है। इन दोनो के मिलने से पाप-बंध होता है, अकेले करण या अकेले योग से नही। अतः जिस प्रवृत्ति मे करण और योग होते है वह पाप रूप व बंध का कारण होती है अन्यथा वह बंध का कारण नही बनती। यदि बिना करण (करना-कराना अनुमोदन) के हो बंध माना जाय तो वीतराग के भी श्वास लेने, चलने-फिरने, बैठने-उठने आदि प्रवृत्तियों व क्रियाओं मे

वायुकाय आदि एकेन्द्रिय की व त्रसकाय की हिंसा होती रहती है अतः उनसे उनके भी कर्म-बंध होने चाहिए, परन्तु उनके बध नही होता। क्योंकि जब तक किसी भी क्रिया के साथ कर्तृत्वभाव रूप करना, कराना व अनुमोदन रूप कारण न हो तब तक बंध सम्भव नहीं है।

अभिप्राय यह है कि दान, दया, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियों में हिंसा करने, कराने व अनुमोदन का लेशमात्र भी भाव नही होता है अतः वह पाप रूप व कर्म बंध का कारण नहीं है। इसीलिए साधु द्वारा खाने-पीने, चलने-फिरने, श्वास लेने आदि क्रियाओं में त्रस-स्थावर जीवों की मृत्यु या हिंसा होने पर उनका हिंसा विरमण रूप अहिसा महाव्रत तीन करण व तीन योग से माना गया है। उनके हिंसा के त्याग का व्रत भी तीन करण, तीन योग से होता है और स्थावर जीवों के मरने पर भी उनका अहिंसा महाव्रत खण्डित नहीं होता है। क्योंकि साधु व वीतरागी के द्वारा जीवों की हिंसा होती है पर वे हिंसा करते नही है। उनका लक्ष्य तो प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ सर्व जीवों की रक्षा व हित का ही रहता है, किसी भी जीव की हिसा व अहित करने का नहीं होता है। अतः सद्प्रवृत्तियों में हिंसा का पाप नही लगता व कर्म बंध नहीं होता है।

५. **आपत्ति** :—दान, दया आदि द्वारा जिस जीव की रक्षा की जाती है वह जीव बचकर भविष्य में संसार में पाप प्रवृत्ति करता है। इससे रक्षा करने वाला अनुमोदन रूप पाप का भागीदार होता है। पाप त्याज्य होता है। अतः दान, दया आदि से जीवो को रक्षा करना पाप है व त्याज्य है।

निराकरण :—उपर्युक्त युक्ति सर्वथा तथ्यहीन है। कारण कि रक्षा करने वाले का यह भाव कदापि नही होता कि यह जीव बचकर पाप करे। यदि किसी जीव के बचने पर उसके द्वारा आगे होने वाले पाप का कारण उसके रक्षक को माना जाय तो वीतराग को छोड़कर शेष सब जीव पाप करते है। उसके माता-पिता, भाई-बहिन मित्र, परिजन आदि भी बचकर पाप करेगे, यहां तक कि साधु भी दसवे गुणस्थान तक पाप कर्मो का वंध करता है अर्थात् पाप करता है। अतः अपने माता-पिता आदि परिजनों की सेवा करना व साधु को दान आदि देना उन्हे भूख-प्यास आदि से बचाना, पाप बंध का ही कारण होगा, अधर्म होगा। दूसरे शब्दो मे कहे तो कोई किसी को भी बचाए तो उस बचाने वाले को पाप ही लगेगा। इस प्रकार दया, दान द्वारा किसी की भी सेवा करना, उसे भूख-प्यास से बचाना पाप का कारण होने से त्याज्य ही होगा।

इस मान्यता के अनुसार तो दया, दान आदि धर्म का ही लोप हो जाएगा। चारो ओर सर्वत्र घोर हिंसा, निर्दयता का साम्राज्य हो जाएगा और किसी भी प्राणी का जीवित रहना दूभर हो जाएगा। यहां तक कि किसी से स्वय अपनी रक्षा, सहायता व सेवा करने की अपेक्षा करना भी पाप को बढावा देने का ही कारण होगा जो घोर अमानवता, पशुता, दानवता है। कितने आश्चर्य की बात है कि पाप कोई दूसरा ही करे और उसका फल दूसरे व्यक्ति को बिना पाप किए ही मिले अर्थात् करे कोई भरे कोई, हत्या करे कोई और फांसी दूसरे को मिले। यह कर्म-सिद्धान्त व आगम के विपरीत तो है ही, साथ ही व्यवहार-विरुद्ध भी है। अतः सर्वथा त्याज्य है।

किसी भी जीव को बचाये जाने फल उस बचाये गए जीव का बचना है अर्थात् जीवित रहना है अतः जो लोग किसी जीव को बचाने मे एकान्त पाप मानते है उनके लिए तो इतना ही कहना काफ़ी होगा कि उनके सिद्धान्तानुसार किसी भी जीव का या उनका स्वयं बचा रहना, जीवित रहना भी पाप का ही फल है। अतः जो किसी जीव को बचाने—उसकी रक्षा करने मे पाप मानते है, उन्हे स्वयं को बचे रहने का, जीवित रहने का अधिकार ही नही है। किसी मरते हुए जीव को भोजन, जल आदि देकर बचाने को या उसके दुःख को दूर करने की सेवा करने व सहायता पहुँचाने को पाप या त्याज्य मानना मानवता, व्यावहारिकता, बुद्धिमत्ता आदि सभी पक्षों से घोर विरुद्ध है, जिसका मानव-जीवन में कोई स्थान ही नही है।

उपर्युक्त मान्यता इसलिए भी तथ्यहीन है कि जीवों की रक्षा करने वाले की लेशमात्र भी यह भावना नही होती कि कोई जीव बचकर हिंसा, झूठ, चोरी, शोपण आदि दुष्प्रवृत्तियां करे व राग-द्वेष, कषाय, मोह का सेवन करे क्योंकि वह तो स्वयं ही इन दुष्प्रवृत्तियों व पापो को बुरा समझता है तथा इनके त्यागने में अपना हित मानता है। यह नियम है कि जो जिसे बुरा समझता है उसकी भावना सदैव यही रहती है कि वह बचने वाला प्राणी या व्यक्ति भी इन दुष्प्रवृत्तियों व बुराइयों से बचकर अपना हित करे। पाप का अनुमोदन तो तब होता है जब पाप कर्म या क्रिया को अच्छा समझा जाय। अतः सद्प्रवृत्तियो से पाप का अनुमोदन होता है, यह मानना भूल है।

६. **आपत्ति :**—सकारात्मक अहिंसा के विरोध मे एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव "जीव" है, सभी जीव समान हैं। अतः किसी भी जीव

को मारा जाय, उसका पाप समान ही लगेगा भिन्न नही । अतः एक जीव को बचाने के लिए असख्यात-अनन्त निरपराध जीवों की हिंसा करना कहा तक उचित व न्यायसगत है ?

निराकरण :—इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि "सब जीवों को या किसी भी जीव को मारने से समान पाप लगता है, यह मान्यता भूल भरी है। कारण कि पृथ्वीकाय के एक कण में, जलकाय की एक बूद में असंख्यात जीव होते है और वनस्पितिकाय व निगोद मे सूई के अग्र भाग मे असख्यात व अनन्त जीव होते है । अत. हमारे व वीतराग के प्रत्येक श्वास मे असख्यात वायुकाय के जीवो की हत्या हो रही है, जल की एक घूट मे, वनस्पति उपयोग में असख्यात अनन्त जीवों का प्राणान्त हो रहा है । इन जीवों में से प्रत्येक जीव की हिंसा को मनुष्य की हत्या के समान माना जाय तो हम प्रति क्षण असंख्यात मनुष्यों की हत्या का पाप कर रहे है जो विद्यमान समस्त मनुष्यो की सख्या से असख्यात गुणे है । उपर्युक्त मान्यता के अनुसार कोई इन सब मनुष्यो की हत्या भी कर दे तो यह हत्या का पाप एक घूंट के जलकाय के जीवों की हत्या से कम ही होगा । महाभारत जैसे हजारों-लाखों युद्धो की हत्या का पाप भी एक श्वास लेने मे मरे जीवों से कम ही होगा । इस मान्यता के फलस्वरूप अपने स्वार्थ के लिए हजारों मनुष्यों की हत्या करने मे भी संकोच नही होगा कारण कि उसका पाप एक घूंट जल के पाप से कम ही होगा । अत. यह मान्यता भयंकर हत्या को प्रोत्साहन देने वाली तथा अनाचार-अत्याचार की पोषक है ।

अत. उपर्युक्त मान्यताओ को मानना आगम, कर्म-सिद्धान्त, व्यवहार, संविधान, न्याय-नीति-नियम व युक्ति आदि से विरुद्ध ही है व अहिसा का उपहास ही है । अत यह मान्यता सर्वथा आधारहीन, विचारहीन और कपोल-कल्पित ही है । प्राचीन काल में "हस्तितापस" नाम का एक पथ था जो इसी मान्यता को स्वीकार करता था । इस पंथ के अनुयायी अनेक व असंख्य जीवों की हिंसा से बचने के लिए एक हाथो को मारकर लम्बे समय तक उसे खाते रहते थे और अपने को अहिसक मानते थे तथा इस मत या सिद्धान्त को नही मानने वालों को हिंसक मानते थे ।

वास्तविकता तो यह है कि जीव तो अजर-अमर-अविनाशी है अत जीव का विनाश होता ही नही । विनाश होता है—कान, नयन, नाक आदि इन्द्रियों व तन-मन-वचन आदि प्राण शक्तियों का । इसीलिए जैनागमो हिंसा के स्थान पर प्राणातिपात अर्थात् प्राणों का हनन करना शब्द

है और अणुव्रत या महाव्रत की प्रतिज्ञा भी प्राणातिपात विरमण की ही ली जाती है जो सार्थक व उचित ही है। यह नियम है कि जिस जीव में जितनी अधिक प्राण शक्ति है वह उतना ही अधिक विकसित प्राणी है। उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात (हिंसा) है। एकेन्द्रिय जीव वनस्पति आदि से द्वीन्द्रिय जीव लट, केंचुआ आदि की प्राण शक्ति (संवेदनशीलता) अनन्तगुणी है इसीलिए इन्हें एकेन्द्रिय से अनन्तगुणा पुण्यवान माना है। अतः इनकी हिंसा में एकेन्द्रिय जीव के प्राणातिपात से अनन्तगुण प्राणातिपात होता है—हिंसा होती है, पाप होता है।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय से तेइन्द्रिय चींटी आदि, तेइन्द्रिय से चउन्द्रिय मक्खी, मच्छर आदि और चउइन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पशु-पक्षी-मनुष्य आदि क्रमश अनन्त-अनन्त गुणी अधिक प्राण शक्ति वाले हैं, पुण्यात्मा हैं। अतः उनके हनन में क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणा अधिक प्राणातिपात है, अनन्त-अनन्त गुणी अधिक हिंसा होती है या पाप लगता है। अत. सब जीवों के मारने में समान पाप लगता है, समान हिसा है, यह भयंकर भूल है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ऊपर दिए गए क्रम में जीवो की रक्षा करने, दया करने में क्रमशः अनन्त-अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है। अत पशु-पक्षी, मनुष्य आदि पचेन्द्रिय प्राणियों को अन्न-जल देकर भूख-प्यास से मरने से बचाने व रक्षा करने, इनकी सेवा करने में अनन्त गुणा धर्म व पुण्य है और इनके मारने में अनन्त गुणा पाप व अधर्म है। यदि इनकी रक्षा या सेवा में पाप या हिंसा मानना धर्म को अधर्म मानना है, पुण्य को पाप मानना है जो घोर मिथ्यात्व रूप पाप है।

तात्पर्य यह है कि सब जीवों के मारने मे समान पाप या हिंसा नहीं है। बल्कि जो प्राणी जितना अधिक प्राणवान है उसके हनन में उतना ही अधिक प्राणातिपात है, हिसा है, पाप है, आत्म-पतन है और उसकी रक्षा में, दया मे सहायता मे उतना ही अधिक धर्म है, पुण्य है, आत्मा का उत्थान है।

७. **आपत्ति :**—कोई जीव किसी दूसरे जीव को कष्ट दे रहा है या मार रहा है तो ऐसी स्थिति में जिसे कष्ट दिया जा रहा है—मारा जा रहा है उसे बचाने से जो जीव अपने सुख के लिए उसे कष्ट दे रहा है मार रहा है उस जीव को आघात लगता है, दुःख होता है। अतः यह हिंसा है।

निराकरण :—इस सम्बन्ध में विचारने से ऐसा लगता है कि किसी जीव को कष्ट होना हिसा नहीं है। जैसे एक डॉक्टर पेट का ऑपरेशन करने के लिए किसी रोगी का पेट छुरी से काटता है और एक डाकू धन लूटने के लिए किसी व्यक्ति के पेट में छुरा घोंपता है, बाहरी दृष्टि से दोनों घटनाये एक सी है, दोनों का काम एकसा है परन्तु आन्तरिक दृष्टि मे बहुत अन्तर है। डॉक्टर द्वारा छुरे से रोगी का पेट चीरना और उससे रोगी को कष्ट होना या मर जाना, हिसा नही कही जा सकती। कारण कि डॉक्टर की भावना रोगी के हित की होती है और डाकू द्वारा व्यक्ति का पेट चीरना हिसा है क्योंकि डाकू की भावना व्यक्ति का हित करने की नही अहित करने की है। किसी प्राणी के हित के लिए किया गया कार्य मैत्री है, सेवा है, दया व अहिंसा है अत: पेट मे छुरा घोपने का डॉक्टर का कार्य हितकारक होने से अहिसा व दया है तथा डाकू का कार्य अहित का हेतु।

८. **आपत्ति :**—कोई व्यक्ति किसी जीव को मार रहा है उससे उस मरने वाले जीव को बचाया जाता है तो जिस जीव को बचाया जाता है उसके प्रति राग और मारने वाले व्यक्ति के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है और राग-द्वेष पाप है। अत. किसी जीव को बचाने का कार्य पाप है, पाप से वचने में ही धर्म है।

निराकरण :—कोई जीव किसी दूसरे जीव को मार रहा है तो मरते हुए जीव को बचाने में न तो जिस जोव को बचाया जा रहा है उसके प्रति राग है और न जिससे वचाया जा रहा है उसके प्रति द्वेष है। वल्कि दोनो ही के प्रति हित की भावना है अर्थात् मैत्री भावना है, वात्सल्य भाव है। कारण कि राग-द्वेष या कषाय वहा ही होता है जहां विषय-सुख के भोग रूप स्वार्थ भाव हो। अपने इन्द्रिय विषय के सुख भोग के लिए किसी व्यक्ति, वस्तु आदि के प्रति आकर्षण होना राग है और राग की पूर्ति में वाधा पहुँचने मे रोप का उत्पन्न होना द्वेष है। राग-द्वेप मोह या कषाय की उत्पत्ति भोग की इच्छा व स्वार्थपरता से ही होती है। किसी जीव को वचाने में राग-द्वेप व हिंसा नही होती है। राग तो तव होता है जव जिस जीव को वचाया जा रहा है उससे सुख भोगने की व किसी स्वार्थ पूर्ति की इच्छा होती है और द्वेष तव होता है जब जीव घातक हत्यारे के प्रति अहित की भावना होती है। वचाने वाले के किसी प्रकार का स्वार्थ न होने से हृदय में दोनों ही नही होते, वह तो दोनों ही का हित चाहता है। उसकी भावना किसी

को भी कष्ट देने की, आघात पहुँचाने की, अहित करने की नही होती है। सभी का भला या हित करने की होती है। उसका सब के प्रति मैत्री भाव होता है।

यथार्थता तो यह है कि मरते हुए जीव को बचाने वाले के हृदय मे जो उस जीव को मार रहा है उसके प्रति द्वेष नही होता है। यदि उसके प्रति द्वेष होता तो जीव को कोई अन्य व्यक्ति उसे मारे या कष्ट पहुँचाये तो उसे बचाने की भावना नही होती परन्तु दयावान व्यक्ति उसे भी मरने व कष्ट से बचाने का पूरा प्रयत्न करता है। इसी प्रकार जिस जीव को बचाया गया है यदि उसके प्रति राग होता तो वह बचाया गया जीव अन्य किसी जीव को मारता है या कष्ट पहुँचाता है तो उसकी इच्छा पूरी करने दी जाती परन्तु दयावान व्यक्ति उसे भी ऐसा करने से रोकता है। अत. दयावान व्यक्ति के हृदय मे मारने वाले व मरने वाले प्राणियो के प्रति राग-द्वेष नही होता है क्योकि प्रथम तो वह दोनो से अपना विषय कषायजन्य सुख नही चाहता है दूसरा उसकी दोनो के प्रति हित की मैत्री भावना होती है। इस प्रकार हिसक को हिसा करने से बचाने मे न तो जिसकी हिसा की जा रही है उसी का अहित है और न जो हिसा कर रहा है उसका अहित है और न बचाने वाले का अहित है प्रत्युत् सभी का हित है, सभी का भला है, लाभ है, अहित या हानि किसी की भी लेशमात्र भी नही है। किसी जीव को हिंसा, झूठ, चोरी, राग, द्वेष, विषय, कषाय आदि दुष्प्रवृत्तियो से, पापो से बचाने में किसी का भी अहित नही है। जिसमें सभी का हित है, वह अहिसा है। उसे हिसा मानना भयकर भूल है। उसमे सभी का कल्याण है।

९. **आपत्ति** —दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियो मे दूसरों की रक्षा करने का संकल्प होता है और सकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प होता है। सकल्प-विकल्प कर्म-बन्धन का कारण है। कर्म-बन्ध बुरा व त्याज्य होता है।

निराकरण —उपर्युक्त मान्यता निराधार है। क्योकि यह मान्यता सकल्प और विचार या कामना व भावना का भेद न समझने का परिणाम है। सकल्प उसे कहा जाता है जिसमे अपने भोग के सुख पाने रूप फल प्राप्ति की, स्वार्थ पूर्ति की कामना या इच्छा हो और बुद्धि के द्वारा चिन्तन करना विचार या भाव है। विचार या भाव दो प्रकार का है—(१) विभाव

रूप और (२) स्वभाव रूप । बुद्धि द्वारा भोग प्राप्ति का व विषय-कषाय का चिन्तन करना विभाव रूप विचार है जो विकार व सकल्प का द्योतक है । इस सकल्प की पूर्ति न होने पर विकल्प पैदा होते है । ऐसा सकल्प-विकल्प आर्तध्यान है और कर्म बध का कारण होने से त्याज्य है ।

बुद्धि द्वारा अपने हित व कल्याण का विचार या चिन्तन करना 'ज्ञान' है सकल्प नही और अपने हित व कल्याण के लिए दया, दान आदि सद्-प्रवृत्तियों, रूप आचरण करना चारित्र है । ज्ञान-चारित्र से कर्म की निर्जरा होती है, बध नही । इन्हे संकल्प-विकल्प मानना अज्ञान है ।

दया, दान, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि भाव स्वभाव रूप है । यह नियम है कि स्वभाव में सकल्प नही होता, विभाव में ही संकल्प-विकल्प होता है जो आर्तध्यान रौद्रध्यान का द्योतक है । मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भाव तथा अनित्व, अशरण आदि अनुप्रेक्षाये चिन्तन व तद्नुरूप आचरण, सयम व धर्मध्यान है जो कर्म क्षय का हेतु है ।

तात्पर्य यह है कि दया, दान, मैत्री आदि सद्प्रवृत्तियो व सद्गुणो मे स्वभाव रूप होने से व इनमे विषय-कषाय रूप भोग की भावना न होने से ये संकल्प व विकल्प नही होते । प्रत्युत विवेकमय विचार रूप ज्ञान तथा चारित्र रूप धर्म होता है । जो मुक्ति प्राप्ति में सहायक होता है, बाधक नही । सकल्प मे राग, स्वार्थपरता व भोगेच्छा होती है और सद्प्रवृत्तियो मे मैत्री-वात्सल्य भाव, स्वार्थ-त्याग व सर्व हितकारी भावना होती है । उसे राग-द्वेष रूप संकल्प-विकल्प मानना व बंध का कारण मानना भूल है ।

१० **आपत्ति** :—वर्तमान मे एक युक्ति यह भी दी जाती है कि जीव संयमयापन करके तथा दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां करके अनन्त बार नव-ग्रैवेयक देवलोक मे चला गया परन्तु मुक्ति मे नही गया । इसका कारण यह है कि जैसे हिंसा, झूठ आदि पाप प्रवृत्तियो को मुक्ति-प्राप्ति मे बाधक समझ कर त्याग किया उसी प्रकार सद्प्रवृत्तियों को, पुण्य कार्यो को, पुण्य कर्मो को मुक्ति मे बाधक न माना । इसी मिथ्यात्व के कारण वह जीव नवग्रैवेयक मे आगे मुक्ति की ओर बढ़ने से रुका रहा । मुक्ति का बाधक कारण पुण्य कर्मो का न त्यागना ही है ।

निराकरण :—जैनागम के अनुसार पाप उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का पतन हो, आत्मा अपवित्र हो, आत्मा को असाता का वेदन हो और पुण्य उसे कहा जाता है जिससे आत्मा का उत्थान हो, आत्मा पवित्र हो, आत्मा को साता का वेदन हो, दुःख उपशान्त हो। जिससे आत्मा पवित्र हो, आत्मा का उत्थान हो, उसे मुक्ति मे बाधक मानना जैनागमो का घोर अपमान व अनादर है। जैन धर्म व कर्म सिद्धान्तानुसार पुण्य से पाप कर्मो का क्षय होता है, संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग, अनुकम्पा से पुण्य का उपार्जन नियम से होता है। यदि पुण्य के उपार्जन को मुक्ति मे बाधक माना जाय तो संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग व अनुकम्पा से मुक्ति माननी होगी। पुण्य कर्म से मुक्ति पाने के लिए संयम, त्याग, तप रूप शुद्धोपयोग को त्यागना होगा। सयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग को ही जैनागम मे मुक्ति का साधन कहा है।

अत: पुण्य मुक्ति मे बाधक है यह मान्यता जैनागम और कर्म-सिद्धान्त से विपरीत है, घोर मिथ्यात्व है। कर्म सिद्धान्तानुसार जब साधक क्षपक श्रेणी की साधना कर केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त करता है उसी समय पुण्य के अनुभाग का उत्कृष्ट बंध होता है जो मुक्ति प्राप्ति के पूर्व अन्तिम क्षण तक उत्कृष्ट ही रहता है, उसमें अंश मात्र भी कमी नही होती है कारण कि संयम, त्याग, तप, शुद्धोपयोग वीतराग भाव से तो पुण्य का उपार्जन होता है, क्षय होता ही नही है। पुण्य का क्षय सक्लेश भाव पाप प्रवृत्ति से ही होता है और वीतराग के सक्लेश भाव है ही नही। मुक्ति प्राप्ति के समय इससे पहले भी पाप कर्मो की स्थिति के क्षय के साथ पुण्य कर्मो की स्थिति का क्षय स्वतः होता जाता है। स्थिति का क्षय ही कर्म का क्षय है। पुण्य कर्मो की स्थिति के क्षय के लिए साधक को किसी प्रकार का पुरुपार्थ व प्रयत्न नही करना होता है। अत पुण्य को दया, दान, करुणा, वात्सल्य भाव आदि सद्प्रवृत्तियो को मुक्ति में बाधक मानना जैनागम व कर्म सिद्धान्त के घोर विरुद्ध है, महा मिथ्यात्व है।

यह सर्वमान्य तथ्य है, आगम सम्मत सिद्धान्त है कि राग-द्वेप रूप कषाय ही कर्म का बीज है, कर्म के बंध का कारण है। राग-द्वेप कषाय के मोहनीय कर्म के ही रूप हैं। मोहनीय कर्म की कोई भी प्रकृति पुण्य रूप नहीं है। सभी प्रकृतिया पाप रूप ही है। देव, गुरु धर्म के श्रवण-मनन आदि से जो प्रसन्नता होती है वह राग नही, प्रमोद है, गुणीजनो को

देखकर हृदय में जो प्रेम उमड़ता है वह राग नहीं, मैत्री भाव व वात्सल्य है।

दुखियों को देखकर हृदय द्रवित होता है वह भी राग नही, करुणा भाव है। उनके दुख दूर करने के लिए उनकी सहायता, सेवा करना अनुकम्पा है। मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा, वात्सल्य भाव जीव का स्वभाव है इसीलिए जैनागमो मे इन्हे सवर मे ग्रहण किया गया है। संवर से, शुभ भाव से कर्म क्षय होते हैं, कर्म बंधते नही है। कर्म वध का कारण मैत्री, प्रमोद, करुणा, अनुकम्पा आदि भाव व दया, दान, सेवा, परोपकार आदि सद्प्रवृत्तियां नही है। प्रत्युत् इनके साथ रहा हुआ कषाय भाव है। मैत्री, प्रमोद, करुणा आदि भावों दया, दान, सेवा आदि सद्प्रवृत्तियो को कर्म-बंध का व संसारभ्रमण का कारण मानना, स्वभाव को कर्मबंध व ससार परिभ्रमण का कारण मानना है जो जैनागम के विरुद्ध है तथा घोर मिथ्यात्व है। सारांश यह है कि हिंसा, झूठ आदि पाप प्रवृत्तियां असयम ही संसार-भ्रमण के कारण है, दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियां नही।

पहले कह आए हैं कि अनुकम्पा, वात्सल्य, मैत्री, मृदुता आदि भाव स्वभाव है अतः धर्म है, स्वभाव असीम व अनन्त होता है। वीतराग केवल ज्ञानी के दान, लाभ आदि को अनन्त कहा है। यह कथन भावात्मक है। परन्तु इनका प्रवृत्तिपरक क्रियात्मक रूप शरीर, वस्तु, परिस्थिति आदि पर निर्भर करता है, अतः सीमित होता है। यह क्रियात्मक रूप, अनुकम्पा, करुणा आदि भावों को पुष्ट करता है, राग को गलाता है। अत. प्रवृत्ति साधन रूप है साध्य रूप नही। क्योंकि साध्य असीम व अनन्त होता है जबकि प्रवृत्ति का अन्त होता है अत. प्रवृत्ति साध्य न होकर साधन है।

दया, दान, करुणा के क्रियात्मक रूप साधन को साध्य मान लेने पर इन क्रियाओ के प्रति कर्तृत्व भाव व फल की आशा रूप राग पैदा होता है, जिससे इन सद्प्रवृत्तियो की पूर्ति मे बाधक बनने वाले के प्रति द्वेष एव सहायक बनने वाले के प्रति राग होता है जो साधक को लोकातीत व भावातीत नही होने देता। अतः सद्प्रवृत्तियाँ राग-द्वेष उत्पत्ति की कारण न बन जाय, साधक को इसके लिए सदैव सजग रहना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि दया, दान आदि सद्प्रवृत्तियाँ पुण्य मुक्ति में बाधक नही है, बाधक है इनके साथ रहा हुआ राग-द्वेष आदि दोष व पाप।

११. आपत्ति :—किसी एक क्रिया के दो फल नही हो सकते इसे सिद्धात मान कर कुछ लोग सेवा, परोपकार, दया, अनुकम्पा, वात्सल्य आदि सद्प्रवृत्ति रूप सकारात्मक अहिसा पर यह आपत्ति करते है कि प्यासे प्राणी को पानी पिलाने, भूखे को भोजन कराने, रोगी की चिकित्सा करने आदि सेवा कार्यों मे जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय आदि के असंख्य-अनन्त जीवो की हिसा होती है । अत. ये सेवा कार्य हिसा हैं, पाप है, अधर्म हैं, असंयम है, कर्मबध के हेतु है और एक कार्य के हिंसा और अहिंसा ये दो विरोधी फल न होने से ये सेवा कार्य पुण्य, धर्म, सयम व कर्मक्षय के हेतु नही हो सकते ।

निराकरण :—यहाँ सर्व प्रथम यह विचार करना है कि एक क्रिया के दो फल नही होते, इस सिद्धान्त में कितना तथ्य है ?

प्राणी मात्र कोई न कोई क्रिया निरन्तर करता रहता है अत निरन्तर कर्म का बध होता रहता है । यह कर्म बंध पाप व पुण्य दो प्रकार से हो रहा है । प्रति समय ज्ञानावरणीय, मोहनीय आदि कर्मो की पाप प्रवृत्तियों का एव अगुरुलघु, निर्माण, तेजस, कार्मण शरीर आदि पुण्य प्रविृत्तियो का बध व उदय निरन्तर हो रहा है। अर्थात् प्राणी की प्रत्येक प्रवृत्ति से पुण्य और पाप ये दोनो फल निरन्तर हो रहे हैं । साथ ही उदय में आए कर्मो का क्षय व नवीन कर्मों का बंध ये दोनो फल भी सदैव हो रहे हैं तथा कपाय में कमी रूप विशुद्ध भाव (पुण्य) से पूर्व सचित कर्मो का क्षय होकर उनकी स्थिति में कमी होती ही है और जितना कपाय उदय रूप है उससे कर्म बंध भी होता ही है । श्रावक के सयमासयम गुणस्थानक होता है अर्थात् व्रती श्रावक के सयम और असयम दोनों युगपत होते है ।

दशवे गुणस्थानक तक साधुओं के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि पाप प्रवृत्तियो का कर्म बध निरन्तर होता है तथा श्वास लेने से साधक के वायुकाय के जीवो की हिंसा भी निरन्तर हो रही है । अत. एक क्रिया के दो फल न होने के सिद्धान्त के अनुसार दशवे गुणस्थान तक पाप होने से पुण्य, धर्म नही हो सकता, हिंसा होने से अहिंसा, सयम नही हो सकता, कर्म क्षय, कर्म बध होने से नहीं हो सकता । जबकि जैनागम मे साधु के अहिसा, सयम पुण्य, धर्म क्षय होना माना है । अतः एक क्रिया के दो फल नही होते है, यह सिद्धान्त, कर्म

सिद्धान्त व आगम विरुद्ध है और यह मानना कि किसी भूखे-प्यासे को भोजन कराना है। जहाँ हिंसा है वहाँ अहिंसा नहीं हो सकती। इस प्रकार का तर्क या युक्ति व मान्यता स्याद्वाद व विज्ञान के विरुद्ध है। कारण कि जैसे सर्दी-गर्मी, लाभ-हानि आदि विरोधी गुण कहे जाते है परन्तु वास्तव मे ये सर्दी-गर्मी दोनो विरोधी न होकर सापेक्ष है और एक तापमान गुण के अंकन के दो रूप है। कारण कि तापमान की प्रत्येक डिग्री सर्दी-गर्मी युक्त है अर्थात् उस डिग्री से नीचे की डिगी की अपेक्षा गर्म है और उस डिग्री से अधिक उच्च डिग्री की अपेक्षा सर्द है। अतः तापमान की प्रत्येक अवस्था या स्थिति सर्दी-गर्मी रूप है।

इसी प्रकार प्राणी की प्रत्येक क्रिया हिंसा-अहिसा युक्त होती है। उसके श्वास लेने, खाने-पीने, हिलने-चलने आदि क्रियाओ में वायुकाय व अन्य असंख्य जीवो की हिंसा निरन्तर होती रहती है। कोई जीव एक क्षण मात्र भी हिसा रहित नही है तथा वह जगत् के शेष अनन्त जीवों की हिंसा नही कर रहा है, अत. अहिसक भी है। यह नियम है कि कोई भी पूर्ण हिसक नही हो सकता। अहिसा की कमी ही हिसा है, हिसा स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। अतः सर्दी-गर्मी की तरह हिसा-अहिसा भी सापेक्ष है, विरोधी नहीं। दोनों सदैव साथ ही रहते हैं, यही कारण है कि पाप के साथ पुण्य का बध सदैव होता रहता है और साथ ही कर्मों की नैसर्गिक (अकाम) निर्जरा भी सदैव होती रहती है, इस प्रकार छद्मस्थ जीव (सरागी) की प्रत्येक क्रिया पाप, पुण्य, बंध और निर्जरा युक्त ही होती है। पुण्य कपाय की मंदता या आत्म विशुद्धि का द्योतक है। कषाय की कमी या मंदता रूप आत्म विशुद्धि धर्म है। अतः प्रत्येक क्रिया के साथ धर्म भी सदैव होता रहता है। वस्तुतः धर्म-अधर्म, सर्दी-गमा की तरह सापेक्ष है विरोधी नही। धर्म की कमी अधर्म है। अधर्म का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। प्राणी की प्रत्येक क्रिया आंशिक हिंसा और आशिक अहिसा युक्त होती है। अतः जितने अंशो मे वह अहिसक है उतने अशो मे धर्म है और जितने अशों में हिसक है उतना अधर्म है। अतः यह मान्यता कि जहाँ हिसा है वहाँ अहिंसा नही हो सकती तथ्य हीन है। इसी प्रकार अशुभ योग और शुभ योग भी सापेक्ष है. विरोधी नही। दूसरे शब्दों मे पुण्य-पाप भी सापेक्ष है। यही कारण है कि हर क्रिया मे पाप-पुण्य तथा निर्जरा-बंध होता रहता है।

यही नही कर्मो का उत्कर्षण-अपकर्षण ये दोनो भी सभी प्राणियों मे वीतराग केवली के भी सदा होते रहते है। तात्पर्य यह है कि

पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, गुण-दोष सापेक्ष हैं । इनमें से एक की कमी दूसरे की वृद्धि हो और ये सभी संसारी प्राणियों में न्यूनाधिक रूप से सदैव विद्यमान रहते है । इन्हें विरोधी समझ कर इनका आत्यंतिक अभाव मानना भ्रान्ति है ।

—अधिष्ठाता, श्री जैन सिद्धान्त शिक्षण संस्थान
ए–६, महावीर उद्यान पथ, बजाज नगर, जयपुर–१७

• ☐ •

जिनवाणी की ज्योति

☐ वर्षा सिंह

जिनवाणी की ज्योति जगा ले ।
जीवन अपना सफल बना ले ।।

यह जग माया–जाल रे, प्राणी ।
माया से तू पांव बचा ले ।।

धर्म–ध्वजा की छांह बैठ कर ।
चिन्तन की तू मधुर हवा ले ।।

जिन का नाम हृदय से जप कर ।
सारी पीड़ा–कष्ट मिटा ले ।।

ध्यान–मग्न हो प्रभु–चरणो में ।
अग–जग की सब व्यथा भुला ले ।।

उच्च विचारों की मणियो से ।
मन–आगन के ठौर सजा ले ।।

'वर्षा' करुणा के सिंचन से ।
प्रीति–शान्ति के फूल खिला ले ।।

—एफ-३६, एम. पी. ई. बी. कॉलोनी
मकरोनिया, सागर–४७०००४ (म. प्र.)

द्वितीय खण्ड

अहिंसा व्यवहार

हिंसा : कारण और प्रयोजन

☐ स्वर्गीय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि

जब हम अहिंसा के सम्बन्ध में कुछ और अधिक गहराई से विचार करते है तो अनेक प्रश्न उत्पन्न हो जाते है, जैसे—अहिंसा सभी तरह से कल्याणप्रद होने पर भी प्राणी अहिंसापालन के लिए क्यों प्रयत्नशील नहीं होता है तथा आत्मा को आत्मा में पाने के लिए क्यों लालायित नहीं होता ? तो इसका एकमात्र कारण यही दीखता है कि प्राणी प्रमाद और कामभोगों में तीव्र आसक्ति के कारण ज्ञात या अज्ञातरूप में हिसा की ओर आकृष्ट होता है।

प्रारम्भ में हम बता चुके है कि हिसा का मूल कारण आत्मा की प्रमाद वृत्ति है। कषाय और विषय-वासना से प्रेरित होकर व्यक्ति दूसरे जीवों की हिसा करता है।

हिंसा का मूल कारण प्रमादाचरण होते हुए भी, अज्ञान, मोह, स्वार्थ आदि भी हिंसा के प्रेरक है। कभी मनुष्य अपने स्वार्थवश हिंसा करता है, तो कभी अज्ञान या भूल से भी किसी का घात कर डालता है। कभी सप्रयोजन और कभी निष्प्रयोजन भी हिसा कर देता है। इस प्रकार हिसा के कारण व प्रयोजन अनेक तरह के हो जाते है।

भगवान् महावीर ने हिसा के निमित्त कारणों का विवेचन करते हुए पाँच कारण बताये है—

(१) अर्थदण्ड, (२) अनर्थदण्ड, (३) हिंसादण्ड, (४) अकस्मात् दण्ड, और (५) विपर्यासदण्ड।[1]

(१) **अर्थदण्ड**—अपने लिए, अपनी जाति, मित्र, घर आदि के प्रयोजन-वश हिसा करना, उस हिंसा को अच्छा समझना और दूसरो के द्वारा भी उनके निमित्त हिसा करवाना अर्थदण्ड है।

(२) **अनर्थदण्ड**—विना प्रयोजन के कुतूहल आदि के लिए प्राणियों को मारना, क्लेश पहुँचाना, अंग-भंग करना, अनर्थदण्ड है। जिस प्रवृत्ति से न अपने शरीर की रक्षा होती है, न परिवार, कुटुम्ब, मित्र आदि का भी कार्य से प्रयोजन हो, किन्तु मन मे तरंग आई और प्राणियों का घात या करवा दिया—यह अनर्थदण्ड माना गया है।

---

१ स्थानागसूत्र ५ [दण्ड का अर्थ है—हिंसा]

(३) **हिंसादण्ड**—आशका मात्र से किसी की हत्या कर देना हिसा दण्ड है। बहुत-से व्यक्ति दूसरे प्राणियो को इस आशंका से मार डालते है कि यह जीवित रहकर मुझे मार डालेगा[1], दूसरो का घात करेगा या मुझे हानि पहुँचायेगा—इस प्रकार आशका मात्र से हिंसा में प्रवृत्ति करना हिसा दण्ड माना गया है।

(४) **अकस्मात्दण्ड**—घात करने के लिए शस्त्रादि का प्रयोग तो किया गया किसी दूसरे प्राणी पर और प्राणवध हो गया किसी दूसरे प्राणी का। इसे 'अकस्मात्-दण्ड' कहते है। क्योंकि घातक प्राणी का विचार तो किसी अन्य प्राणी की हिसा का होता है, लेकिन अचानक अन्य प्राणी की घात हो जाती है। जैसे राजा दशरथ द्वारा श्रवणकुमार के माता-पिता का हिरन के बदले हनन हो जाना। अचानक एक के बदले दूसरे की हिंसा हो जाना 'अकस्मात् दण्ड' है।

(५) **दृष्टि-विपर्यास दण्ड**—अन्य प्राणी के भ्रम से अन्य प्राणी को दण्ड देना दृष्टि-विपर्यास दण्ड है। भ्रमवश मित्र को शत्रु और साहूकार को चोर समझकर दण्ड देना दृष्टि विपर्यास के कारण बनता है।

अकस्मात्दण्ड और दृष्टि-विपर्यासदण्ड में यह अन्तर है कि अकस्मात् दण्ड में घातक व्यक्ति का लक्ष्य अन्य कोई होता है और घात किसी अन्य का हो जाता है। दृष्टि-विपर्यास में भ्रमवश मित्र मे शत्रु और साहूकार को चोर निश्चित रूप से मानकर दण्ड दिया जाता है।

उक्त कारणो के अलावा सक्षेप मे हिसा के राग और द्वेष—ये दो मुख्य निमित्त है। राग के दो प्रकार है—माया तथा लोभ और द्वेष के क्रोध और मान ये दो प्रकार है। क्रोध, मान, माया और लोभ के कारण होने वाली हिसा को क्रोधादि निमित्तक कहते है।

(१) **क्रोध-निमित्तक**—कई व्यक्ति ऐसे होते है जो थोड़े-से अपराध के लिए महान् दण्ड देते है। पुत्र-पुत्री आदि पारिवारिक जन मित्रवत् है, लेकिन उनके छोटे-मोटे अपराधो पर बेत आदि से पीटना, गरमी या सरदी के दिनो मे नगे बदन खुले मैदान मे खड़े कर देना आदि कार्य क्रोध की अधिकता से किये जाते है। ऐसे व्यक्ति से परिवार वाले भी दुखी होते है और स्वयं का अहित भी करते है। इसको मित्र-दोप-निमित्तक हिंसा भी कह सकते है।

(२) **मान-निमित्तक**—जाति, कुल, बल, रूप, तप शास्त्र, लाभ, ऐश्वर्य और प्रज्ञा आदि के अहकार मे गदरा कर दूसरे को तुच्छ समझना और अपने को श्रेष्ठ मानना मान-निमित्तक हिंसा है। अहकारवश दूसरो की अवहेलना व तिरस्कार आदि करना भी माननिमित्तक हिंसा में आ जाता है।

---

1. आचारांग १।२।६

(३) **माया-निमित्तक**—ऊपर से सभ्य-शिष्ट बनकर छिपे रूप से पाप करना, विश्वास पैदा कर दूसरे को ठगना, कपट द्वारा दूसरों के गुप्त भेदो को जानकर अपने स्वार्थ के लिए लाभ उठाना आदि सभी कार्य माया-कपट के है। ऐसे व्यक्ति के द्वारा प्रच्छन्न रूप से होने वाली हिंसा को माया-निमित्तक हिंसा कहते है।

(४) **लोभ-निमित्तक**—ऊपर से उदासीनता का भाव धारण करके काम-भोगो की इच्छाओ की पूर्ति के लिए विषय-भोगो के साधन जुटाना, उनका, संग्रह करना और उनके सरक्षण की चिन्ता मे रत रहना लोभ है और इस प्रकार के लोभी व्यक्ति के द्वारा होने वाली हिंसा लोभ निमित्तक हिंसा कहलाती है।

आत्महत्या हिंसा है—इसके अतिरिक्त कई व्यक्ति मान-सम्मान प्राप्त न होने पर, दुखों से घबराकर आत्मघात आदि रूप मे हिंसा कर बैठते है। कइयो का कहना है कि दूसरों के प्राणो का वध करना तो हिंसा है, लेकिन अपनी घात करना, आत्महत्या करना, हिंसा कैसे हुआ ? इसका स्पष्ट समाधान यही है कि आत्महत्या क्यों की जाती है ? व्यक्ति भय, क्रोध, अपमान, लोभ, प्रेम आदि कारणों से प्रेरित होकर ही आत्मघात का मार्ग चुनता है। ये कारण स्वयं ही हिंसा है, फिर जिसमे कष्टो से सघर्ष करने का साहस नही होता, जिसमे आत्मबल या आत्मविश्वास की कमी होती है, वही कायर, क्लीव व्यक्ति 'आत्महत्या' का रास्ता पकडता है। तो कायरता, भय, दीनता, आत्म-विश्वास खो देना—ये सभी बाते जीवन की घात करने वाली है, सद्गुणो की नाशक है, इसलिए 'आत्मघात' धार्मिक दृष्टि से तो महापातक है ही, सामाजिक दृष्टि से भी पाप और हिंसा है।

मद्य, मांस और चर्म का उपयोग भी हिंसा है :

कई व्यक्ति आजीविका के नाम पर, कई आमोद-प्रमोद के लिए और कई रसलोलुपता के वश होकर शारीरिक शृंगार आदि प्रसाधनो के लिए, चर्म, मांस, मज्जा, रुधिर, अस्थि, दत आदि प्राप्त करने के लिए पचेन्द्रिय प्राणियो की, मधु या शहद के लिए मधुमक्खियो की, रेशम के कीडो की रेशम आदि प्राप्त करने के लिए, सीप, मूँगा आदि जीवो की आभूषण आदि के लिए, चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जीवों का प्राणघात करते है। मनुष्य अपने सामान्य मोज-शौक और आमोद-प्रमोद तथा अपनी धनाढ्यता आदि के प्रदर्शन के लिए निर्भय होकर इन प्राणियों की घात कर डालता है, विचारे मूक प्राणियो के प्राणो से खेलता है। उसे कल्पना करनी चाहिए, मन मे अनुभूति कर[illegible] चाहिए कि इन प्राणियों के भी प्राण है, जान है, जो इन्हे भी इतनी ही [illegible] है जितनी हमे। फिर हमे क्या अधिकार है कि उनके प्राणो के साथ खिलव[illegible] करें। यदि कोई क्रूर मनुष्य या राक्षस आदि हमारे साथ भी ऐसी खिलव[illegible]

करे तो शायद उसकी कल्पना से ही हमारा हृदय कांप उठे। तो सोचो! उन प्राणियो की भी फिर यही स्थिति है। इस पर विचार करना चाहिए।

अज्ञान-हिंसा—उक्त प्रयोजन के अतिरिक्त हिंसा करने का सबसे प्रमुख कारण है—अज्ञान! अज्ञान के वश होकर कई व्यक्ति अपनी लौकिक मनौतियो की पूर्ति अथवा धर्म के नाम पर भैरो, भवानी, काली आदि देवी-देवताओं को बलि देने के लिए मूक प्राणियों तथा मनुष्यों आदि की हत्या कर देते है। देवी-देवताओ के नाम पर बकरे आदि को मार देने के दृश्य प्रायः देखने-सुनने मे आते ही रहते है, लेकिन कई चण्ड, क्रूर, मनुष्य की बलि चढ़ाने में भी नही हिचकते हैं। अनेक देवी-भक्त सिद्धि-प्राप्ति की आड़ में अपने प्रिय पुत्रों तक की हत्या कर डालते है। ऐसे लोमहर्षक समाचार यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं मे पढ़ने को मिल जाते है। इन हत्याओं का अंतरंग कारण एकमात्र अज्ञान, अन्धविश्वास और उसके पीछे भोगासक्ति की तीव्रता ही मुख्य कारण रहती है।

हिंसा के पूर्वोक्त सभी कारणों का सारांश यह है कि मनुष्य क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय आदि के वश होकर धर्म, अर्थ, काम की इच्छा से प्रयोजन या निष्प्रयोजन त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते है।

□ □ □

विचार रेखा

ईश्वर प्रसन्न दाता से प्यार करता है।

—बाइबिल

जो भाग्यशाली है वह उदार है और उदारता से ही आदमी भाग्यशाली बनता है।

—सादी

उदार दे-दे कर अमीर बनता है, लोभी जोड़-जोड़ कर गरीब बनता है।

—जर्मन कहावत

उदारता पापो को ऐसे बदल देती है जैसे पारस लोहे को बदल देता है।

- सादी

उदार आदमी जब तक जीता है आनन्द से जीता है और तग दिल वाला जिन्दगी भर दुखी रहता है।

—कैस-बिन इल खनीम

दिलदार आदमी का वैभव गांव के बीचो-बीच उगे हुए और फलो से लदे हुए वृक्ष के समान है।

—तिरुवल्लुवर

अहिंसा व्रत के अतिचार

□ श्रीमद् जवाहराचार्य

स्थूल प्राणातिपात से निवर्तने वाले व्रतधारी श्रावक को पंच अतिचार जानने योग्य हैं, परन्तु आचरण करने योग्य नहीं हैं। वे पांच अतिचार ये हैं:—(१) बन्धन (२) वध (३) छविच्छेद (४) अतिभार (५) भत्तपाणी-विच्छेद।

किसी रस्सी आदि से बांधना, उसे 'बन्धन' कहते है। चाबुक आदि से मारना, उसे 'वध' कहते हैं। करवत आदि शस्त्रों से शरीर को फाड़ना या शस्त्र द्वारा किसी अवयव को काटना, छेदना, उसे 'छविच्छेद' कहते है। सुपारी, नारियल आदि भार को पशु के कन्धे, पीठ आदि पर शक्ति से ज्यादा भरना, उसे 'अतिभार' कहते हैं। 'भत्त' याने ओदन आदि खाने की चीज और पाण याने पानी आदि तृषा मिटाने की वस्तु, उसका विच्छेद कर देना अर्थात् भात-पानी न देना, उसे 'भत्तपाण-विच्छेद' नामक अतिचार कहते है।

१. बन्धन—पहला 'बन्ध' नामक अतिचार आया है। बन्ध के दो भेद होते है। एक तो दोपद को बांधना और दूसरा चौपद को बांधना। दास-दासी, नौकर-चाकर तथा लड़के-लड़की आदि की गिनती दो पद में है और हाथी, घोडा भैंस, बकरी, गाय आदि की चौपद में। ये दो कारणों से बांधे जाते है, जैसे अट्ठाय-अनट्ठाय, अर्थ के लिये और अनर्थ के लिए। किसी को बिना मतलब बांधना और उसे कष्ट देना, उसकी कुदरती वाढ को रोक देना, यह एक प्रकार की हिंसा है। श्रावक को चाहिए कि वह इससे बचे।

अट्ठाय अर्थात् अर्थ से बांधना। इसके भी दो भेद है, निरपेक्ष और सापेक्ष। निरपेक्ष उसे कहते है, जो लापरवाही से बांधा जावे, ऐसा बांधा जावे कि वह अपने हाथ-पैर भी न हिला सके। ऐसा बांधना श्रावक का धर्म नहीं है। दूसरा बांधना है सापेक्ष। मतलब के लिये करुणा रखकर जो बांधा जावे, उसे सापेक्ष कहते है। शास्त्र कहता है कि पशु आदि को करुणा छोड़ कर इस प्रकार न बांधे, कि उन्हें दु:ख हो। मौके-बेमौके जैसे लाय (अग्निकाण्ड) आदि में जल्दी खोला न जा सके, ऐसा न बांधे।

दोपद दास-दासी, पुत्र-पुत्री आदि यदि उद्दण्डता करते हों, उनको सुधारने के लिये बांधना, यह सापेक्ष बांधना है। चोर को चोरी करने की सजा, यानी चोरों की आदत मिटाने के लिये बांधना, यह भो सापेक्ष है। इसी प्रकार पुत्रादि को पढ़ने के लिये बांधना, यह भी सापेक्ष है।

मैं कई बार कह चुका हूँ कि यह धर्म राजाओं के मुकुट पर रहने वाला है। राजा इस धर्म को धारण कर सकता है। जो राजा इस धर्म को धारण करे और अपने फर्ज के अनुसार प्रजा के कल्याण के लिये अन्यायियों को दण्ड दे, चारो को बाँधे और मौका आ पडे तो जुल्मी को सजा भी देता है। गुस्से मे आकर नही, पर न्याय से अभियुक्त की पूरी जाँच कर यदि यथार्थ में दोषी हो और उसके जीने से प्रजा को महान् कष्ट पहुँचने की अथवा शाति भंग की पूरी सम्भावना हो तो उसे फासी की सजा देना, यह भी सापेक्ष में गिना जायगा।

वैसे तो राजा फाँसी की सजा दे सकता है, पर जिन्हें केवल बन्धन की ही सजा दी गई है, उनके भरण-पोषण में कभी दुष्टता का परिचय न देना चाहिये। उनकी भूख-प्यास तथा अन्य शारीरिक बाधाएँ न रुके, इसकी तरफ ध्यान देना, राजा का कर्तव्य है। इतने दिन तो उसकी जिम्मेवारी उसके ऊपर थी, पर अब उसके जीवन की जिम्मेवारी राजा पर है। यदि उसे किसी प्रकार का न्याय युक्त कानूनी कष्ट के सिवाय कष्ट भोगना पड़ेगा, तो उसका अपराध राजा के सिर होगा। जो राजा इस बात का ध्यान न रक्खेगा, उसका दोष राजा के ऊपर तो है ही, पर उसका राज्य भी दोषी हो जायगा।

यह बात तो हुई द्रव्यबन्धन की। ऐसा ही भावबन्धन के लिये भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् जाति के बन्धन, रीति रिवाज, ठहराव, कानून, ऐसे न हो, कि विचारे गरीब कुचल-कुचल कर रिबरिब कर मर जावे। जिस समाज मे अन्याय-युक्त कानूनो का प्रचार न होगा, और जो अभी प्रचलित कितने ही विपरीत कानून है, उनको ठुकरा देगा, उस समाज में रामराज्य का सा आनन्द फैल जायगा, इसमें कोई सन्देह नही है।

२. वध—पहले अतिचार का कुछ विचार हुआ। अब दूसरे अतिचार वध (हनन) पर विचार किया जाता है। इसके दो भेद होते है एक 'अनर्थ' दूसरा 'अर्थ'। रास्ते चलते हुए बिना कसूर किसी मनुष्य या पशु को डण्डे, चाबुक आदि से चोट पहुँचाना, अनर्थ में गिना जाता है। अर्थ 'हनन' के दो भेद हैं। एक सापेक्ष और दूसरा निरपेक्ष। दया रहित होकर यानी अंग, उपांग मे चोट पहुँच जाने का विचार न कर जो मारपीट की जाती है, उसे निरपेक्ष कहते हैं। और जो सुधार के खयाल से, अपना व्रत भंग न हो जावे-मानों मैं अपने ही शरीर पर मार रहा हूँ, ऐसा खयाल कर के जो दण्ड देता है, वह सापेक्ष है। अथवा पशु आदि को उलटे रास्ते न जाने देने या चलाने के खयाल से जो प्रहार किया जाय वह भी सापेक्ष है।

३. छविच्छेद—तीसरा अतिचार है 'छविच्छेदन'। इसके दो भेद है—अर्थ और अनर्थ। बिना प्रयोजन कुतूहलवश किसी मनुष्य या पशु-पक्षी का अंगोपांग छेदना अनर्थ है, इसे श्रावक त्यागे। अर्थ के दो भेद—सापेक्ष और निरपेक्ष।

करुणा रहित होकर किसी की चमडी छेदना निरपेक्ष छविच्छेदन है और करुणा रखते हुए किसी रोग की चीरफाड करना, सापेक्ष छविच्छेदन कहलाता है। ऐसा करते हुए भी, श्रावक अपने व्रत से पतित नही होता। इतना ही नही, किन्तु दुखियो के दु:ख मिटाने से करुणा भाव का लाभ भी ले सकता है। हाँ इस समय प्रयोग के लिये निरपराध प्राणी को चीर डालते है, वे अवश्य-मेव व्रत के घाती है। परन्तु रोगी का रोग मिटाने के लिये जो ऑपरेशन किया जाता है वह सापेक्ष छविच्छेदन है।

४. अतिभार—अब चौथा अतिचार 'अतिभार' आया। पहली बात तो यह है कि श्रावक को गाड़ी आदि से अपनी आजीविका चलानी ही नही चाहिये। यदि चलानी ही पड़े तो सापेक्ष और निरपेक्ष का ध्यान जरूर रखना चाहिए। बैल तथा घोड़ों आदि के ऊपर इतना बोझ न लाद देना चाहिए कि बेचारों की पीठ, टाँग आदि टूट जाय, या शक्ति से ज्यादा काम लेने से, उन्हे अपनी जीवनलीला ही जल्दी समाप्त करनी पड़े। कई मनुष्य भी अपने पेट के लिए, बोझ उठाने का काम करते है। आप लोगों का कर्त्तव्य है, कि दया कर उनसे शक्ति से ज्यादा काम न ले। उनको उतना बोझ उठाने का अधिकार है, जितना वह अपने हाथ से सुख-पूर्वक उठा और रख सके।

कोई प्रश्न कर सकता है कि यदि कोई आदमी अपनी मर्जी से, शक्ति से ज्यादा बोझ उठाना चाहे तो ? इसका उत्तर यह है कि—यदि वह अपने मन से भी उठाना चाहे तो भी श्रावक को उसे न उठाने देना चाहिये। क्योकि इस प्रकार बोझा उठाने से, उसकी जिन्दगी जल्दी खतम हो जाती है, ऐसा पुस्तको के अन्दर पढने में आया है। ऐसा करने से एक दोष और भी है और वह यह कि करुणा का भाव नष्ट हो जाता है।

मनुष्य, बैल, घोड़ों आदि के ऊपर ज्यादा न लादना चाहिये, यह बात तो आप समझ ही गये। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि असमय में लड़के-लडकियो का विवाह करना भी उन पर अनुचित बोझा डालना है। अनमेल के साथ विवाह कर देना, यह भी अनुचित बोझा है। प्रजा के हित को सामने न रख कर, जो कानून (अन्याययुक्त) उनके द्वारा जबरदस्ती पलवाये जाते हैं, यह भी एक प्रकार का बोझ है अतएव इन कामों को श्रावक व्रतधारी मनुष्य (राजा आदि भी) कभी न करे।

जिन पशुओं और मनुष्यो को अपने अधीन कर रक्खे है, उनको समय पर विश्राम देना, शक्ति से अधिक काम न लेना, इस तरफ से कभी बेभान न होना चाहिये। वर्तमान में मालिकों की तरफ से उपेक्षा बढ़ने तथा अत्यधिक समय तक काम लेने के कारण सरकार को कानून बनाकर रोक करनी पडी है। श्रावक को इस विषय मे बहुत सावधानी रखनी चाहिये। तभी वह अति-चार मे बच सकता है।

५ भक्तपानविच्छेद—पाँचवां अतिचार 'भत्तपाणीविच्छेद' है। इसके भी पूर्ववत् दो भेद है। श्रावक को चाहिये कि अनर्थ से निष्कारण, हास्य कौतूहलवश किसी को भूखों न मारे। सापेक्ष भूखों मारने में, कोई दोष नही गिना गया है। समाज के अन्दर, अभी ऐसी बेहूदगी फैली हुई है कि वैद्य वगैरह आज्ञा देते है कि इसको रोटी आदि मत देना, तो भी घर वाले 'कुछ तो खाले' कह-कह कर जबरदस्ती खिलाते है। रोगी-अवस्था मे विचार-पूर्वक भूखे रहना, रोग को भूखा रखना है। इसी प्रकार रोग अवस्था मे बिना विचार से खाना, रोग को खिलाना है। वैद्य आदि निश्चय कर कहे, कि इस रोग मे रोटी आदि देना हानिकर है ऐसी अवस्था मे रोटी न दी जाय, तो यह व्रत का अतिचार नही, पर करुणा का काम है। किसी को सुधारने के लिये 'रोटी न दी जायगी' ऐसा भय दिखाना सापेक्ष में गिना गया है। परन्तु निरपेक्षता से ऐसा करना और अपने आश्रित मनुष्य या पशु-पक्षी आदि के खान-पान की सम्भाल न करना, यह भत्तपाणीविच्छेद नामक अतिचार है। गर्भवती स्त्री उपवास करके गर्भ को भूखा रखती है, वह भी इसी अतिचार में समाविष्ट है।

हिंसा के कार्य और उनसे बचने का उपाय

मित्रो! हिंसा बुरी है, ऐसा सारा जगत् कहता है, पर इसके सच्चे स्वरूप को समझे बिना, इससे बच नही सकते। हिंसा का स्वरूप शास्त्र मे निराले-निराले ढंग से बतलाया है। इसका यही मतलब है, कि मनुष्य इसके वास्तविक स्वरूप को पहचान ले। वस्तु के गुण-दोष को अनेक रूप से बतलाने का तात्पर्य केवल यही है, कि यदि वह वस्तु अच्छी हो तो उसके प्रति लोग आदर और बुरी हो तो उसका तिरस्कार करे।

आत्मा, हिंसा कब करता है और दया कब; यह मै बतलाना चाहता हूँ। आत्मा के दो गुण है—शुभ गुण और अशुभ गुण। शुभ गुण में प्रवृत्त होने से आत्मा दया करता है और अशुभ में प्रवृत्त होने से हिंसा। हिंसा और अहिंसा, आत्मा के परिणाम है। इस पर गणधारों ने शास्त्र के अन्दर, बड़ी ही मार्मिकता के साथ चर्चा चलाई है। उनके परिश्रम का लाभ लेना प्रत्येक मनुष्य के लिये हितावह होगा।

शास्त्र मे जिस प्रकार एक वस्तु के अनेक भेद बतलाये है, इसी प्रकार हिंसा के भी कई भेद बतलाये है। इसका कारण यही है कि किसी भी प्रकार से लोग हिंसा से बचें। हिंसा के बुरे गुणों को प्रकट करना, हिंसा पर कोई क्रोध नही है, यह तो उसके सच्चे स्वरूप को बतलाना है। वस्तु के यथार्थ गुण दोष बतलाना, संसार के कल्याण के लिए बहुत जरूरी है।

शास्त्र यदि, हिंसा-अहिंसा का रूप न समझावे, तो मनुष्य उससे दूर रह सकता है? जो मनुष्य सर्प के जाति स्वभाव को नही जानता, वह

उसके डसने से कैसे बच सकता है? जो जहर के गुण को नहीं जानता, वह अवश्य ही धोखा खा जाता है। इसी प्रकार जो हिंसा के स्वरूप को नही जानता, वह उससे बच नही सकता।

हिसा से बचने वाले प्राणी की आत्मा में अपूर्व जागृति उत्पन्न होती है। हिंसा से बचना दयावान का खास लक्षण है।

सब प्राणियो ने अपनी-अपनी रक्षा के लिये, खाने के लिये, दाढ़ व दाँत, देखने के लिये नेत्र, सुनने के लिये कान, सूघने के लिए नाक, चखने के लिए जीभ आदि, अंग-उपांग अपने पूर्व कर्म के अनुसार प्राप्त किये हैं। इनको छीन लेने का, मनुष्य को कोई अधिकार नहीं है। जो मनुष्य, मक्खी के पंख को भी नही बना सकता, उसे उसको नष्ट करने का क्या अधिकार है? परन्तु स्वार्थ ऐसी चीज है, कि उसकी ओट में कुछ भी नही दिखता। जो अंग-उपांग उस प्राणी के लिये उपयोगी है, मनुष्य कहा करते हैं कि यह तो हमारे लिये पैदा किया गया है। ऐसा कहने वालों से सिह यदि मनुष्य की भाषा मे कहे, कि तू मेरे खाने के लिये पैदा किया गया है, तो वह मनुष्य उसे क्या जवाब देगा?

स्वार्थ के कारण अज्ञानी, मनुष्य अपने अज्ञान से यदातदा ऐसी हिसा का समर्थन कर देते है, लेकिन ज्ञानी-पुरुष ऐसा कभी नही करते। वे सब प्राणियों को सुख का अभिलाषी समझते है, किसी प्राणी को हिसा करने का अधिकारी नहीं समझते।

❀ ❀ ❀

❀ सर्वजन हिवाय—सबके हित के लिए जो काम किया जाय, वही अहिसा है।

❀ अहिसा, हिसक को मारने के वदले हिसा भाव को मार देती है।

❀ यदि अहिसा को देश मे बढ़ावा देना है तो उसके लिए संयम जरूरी होगा।

—आचार्य श्री हस्ती

अहिंसा का अभ्यास

☐ स्वामी शिवानन्द

दिव्यत्व की प्राप्ति के लिए पहिली सीढी है—पशुत्व का मूलोन्मूलन और इसी प्रक्रिया द्वारा ही मनुष्य का उद्धार संभव है और वह सच्चे अर्थों में मानव कहलाने का अधिकारी हो सकता है। पशुओं में क्रूरता की प्रधानता है, तभी संतों एवं ज्ञानियों द्वारा वर्णित इसका एकमेव उपचार अहिसा ही है। मनुष्य के पशु-स्वभाव के पूर्णरूपेण मूलोच्छेदन के लिए सर्वाधिक प्रभावशाली उपाय अहिसा ही है।

अहिसा के अभ्यास द्वारा प्रेम विकसित होता है। सत्य अथवा प्रेम का दूसरा नाम अहिंसा है। यह शुद्ध प्रेम है, दिव्य प्रेम है। जहाँ प्रेम है, वहाँ अहिसा है, जहाँ अहिंसा है वही निष्काम सेवा तथा प्रेम है। ये सब एक साथ रहते है। अहिसा, निष्काम-सेवा तथा प्रेम का सदेश ही सदा-सर्वदा सब युगो में सर्वदेशीय संतों द्वारा दिया जाता रहा है। महान् आत्माओ के दैनिक जीवन के समस्त क्रिया-कलापो में अहिसा का ही सर्वोत्तम उदाहरण रहा है। अहिसा, न केवल मोक्ष प्रदान करती है, अपितु शाति तथा दिव्य-आनंद के धारा प्रवाह की गति को अवाध बनाये रखती है। प्राणीमात्र की हिसा न करने से ही मनुष्य को दिव्य-शाति की प्राप्ति हो सकती है। धर्म एक है, वह है—प्रेम का धर्म तथा शाति का धर्म। धर्म का संदेश भी एकमात्र अहिसा है, तभी तो अहिसा को 'परमोधर्म' कहा गया है।

अहिसा का अर्थ—किसी की हत्या या वध न करना ही प्रायः अहिसा कहलाता है। परतु किसी का केवल वध न करना ही अहिसा नहीं है। इसका पूर्ण व्यापक आशय तो प्राणियों को मनसा, वाचा, कर्मणा पीड़ा या कष्ट न पहुँचाना है। विचार से, वाणी से, कर्म से किसो को कष्ट न देना ही अहिसा है। किसी को कष्ट या पीडा देना अहिसा का नकारात्मक रूप है। सकारात्मक रूप मे तो यह सार्वभौमिक प्रेम है। इसके द्वारा मानसिक दृष्टिकोण ऐसा हो जाता है कि घृणा स्वत. ही प्रेम मे परिवर्तित हो जाती है। अहिसा ही वास्तविक वलिदान है, अहिसा ही क्षमा है, अहिसा ही शक्तिरूपा है, अहिसा ही शुद्ध वल है।

हिसा के सूक्ष्म रूप—केवल साधारण पुरुष ही अहिसा का यह अर्थ लेते है कि दूसरों को शारीरिक कष्ट नही पहुँचाना चाहिए परंतु यह तो अहिसा का स्थूल रूप है। दूसरे व्यक्तियों के प्रति घृणा प्रकट करने, अकारण ही अप्रसन्नता या द्वेष की भावना मन में लाने, किसी को घूरने, गाली देने, निंदा करने, चुगली

करने, झूठ बोलने, दूसरों को हानि पहुँचाने, व्यर्थ मे ही किसी को कलंकित करने से तथा अपने मन में औरो के प्रति घृणा के भाव रखने मात्र से ही अहिसा का व्रत भंग हो जाता है। कठोर और कर्कश वाणी का प्रयोग भी हिसा ही है। भिखारियों, नौकरों एव अपने से निम्न वर्ग के लोगो के प्रति कटु-वाणी का प्रयोग भी हिसा माना जाता है। यदि ऊँची आवाज तथा अप्रिय शब्द व हाव-भाव से किसी को मानसिक कष्ट पहुँचाया जाये तो यह भी हिसा ही होगी। दूसरो के समक्ष, जानबूझ कर किसी के साथ अशिष्ट व्यवहार अभिमन्त्रित हिसा मानी जाती है। दूसरों द्वारा कहे गये अप्रिय वचनों की पुष्टि भी परोक्ष हिसा है। औरो के कष्ट दूर करने में उद्यम का अभाव तथा दु खी के पास कष्ट के दिनो मे न पहुँचना अथवा असावधानी बरतना अथवा उसके कष्ट के प्रति उदासीनता दिखाना भी हिसा का ही रूप है। ऐसी भूल की गिनती पाप मे ही होगी। सब प्रकार की कठोरता प्रत्यक्ष या परोक्ष, तात्कालिक या निलबित, स्वीकारात्मक या निषेधात्मक हिसा के इन सभी रूपो से हमे सदैव बचना चाहिए। अतएव दिव्यत्व प्राप्त करने के लिए अहिसा के शुद्ध रूप का पालन करना आवश्यक है। अहिसा तथा दिव्यता दोनो का एक ही अर्थ है। दोनो एक ही है।

अहिंसा बलवान का गुण है—यदि आप अहिसा का अभ्यास करना चाहते हैं, तो आपको निरादर, डॉट-फटकार, अपशब्द, समालोचना और सभी प्रकार के तीव्र प्रहारों, कुठाराघातो को सहन करने की क्षमता रखनी होगी। प्रतिकार की भावना का पूर्णत. त्याग करना होगा। उत्तेजित किये जाने पर भी किसी को भी अप्रसन्न नही करना होगा। किसी के प्रति भी अपने मन मे द्वेष भावना का सर्वथा बहिष्कार करना होगा, क्रोधावेश से बचना होगा। किसी को भी कोसना या धिक्कारना नही होगा। सत्य के लिए सहर्ष प्राण तक न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहना होगा। परम सत्य की प्राप्ति अहिसा व्रत के इस शुद्ध रूप का पालन करने से संभव है। शौर्य की पूर्णता अहिसा मे ही निहित है। अहिसा का पालन करने से मनुष्य निर्भीक वनता है। दुर्बल मनुष्य अहिसा का पालन कर ही नही सकते। मृत्यु से भयभीत रहने वाला, अवरोधशक्ति से वचित तथा असहिष्णु व्यक्ति अहिसा के अभ्यास मे पूर्णतया असमर्थ होगा। अहिसा शक्तिशाली का कवच है, न कि कायर का। अहिसा शूरवीरो का गुण है, उनका अस्त्र भी अहिंसा ही है। यदि आपको कोई छडी से पीटने लगे, तो भी आपके मन मे वदले की भावना नही आनी चाहिए। मन में किसी भी प्रकार की कोई दुर्भावना आक्रमणकारी के प्रति नही आनी चाहिए। क्षमा की पूर्णता अहिसा मे ही होती है।

अहिंसा का उत्तरोत्तर अभ्यास—जब भी प्रतिकार की अथवा घृणा की भावना तुम्हारे मन में उठने लगे तो सर्वप्रथम शारीरिक चेष्टाओ और वाणी

को सयमित रखिए। कठोर तथा दुर्वचनों का प्रयोग मत करिए। किसी को भी दोषी नही ठहराइए। दूसरों को दुःखी मत करिए। यदि कुछेक मास पर्यंत आप इस अभ्यास में सफल हो जाये तो प्रतिकार की भावना—अभिव्यक्ति का अवसर न पाकर स्वयमेव नष्ट हो जायेगी। वाणी तथा शारीरिक संयम के विना, ऐसे विचारों के निवारणार्थ आरंभ मे बहुत कठिनाई होगी। स्थूल शरीर को पूर्णतया वश में रखना अहिंसा का प्रारंभ मात्र है। यदि तुम्हारे शरीर को कोई पीड़ा पहुँचाये, तो भी मौन रहो। अपने क्रोध को दबाओ। ईसामसीह की शिक्षा और उनके 'पर्वतीय उपदेशों' का अनुसरण करो, "यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर चाँटा लगाता है तो दूसरा गाल भी उसके आगे कर दो।" यदि कोई तुम्हारा कोट ले लेता है तो अपना कुर्ता भी उसे दे दो। ऐसा करना प्रारंभ में कठिन अवश्य होगा। 'जैसे को तैसा' जैसे बदले के संस्कार तुम पर अपना प्रबल दवाव डालेंगे ही; किन्तु तुम शांत चित्त से प्रतीक्षा करो। मनन करो, ध्यान करो, विचार करो, मन शांत हो जायेगा। तुम्हारी ओर से विरोध का कुछ भी आभास न पाकर तुम्हारा शत्रु भी क्रुद्ध होने के बाद शांत हो जाएगा। वह चकित हो जाएगा और डर भी जाएगा। क्योंकि आप स्थिर-चित्र बुद्धि की प्रतिमा बने रहेंगे। आपकी अंतः शक्ति का क्रमश विकास होगा। यही आदर्श सदा-सर्वदा अपने समक्ष रखना है। इसी सिद्धांत पर दृढ रहने का अभ्यास करते रहे, भले ही आरंभ मे आप लड़खडायेंगे। अहिंसा तथा इसके अनंत गुणों का स्पष्ट चित्र आपके मस्तिष्क में बना रहना चाहिए।

शरीर पर नियंत्रण पा लेने के पश्चात् वाणी-संयम का अभ्यास करना होगा। पूरा निश्चय कर ले कि मैं आज से किसी को भी कठोर शब्द कहूँगा ही नही। भले ही आप सौ वार असफल रहें, तो भी क्या हुआ ? शनैः शनैः शक्ति मिलती जायेगी। वाणी पर अंकुश रखते हुए मौन रहिए। क्षमा-भावना को अपनाइए। मन को समझाइए, "अपराधी की अभी बाल-बुद्धि है। वह अज्ञानी है, तभी तो अपराध कर बैठा है। अतः क्षमा का पात्र है। इसे यदि मैं भी गाली दे दूँगा, कोसूँगा तो क्या लाभ होगा मुझे ? भूल तो मनुष्य के स्वभाव मे है, परंतु क्षमा करना दैवी गुण है।" धीरे-धीरे अभिमान का त्याग करो। मानुषिक कष्टों का मूल कारण अभिमान ही है।

विचारशील बनिये तथा पर पीड़ा के विचार को तिलाजलि दीजिए। इस अधम वृत्ति पर अंकुश रखिए। सबमें एक ही आत्मा का निवास है। सबमें वही परमात्मा व्याप्त है। दूसरों को पीडित करने पर आप अपने आप को ही कष्ट पहुँचाते हैं, इसके विपरीत दूसरो की सेवा द्वारा आप अपने आप की सेवा करते हैं। अतः सबसे प्रेम करो, सबकी सेवा करो। किसी से भी घृणा न करो। किसी का भी निरादर न करो। इससे अहिंसा का स्वतः ही पोषण होता रहेगा।

अहिंसा के अभ्यास से लाभ—यदि आप अहिंसा में स्थित रहे तो समस्त गुण आपके अन्दर स्वतः ही उद्बुध हो जाएँगे। अहिंसा ही वह केन्द्र-बिंदु है, जिसके चारों ओर अन्य गुण मडराते है। जैसे हाथी के पाव के नीचे सबके पाव, वैसे ही सब नैतिक एवं आध्यात्मिक नियम अहिंसा के महान् व्रत मे ही समाहित रहते है। अहिंसा आध्यात्मिक शक्ति का पूँजीभूत है। प्रेम के सामने घृणा पिघल जाती है। अहिंसा से घृणा तिरोहित हो जाती है। अहिंसा से बढकर कोई शक्ति नही। अहिंसा के अभ्यास से संकल्पशक्ति विकसित होती है। अहिंसापालन आपको निर्भय कर देगा। अहिंसा का निष्ठापूर्वक अभ्यास करने वाला सारे जगत को हिला देने की क्षमता रखता है। जंगली पशुओ को पालतू बना सकता है। सबके मन को जीत सकता है और अपने शत्रुओं पर विजय पायी जा सकती है। स्थिति को सुधारने की क्षमता रखता है तो बिगाड़ने की भी। विद्युत तथा चुम्बकीय शक्ति से भी कई गुना अधिक, सूक्ष्म तथा आश्चर्यजनक शक्ति अहिंसा मे निहित है। अहिंसा का नियम गुरुत्वाकर्षण शक्ति के नियम से भी अधिक निश्चित है। इसके प्रयोग मे विशेष सावधानी तथा प्रखर बुद्धि की आवश्यकता है। यदि आप इसका निश्चित तथा पूर्णरूपेण प्रयोग करे तो आप चमत्कारिक उपलब्धियाँ दिखा सकते है। इतना ही नही आप पचतत्त्वो तथा प्रकृति पर भी अधिकार कर सकते है।

अहिंसा की शक्ति—अहिंसा की शक्ति के सामने बुद्धि बल नगण्य है। बुद्धिविकास सरल है, किन्तु हृदय को उदार बनाना अति कठिन है। अहिंसा के अभ्यास से हृदय की उदारता आश्चर्यजनक ढंग से विकसित होती है। अहिंसापालन से सकल्पशक्ति दृढ़ होती है। अहिंसाव्रती की उपस्थिति मे शत्रुता विनष्ट हो जाती है। उसके निकट रहकर सर्प और मेढक, गाय व शेर, नेवला और नाग, बिल्ली व चूहा, भेड़िया तथा भेड—सब परस्पर मित्र-भाव तथा प्रेम-भाव से रहते है। उस अहिंसा-अभ्यासी की उपस्थिति में ये सब प्राणी अपना वैर-विरोधी भूल जाते है। शत्रुता दूर हो जाने का अर्थ यह रहता है कि सब प्राणी, मनुष्य, पशु-पक्षी, विषैले जीव-जंतु अहिंसक के सामने निर्भय होकर जायेंगे और उसे किसी भी प्रकार का कष्ट नही पहुँचाएंगे। अहिंसक में इतनी शक्ति होनी है कि उसकी उपस्थिति में विरोधी प्रवृत्ति का सर्वथा नाश हो जाता है। अहिंसा मे संस्थित योगी के अमित प्रभाव से बिल्ली, चूहा, सर्प, नेवला आदि विरोधी प्रकृति वाले जीव पारस्परिक शत्रुता को भूल ही जाते है। सिह तथा बाघ किसी भी प्रकार का कष्ट ऐसे योगी को नही देते। बल्कि योगी उन्हे जैसी-जैसी आज्ञा देता है वे उसका अनुपालन करते रहते है। इस भूत सिद्धि की प्राप्ति अहिंसक के लिए सहज संभव है। अहिंसावृत्ति के सतत अभ्यास से अन्ततोगत्वा जीवन की एकता अथवा अद्वैत चेतना प्राप्त हो जाती है।

एक विश्व-वद्य महासंकल्प—अहिंसा एक महान् व्रत है। ससार के सभी देशों के समस्त वासियो को इसका पालन करना चाहिए। यह केवल भारतीयो

अथवा हिंदुओं के लिए ही नहीं। जो कोई भी सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है उसे अहिंसा का पालन अवश्यमेव करना पड़ेगा। आपको चाहे कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आये, कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़े, अहिंसा का त्याग कदापि न करे। आपके शक्ति-परीक्षण के लिए तो कष्ट अनेकों आयेंगे ही आपको वज्रवत् डटे रहना होगा, तब कहीं स्वर्णिम सफलता की प्राप्ति होगी।

अहिंसावादियों की रक्षा अहिसा में ही निहित एक गुप्त शक्ति र करती रहती है। भगवान का अदृश्य हस्त कवच का कार्य करेगा। भय न की कोई वस्तु रहेगी ही नही। पिस्तौल और तलवार तुम्हारी रक्षा भला तक करेंगे?

आज के युग में भी ऐसे महानुभाव है, जो चीटियों और मक्खियों तक कष्ट नही पहुँचाते। वे चावल-चीनी ले जाकर चीटियों के बिलों पर बिखेरते हैं। रात को वे इस भय से दीपक भी नही जलाते कि छोटे-छोटे कीड़े इ मडरा कर जलेंगे। धरती पर चलते समय वे अपने पैर धीरे-धीरे रखते कही कीडे-मकोड़े नीचे आकर कुचल न जायें। धन्य है ऐसे महान् पुरुष कोमल हृदयी को भगवद् साक्षात्कार अति शीघ्र होता है।

❀ ❀ ❀

अहिंसा : सर्व धर्मों का मंगलाचरण

□ श्री सिश्रील

हिसा का पाप करते सदा अनुकरण,
है अहिसा सर्व धर्मो का मंगलाचरण।

कहता बलि देने से मिलते वरदान हैं,
यह निकृष्ट आदमी की ही पहिचान है।

जो क्षुधा ग्रस्त को बांट कर खा रहे,
धर्म के मार्ग से तृप्ति को पा रहे।

हिसा पर आश्रित जिनकी आजीविका,
है घृणित कृत्य, मृतक भोजी जीव का।

प्राण सब को है प्यारे, अभय दीजिए,
अहिसा व्रत श्रेष्ठ है, आप भी लीजिए।

जन्म जिसने लिया मृत्यु का ग्रास है,
उससे होना अभय मात्र संन्यास है।

[तिरुकुरल से

अहिंसा का प्रशिक्षण

□ आचार्य तुलसी

हिंसा मनुष्य के सस्कारों में रहती है। निमित्तों का योग पाकर वह प्रकट होती है। 'आचाराग' सूत्र में हिंसा के तीन कारण बताये गये है—प्रतिशोध, सुरक्षा और आशंका। कारण कुछ भी रहे हों, हिंसा का प्रशिक्षण नियमित रूप से चलता है। उसमें उत्तरोत्तर दक्षता बढ रही है। उसके लिए नये-नये साधन विकसित हो रहे है। आगे-से-आगे नई तकनीक खोजी जा रही है। अनेक प्रसगो में इसका खुला प्रयोग भी हो रहा है। लगता है महावीर की इस वाणी को समर्थन मिल रहा है कि "अत्थि सत्थ परेणपर"—शस्त्र आगे से आगे तीक्ष्ण होता है, उसकी परम्परा चलती है।

अहिंसा के प्रयोग की बात तो दूर, उसके प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं है। अहिंसा का उपदेश बहुत दिया जाता है, उसके गुणगान बहुत किये जाते है, पर उसके प्रशिक्षण की बात कौन सोचते है? ऐसी स्थिति में यह आशा कैसे की जा सकती है कि अहिंसा आएगी और वह जीवन-शैली से जुड़ेगी? अधिक लोगों को तो यह विश्वास ही नहीं है कि अहिंसा कुछ कर सकती है या उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है। हमारी मान्यता यह है कि अहिंसा में असीम शक्ति है और उसका प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

अहिंसा का सैद्धान्तिक स्वरूप :

अहिंसा प्रशिक्षण के स्वरूप का निर्धारण किया जाए तो उसके दो रूप हो सकते है—सैद्धान्तिक और प्रायोगिक। सैद्धान्तिक प्रशिक्षण में दार्शनिक पहलुओं का अवबोध कराया जाता है। अहिंसा के दार्शनिक पहलू अनेक है। उन सबकी चर्चा मे प्रशिक्षण की बात बिखर सकती है। इस दृष्टि से यहाँ कुछ ऐसे बिन्दुओं को उल्लिखित किया जा रहा है, जिनको समझे बिना अहिंसा के प्रशिक्षण का कोई आधार ही नही बनता। दार्शनिक पृष्ठभूमि पर अहिंसा की उपयुक्तता प्रमाणित करने वाले पाँच बिन्दु है—

१ आत्मा का अस्तित्व २ आत्मा की स्वतंत्रता ३. आत्मा की समानता ४ जीवन की सापेक्षता ५. सह-अस्तित्व।

आत्मा है। प्रत्येक आत्मा का सुख-दुःख अपना-अपना है। इस दृष्टि से आत्मा स्वतंत्र है। गणित की भाषा मे आत्मा अनन्त है। उनकी पर्याय भिन्न-भिन्न हैं। पर स्वरूप की अपेक्षा से सब आत्माएँ समान है।

का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नही है । संसार में जितने प्राणी है, उन सवकी आत्मा समान है । कोई भी व्यक्ति निरपेक्ष रहकर अपने अस्तित्व को नही बचा सकता । इसी कारण जीवन को सापेक्ष माना गया है । सापेक्षता का सिद्धान्त प्रकृति के प्रत्येक कण पर लागू होता है । कहीं पर वृक्ष का एक पत्ता भी टूटकर गिरता है तो उसका प्रभाव पूरी सृष्टि पर पड़ता है । मैं रहूँगा या वह रहेगा, अहिसा की परिधि मे इस चिन्तन को स्थान नही मिल सकता । मै भी रहूँगा, तुम भी रहोगे । यह भी रहेगा, वह भी रहेगा—इस प्रकार सह-अस्तित्व की भाषा मे सोचना अहिसा का दर्शन है ।

अन्तर्जगत् में अहिंसा के प्रयोग :

अहिसा के सैद्धान्तिक पक्ष को समझने के बाद उसके प्रायोगिक स्वरूप को समझना आवश्यक है । प्रायोगिक प्रशिक्षण के दो विन्दु है—अन्तर्जगत् और वाह्यजगत् । अन्तर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है सवेग-संतुलन (Balance of Emotions) । मनोविज्ञान की भाषा में मानसिक उथल-पुथल या उद्वेलन की अवस्था का नाम सवेग है । भय, क्रोध, जुगुप्सा, कामुकता, सुख, दु:ख आदि संवेग प्रतिक्रियात्मक भावो के रूप में अपना प्रभाव दिखाते हैं ।

मनुष्य जब तक वीतराग नही बन जाता, सवेगों के प्रभाव से मुक्त नही हो सकता । पर इसका सन्तुलन न होने से अनेक प्रकार की समस्याएँ पैदा हो जाती है । संवेगों को सन्तुलित करने की प्रक्रिया को यहाँ उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्रोध एक संवेग है । इसे नियन्त्रित करने के लिए इमोशनल एरिया—भाव क्षेत्र पर ध्यान के प्रयोग करवाए जाते है । चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा और लेश्या-ध्यान के प्रयोग इसके लिए कार्यकारी प्रमाणित हुए है ।

प्रमाद एक सवेग है । यह जागरूकता घटाता है । इसको नियत्रित करने के लिए चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान और दीर्घ-श्वास प्रेक्षा के प्रयोग निर्धारित हैं । नशा-मुक्ति के लिए भी इन प्रयोगो को काम मे लिया जाता है ।

हीन भावना और अहं भावना ऐसे सवेग है, जो मनुष्य के समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करते है । इनके प्रभाव को क्षीण करनें के लिए अनुकम्पी और परानुकम्पी Sympathetic & Parasympathetic नाड़ी-तन्त्र पर ध्यान के विशेप प्रयोग करवाये जाते है ।

वाह्य जगत् में प्रशिक्षण विन्दु :

वाह्य जगत् मे अहिसा के प्रायोगिक प्रशिक्षण की भूमिका वहुत विस्तृत । मुख्य रूप मे उसके तीन विन्दु हो सकते है—

मानवीय सम्बन्धों का परिष्कार या विकास ।
प्राणी जगत् के साथ सम्बन्धों का विस्तार ।
पदार्थ जगत् के साथ सम्बन्धों की सीमाएँ ।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । वह समूह मे रहता है । वहाँ वह अनेक प्रकार के सम्बन्ध जोड़ता है । सम्बन्ध जोड़ना कोई कठिन काम नहीं है, कठिन है उनका समुचित निर्वाह । कठिनाई का कारण है मनुष्य की स्वार्थपरायण मनोवृत्ति । स्वार्थ की आँख से देखने वाला और स्वार्थ की धरती पर चलने वाला परमार्थ की बात कैसे सोच सकता है ? अहिंसा परमार्थ का दर्शन है । अहिंसा में विश्वास करने वाला व्यक्ति सम्बन्धों की आंच पर स्वार्थ की रोटी नही सेक सकता । स्वार्थवाद या व्यक्तिवाद के कारण सम्बन्धों के संसा[illegible] जहर घुल रहा है, उससे बचने के लिए अहिसा का प्रशिक्षण अत्यन्त [illegible]श्यक है ।

मानवीय संबंधों का परिष्कार :

मनुष्य के दृष्टिकोण को दो रूपो में देखा जाता है—मानवीय और अमानवीय । एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के प्रति कैसा सम्बन्ध या व्यवहार होना चाहिए, नीति सूत्रों मे यह बात निर्धारित होती है । उसके अनुसार व्यवहार करने वाले व्यक्ति का दृष्टिकोण मानवीय कहलाता है । जो व्यक्ति दूसरे के हितों की उपेक्षा करता हो, उन्हे कुचल देता हो, किसी का शोपण करता हो या सताता हो, यह पाशवी या दानवी वृत्ति कहलाती है । इस वृत्ति को बदलने से ही मानवीय संबंधों का परिष्कार हो सकता है ।

माननीय सम्बन्धों को कई इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है । हम यहाँ मुख्य रूप से तीन इकाइयों की चर्चा कर रहे है—पारिवारिक सम्बन्ध, सामाजिक सम्बन्ध और व्यावसायिक सम्बन्ध । पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहू, देवरानी-जिठानी, माँ-बेटी आदि पारिवारिक सम्बन्ध है । इनमें मानवीय दृष्टिकोण का विकास हो तो किसी को मारने, पीटने, सताने या प्रताडित करने का प्रसंग उपस्थित ही नहीं हो सकता ।

सामाजिक सम्बन्धों का दायरा बहुत विस्तृत होता है । पड़ोसी से लेकर दूर-दराज बसने वाले समाज के हर व्यक्ति के साथ किसी न किसी रूप में संबंध रहता है । सम्बन्धों की स्थापना में स्वार्थ की प्रेरणा न हो और स्वार्थ में बाधा पहुँचने पर सम्बन्ध तोड़ने की परिस्थिति भी पैदा न हो, यह अहिंसा की प्रेरणा है । जाति, रंग, लिग, वर्गभेद आदि को आधार बनाकर मनुष्य-मनुष्य के बीच जो दूरियाँ बढ़ती जा रही है, वे किसी-न-किसी रूप मे हिंसा को बढ़ावा दे है । इन सब भेदों से ऊपर एक तत्त्व है वह है मनुष्यता । वह भी मनुष्य भी मनुष्य हूँ । मैं इससे जिस प्रकार के व्यवहार की अपेक्षा रखता हूँ उस

का यह सिद्धान्त मनुष्य तक ही सीमित नही है। र
सबकी आत्मा समान है। कोई भी व्यक्ति निरपे
नही बचा सकता। इसी कारण जीवन को सापेक्ष
सिद्धान्त प्रकृति के प्रत्येक कण पर लागू होता है।
भी टूटकर गिरता है तो उसका प्रभाव पूरी सृष्टि
वह रहेगा, अहिंसा की परिधि में इस चिन्तन को
भी रहूँगा, तुम भी रहोगे। यह भी रहेगा, वह
अस्तित्व की भाषा में सोचना अहिंसा का दर्शन है

अन्तर्जगत् में अहिंसा के प्रयोग :

अहिंसा के सैद्धान्तिक पक्ष को समझने के बा
को समझना आवश्यक है। प्रायोगिक प्रशिक्षण के
वाह्यजगत्। अन्तर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्त्व
(Balance of Emotions)। मनोविज्ञान की भा
या उद्वेलन की अवस्था का नाम संवेग है। भय, क्रो
दुःख आदि संवेग प्रतिक्रियात्मक भावों के रूप में अप

मनुष्य जब तक वीतराग नही बन जाता, संवे
हो सकता। पर इसका सन्तुलन न होने से अनेक प्र
जाती है। संवेगों को सन्तुलित करने की प्रक्रिया को
प्रस्तुत किया जा रहा है—

क्रोध एक संवेग है। इसे नियन्त्रित करने के लि
भाव क्षेत्र पर ध्यान के प्रयोग करवाए जाते है। चैतन्य
ध्यान के प्रयोग इसके लिए कार्यकारी प्रमाणित हुए है।

प्रमाद एक संवेग है। यह जागरूकता घटाता है।
के लिए चैतन्य-केन्द्र प्रेक्षा, लेश्या-ध्यान और दीर्घ-श्वास प्रे
रित है। नशा-मुक्ति के लिए भी इन प्रयोगो को काम मे लि

हीन भावना और अहं भावना ऐसे सवेग है, जो मनुष्य
को प्रभावित करते है। इनके प्रभाव को क्षीण करने के लि
परानुकम्पी Sympathetic & Parasympathetic नाड़ी-
विशेष प्रयोग करवाये जाते है।

वाह्य जगत् में प्रशिक्षण बिन्दु :

वाह्य जगत् मे अहिंसा के प्रायोगिक प्रशिक्षण की भूमिका
है। मुख्य रूप मे उसके तीन बिन्दु हो सकते है—

हिंसा का सामना कैसे किया जाय ?

□ काका कालेलकर

धर्म की अनेक व्याख्याएँ की गई है। मेरे विचार से धर्म की उत्तम व्याख्या यह है . "जीवन-शुद्धि और समृद्धि की साधना जो दिखाये वह धर्म है।" प्रत्येक धर्म मे आत्मोद्धार के लिये जो बातें बताई गई है, उनके द्वारा ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। यह साधना दो प्रकार से होती है। केवल अपना ही विचार करके आत्मशुद्धि से आत्म-विजय प्राप्त करना और अन्त में मुक्त होना, यह पहली साधना है। दूसरी साधना वह है जिसमें केवल व्यक्ति का विचार न करके समस्त समाज का विचार किया जाता है। सारे व्यक्तियों को मिलाकर समाज बनता है और वह समाज ही मुख्य माना जाता है। जैसे हम शरीर के एक-एक अवयव का विचार नही करते, परन्तु समग्र शरीर का विचार करते है, वैसे ही मुख्यतः विचारणीय प्रश्न यह है कि संगठन बनाकर रहने वाली मनुष्य-जाति अहिसा की साधना कैसे कर सकती है ?

मेरी मान्यता के अनुसार अभी तक मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था थी, इसलिये केवल व्यक्ति के लिये मार्ग विचारने और बताने से हमारा काम चल जाता था परन्तु अब जो कार्य हमारे सामने है वह विकट और व्यापक है। अब निश्चित तथा व्यवहार्य सामाजिक साधना बताने के दिन आये है। आज की साधना केवल आत्मशुद्धि की नही परन्तु समाज-जीवन की शुद्धि की साधना है।

अहिसा एक सनातन तत्त्व है। अमुक समय के पहले अहिसा नही थी, यह नहीं कहा जा सकता। समय-समय पर अहिसा का प्रचार करने वाले पुरुष निकल ही आते हैं। मुझे सदा यह लगा है कि अहिसा की सच्ची साधना ब्रह्मचर्य मे, सयम मे है। जो मनुष्य भोग-विलास मे डूबा रहता है और वैसा करके मरने के लिये बच्चे पैदा करता है, वह अहिसक नही है। जीवन में विलासिता, कामुकता कम हो तो ही सच्ची अहिसा को जीवन मे उतारा जा सकता है और समाज मे उसे फैलाया जा सकता है।

पुण्य दु.खकर है, लेकिन उसका फल सुखकर है, जब कि पाप बाहर मे अथवा प्रारम्भ में सुखकर होता है, लेकिन उसका फल दुःखकर होता है। इसलिये भोग-विलास का सुखकर मालूम होना स्वाभाविक है। मनुष्य जिस हद तक विलासिता का त्याग करता है उसी हद तक वह अहिसा-धर्म के निकट पहुँच पाता है। विलासिता को दूर करने के लिये इन्द्रियो की वृत्तियो को जीतना

मानवीय सम्बन्धों में क्रूरता

मनुष्य के दैनंदिन जीवन में इन बिन्दुओं से सम्बन्धित जो प्रसंग उपस्थित होते हैं, उन्हें टालने का कार्यकारी उपाय एक है कि मनुष्य को प्रशिक्षित कर दिया जाए। बहुत बार ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अज्ञानवश हिंसा में प्रवृत्त हो जाता है। हिंसा के परिणामों से परिचित न होने के कारण भी ऐसा हो सकता है। इसलिए अहिंसा के प्रशिक्षण की प्रक्रिया को काफी सघन बनाना अपेक्षित है। कुछ व्यक्तियों अथवा गाँवों को चुनकर प्रयोग करना ही पर्याप्त नही है। परीक्षण के तौर पर ऐसा किया जा सकता है। पर प्रशिक्षण कार्यक्रम को व्यापक बनाने के लिए इसे शिक्षा के साथ नत्थी करना होगा।

जितने भी विद्यालय और महाविद्यालय हैं, उनमे अहिंसा को अनिवार्य सब्जेक्ट के रूप में स्वीकार किया जाए और थ्योरिटिकल ट्रेनिंग के साथ प्रेक्टिकल ट्रेनिंग पर भी ध्यान केन्द्रित किया जाये तो इस विषय को और अधिक व्यापक बनाया जा सकता है। अहिंसा के प्रशिक्षण की यह पद्धति और अधिक वैज्ञानिक और सुगम बने, इस दृष्टि से इस पर समीक्षात्मक बहस भी आमन्त्रित की जा सकती है।

—जैन विश्व भारती, लाडनूं

दया

जब दया का देवदूत दिल से दुत्कार दिया जाता है और जब आंसुओं का फव्वारा सूख जाता है, तब मनुष्य रेगिस्तान की रेत मे रेंगते सांप के समान हो जाता है।

—इंगरसोल

दया से लबालब भरा हुआ दिल ही सब से बड़ी दौलत है, क्योंकि दुनियावी दौलत तो नीच आदमियो के पास भी देखी जाती है।

—तिरुवल्लुवर

दयालु-हृदय खुशी का फव्वारा है, जो कि अपने पास की हर चीज को मुस्कानो से भर कर ताजा बना देता है।

—वाशिंगटन इर्विंग

मेरी यह प्रबल कामना है कि मैं हर आँख का हर आंसू पोंछ दूं।

—गांधी

हिंसा का सामना कैसे किया जाय ?

☐ काका कालेलकर

धर्म की अनेक व्याख्याएँ की गई है। मेरे विचार से धर्म की उत्तम व्याख्या यह है : "जीवन-शुद्धि और समृद्धि की साधना जो दिखाये वह धर्म है।" प्रत्येक धर्म मे आत्मोद्धार के लिये जो बाते बताई गई है, उनके द्वारा ही मनुष्य अपनी उन्नति कर सकता है। यह साधना दो प्रकार से होती है। केवल अपना ही विचार करके आत्मशुद्धि से आत्म-विजय प्राप्त करना और अन्त मे मुक्त होना, यह पहली साधना है। दूसरी साधना वह है जिसमे केवल व्यक्ति का विचार न करके समस्त समाज का विचार किया जाता है। सारे व्यक्तियों को मिलाकर समाज बनता है और वह समाज ही मुख्य माना जाता है। जैसे हम शरीर के एक-एक अवयव का विचार नही करते, परन्तु समग्र शरीर का विचार करते है, वैसे ही मुख्यत: विचारणीय प्रश्न यह है कि संगठन बनाकर रहने वाली मनुष्य-जाति अहिसा की साधना कैसे कर सकती है ?

मेरी मान्यता के अनुसार अभी तक मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था थी, इसलिये केवल व्यक्ति के लिये मार्ग विचारने और बताने से हमारा काम चल जाता था परन्तु अब जो कार्य हमारे सामने हैं वह विकट और व्यापक है। अब निश्चित तथा व्यवहार्य सामाजिक साधना बताने के दिन आये है। आज की साधना केवल आत्मशुद्धि की नही परन्तु समाज-जीवन की शुद्धि की साधना है।

अहिसा एक सनातन तत्त्व है। अमुक समय के पहले अहिंसा नही थी, यह नही कहा जा सकता। समय-समय पर अहिसा का प्रचार करने वाले पुरुष निकल ही आते हैं। मुझे सदा यह लगा है कि अहिंसा की सच्ची साधना ब्रह्म-चर्य मे, सयम मे है। जो मनुष्य भोग-विलास मे डूबा रहता है और वैसा करके मरने के लिये बच्चे पैदा करता है, वह अहिसक नही है। जीवन में विलासिता, कामुकता कम हो तो ही सच्ची अहिंसा को जीवन मे उतारा जा सकता है और समाज मे उसे फैलाया जा सकता है।

पुण्य दु.खकर है, लेकिन उसका फल सुखकर है; जब कि पाप बाहर मे अथवा प्रारम्भ मे सुखकर होता है, लेकिन उसका फल दु.खकर होता है। इस-लिये भोग-विलास का सुखकर मालूम होना स्वाभाविक है। मनुष्य जिस हद तक विलासिता का त्याग करता है उसी हद तक वह अहिसा-धर्म के निकट पहुँच पाता है। विलासिता को दूर करने के लिये इन्द्रियों की वृत्तियो को जीतना

पड़ता है। इसी को तप कहा जाता है। यह तप ही अहिंसा है। यह साधना व्यक्तिगत और सामुदायिक दोनों प्रकार से होती है। उसे बताने वाले तीर्थंकर समय-समय पर आते ही रहने चाहिये। और, इस प्रकार सनातन अहिंसा-धर्म का विकास होना चाहिये।

अपराध के लिये सजा देना मनुष्य-जाति का बड़ा अपराध है। दूसरो को सजा देने वाले हम कौन होते है? अपराध के लिये अपराधी को प्रायश्चित्त करना चाहिये। अपराध के लिये सजा देकर तो हम हिंसा को घटाने के बदले प्रतिहिंसा करते हैं। सजा देने से मनुष्य का सुधार नही होता। सजा देकर हम भले ही संतोष अनुभव करें, परन्तु वास्तव में उससे हिंसा दुगुनी होती है। अपराध करने वाले की हिंसा अप्रतिष्ठित मानी जाती है। जब किसी अपराधी को सजा होती है तो लोग उस कार्य को अच्छा मानते है; इसलिये यह प्रतिहिंसा प्रतिष्ठित मानी जाती है। यह उलटे मार्ग की साधना है। इतनी बात हम समझ ले, तो अहिंसा का मार्ग हमारी समझ में आ जायेगा। भावी तीर्थंकर हमें अवश्य कहेगे कि अपराधी को सजा देना भी अपराध ही है। क्रोधी के सामने अगर हम क्रोध न करे, तो अन्त में उसे शात होना ही पड़ेगा। 'अतृणं पतितो वह्नि. स्वयमेवोपशाम्यति'—तृणरहित-स्थान मे पड़ी हुई आग अपने आप बुझ जाती है।

आज हम अहिंसा के बाल्यकाल में है। अहिंसा के विकास के लिये बड़े धीरज और अखूट साहस की जरूरत है। मार्ग लम्बा है। समाज मे अहिंसा की शिक्षा का कार्य करना आवश्यक है। इसके लिये अनेक महापुरुष आयेंगे और मार्ग दिखायेंगे।

केवल स्थूल हिंसा का त्याग पर्याप्त नहीं होगा। जहाँ धन के ढेर जमा हो गये है वहाँ उनकी नीव में शोषण का पाप है—हिंसा है। अमेरिका में क्वेकर सम्प्रदाय के लोग अहिंसक है और धनी भी हैं। भारत मे जैन लोग अहिंसक होने का सकारण दावा करते है। फिर भी वे धनाढ्य है। द्रोह के बिना धन नही मिलता। इसलिये मेरी समझ में नही आता कि अहिंसा और धन का मेल कैसे बैठ सकता है। आप चीटियो के दर के सामने आटा डाले, रात्रि-भोजन न करे, आलू न खाये—यह सब तो अच्छा है परन्तु यह आरम्भ की क्रिया है। हमे तो अहिंसा-धर्म मे आगे बढना है। जगत् में जब युद्ध चल रहा हो तब हम शान्ति से कैसे बैठ सकते है? हमें उसे रोकने का मार्ग खोजना चाहिये। हमारे विचारों में परिवर्तन की आवश्यकता है। कई लोग कहते है कि युद्ध तो यूरोप मे लड़ा जा रहा है, हमारे देश मे तो गाँधीजी के प्रताप से सब ठीक चल रहा है। लेकिन मै कहता हूँ कि हमारे देश मे प्रत्येक प्रान्त में भीतर ही भीतर फूट फैली हुई है, हर जगह अविश्वास फैला हुआ है। ये सब हिंसा के ही प्रतीक है। यूरोप के पास अस्त्र-शस्त्र है, इसलिये वहाँ के लोग युद्ध करते है। हम एक-

दूसरे के पैर खींचकर एक-दूसरे को नीचे गिराते हैं। वृत्ति से तो दोनों एक से ही हैं। वहाँ समर्थो की शस्त्राधारी हिंसा चलती है, यहाँ असमर्थों की अविश्वास द्वेष, निंदा और द्रोह-मूलक हिंसा।

अदालत में जाने के बदले पंच के द्वारा अन्याय दूर करना और अन्याय करने वालों को अपना बनाकर उसकी शुद्धि का प्रयत्न करना—इस प्रकार की अहिंसक साधना का विकास विचारपूर्वक अभी तक हमने नही किया है।

सरकारी अन्याय के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह करने के बजाय सत्याग्रह करने की अहिंसक साधना हमारे जमाने में गाँधीजी ने ही बताई है। राज्य के विरुद्ध किये जाने वाले पुराने 'त्रागा' (धरना) या ऐसे ही दूसरे विद्रोह में अहिंसा नही थी। शायद ऐसा कहा जा सकता है कि उसमें अहिंसक पद्धति के बीज थे।

राष्ट्रो के बीच जो युद्ध लड़े जाते है उनके बजाय चढाई करने वाले शत्रु का अहिंसक पद्धति से प्रतिकार कैसे किया जाय, यह सोचने या सुझाने का मौका गाधीजी को भी नहीं मिला है।

अमेरिका में या अफ्रीका में गोरे लोग काले लोगों पर जो जुल्म ढाते है, उन्हे दूर करने का अहिंसक मार्ग दिखाने की जिम्मेदारी अहिंसा के उपासको और आचार्यो की है परन्तु आज तो ये लोग शास्त्र-वचनों की व्याख्या करने में और परम्परागत मार्ग से अपने तप या प्रतिष्ठा को बढाने में ही मशगूल है।

आज दुनिया में बड़ी से बड़ी हिंसा शोषण की चल रही है। दूसरों की कठिन परिस्थितियों का लाभ उठाकर उनकी सेवाओं का दुरुपयोग करने, और उन पर अनुचित अत्याचार करना अर्थात् उनके जीवन का शोषण करना बहुत बड़ी हिंसा है। इस तरह की हिंसा परिवारों में भी चलती है। जमीदार और काश्तकार, खेत में काम करने वाले मजदूरों के मालिक और खेतीहर मजदूर, कारखानेदार और कारखाने के मजदूर, उच्च वर्गो के लोग और श्रमजीवी लोग—इन सब के सम्बन्धों में शोषण की, दवाब की और जुल्मों की हिंसा सतत चला ही करती है। साहूकार मनमाना व्याज लेकर कर्जदार को चूसता है, यह भी हिंसा ही है।

जैन समाज तथा जैन साधुओं और आचार्यो को यह सोचना चाहिये कि इन सारी हिंसा का सामना कैसे किया जाय और इस दृष्टि से समाज-जीवन का परिवर्तन करने के लिये कौनसे कदम उठाये जाने चाहिये।

जब हमारा समाज धर्मप्राण था उस समय हमारे धर्माचार्य तत्कालीन विज्ञान की मदद से साहस पूर्वक जीवन परिवर्तन करने में हिचकिचाते नही थे और समाज की पुरानी रूढ़ियों का विरोध करने में भी डरते नही थे।

शरीर-शुद्धि के लिए पंचगव्य मे गोमूत्र का भी प्राशन करने की प्रथा के पीछे वैज्ञानिक साहस स्पष्ट दिखाई देता है। पानी मे सूक्ष्म कीटाणु होते है इसलिये पानी को गरम करने और उसे तुरन्त ठण्डा करने को जो प्रथा जैनो ने चलाई, उसमे आज के डॉक्टरी आग्रहो से कम हिम्मत नही थी। जैन साधुओ का केशलुन्चन तथा मुख पर बॉधी जाने वाली 'मुँहपत्ती' भी सामाजिक शिष्टाचार की परवाह न करके एक प्रकार के विज्ञान से चिपके रहने की हिम्मत का ही प्रतीक है। बहुबीज वनस्पति न खाना, रात्रि-भोजन न करना इत्यादि सुधारो का प्रचार जिन आचार्यो और साधुओं ने किया, वे आज के जमाने में विज्ञान का अनुसरण करके यदि चिन्तन करे और नये आचार का प्रचार करें, तो कोई यह नही कह सकेगा कि आज के जैन आचार्य धर्म-परायण न रहकर रूढ़ि-परायण हो गये है और आज के जैन साधु अन्धपरम्पराओ का निष्प्राण जीवन जीते है।

जो चीज बुरी मानी जाती है वह कितनी ही सुखकर, प्रिय अथवा प्रतिष्ठित क्यों न हो, तो भी उसका त्याग करने के लिये तैयार होना और अद्यतन विज्ञान तथा धर्मज्ञान आज जो नई दृष्टि प्रदान करे, उसका अनुसरण करने के लिये तैयार होना जीवन्त और प्राणवान रहने का लक्षण है। जो व्यक्ति जीवन पर विजय प्राप्त करता है वह जिनेश्वर है। अब ऐसे अनेक जिनेश्वर उत्पन्न होने चाहिये। उनके आने की हम तैयारी करे और उनके स्वागत के लिये लोक-मानस तैयार करे।

उदारता

- जो भाग्यशाली है वह उदार होता है और उदारता से ही आदमी भाग्यशाली बनता है। —सादी
- उदार दे-दे कर अमीर बनता है, लोभी जोड़-जोड़ कर गरीब बनता है। —जर्मन कहावत
- उदारता पापो को ऐसे बदल देती है जैसे पारस लोहे को बदल देता है। —सादी
- उदार आदमी जब तक जीता है आनन्द से जीता है और तंग दिल वाला जिन्दगी भर दुखी रहता है। —कैस-बिन इल खतीम
- दिलदार आदमी का वैभव गॉव के बीचो-बीच उगे हुए और फलों से लदे हुए वृक्ष के समान है। —तिरुवल्लुवर

विश्व-शान्ति के सन्दर्भ में अहिंसा-प्रयोग

☐ आचार्य श्री विजय वल्लभ सूरि

आत्मशान्ति और विश्वशान्ति दोनो मे कोई विसगति नही है। दोनो एक-दूसरे पर आश्रित है। आत्म-शान्ति के लिए किया गया प्रयत्न विश्वशान्ति का एक हिस्सा है और विश्वशान्ति के लिए जो भी प्रयत्न किया जायगा, उसमे आत्मशान्ति तो निश्चित ही आ जायेगी। फिर भी हमे स्वार्थभावना न रख कर विश्व शान्ति को ही दृष्टिसमक्ष रखना चाहिए। क्योकि जब तक विश्व-शान्ति नही होगी, आत्मशान्ति स्थायीरूप से नही हो सकती। एक व्यक्ति शान्तिपूर्वक अपने घर मे ध्यान लगा कर बैठा है, मगर आसपास चारो ओर आग लगी है तो, वह कितनी देर शान्ति से बैठ सकेगा ? आग की लपटे बहुत शीघ्र ही उसे घेर लेगी और उसकी वह व्यक्तिगत शान्ति अशान्ति में परिणत हो जाएगी। इसलिए मुझे कहना चाहिए कि विश्वशान्ति का उद्देश्य रखे विना व्यक्तिगत आत्मशान्ति क्षणिक होगी।

इसलिए विश्वशान्ति को सक्रियरूप से जगत् मे स्थापित करने के लिए मुख्यतया तीन ठोस उपाय करने जरूरी है—

पहला उपाय है—स्वधर्म साधना का, दूसरा है—मत्रजप तथा तप-साधना का और तीसरा है—सक्रिय प्रयोग का।

स्वधर्मसाधना के उपाय में व्यवस्था की दृष्टि से सारे विश्व के हमे ७ विभाग कर लेने चाहिए—(१) व्यक्तिगत आत्मशान्ति, (२) गृहशान्ति, (३) ग्रामनगरशान्ति, (४) संघ व धर्मसम्प्रदायशान्ति, (५) राष्ट्रशान्ति, (६) विश्वशान्ति और (७) समष्टिशान्ति। इस सातों विभागो का अपनी-अपनी श्रेणी के अनुसार अपने-अपने हिस्से में आया हुआ स्वधर्म-पालन करना चाहिए।

स्वधर्म-साधना :

व्यक्तिगत आत्मशान्ति के लिए उपाय तो हम पहले बता ही चुके है। वही उपाय गृहशान्ति या कौटुम्बिक शान्ति के लिए है। विधेयात्मक दृष्टि से सोचे तो पूर्वोक्त सातों प्रकार की शान्तियों के लिए सामान्यतया ये [illegible] पालनीय है—(१) परस्पर स्नेह, वात्सल्य और शुद्धप्रेम हो, (२) [illegible] सभी प्राणियो के साथ मैत्री व बन्धुत्वभावना हो, (३) सभी प्राणि[illegible] करुणा, दया, रक्षा व अभयदान की भावना हो, (४) गुणी[illegible]

प्राणियों के प्रति प्रमोदभावना हो, विशेष आत्मीयता हो; (५) जो मनुष्य, परिवार, सम्प्रदाय, नगरग्राम, राष्ट्र अथवा प्राणी उद्दण्डता करते हो, संसार की व्यवस्था को बिगाड़ते हों, अशान्ति पैदा करते हों, उनकी उपेक्षा की जाय, उनके साथ प्रेम-पूर्वक असहयोग रखा जाय; उन पर सामाजिक-नैतिक-दबाव डालने का प्रयत्न किया जाय, उनको न्याय दिया जाय।

विशेषरूप से गृहशान्ति के लिए परिवार मे परस्पर सहनशीलता व स्वार्थत्याग की भावना आवश्यक है।

१७वी शताब्दी में जापान में उस समय के राज्यमंत्री ओ-चो-सान का परिवार अपने सौहार्द के लिए प्रसिद्ध था। यद्यपि उनके परिवार मे लगभग एक हजार सदस्य थे, पर उनके बीच एकता का अटूट सम्बन्ध था। सभी सदस्य साथ रहते, साथ ही खाना खाते। कलह तो उनके घर से दूर ही रहता था। शान्ति का अखण्ड झरना उनके कुटुम्ब में बहता रहता था। दूर-दूर तक इस कुटुम्ब की शोहरत फैल गई थी। ओ-चो-सान—परिवार मे इस प्रकार की शान्ति की बात उस समय के सम्राट् 'यामातो' के कानों में पहुँची। वे इसकी जॉच करने के लिए स्वयं उस वृद्धमंत्री के घर पहुँचे। स्वागत, सत्कार और शिष्टाचार की रस्म पूरी हो जाने पर सम्राट् ने पूछा—"मैने आपके परिवार की एकता, शान्ति, स्नेहसम्बन्ध और सहृदयता की कई कहानियाँ सुनी है। क्या आप मुझे बतलायेंगे कि एक हजार से भी अधिक परिवार वाले घर मे यह सौहार्द, ऐक्य, शान्ति और स्नेहसम्बन्ध किस तरह बना हुआ है?" ओ-चो-सान वृद्धावस्था के कारण अधिक देर तक बाते नहीं कर सकते थे, इसलिए अपने पौत्र को कलम-दावात व कागज लाने का इशारा किया और कागज पर कॉपते हाथों से कोई सौ शब्द लिख कर उस कागज को सम्राट् यामातो की ओर बढ़ा दिया। सम्राट् ने बड़ी उत्सुकता से कागज पर दृष्टि डाली और आश्चर्यान्वित हो गए। एक ही शब्द—'सहन-शीलता'—को १०० बार लिखा गया था। सम्राट् को चकित और अवाक् देखकर वृद्ध महामंत्री ने कॉपती हुई आवाज में कहा—"महाराज! मेरे परिवार में एकता और शान्ति का रहस्य बस इसी एक शब्द में निहित है। सहनशीलता का मन्त्र ही हमारे बीच एकता का धागा अब तक पिरोये हुए है। इस महामंत्र को जितनी बार दुहराया जाय उतना ही कम है।"

भाग्यशालियो! जहाँ सहनशीलता आ जाएगी, वहाँ स्वार्थत्याग तो लाजिमी होगा। फिर गृहशान्ति में क्या कमी रह जायगी? अगर घरों मे हमारी माताएँ-बहने इस मंत्र को जीवन में उतार ले तो आए दिन छोटी-छोटी बातों पर होने वाला महाभारत बन्द हो जाय और परिवार मे शान्ति का झरना बहने लगे।

ग्राम और नगर की शान्ति के लिए विशेष तौर तर प्रत्येक ग्रामजन व नागरिक को ग्रामधर्म और नगरधर्म का पालन करना आवश्यक है। तभी ग्राम और नगर मे शान्ति स्थापित हो सकेगी। जब भी गाँव या नगर पर आफत आये उस प्रत्येक व्यक्ति को उस आफत को मिटाने के लिए एकमन से जुट पड़ना चाहिये। गॉव और नगर में कोई भी फूट, कलह या वैमनस्य की अप्रिय घटना होने लगे, तव तुरन्त ही उसे मिटा कर परस्पर शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न होना चाहिये।

संघशान्ति या धर्म-सम्प्रदाय-शान्ति के लिए विभिन्न धर्मसघो या सम्प्रदायो मे परस्पर सौहार्द, समन्वय और सौजन्य की भावना होनी चाहिए। सर्वमान्य कार्यक्रम सभी धर्मसम्प्रदाय के लोगों को एक होकर मिलजुल कर सम्पन्न करने चाहिए। साम्प्रदायिक विद्वेष, तनातनी, मारपीट, कलह एव वैमनस्य को कतई बढावा नही देना चाहिए। तभी संघशान्ति होगी।

इसी प्रकार एक धर्मसंघ के अंदर फिरकेबाजी, वैमनस्य, कलह और फूट नही होनी चाहिए। अन्यथा संघ मे अशाति फैलेगी और व्यक्ति की शान्ति पर भी उसके छीटे उछलेगे। सघशान्ति के लिग यह भी आवश्यक है कि संघ पर कोई भी आफत आए तो उसका निवारण करके शान्ति स्थापित की जाय।

भद्रबाहुस्वामी ने संघ में शास्त्रीयज्ञान लुप्त होने के समाचार सुन कर ज्ञान की उन्नति के लिए प्रयत्नशील चतुर्विध संघ का आमंत्रण पा कर अपनी योगसाधना छोड़कर पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान किया और वहाँ सघ की उन्नति के लिए विशिष्ट पुरुषार्थ में योग दिया। सघशान्ति के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को संघधर्म का पालन करना आवश्यक है।

राष्ट्रशान्ति के लिए राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य को राष्ट्रधर्म का पालन करना चाहिए। राष्ट्र के प्रति पूरी वफादारी रख कर, राष्ट्रीय उन्नति के कामो मे सहयोग देना चाहिए। जव भी राष्ट्र पर आफत आए तव सव मतभेदो को भुला कर उस आफत का पूरी ताकत से सामना करना चाहिए। राष्ट्र-विरोधी तत्त्वों को न तो बढ़ावा देना चाहिये और न स्वयं राष्ट्रहित के विरुद्ध कोई कार्य करना चाहिए। राष्ट्र में फूट डालना, राष्ट्र को गुलाम वनाने की मुरादवालों को प्रोत्साहन देना, दंगे, हड़ताल, तोड़फोड़ आदि करना राष्ट्र के प्रति गद्दारी है, राष्ट्र में अशान्ति को न्यौता देना है। अतः इन गलत कार्यो को करना राष्ट्रशान्ति में विघ्न डालना है। इसका मतलव यह नही है कि हम दूसरे राष्ट्र या राष्ट्रवालो के प्रति द्वेष, शत्रुता या वैर-विरोध रखें, उनकी उन्नति देख कर जलें; अपितु दूसरे राष्ट्रों के प्रति स्नेह-सौजन्य व सहयोग की भावना रखनी है।

विश्वशांति के लिए विश्व के प्रत्येक राष्ट्र को 'पञ्चशील' का पालन करना अनिवार्य है। राजनैतिक पञ्चशील ये है—(१) सहअस्तित्व, (२) अनाक्रमण, (३) सार्वभौमत्व-स्वीकार, (४) अहस्तक्षेप और (५) सहयोग। सहअस्तित्व का मतलब है, अपने से भिन्न सिद्धान्तों या मान्यताओ के कारण दूसरे देश का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त और व्यवस्था लादने का प्रयोग न किया जाए। सव राष्ट्रों को सम्मानपूर्वक साथ जीने का अधिकार है, ऐसा माना जाय। (२) अनाक्रमण का अर्थ है—एक देश दूसरे देश की सीमा का उल्लघन करके उसकी स्वतंत्रता पर या उसके शासित भूभाग पर आक्रमण न करे, जिससे उसकी अखडता सकट मे पड जाय। (३) सार्वभौमत्व-स्वीकार का मतलब है, प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्रभुसत्ता है। उसके सार्वभौमत्व पर किसी प्रकार की वाधा दूसरे राष्ट्रों की ओर से नहीं होनी चाहिए। (४) अहस्तक्षेप का अर्थ है—किसी भी राष्ट्र के आन्तरिक या बाह्य मामलो मे कोई दूसरा देश किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप या दस्तंदाजी न करे और (५) सहयोग का अर्थ है—एक दूसरे के विकास मे सम्पन्न राष्ट्र यथासम्भव सहयोग दे, परस्पर सहकार की भावना रखे। इस राजनीतिक पञ्चशील का अमल सारे देशो मे हो जाय तो विश्वशान्ति को कोई खतरा नही।

इसके बाद समष्टि-शान्ति का भी विचार कर ले। समष्टि का अर्थ है—मनुष्य के अतिरिक्त सृष्टि के समस्त प्राणी। इसलिए समष्टि की शान्ति मनुष्य से भिन्न चेतनाशील प्राणियो से सम्वन्धित होते हुए भी उसका सीधा प्रभाव मानवसृष्टि पर पडता है। बहुत-सी दफा अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, भूकम्प आदि प्राकृतिक प्रकोप आते है। उनके पीछे सारी प्राणिसृष्टि का पाप निमित्त होता है। मनुष्य अणुशस्त्रो आदि का प्रयोग या शिकार, पशुपक्षीवलि या पशुहत्या करता है तो उसके उक्त पापों के कारण भूकम्प, अतिवृष्टि, सूखा, बीमारी आदि उपद्रव फूट निकलते है।

विहार मे जव भूकम्प आया था, तव महात्मा गांधीजी के ये उद्‌गार थे कि "यह हमारे अस्पृश्यता के पाप का फल है।" इस पर कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने गांधीजी से वहस की—"यह तो कुदरती प्रकोप है, इसका अस्पृश्यता से क्या सम्वन्ध?" महात्मा गांधीजी ने कहा—"भले हम सृष्टि की इस रहस्यमयता को न समझे, लेकिन मानवसमाज मे जो भी पाप—व्यक्ति, राष्ट्र, सम्प्रदाय या समाज की ओर से—किसी भी रूप में होते हैं, उनका प्रतिफल मिले विना नही रहता। इसीलिए मैने कहा था "यह हमारे अस्पृश्यता के पापमय व्यवहार का फल है।"

इसी प्रकार शान्ति के भ्रम से जो लोग देवीदेवताओ के आगे धर्म के नाम पर, शान्ति के नाम पर या परिवार-सुरक्षा के नाम पर पशुवलि देते है, पक्षियों

को होमते है, वे भी समष्टि में अशान्ति फैलाने में निमित्त बनते है। मानव-सृष्टि के बुरे कार्यो—हिंसा, असत्य, मारकाट, अणुअस्त्रों का परीक्षण व प्रयोग, युद्ध आदि—का भी प्रभाव अन्य प्राणिजगत् पर पड़े बिना नहीं रहता। समष्टिशान्ति के लिए ये सब पापमय कार्य बन्द होने चाहिए।

सभी का सार यह है कि व्यक्ति से लेकर समष्टि तक की सारी ही सृष्टि की शान्ति के लिए पापमय कार्यों—अहितकर कृत्यों—का त्याग होना चाहिए, यह सर्वमान्य स्वधर्म है। जिस दिन इसका पालन नही होगा, उस दिन सृष्टि मे त्राहि-त्राहि मच जायेगी।

यही कारण है कि शान्तिनाथ भगवान् ने अचला महारानी के गर्भ मे आते ही अपने पिता के राज्य मे फैली हुई महामारी को अपने माता-पिता द्वारा स्वधर्म–साधना के जरिये मिटा दिया था।

जप और तप की साधना

विशुद्ध भावना का भी बहुत बडा प्रभाव पड़ता है। विश्वशान्ति के लिए स्वधर्म के आचरण के साथ-साथ 'सारी सृष्टि मे शान्ति फैले' इस प्रकार की भावनाओ का आन्दोलन भी होना जरूरी है। यही कारण है कि जैनाचार्यो ने विश्वशान्ति के लिए भावनात्मक आन्दोलन जगाने हेतु 'बृहच्छान्तिपाठ' बनाया है। जिसके सूत्र इस प्रकार हैं—

शान्तिः शान्तिकरः श्रीमान् शान्ति दिशतु मे गुरुः।
शान्तिरेव सदा तेषां येषां शान्तिर्गृहे गृहे (सदा)॥

श्रीसंघ-जगज्जनपद-राजाधिप-राजसन्निवेशानाम्।
गोष्ठिकपुरमुख्याणां व्याहरणैर्व्याहरेच्छान्तिम्॥

श्रीश्रमणसघस्य शान्तिर्भवतु, श्रीजनपदानां शान्तिर्भवतु,
श्रीराजाधिपानां शान्तिर्भवतु, श्रीराजसन्निवेशानां शान्तिर्भवतु,
श्रीगोष्ठिकानां शान्तिर्भवतु, श्रीपौरमुख्याणां शान्तिर्भवतु,
श्रीपौरजनस्य शान्तिर्भवतु, श्रीब्रह्मलोकस्य शान्तिर्भवतु,

भावार्थ यह कि श्री शान्तिनाथ प्रभु सदा शान्ति करने वाले है, वे शान्ति का बोधपाठ पढाने वाले गुरु मुझे शान्ति का मार्ग दिखाएँ। जिनके घर मे सदा शान्ति रहती है, उनके घर में सदा शान्तिनाथ भगवान् का निवास रहता है। इसलिए श्री संघ, जगत् के सभी देशों, सभी शासनकर्ताओ, शासनाधीन ग्राम-नगर आदि सन्निवेशो, विभिन्न राष्ट्रों की शान्तिसंस्थाओं अथवा शान्तिदूतो, पौरजनों, नेताओ आदि के नाम ले-लेकर शान्ति की भावना का उच्चारण करे। जैसे—श्रमणप्रधान धर्मसघ में शान्ति हो, जगत् के समस्त देशो मे शान्ति हो, जगत् के समस्त राष्ट्रो के शासनकर्ताओ व राजाओं मे शान्ति हो, ...

अन्तर्गत विभिन्न ग्राम-नगरप्रान्त आदि विभागों में शान्ति हो, राष्ट्रों की शान्तिसंस्थाओं या उनके शांतिदूतों में शान्ति हो, नगरनेताओं या राष्ट्रनेताओं में शान्ति हो, नगर (ग्राम) वासियो मे शांति हो, ब्रह्म (विश्व के समस्त चेतन) लोक में शान्ति हो ।"

ये है विश्वशान्ति की भावना के लिए मन्त्र। आत्मशान्ति के इच्छुक साधक को विश्वशान्ति की भावना किये बिना कोई चारा नही।

इन मंत्रों का हृदय से, श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना ही जाप कहलाता है। मंत्रजप में अपूर्व शक्ति होती है। इससे सामूहिक संकल्प-बल तैयार होता है और वह बड़ी से बड़ी अशान्ति को शीघ्र मिटा देता है। विश्वशान्ति का वायुमण्डल तैयार करने में इन शान्तिमंत्रों का जप आवश्यक है।

पहले कहा जा चुका है कि त्याग के बिना कभी शान्ति नही हो सकती। इच्छाओं के त्याग का ही नाम तप है। इसलिए जप के साथ तप भी जरूरी है। इस प्रकार के शान्तिमंत्र के जप के साथ आयंविल, एकाशन या उपवास आदि तप सामूहिक रूप से होने पर शीघ्र असर होता है। विष्णुकुमार मुनि ने तपस्या के साथ शान्तिमंत्र की जप-साधना की; जिसके फलस्वरूप श्रमणसंघ पर आई हुई भंयकर विपत्ति—अशान्ति दूर हुई। इसी प्रकार के विश्वशान्ति के हेतु कई और भी जप-तप के प्रयोग समय-समय पर आचार्यो द्वारा हुए है। हमें भी विश्वशान्ति के लिए जपतप के इस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए।

इसके बाद एक सवाल और खड़ा होता है कि सारे संसार मे आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक; दूसरे शब्दों में स्वकृत, परप्राणीकृत और प्रकृतिकृत— ये तीन प्रकार के दु ख या अशान्तिकारक ताप है। इनको दूर करने या शान्त करने का उपाय क्या है; भारतीय मनीषियो ने इसके लिए भी शान्तिमंत्र बताया है। वैदिक धर्म की प्रार्थना में आता है—

"ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधय. शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वदेवा. शान्तिर्ब्रह्म शान्ति सर्वं शान्तिः शान्तिरेव शान्ति., सा मां शान्तिरेधि।"

"ॐ शान्ति. शान्तिः शान्तिः"

अर्थात्—आकाश (द्यु) लोक शान्तिदायक हो, ज्योतिषलोक शान्तिमय हो, पृथिवी शान्तिमयी हो, जल शान्तिप्रद हो, औषधियाँ (अन्न आदि खाद्य वस्तुएँ) शान्तिकारिणी हो, वनस्पतियाँ (फल, मूल, फूल, शाक-भाजी आदि) शान्तिदायिनी हो, समस्त देव शान्तिदायक हों, समस्त ब्रह्म (चेतनाशील प्राणी) शान्तिदाता हो, सृष्टि का कणकण शान्तिमय हो, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो और वह शान्ति मुझ में भी बढे। सारे जगत् की त्रिविध ताप मे शान्ति हो! शान्ति हो!! शान्ति हो!!!"

यह है भारतीय महापुरुषों का सारी सृष्टि की शान्ति के लिए शान्ति-पाठ! सृष्टि की शान्ति की कितनी उच्चभावना है! इसके अलावा संक्षेप मे भी विश्वशान्ति की भावना व्यक्त की गई है—

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वो भवतु सुखी लोकः॥

"सारा संसार निरुपद्रव हो, कल्याणमय हो, समस्त प्राणी दूसरों के हित में रत रहें। उनमें जो भी दोष हों, वे नष्ट हो जॉय और सारा संसार सुखी हो।"

विश्वशान्ति का सक्रिय प्रयोग :

अशान्त विश्व की शान्ति के लिए पूर्वोक्त दो उपायों के बाद तीसरा उपाय है—सक्रिय प्रयोग। अर्थात् विश्वशान्ति के लिए ऐसे ठोस प्रयोग भी साथ-साथ होते रहने चाहिए। इसके लिए मेरे निम्नलिखित सुझाव है—

(१) संसार के सभी छोटे-बडे राष्ट्र संयुक्तराष्ट्रसंघ के सदस्य बनें और उसकी नीतियों पर चले।

(२) राजनैतिक पंचशील का सभी राष्ट्र भलीभाँति पालन करे।

(३) संसार के समस्त शान्तिपरायण राष्ट्रों और संस्थाओं तथा शान्ति के लिए सक्रिय कार्य करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का अनुबन्ध हो।

(४) शीतयुद्ध और महायुद्ध होने से रोके जॉय, राष्ट्रों के आपसी विवाद समझा-बुझा कर न्यायी मध्यस्थो द्वारा हल किये जॉय।

(५) अणुअस्त्रों पर प्रतिबन्ध के बारे में सभी राष्ट्रों को सहमत किया जाय और इस शर्त का पालन सबके लिए अनिवार्य कर दिया जाय।

(६) सैनिक गुटबन्दियों के संगठनों को तोड़ दिया जाय। कोई भी शान्तिवादी राष्ट्र उनका सदस्य न बने।

(७) प्रत्येक राष्ट्र व उस राष्ट्र का नागरिक विश्वशान्ति के कार्यो में सहयोग दे।

(८) युद्धों को मिटाकर विश्व मे स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए अपने हृदय को उदार और समन्वयशील बनाएँ।

मेरे ख्याल से ये आठ सूत्र ही विश्वशान्ति के सक्रिय प्रयोग के लिए काफी होंगे।

इनके अलावा समय-समय पर विश्वशान्ति-परिषदो व विश्वशान्ति-सम्मेलनो का आयोजन किया जाय और प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा का लोकमत इस दिशा मे तैयार किया जाय। □□

अन्तर्गत विभिन्न ग्राम-नगरप्रान्त आदि विभागों में शान्ति हो, राष्ट्रों की शान्तिसंस्थाओं या उनके शांतिदूतों में शान्ति हो, नगरनेताओं या राष्ट्रनेताओं मे शान्ति हो, नगर (ग्राम) वासियो मे शांति हो, ब्रह्म (विश्व के समस्त चेतन) लोक मे शान्ति हो ।"

ये है विश्वशान्ति की भावना के लिए मन्त्र । आत्मशान्ति के इच्छुक साधक को विश्वशान्ति की भावना किये बिना कोई चारा नही ।

इन मंत्रों का हृदय से, श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना ही जाप कहलाता है । मंत्रजप में अपूर्व शक्ति होती है । इससे सामूहिक संकल्प-बल तैयार होता है और वह बड़ी से बड़ी अशान्ति को शीघ्र मिटा देता है । विश्वशान्ति का वायुमण्डल तैयार करने में इन शान्तिमंत्रों का जप आवश्यक है ।

पहले कहा जा चुका है कि त्याग के बिना कभी शान्ति नही हो सकती । इच्छाओं के त्याग का ही नाम तप है । इसलिए जप के साथ तप भी जरूरी है । इस प्रकार के शान्तिमंत्र के जप के साथ आयंबिल, एकाशन या उपवास आदि तप सामूहिक रूप से होने पर शीघ्र असर होता है । विष्णुकुमार मुनि ने तपस्या के साथ शान्तिमंत्र की जप-साधना की; जिसके फलस्वरूप श्रमणसंघ पर आई हुई भंयकर विपत्ति—अशान्ति दूर हुई । इसी प्रकार के विश्वशान्ति के हेतु कई और भी जप-तप के प्रयोग समय-समय पर आचार्यो द्वारा हुए है । हमें भी विश्वशान्ति के लिए जपतप के इस प्रकार के प्रयोग करने चाहिए ।

इसके बाद एक सवाल और खड़ा होता है कि सारे संसार मे आधि-भौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक; दूसरे शब्दों में स्वकृत, परप्राणीकृत और प्रकृतिकृत—ये तीन प्रकार के दुःख या अशान्तिकारक ताप है । इनको दूर करने या शान्त करने का उपाय क्या हैं; भारतीय मनीषियो ने इसके लिए भी शान्तिमंत्र बताया है । वैदिक धर्म की प्रार्थना में आता है—

"ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिराप. शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्ति सर्व शान्तिः शान्तिरेव शान्ति·, सा मां शान्तिरेधि ।"

"ॐ शान्ति. शान्ति शान्तिः"

अर्थात्—आकाश (द्यु) लोक शान्तिदायक हो, ज्योतिषलोक शान्तिमय हो, पृथिवी शान्तिमयी हो, जल शान्तिप्रद हो, औषधियाँ (अन्न आदि खाद्य वस्तुएँ) शान्तिकारिणी हों, वनस्पतियाँ (फल, मूल, फूल, शाक-भाजी आदि) शान्तिदायिनी हो, समस्त देव शान्तिदायक हों, समस्त ब्रह्म (चेतनाशील प्राणी) शान्तिदाता हो, सृष्टि का कणकण शान्तिमय हो, सर्वत्र शान्ति ही शान्ति हो और वह शान्ति मुझ मे भी बढ़े । सारे जगत् की त्रिविध ताप मे शान्ति हो ! शान्ति हो !! शान्ति हो !!!"

यह है भारतीय महापुरुषों का सारी सृष्टि की शान्ति के लिए शान्ति-पाठ ! सृष्टि की शान्ति की कितनी उच्चभावना है ! इसके अलावा संक्षेप मे भी विश्वशान्ति की भावना व्यक्त की गई है—

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वो भवतु सुखी लोकः ।।

"सारा संसार निरुपद्रव हो, कल्याणमय हो, समस्त प्राणी दूसरों के हित में रत रहे । उनमें जो भी दोष हों, वे नष्ट हो जाँय और सारा संसार सुखी हो ।"

विश्वशान्ति का सक्रिय प्रयोग :

अशान्त विश्व की शान्ति के लिए पूर्वोक्त दो उपायों के बाद तीसरा उपाय है—सक्रिय प्रयोग । अर्थात् विश्वशान्ति के लिए ऐसे ठोस प्रयोग भी साथ-साथ होते रहने चाहिए । इसके लिए मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं—

(१) संसार के सभी छोटे-बडे राष्ट्र संयुक्तराष्ट्रसघ के सदस्य बने और उसकी नीतियों पर चलें ।

(२) राजनैतिक पंचशील का सभी राष्ट्र भलीभाँति पालन करें ।

(३) संसार के समस्त शान्तिपरायण राष्ट्रों और संस्थाओं तथा शान्ति के लिए सक्रिय कार्य करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का अनुबन्ध हो ।

(४) शीतयुद्ध और महायुद्ध होने से रोके जाँय, राष्ट्रों के आपसी विवाद समझा-बुझा कर न्यायी मध्यस्थो द्वारा हल किये जाँय ।

(५) अणुअस्त्रों पर प्रतिबन्ध के बारे में सभी राष्ट्रों को सहमत किया जाय और इस शर्त का पालन सबके लिए अनिवार्य कर दिया जाय ।

(६) सैनिक गुटबन्दियों के संगठनों को तोड़ दिया जाय । कोई भी शान्तिवादी राष्ट्र उनका सदस्य न बने ।

(७) प्रत्येक राष्ट्र व उस राष्ट्र का नागरिक विश्वशान्ति के कार्यों में सहयोग दे ।

(८) युद्धों को मिटाकर विश्व में स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए अपने हृदय को उदार और समन्वयशील बनाएँ ।

मेरे ख्याल से ये आठ सूत्र ही विश्वशान्ति के सक्रिय प्रयोग के लिए काफी होंगे ।

इनके अलावा समय-समय पर विश्वशान्ति-परिषदो व विश्वशान्ति-सम्मेलनो का आयोजन किया जाय और प्रत्येक राष्ट्र की प्रजा का लोकमत इस दिशा में तैयार किया जाय । □□

मैत्री भावना

☐ युवाचार्य महाप्रज्ञ

भगवान महावीर ने मैत्री का बहुत बडा सूत्र दिया । एक पादरी ने आचार्य श्री से कहा, प्रभु ईशु ने कितनी बडी बात कही है कि अपने शत्रु के साथ मैत्री करो । कितनी बड़ी बात है ? क्या इससे बड़ी बात हो सकती है ? आचार्य श्री ने कहा, यह बड़ी बात है, किन्तु भगवान महावीर ने इससे आगे की बात कही है कि किसी को शत्रु मानो ही मत । पहले शत्रु माने और फिर मैत्री करे, इससे तो अच्छा है कि किसी को शत्रु माने ही नही। पादरी अवाक् रह गया । उसके अह पर अव्यक्त चोट हुई । उसने रहस्य समझ लिया ।

राष्ट्रपति लिकन प्रबुद्ध व्यक्ति थे, आध्यात्मिक व्यक्ति थे । वे घूमने जाते । सामने मिलने वाले अभिवादन करते तो वे भी अपना टोप उतार कर अभिवादन का उत्तर देते । सामने वाला कोई भी क्यो न हो, गोरा हो या काला, उनके लिए सव बराबर थे । कुछ लोगों ने कहा, आप अमेरिका के राष्ट्रपति है और इस प्रकार सामान्य व्यक्तियों का अभिवादन करते है, यह पद के लिए गौरव की बात नही है । राष्ट्रपति ने कहा, मै शिष्टता के मामले में किसी से पीछे रहना नही चाहता । यह बात एक आध्यात्मिक व्यक्ति ही कह सकता है ।

कुछ व्यक्तियो ने लिंकन से कहा, आपके शत्रु बहुत है । अभी आप सत्ता में है । उनको समाप्त क्यो नही कर देते ? लिकन ने कहा, 'उन्हे समाप्त कर रहा हूँ ।' लोगों ने कहा, अभी तक किसी को जेल मे नही डाला, फांसी नही दी, देश से नही निकाला । फिर कैसे समाप्त कर रहे हैं ? लिंकन बोले, शिष्ट व्यवहार से सवको जीत रहा हूँ । कुछ ही समय मे वे मेरे मित्र वन जायेगे । फिर कोई शत्रु नही रहेगा । सब शत्रु समाप्त हो जायेगे ।

यह मैत्री का महान् सूत्र है । इसके समक्ष शत्रु कोई रहता ही नहीं । मैत्री की भावना जागने पर अनेक समस्याएँ समाहित हो जाती है । प्रतिदिन हमारे मन पर अनेक मैल जमा होते जा रहे है । उनमें सवसे क्लिष्ट मैल है शत्रुता का, द्वेष का । इस दुनिया का यह अटल नियम है कि आदमी जैसा चाहता है वैसा होता नही है । इस ससार मे रुचि और चिन्तन का भेद है, व्यवहार और व्यवस्था का भेद है, रहन-सहन और खान-पान का भेद है,

रीति-रिवाजों का भेद है—ये सब भेद न रहें, यह कभी सम्भव नही है । रुचि की भिन्नता है तब तक भेद समाप्त नही हो सकते । इन भेदों के कारण हमारे मन में शत्रुता और द्वेष का भाव पनपता है, यह अवांछनीय है । भगवान् ने कहा, दूसरे के साथ बुरा व्यवहार करने में यह देखो कि तुम्हारा स्वयं का अहित हो रहा है । दूसरे का अहित हो या नहीं, यह विकल्प है, निश्चित नही है, किन्तु तुम्हारा अहित निश्चित है, उसमें कोई विकल्प नही है । दूसरे के प्रति तुम्हारे मन मे बुरा विचार आया, चाहे उसका पता किसी को न लगे, पर उसका अंकन तुम्हारे मस्तिष्कीय कोशों में हो जाएगा । उसका बुरा परिणाम तुम्हे अवश्य ही भोगना पड़ेगा । दूसरे का अनिष्ट करने मे स्वयं का अनिष्ट है—जो इस सूत्र को पकड़ लेता है वह कभी दूसरे का अनिष्ट नही कर सकता । 'मै दूसरे का अनिष्ट कर रहा हूँ'—यह सोचना मूर्च्छा है । वह नही जानता कि पर्दे के पीछे क्या हो रहा है ? भीतर क्या हो रहा है ? जिसके मन में मैत्री की भावना का जागरण होता है वह कभी किसी का अहित नही कर सकता ।

सबके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है । उसे किसी से भी भय नही होता । शत्रुता और भय, मैत्री और अभय—ये दो युगल हैं । जिसका मन भय से भरा होता है, वह दूसरे को शत्रु मानता है । जिसके मन में कोई भय नही होता, वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है किन्तु शत्रु नही मानता । सब जीवों के हित-चिंतन का बार-बार अभ्यास करने से मैत्री का संस्कार पुष्ट होता है ।

मनुष्य के ज्ञात सम्बन्धो की कड़ी बहुत छोटी है और अज्ञात की शृंखला बहुत प्रलम्ब है । ज्ञात स्पष्ट है और अज्ञात अस्पष्ट, इसलिए शत्रु, मित्र आदि की कल्पनाये खड़ी होती हैं । अज्ञात सामने आ जाए तो ये भाव स्वतः शान्त हो सकते है । जन्म-मृत्यु की लम्बी परम्परा से कौन अपरिचित है ? किन्तु इसे साधारण लोग नही समझते । साधक आत्म-तुला के पथ पर अग्रसर होता है, उसे यह स्पष्ट हो जाए तो बहुत अच्छा है किन्तु बहुत कम व्यक्तियो को अतीत ज्ञात होता है । लेकिन इतना स्पष्ट है कि मैं पहले भी था, अब भी हूँ और आगे भी रहूँगा । अतीत मे था तो कहां था, कौन मेरे सम्बन्धी थे, आदि प्रश्न स्वतः खड़े हो जाते हैं । इस दृष्टि से साधक का मन सबके प्रति मित्र भाव धारण कर लेता है । **'मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई'**—मेरा सबके साथ मैत्री-भाव है । कोई मेरा शत्रु नही है । [illegible] चेतना में जैसे-जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे [illegible] शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है । मित्र-मन [illegible] और अमित्र-मन अप्रसन्न । शत्रु-मन अशान्त, [illegible]

रहता है। उसमें प्रतिशोध की आग निरन्तर प्रज्वलित रहती है। मित्र-मन मे ये सब दोष नष्ट हो जाते है। उसे भय नही रहता।

मैत्री-भावना का साधक स्वयं अपने को कष्ट में डाल सकता है, किन्तु दूसरो को कष्ट नही देता। उसकी दृष्टि में पर-शत्रु जैसा कोई रहता ही नही। शत्रु का भाव ही अनिष्ट करता है। खलीफा अली अपने शत्रु के साथ वर्षों लडता रहा। एक दिन शत्रु हाथ मे आ गया। उसकी छाती पर बैठ भाला मारने वाला ही था, इतने मे शत्रु ने मुँह पर थूक दिया। अली को एक क्षण गुस्सा आया और बोला—'आज नही लड़ेगे।' लोगों ने कहा, 'कैसी मूर्खता कर रहे है?' वर्षो से शत्रु हाथ आया और आप छोड़ रहे है।' अली ने कहा—कुरान का वचन है—'क्रोध में मत लड़ो।' मुझे गुस्सा आ गया। शत्रु को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'इतने वर्षो क्या आप बिना क्रोध के लड़ रहे थे?' अली ने उत्तर दिया—'हां।' शत्रु चरणों मे गिर पड़ा। उसे पता ही आज चला कि बिना क्रोध के भी लडा जा सकता है। वह मित्र हो गया। लडने का हेतु भिन्न हो सकता है, किन्तु क्रोध मे नही लडना—यह मित्रता का परिचायक है। मैत्री भाव का विराट् रूप जब सामने आता है तब द्वैत नही रहता। **'आयतुले पयासु'**—प्राणियों को अपने समान देखो—यह उसका फलितार्थ है।

स्वयं सत्य खोजें : सबके साथ मैत्री करें :

हमें सत्य को जानना है और अपने आपको बदलना है कि हमारा शत्रुता का भाव सर्वथा नष्ट हो जाए। हमारे मन मे शत्रुता का भाव रहे ही नही। हम आदमी को शत्रु मान लेते है। अपना प्रमाद, अपना दोष दूसरे के सिर पर आरोपित कर देते है कि उसने मेरा अनिष्ट किया है, उसने मेरा ऐसा कर दिया। कोई भी आदमी यह देखने को तैयार नही है कि उसने भी कुछ किया है। सारा का सारा दोप हम दूसरों के सिर मंढ़ देते है—'पत्थर कित्तने ऊबड़-खाबड़ है, मुझे ठोकर लग गयी।' अपनी गलती से, अपने प्रमाद से ठोकर लगी, इस वात को हम स्वीकार नही करेगे, किन्तु कहेगे कि पत्थर ठीक स्थान पर नही थे, इसलिए ठोकर लगी। दरवाजा छोटा है, इसलिए सिर में चोट लगी; किन्तु मैने दरवाजे को छोटा समझकर भी अपने को छोटा नही किया, सिकोड़ा नही, इसलिए चोट लगी, ऐसा कोई नही सोचता। उसने मेरे साथ ऐसा किया, वैसा किया। उसने मेरे मित्र को बिगाड डाला। उसने उसे भ्रमित कर दिया। हम सारा दोपारोपण दूसरो पर करते हैं। दूसरों में दोप देखते है और दूसरों को दोषी मानकर अपने आपको बचा लेते हैं। परन्तु जिसने सत्य को खोजा है, जो सत्य का खोजी है, वह दूसरों पर आरोप नही लगाता। वह इस वात का अनुभव करता है कि उसका

अपना ही प्रमाद बहुत सारी विकृतियां उत्पन्न कर रहा है। इसलिए वह इस प्रयत्न में रहेगा कि वह अप्रमत्त रह सके, जागृत रह सके, सतत जागरूक रह सके।

शत्रुता का इतना ही अर्थ नहीं है कि दूसरे से द्वेष रहे और मित्रता का अर्थ इतना ही नहीं है कि दूसरे से प्रेम रहे। शत्रुता का अर्थ है—अपने कर्तव्य को भुलाकर दूसरे के कर्तव्य में बुराइयां देखना। यह शत्रुता है एक प्रकार की। पत्थर के प्रति भी हमारी शत्रुता हो जाती है। हम पत्थर को भी गालियां देने लग जाते है। पूरा बर्तन पानी से भरा था। एक हाथ से उसे उठाया वह फूट गया। अब इस सच्चाई को नहीं खोजा कि पानी से भरा हुआ पात्र एक हाथ से उठाया जाएगा तो छूटेगा और फूटेगा। इसको हम नहीं सोचेंगे। हम कहेंगे—पात्र इतना कच्चा था कि नहीं फूटता तो और क्या होता? यह परिणाम तो अवश्यंभावी था। इस प्रकार अपने कर्तव्य को बचाने की जो बात है वह भी एक प्रकार से दूसरों के प्रति शत्रुता है। दूसरी वस्तु चाहे सजीव हो या निर्जीव, मित्रता का अर्थ केवल प्रेम ही नहीं है। प्रेम भी मित्रता है। किन्तु वास्तव में मित्रता है—सबके अस्तित्व को स्वीकार करना, जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करना, किसी को किसी पर आरोपित न करना। यह है मित्रता। यह अनाशातना है। जैन साहित्य का महत्वपूर्ण शब्द है 'आशातना।' जीव की आशातना होती है। अजीव की आशातना होती है। मकान की आशातना होती है। आशातना द्वेष है, शत्रुता है। अनाशातना मैत्री है। हमारा यह व्यापक दृष्टिकोण है कि हम सत्य को खोजे और सबके साथ मैत्री करे। अर्थात् जो जिसका जितना है उसे स्वीकार करे सहज भाव से और किसी पर कुछ आरोपित न करे। यह सचाई है। इसे हम पकड़े। इस सचाई को पकड़े विना कोई साधना नहीं कर सकता।

मैत्री का मनोवैज्ञानिक प्रभाव :

मानवीय सम्बन्धों की दूसरी कठिनाई है—कठोरता। आदमी अपने से छोटे व्यक्ति के साथ मृदु व्यवहार नहीं करता। अपने से वडे व्यक्ति के साथ उसे मृदु व्यवहार करना पडता है। अन्यथा उसे स्वयं को कठिनाई भोगनी पडती है। छोटे के साथ मृदु व्यवहार करने पर वड़े का वड़प्पन भी कैसे सुरक्षित रह सकता है? यह धारणा रूढ हो गयी है। एक मालिक अपने नौकर के साथ मृदु व्यवहार करने में कठिनाई का अनुभव करता है। किन्तु वरावर के साथी के साथ वह विनम्र और मृदु व्यवहार करने मे गौरव अनुभव करता है। भला नौकर के साथ मृदु व्यवहार कैसे किया जाए? इसको तो दो-चार गालिया ही दी जानी चाहिए। इस धारणा ने सारे

व्यवहारों को अव्यवस्थित कर डाला है। आज सर्वत्र यह धारणा ही वन गयी कि छोटे के साथ तो कठोर व्यवहार ही करना चाहिए। एक मिल मैनेजर यदि मजदूरो के साथ मृदु व्यवहार करता है तो भला मिल कैसे चल सकेगी ? इस प्रकार की धारणाओ ने सामाजिक सम्पर्कों, सामाजिक सम्बन्धों और मानवीय सम्बन्धो मे बहुत बड़ी दरार पैदा कर दी। हम इस बात को भूल गए कि मैत्री और प्रेमपूर्ण भावनाओं के द्वारा, निर्मल और पवित्र भावनाओं के द्वारा आदमी को जितना जगाया जा सकता है, जितना प्रेरित किया जा सकता है, उतना कठोर व्यवहार से नहीं किया जा सकता। आज वैज्ञानिक खोजो के द्वारा नयी सच्चाइयां सामने आयी है कि पवित्र और सद्भावनापूर्ण भावनाओं के द्वारा पौधों को विकसित किया जा सकता है। खेती को बढ़ाया जा सकता है। फूल को और अधिक विकसित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में पूर्ण चेतनाशील व्यक्ति को निर्मल और सद्भावना-पूर्ण चेतना के द्वारा क्या विकसित नही किया जा सकता ? क्या वह निरा पत्थर है ? पत्थर को भी पवित्र भावनाओ से चैतन्य जैसा किया जा सकता है। जब बड़ी चट्टान को उठाना होता है पाँच-सात आदमी उस चट्टान के प्रति समर्पित होकर, संकल्पशक्ति के सहारे उसे उठा देते है।

विनम्रता, मृदुता, हर किसी को पिघला देती है। आप किसी के प्रति सद्भावना करें, प्रेमपूर्ण भावना करे, वह पिघल जाता है। गाय अधिक दूध देने लग जाती है, वृक्ष अधिक फल-फूल देने लग जाते है और लतायें अपनी दिशा बदल देती है। एक ईसाई महिला ने एक प्रयोग किया। उसने कुछ पौधे लगाए। किन्तु एक लता उन पर छा जाती, उन पौधों को ढंक देती। पौधों को पनपने का मौका ही नही मिलता। एक दिन महिला उस लता के पास गयी और विनम्र स्वर में बोली—'लता ! मुझे दु ख है कि तुझे काटना पड़ेगा। मुझे खेद है ! तू मुझे क्षमा करना।' उस महिला ने पौधे पर छा जाने वाली लता के भाग को काट डाला। फिर लता को सुझाव दिया कि तुम अमुक दिशा मे बढ़ती जाओ। कुछ दिनों बाद देखा कि उस लता ने अपना मार्ग वदल डाला और दूसरी दिशा में बढना प्रारम्भ कर दिया। जब लता भी विनम्र बात सुन लेती है, पौधा भी सुन लेता है, तव आदमी हमारी भावना क्यों नही सुनेगा ? हमारी मृदुता को वह न समझे, यह कैसे हो सकता है ? किन्तु हमने यह रूढ़ धारणा वना ली है कि आदमी पर मृदुता से शासन नही किया जा सकता। इस धारणा से मानवीय सम्बन्धो में कटुता आयी है। एक आदमी दूसरे आदमी को शत्रु या पराया मानता चला जा रहा है।

सरस जीवन की प्रक्रिया—मृदुता :

जीवन की सफलता का सूत्र है—मृदुता। मृदु व्यवहार जीवन की

सरलता का सूचक है। जिसका व्यवहार कठोर होता है, उसका जीवन सरस नहीं हो सकता। वह स्वयं भी सरस नहीं हो सकता और दूसरों में भी सरसता नहीं भर सकता। जिसका व्यवहार मृदु होता है वह स्वयं सरस होता है और दूसरों में भी सरसता भरता है।

मैत्री की आराधना : शक्ति की आराधना :

शक्ति के विना मैत्री नही हो सकती। मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। शक्ति की जब तक उपासना नही होती, मैत्री का भाव स्थायी नहीं हो सकता। दूसरी बात है, शक्ति के विना कलुषता का निरसन भी नहीं हो सकता। कमजोर आदमी दिन में सौ वार मैत्री का संकल्प करता है और शत्रुता के भाव को मन से निकाल देता है। फिर परिस्थिति आती है और उसके चित्त पर शत्रुता का भाव छा जाता है। यह चित्त का आकाश कभी निर्मल नही होता। उसको निर्मल करने के लिए सहिष्णुता की शक्ति चाहिए, निर्मलता की शक्ति चाहिए।

खमतखामणा का वास्तविक अर्थ :

खमतखामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए, उसे ज्ञात हो या नही, वह जाने या न जाने, किन्तु तुम अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री को मत खोओ। उसे शत्रु मत मानो। यह महान् व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। वह इतना विराट् बन जाता है कि उसके सामने फिर शत्रु जैसा कोई व्यक्ति नही होता। भगवान महावीर को देखें। अन्यान्य साधकों को देखें। वे सब अपनी साधना के द्वारा ही महान् बने थे।

इकोलॉजी : अहिंसा जगत् का विकास :

आराधना का कितना महत्त्वपूर्ण सूत्र है—मैत्री का विकास। मैत्री के विकास के लिए शक्ति का विकास और शक्ति के विकास के लिए सहिष्णुता का विकास, निर्मलता का विकास। जब ये सब विकास हमारी चेतना में घटित होते है तब दृष्टि का रूपान्तरण होता है। हम तब सचमुच इकोलॉजी के सिद्धान्त की परिधि मे आ जाते है। आज की इस नई शाखा का [illegible] जितना अहिंसा के जगत् मे हुआ है, आज तो उसका पुनरावर्तन हो रहा है बहुत ही थोड़े अंशो मे। परस्परावलम्बन, सहयोग और परस्पर निर्भरता—[illegible] सब प्रकृति के कण-कण से जुड़े हुए है। ये सब अहिंसा के [illegible] विकसित हुए है।

अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया

☐ दादा धर्माधिकारी

हमारे सामने सबसे पहला सवाल यह है कि हम समाज-परिवर्तन चाहते क्यों है ?

पहली बात तो यह है कि मनुष्य को जो प्राप्त है, उससे वह हमेशा असंतुष्ट रहता है। बहुत दिनों तक अगर वह रेशमी कपड़ा पहनता रहे, तो सोचता है कि अब कुछ दिन सूती कपड़ा पहने, तो अच्छा है। मैदान में रहने वाले हवाखोरी और स्थान-परिवर्तन के लिए पहाड़ पर चले जाते है और वहाँ कहते है कि यहाँ सृष्टि-देवी का सौंदर्य अनुपम है, कितना रम्य स्थान है ! लेकिन पहाड़ का आदमी कहता है कि मैदान देखा नही, वह बहुत ही खूबसूरत होगा। मनुष्य का स्वभाव-धर्म है कि वह परिवर्तन चाहता है, वस्तु-स्थिति से संतुष्ट नहीं रहता। यह असन्तुष्टि निरन्तर-सी है। अगर प्रगति जैसी कोई चीज है, तो उसका बीज इसी में है। यह असंतोष मनुष्य की प्रगति का जनक है।

जड़ता या परिपूर्णता :

अब सोचिये कि ऐसी कौन-सी अवस्था है, जिसमें यह असंतोष न हो। दो जवाब है, या तो जडता होगी या परिपूर्णता। **'स वै मुक्तोऽथवा पशुः'**—'या तो वह मुक्त होगा या पशु।'

इसके विपरीत, परिवर्तन से मनुष्य घबराता भी है। कल ही तो कृष्णमूर्ति ने कहा था कि "मनुष्य को सोचने में खतरा मालूम होता है, संकट मालूम होता है, डर लगता है कि कहीं अपनी स्थिति से हम खिसक न जायँ। मनुष्य अपनी स्थिति से खिसकना नही चाहता, इसलिए वह परिस्थितियों के साथ और अपने-आपसे 'एडजस्टमेंट'— समझौता—कर लेता है। वह नुकसान में भी अपना फायदा देख लेता है। हानि में भी लाभ देख लेता है। और दुःख में भी सुख मान लेता है। लेकिन यह समझौता मानसिक आलस्य का लक्षण है। मनुष्य विचलित नही होना चाहता। किसी तरह समय काटना चाहता है।"

इसके लिए कृष्णजी ने कल 'स्लिदरिग' शब्द का प्रयोग किया था। अर्थात् जैसे लडके पटिया पर से खिसकते और उछलते है, वैसे ही मनुष्य किसी तरह खिसक-उछलकर पार हो जाना चाहता है। वह समस्या को समझना नही चाहता।

यही आत्मतुष्टि या स्वयं-तुष्टि मनुष्य को जड़ बना देती है। तो, एक तो ऐसा मनुष्य है, जैसा पशु। पशु प्रकृति के अधीन है। इसलिए उसमे अपने जीवन के परिवर्तन की विशेष आकाक्षा नहीं है।

अपनी बात समझाना चाहते हैं, इसका क्या मतलब है ? दूसरे की बात समझने की तत्परता होती है, तभी समझाने का अधिकार आता है; दूसरे को समझाने के लिए तभी दावा कर सकते है। जिसे आप 'अहिंसक क्रांति' कहते है, वह समझने और समझाने की क्रांति है। हम पहले समझेंगे और बाद में समझायेंगे।

विनयशीलता या तटस्थता :

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारा मुख्य साधन समझना और समझाना है। जब हम समझाने के लिए उपवास आदि अवांतर उपायो से काम लेते हैं, तब हमें यह समझ लेना चाहिए कि दूसरा आदमी भी हमे समझाने के लिए इन उपायों से काम ले सकता है। आप कहते है कि "मैने हजार बार समझाया, लेकिन इसकी समझ में ही नही आता, इसलिए अब समझाना-बुझाना छोड़, अपनी बात मनवाने के लिए दूसरे ऐसे उपाय से काम लूँगा, जिससे उसे किसी तरह की हानि न पहुँचे, कष्ट न हो।" लेकिन इससे पहले हमें सोचना चाहिए कि यदि मैं समझाने के लिए इस उपाय से काम लेता हूँ, तो समझने के लिए इससे काम क्यों नही लेता ? हम अपनी बात दूसरे के गले उतारना चाहते है। उसे समझाने के लिए इन अवांतर उपायो से काम लेते है। कहते जरूर है कि मै अपनी आत्मशक्ति बढ़ा रहा हूँ। लेकिन किस लिए—तो समझाने के लिए। किन्तु अहिंसा में अगर इन अवांतर साधनो का प्रयोग हो भी, तो वह अपनी समझने की शक्ति बढ़ाने के लिए होना चाहिए। हमें यह बहुत अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि समझने की शक्ति जितनी बढती है, समझाने का अधिकार भी उतना ही प्राप्त होता है।

'अधिकार' शब्द संस्कृत का है। उसका मतलब है पात्रता। हिन्दी मे अधिकार का मतलब 'स्वामित्व' कहाँ से आया, पता नही। हममें समझाने की क्षमता उस अनुपात में प्राप्त होती है, जिस मात्रा में हमने समझने की योग्यता प्राप्त की हो। आज हो क्या रहा है ? हम समझाने की अधिक कोशिश करते है, समझने की कम। इसलिए हमारे दर्शन में भी अहिंसा नही आ पाती।

आज 'अहिंसा' शब्द ऐसा हो गया है कि उसके साथ बहुत-सी बातें मिल गयी है। उसका नाम लेते ही कई चीजे मन में खड़ी हो जाती है। बुद्ध, महावीर, गांधी, शाकाहार, सत्याग्रह, अनशन आदि के सपने आ जाते है। इसलिए उस शब्द को अलग रख ले और 'विनयशीलता' या 'तटस्थता' शब्द ले लें। समाज-परिवर्तन में ऐसे उपायों से काम लेना चाहिए कि जिनमे समझाने की कोशिश कम और समझने की कोशिश ज्यादा हो।

मानव अपवाद भी है, विभूति भी :

हर एक चाहता है कि मेरे दिमाग की दुनिया और इन्सान बने। लेकिन गांधी के लिए ऐसा इन्सान उनके तनय नहीं बने, 'विनोबा' बने। अगर आपका

तनय नहीं बन सकता, तो शिष्य बन सकता है। अगर मेरा तनुज मेरे मन के मुताबिक नही बन सकता, तो कम-से-कम मेरा आत्मज, मानस-पुत्र, मेरे मन के अनुसार, मेरे ढाँचे का बने। अहिंसक क्रांति में इस बात की बहुत बडी आवश्यकता है कि हम पहले से न सोच लें कि दूसरा आदमी हमारे ढाँचे मे ढले। हर व्यक्ति अपने में अपवाद भी है और अपने में विभूति भी। यह नहीं होना चाहिए कि हम उसे अपने ढाँचे मे ढालें।

हमारे एक मित्र है। पहले वे असेंबली में थे। वैसे तो मुझसे छोटे है, लेकिन हैं बड़े होशियार। उन्होंने एक बार कहा : "आजकल आप किस दुनिया में रहते है ?" मैंने कहा : "मैं उसी दुनिया मे रहता हूँ, जिसमे आप रहते है।" उन्होंने कहा : "क्या तुम जानते हो कि अब तो हम मनुष्य को भी विज्ञान से बनायेंगे। आँख की जगह आँख, नाक की जगह नाक, हृदय की जगह हृदय, मस्तिष्क की जगह मस्तिष्क—यह तो होता ही था; लेकिन अब तो मनुष्य ही बनायेंगे। अब आप क्या कहेंगे ?" हमने कहा : "अगर हमे दुबारा बनाना हो. तो आप न बनाइये। जिस भगवान् ने हमें बनाया, उससे भी हमे शिकायत है। उसने हमे यह शरीर दिया। भीमकाय क्यों नही किया ? मदन जैसा रूप क्यो नही दिया ? गधर्व की आवाज क्यो नही दी ? वह तो सर्वशक्तिमान् था उसने हमे इतना भद्दा बनाया, तो क्या पता कि तुम कैसा बनाओगे ? जितनी तुम्हारी अक्ल होगी, उतना ही तो तुम बना पाओगे न ?" विज्ञानवादी जैसे स्थूल भूमिका से मनुष्य और सृष्टि का निर्माण करना चाहता है, वैसे ही हम आध्यात्म से भी करना चाहेंगे, तो अनर्थ ही होगा। यह 'रेजिमेन्टेशन' टकसाली ढंग है।

वशीकरण के गलत प्रकार :

आगे जो दुनिया होगी, उसमे मनुष्य को मनुष्य नही बनायेगा। हम तो यहाँ तक कहते है कि मनुष्य अपने को भी नही बनायेगा। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को बनायेगा, यह गलत चीज है। वैसे आज तो सभी एक-दूसरे को 'बनाते' ही है ? एक 'डिप्लोमेट' (कूटनीतिज्ञ) दूसरे 'डिप्लोमेट' को बनाता है। 'डिप्लोमेसी' (कूटनीति) का अर्थ यही है कि मैं आपको बनाऊँ और आप मुझे। लेकिन जिस तरह की प्रक्रिया का प्रयोग हम करना चाहते है, उसमें यह चीज नही आ सकती। आप कहेंगे कि इसमें कोई हिंसा तो है नही, किसीको डराया-धमकाया नही, जबरदस्ती भी नही की। लेकिन किसी आदमी के भोलेपन, उसकी विश्वासपरकता से अगर हम लाभ उठा लेते है, तो वह धोखा है। इस तरह शारीरिक और मानसिक स्तर पर किसीको बनाना हमारी प्रक्रिया मे आ नही सकता।

इसी प्रकार आध्यात्मिक स्तर पर भी मनुष्य मनुष्य को न बनाये। स्तर पर बनाने का प्रकार है–मैस्मरिज्म, सम्मोहन। किसी भी बड़े स्टेशन

जाकर देखेंगे, तो डेल कार्नेगी की किताबे बिकती है। 'हाउ टु इन्फ्लूएन्स पीपुल ?' (लोगों को कैसे प्रभावित करे ?) किसी की शादी करनी हो, तो लडका या लड़की का वशीकरण कैसे करे ? ये सब वशीकरण के उपाय है। सारा का सारा अथर्ववेद 'मंत्र-विद्या' है। जारण, मारण, उच्चाटन, वशीकरण के तावीज मिलते है। बीस-पचीस रुपये भेज दिये, तो वशीकरण का एक तावीज आ जायगा।

ये सारे अमानुषता और पुरुषार्थहीनता के प्रकार है। इनसे नम्रता भी नही है। मर्दानगी और इन्सानियत भी नही। मर्दानगी इसलिए नही कि हम दूसरों को मूर्च्छित कर देना चाहते है, सुला देना चाहते है, परास्त करना चाहते है। यह पौरुष नही है। वीरता दूसरे की वीरता खंडित करने मे नही है। एक दीपक दूसरे दीपक को बुझा नही सकता। एक दीया दूसरे दीये को बुझाता हो, तो उसमें चिराग की तासीर, चिराग का लक्षण ही नही है। वीरता से वीरता पैदा होनी चाहिए। वीरता से अगर भीरुता पैदा होती है, तो वीरता ने अपना गुण छोड़ दिया, अपनी असलियत छोड दी। इसीलिए वीरता ऐसी न हो, जो भय पैदा करे। दूसरो के चित्त को अपने कब्जे मे कर लेने वाली जितनी युक्तियाँ है, उनमें न मर्दानगी है, न इन्सानियत; न पुरुषार्थ है, न मानवता।

अनाग्रह का मार्ग :

हम इसका प्रयोग करना नही चाहते, भले ही हमे सफलता न मिले। सफलता हमें व्यग्र कर देगी। व्यग्र एकाग्र से विरुद्ध है। फिर हमारा ध्यान समझाने की तरफ नही रहेगा, सफलता की तरफ ही रहेगा। जहाँ सफलता की तरफ ध्यान गया, वही समझाने की तरफ से ध्यान हट जायगा। सफलता का विचार मनुष्य के मन मे अधीरता पैदा कर देता है, फिर चित्त एकाग्र नही रहता और जहाँ एकाग्रता नही, वहाँ नम्रता, विनयशीलता हो नही सकती, समाज-परिवर्तन भी नही हो सकता। अगर इन रास्तो को छोड़कर दूसरे रास्ते से जाना है, तो उस रास्ते को जो जानने वाले है, उनके साथ हो जाना होगा। अलग रहने का आग्रह नही रखना चाहिए। जिस रास्ते को हमने सही समझा, अपने मे उस रास्ते से जाने की ताकत न पैदा हो, दूसरा रास्ता बनाना जरूरी हो, तो पहले से ही दूसरे रास्ते पर 'डबल मार्च' करने वाले जो लोग है, उनके साथ ही जाना चाहिए। 'अनाग्रह' की बात यहाँ आती है।

'आग्रह नही रखेंगे', इसका मतलब क्या है ? इसका इतना ही मतलब है कि आग्रह अपना होता है। किसी तत्त्व का नही। विनोबा वेद से एक शब्द देते है—'मम सत्यम्।' यह असत्य का दूसरा लक्षण है। जब सत्य 'मेरा' बन जाता है, तब उसका नाम है असत्य। तटस्थता तब आती है, जब अपने संस्कारो को अलग रखा जाता है। अपनी बात को लेकर दूसरे की बात नही समझी जा सकती। आग्रह हमेशा अहंकार के साथ जुडा होता है। जितनी अहंता होगी,

(प्रचार) अपनी बात समझाने की कोशिश के लिए है, दूसरे की बात समझने की कोशिश के लिए नहीं। विनोबा कहते हैं: "प्रकाशन चाहिए, प्रसिद्धि नही।" प्रकाशन क्या करता है? अपनी बात के साथ दूसरे की बात को भी प्रकाशित करता है। एक चिराग दूसरे चिराग को जलाता है। लेकिन प्रचार अपनी आग जलाता है, पर दूसरे की ज्योति बुझा देता है। वह ठीक नही।

हम 'रेजिमेंटेशन' न करे। अपनी बात दूसरों पर न थोपे। अवान्तर साधनो का उपयोग हम दूसरो की बात समझने के लिए करें, अपनी बात समझाने के लिए नही। नहीं तो हम एक अहिंसक रेजिमेन्टेशन बनायेंगे, जिसमें शस्त्र और सत्ता नही रहेगी। वह राज्य-निरपेक्ष, शस्त्र-निरपेक्ष रेजिमेन्टेशन होगा। वह भी हम नहीं चाहते। उसमे भी हम मनोवैज्ञानिक दृष्टि से दूसरे पर कब्जा करना चाहते है। सूक्ष्म दबाव के तौर पर आपने उपवास कर दिया, या किसी दूसरे ऐसे उपाय का प्रयोग किया, तो देखने में वह अहिंसक ही है, फिर भी वह मनवाने का उपाय है, समझाने का नही।

धार्मिक स्तर :

तीसरा स्तर धर्म का आता है। धर्म के सम्बन्ध में हम क्या करते हैं? दो प्रकार के प्रयोग करते हैं। एक योग-विद्या का और दूसरा सम्मोहन-विद्या का। दोनों मे चमत्कार है। आश्रय चमत्कार का है। मराठी भाषा में कहावत है: **'चमत्काराशिवाय नमस्कार नाहीं।'**—'चमत्कार के बिना नमस्कार नही।' आपके साधुत्व को मानने के लिए कोई तैयार नही, या तो आपमे चमत्कार की शक्ति हो या सम्मोहन की शक्ति।

एक पतिव्रता स्त्री अपने पति की सेवा में लगी हुई थी। उतने में एक बहुत बड़ा तपस्वी ब्राह्मण उसके दरवाजे पर अलख जगाता हुआ भिक्षा के लिए आया। लेकिन वह तो पति-सेवा में लगी थी, इसलिए भिक्षा देने में पाँच मिनट देर हो गयी। ब्राह्मण शोला हो गया। वह आयी, तो बेचारे ने आँखे बन्द कर ली। झोली में भिक्षा ले ली और ऊपर देखा। पेड़ पर एक पक्षी बैठा था, वह मर गया। उसने कहा: "देवी, अगर मैं आपकी तरफ देखता, तो आपकी भी यही स्थिति होती।" उस तपस्वी ब्राह्मण की आँख मे इतनी शक्ति थी! दूसरे दिन भी वह भिक्षा लेने आया। भिक्षा देने के बाद उस पतिव्रता स्त्री ने सूरज की तरफ देखा, तो सूरज छिप गया। यह देखते ही तपस्वी ने उसे नमस्कार किया और कहा कि "मैं हार गया। आपमे मुझसे ज्यादा शक्ति है!" एक कहता है कि "हमारे पास हाइड्रोजन बम है, तुम्हारा कुछ नही चलेगा।" तो दूसरा कहता है कि "मेरे पास स्पुतनिक है।" तो, वैज्ञानिक आविष्कार का चमत्कार हो या योग-विद्या का, सम्मोहन का चमत्कार हो या तो कुछ मैजिक, हिप्नाटिज्म, विचक्रैफ्ट—जंतर-मंतर—जैसा, या फिर धर्म की सत्ता हो। यह भी 'रेजिमेंटेशन' की ही पद्धति है।

आध्यात्मिक स्तर :

अन्त में हम आते हैं आध्यात्मिक स्तर पर, जिसे लोगों ने वैचारिक प्रभुत्व (आइडिआलाजिकल डॉमिनेशन) कहा है। सारे विश्व पर मेरा विचार छा जाय। विश्व वैसा ही बने, जैसा कि मै चाहता हूँ। यह तो मेरी ही कल्पना का विश्व बनाना हुआ न ? भगवन् प्रसन्न हो गये। वरदान माँगा। बहुत अच्छा आलीशान मकान हो, बगीचा हो, मोटर हो, ड्राइवर हो, दो रसोइये हो, हर घटे सामने आकर हाथ जोड़कर खड़े हों। यह आपकी कल्पना का जगत् हुआ। फिर विनोबा से हम कहेगे कि यहाँ रहने आओ, तो वे कहेगे कि "यहाँ मेरी तो तबीयत ही नहीं लगती ! मुझे जंगल मे अच्छा लगता है, वहीं रहूँगा।" "तो क्या फिर हम आपके पास जंगल में आये ?" यहाँ दोनो का झगडा शुरू हो गया। दो नकशे बनाये। अब हरएक अपने-अपने नकशे में दूसरे को रखना चाहता है। इस तरह अध्यात्म के क्षेत्र में वैचारिक प्रभुत्ववाद होता है।

जब इस साधना-केन्द्र की बात आयी, तो शंकररावजी ने कहा कि जहाँ तक शारीरिक सुविधाओ का सम्बन्ध है, वे सबके लिए समान होंगी, सबको प्राप्त हो सकेंगी। इसका यह मतलब नही कि वे जबरदस्ती सबको प्राप्त करनी ही पड़ेंगी। उपभोग आवश्यक नही, सुलभता होनी चाहिए। इस तरह जितनी सुविधाएँ है, सर्वसुलभ होंगी, एक हद तक सबके लिए समान होंगी। इसके आगे समझौता नही होगा। जब हम कहते है कि रेजिमेंटेशन नही होगा और साथ-साथ यह भी कहते है कि विषमता भी नही होगी, तो 'रेजिमेंटेशन नही होगा' का मतलब होता है, हम दूसरे के शरीर का उपयोग उसकी इच्छा के विरुद्ध नही कर सकेंगे। अर्थात् कोई संस्था, समाज या राज्य भी किसी व्यक्ति का उपयोग नही करेगा। रेजिमेटेशन के साथ 'कान्स्क्रिप्शन' भी आता है। 'कान्स्क्रिप्शन' का अर्थ है, जबरदस्ती सिपाही बनाना। युद्ध के समय हम कहते है कि हर व्यक्ति को सिपाही बनना ही पड़ेगा। किन्तु हम कहते है कि किसी मनुष्य के शरीर का उपयोग उसकी मर्जी के खिलाफ कोई नही कर सकेगा। इसकी हद कहाँ होगी ? 'क्रीचर कंफर्ट' याने स्वास्थ्य और शारीरिक उपभोग के लिए जितना काम आवश्यक है सबके लिए समान होगा। इससे आगे 'कान्स्क्रिप्शन' नही।

सामुदायिक पुरुषार्थ आवश्यक :

इस दिशा मे हम जाना चाहते है। हम इस तरह समाज-परिवर्तन करेंगे, इसका मतलब इतना ही है कि हम अपने लिए ऐसी स्थिति, ऐसी भूमिका प्राप्त करेंगे। 'हम' कहने पर मैं अकेला नही रह जाता, सामाजिक पुरुषार्थ भी आ जाता है। विनोबा कहता है कि सामूहिक मुक्ति और सामूहिक पुरुषार्थ होना चाहिए। एक व्यक्ति परिस्थिति का निर्माण नहीं कर सकता। [illegible]

मिलकर करना चाहिए। सहकर्म, सहपुरुषार्थ और सहवीर्य होना चाहिए। जिस परिस्थिति का निर्माण करना हो, सब मिलकर करेंगे। परिस्थिति सबके लिए है, इसलिए उसमें स्थूल कर्म होना चाहिए, स्थूल पुरुषार्थ होना चाहिए। क्लेश और कष्ट सामुदायिक हैं, संकट सामुदायिक है, इसलिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक होना चाहिए। इसके समझने मे कोई दिक्कत नही है। जैसे बाढ आती है, भूकम्प आता है, शहर में आग लग जाती है—इन सामुदायिक सकटों से बचने के लिए पुरुषार्थ भी सामुदायिक ही चाहिए।

सामुदायिक पुरुषार्थ हो और रेजिमेंटेशन न हो, इसलिए वह पुरुषार्थ सर्वसम्मत होना चाहिए। नहीं तो जो कम है, उन्हे उनकी बात माननी पडेगी, जोकि ज्यादा हैं। इसलिए यह जरूरी है कि सामुदायिक पुरुषार्थ सर्वसम्मति से हो। अल्पसंख्या पर बहुसंख्या की सत्ता न हो। बहुसंख्य अल्पसख्य को समझाये। समझाने के लिए पहले क्या करे? बहुसंख्य अल्पसंख्य को समझे। जिस व्यवस्था मे समझना और समझाना अधिक-से-अधिक होता है, वही 'लोकतन्त्र' कहलाती है।

❀ ❀ ❀

अहिंसक : अहिंसा

अहिंसा की शक्ति अमाप है, वैसी ही अहिंसक की है। अहिसक स्वयं कुछ नही करता, उसका प्रेरक ईश्वर होता है।

—महात्मा गाधी

जो अहिसक है और ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है, वही ब्रह्मा के आसन पर बैठने का अधिकारी होता है।

इन्द्रियो के निग्रह से, राग-द्वेष की विजय करने से और प्राणी-मात्र के प्रति अहिसक रहने से साधक अमरत्व प्राप्त करता है।

—मनुस्मृति

अनेको को जो एक रखती है, भेदों मे से अभेद ढूँढती है, वही अहिंसा है।

—विनोबा भावे

अहिंसा जीवन के भीतर : अहिंसा जीवन के बाहर

□ डॉ. महेन्द्र सागर प्रचंडिया

जन्म-मरण प्राणि-चर्या के अनिवार्य परिणाम है। प्राणी शुभ-अशुभ जैसे कार्य करता है, तदनुसार उसे अपने कर्म-फल भोगने पड़ते है। शुभ-कर्म सुखदायी परिणाम देते है और अशुभ कर्म का परिणाम होता है सर्वथा दुःखद। अशुभ कर्मो के मूल में पाँच प्रमुख दुष्प्रवृत्तियाँ सक्रिय रहती है—हिसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। संसार की तमाम दुष्प्रवृत्तियाँ इन्ही में अन्तर्भुक्त हो जाती है। यहाँ हिंसा-अहिसा पर संक्षेप में चर्चा करना हमारा मूल अभिप्रेत है।

हिंसा एक दुष्प्रवृत्ति है। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इसका पोषण करती है। इन सभी दुष्प्रवृत्तियों के विनाश करने के लिए प्राणी को सयम और तप का आचरण करना पड़ता है। जीवन-चर्या से जैसे-जैसे हिंसा नामक दुष्प्रवृत्ति का समापन होता जाता है, वैसे-वैसे जीवन में अहिंसा-स्वभाव का जागरण होने लगता है। इसके यह अर्थ कभी नहीं है कि हिसा के अभाव मे अहिसा का जन्म होता है। वास्तविकता यह है कि अहिसा आत्मिक स्वभाव है और आत्मा के साथ वह सर्वदा विद्यमान रहता है। अहिसा के जागरण पर हिसा का उन्मूलन होता है।

कषाय आत्म-प्रदेश पर आच्छन्न होते है, लेश्याएं उन्हें पुष्ट करती हैं। जैसे सूर्य पर धूल कण आच्छन्न हो जाते है और उसके प्रकाश को ढक लेते हैं। काषायिक परते आत्म स्वभाव को ढक लेती है। काषायिक धूल धुलते ही आत्म-स्वभाव का आलोक फैलने लगता है।

कर्म की कर्म-शाला बड़ी विचित्र है। वह जीवन के बाहर और जीवन के भीतर निरन्तर सक्रिय रहती है। जीवन के बाहर वह शरीर के द्वारा सम्पन्न होती है और वह पर को और पर-परिवार को प्रभावित करती है जबकि जीवन के भीतर वह भावात्मक रूप मे सक्रिय रहती है और प्राय स्वयं को प्रभावित करती है। भाव हिसा द्रव्य हिसा को भी प्रभावित करती है। इसीलिए यह अपेक्षाकृत अधिक भयंकर तथा दूरगामी परिणाम रखती है। कर्म की तात्त्विक मीमांसा जैन-दर्शन में बड़ी बारीकी तथा विशद रूप में की गई है।

प्राणी का जन्म-मरण-परक खेल कर्म-परिणाम पर निर्भर करता है। पुराने और नए सभी प्रकार के जब कटे तब उसका निष्कर्म होना हो[illegible]

निष्कर्म होने पर प्राणी का जन्म आखिरी होता है, और होता है उसका आखिरी मरण। शास्त्रीय शैली मे इसी को प्राणी का मुक्त होना कहा गया है।

जीवन के बाहर हिसा क्रिया प्रधान है। हिसा जब क्रिया प्रधान होती है तब वह संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी तथा विरोधी रूप धारण करती है। किसी प्राणी को जान-बूझ कर आघात पहुँचाना वस्तुत· सकल्पी हिसा कहलाती है। मनोरंजन, आखेट आदि क्रियाएँ भी सकल्प पूर्वक सम्पन्न होती है। अत ऐसी क्रियाएँ संकल्पी हिसा को जन्म देती है। भोजन बनाते, घर-बाहर की सफाई करते, वस्त्र आदि धोते तथा इसी प्रकार की सभी क्रियाएँ करते समय जो हिसा होती है, उसे आरम्भी हिसा कहा जाता है। जीवन-पोषण हेतु, सामाजिक तथा राष्ट्रीय दायित्व निर्वाह हेतु, कृषि-व्यापार आदि उद्योग करने-कराने मे जो हिसा होती है, उसे उद्योगी हिसा कहा जाता है। परकीय अथवा स्वकीय आक्रान्ताओं, शील तथा धर्म-विरोधियो तथा समाज विरोधी तत्त्वो से रक्षा करते समय जो हिसा होती है, वही वस्तुत. विरोधी हिसा है।

इस प्रकार यह सहज मे कहा जा सकता है कि घर के भीतर और बाहर प्राणी वैयक्तिक तथा समाजगत कोई काम करता है तो उसमें होने वाली हिसा वस्तुत अधिक भयंकर नही है। सत अथवा सन्यासी इस प्रकार की आवश्यक हिसा को भी नही करते, पर गृहस्थ-जीवन चर्या इसके बिना सम्पन्न नही हो सकती। फिर प्रश्न उठता है हिसा से बचने के लिए हमे निश्चेष्ट रहना चाहिए ? निश्चेष्ट रहना भी एक प्रकार की हिसा है। जैन धर्म और दर्शन के अनुसार हमें किसी भी कर्म को करते समय प्रमादी अथवा मूर्च्छित नही होना चाहिए। प्रमादी अथवा मूर्च्छित अवस्था मे प्राणी प्राय कृत, कारित तथा अनु-मोदन परक हिंसा करता है जो सर्वथा सदोष है।

प्रमाद मे मन की कलुषता, अज्ञानता तथा असावधानप्रियता प्राय सक्रिय हो जाती है। जीवन-चर्या मे यदि प्रमाद है तो वहा कषाय अवश्य है। कषायजन्य प्रवृत्तियाँ प्राय. हिसा को जन्म देती है। इतना ही नही, ये उसे पोपती और पल्लवित भी करती है। कपाय कुल से आत्मा की निर्मलता और पवित्रता प्राय: प्रच्छन्न हो जाती है।

प्राणी के भाव-जगत् मे कषायजन्य द्वेष और द्वन्द्व जब उदय होते है तब मनोविकारो में उत्तेजना उत्पन्न होती है, इसी से भाव हिसा का जन्म होता है। दूसरे का घात करने का भाव, उस भाव को सम्पन्न-करने की योजना तैयार करने तक का व्यापार भाव हिसा मे आता है और जब यह योजना कार्यान्वित होती है तभी द्रव्य हिसा अपना रूप धारण कर लेनी है। इस प्रकार द्रव्य-हिंसा से भाव हिंसा अधिक बलवती है। भाव हिसा दियासलाई की तीली की भाँति है जो जलकर स्वयं को भस्म करती है और जब वह दूसरो को जलाने मे सक्रिय हो जाती है तब वस्तुत द्रव्य हिंसा का रूप धारण कर लेती है।

हिंसा अपना प्रभाव जीवन के भीतर और जीवन के बाहर तक डालती है। जीवन के भीतर भाव हिंसा और जीवन के बाहर द्रव्य हिंसा का सम्यक् परिपाक होता है। जीवन-चर्या को भाव और द्रव्य हिंसा किस प्रकार दूषित और दुःखद बनाती है, यह कहने की आवश्यकता नही है। सासारिक जीवन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। अहिंसक जीवन-चर्या सदा बाहर और भीतर सुख-शान्ति और सौहार्द का वातावरण उत्पन्न करती है।

हिंसा के परिपाक पर किंचित् विचार कीजिए। जीवन मे यदि भाव हिंसा का उदय है किन्तु द्रव्य हिंसा चरितार्थ नही हो पाती, तो भी जीवन-चर्या हिंसक कहलाएगी। ऐसी हिंसा जीवन मे प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान तथा अनन्तानुबन्धी कर्म का बंध बांधती है जिसे बिना भोगे क्षय करना प्रायः सम्भव नही होता। यदि द्रव्य हिंसा हो किन्तु भाव हिंसा न हो तो इस प्रकार की हिंसा का परिणाम इतना भयकर नही होता। डॉक्टर द्वारा आपरेशन, अध्यापक द्वारा प्रताडना तथा सकल्पी हिंसा को छोडकर शेष सभी प्रकार की द्रव्य हिंसा प्राय इसी कोटि मे सम्मिलित की जा सकती है। इस प्रकार की हिंसा वस्तुतः सज्वल कोटि का कर्म बंध बांधती है, जिसको क्षय करना कठिन नही है। मूल बात तो तब उत्पन्न होती है, जब भाव-हिंसा भी हो और द्रव्य-हिंसा भी हो। ऐसी हिंसा प्राय अनन्तानुबंधी कर्म का बंध बाँधती है। ऐसे विकट कर्मबंध अनेक जन्मो तक क्षय नही हो पाते और जीव घोर दुःखो को भोगता रहता है। नारकिक जीवन यातनाएँ भोग-भोग कर प्राणी निकृष्ट दशा मे जीवन जीता है। ऐसी दशा मे जीव स्व और पर दोनो का ही विनाश और पतन प्राप्त करता है।

इसके अतिरिक्त एक अवस्था यह भी हो सकती है जब जीवन में न तो भाव हिंसा हो और नाही द्रव्य हिंसा हो। इस पुनीत एवं विशुद्ध जीवन-चर्या को कोई महानात्मा, संत-शिरोमणि ही जीता है। सार-सक्षेप मे कहा जा सकता है कि भाव हिंसा और द्रव्य हिंसा के योग से हिंसा का पूर्ण परिपाक भयकर परिणाम पैदा करता है।

हिंसक जीवन-चर्या का परिणाम सदा दु खद होता है अतः सुखद जीवन-चर्या के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अहिंसा भाव को जागृत किया जाय। अहिंसा का मेरुदण्ड है—समता। ससार की सभी आत्माओ के प्रति समत्वदृष्टि रखना वस्तुतः समता है। जब प्राणी अपनी आत्मा के समान अन्य प्राणियों की आत्माओ को अनुभव करने लगता है तो वह हिंसा जैसे निकृष्टतम कृत्य को नहीं कर सकता। ऐसे मनोभाव के उत्पन्न होने पर जीवन से सन्देह, अविश्वास, [illegible] क्रूरता का सर्वथा परिहार हो जाता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति और समाज [illegible] सम्बन्धो का पूर्णतः प्रक्षालन तथा परिष्कार हो जाता है। वर्ग-भेद, जा[illegible] [illegible] प्रान्त-भेद की सकीर्ण तथा क्षुद्र विचारधाराएँ विसर्जित हो [illegible]

फलस्वरूप समुदाय और समाज में मानवीय मूल्यों की पूजा प्रारम्भ होने लगती है। अहिंसा प्राणी मात्र को पूर्ण विकास की प्रेरणा देती है।

आज के व्याप्त सामाजिक प्रदूषण में हिंसा की नही, पूर्णतः अहिंसा की आवश्यकता है ताकि जन-जीवन मे पारस्परिक प्रेम, सौहार्द और सहानुभूति की भव्य भावना उत्पन्न हो और एक आदर्श जीवन जीने के लिए एक स्वस्थ वातावरण उत्पन्न किया जा सके। तव प्राणी स्व और पर कल्याण की भव्य भावना का नित्य चिन्तवन करेगा—

सुखी रहे सब जीव जगत के, कोई कभी न घवरावे।
वैर-पाप अभिमान छोड जग, नित्य नए मंगल गावे।।

— निदेशक, जैन शोध अकादमी
३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ-२०२००१

शाही फरमान

☐ श्री राजेन्द्र प्रसाद जैन

सन् १८५७ ई. में दिल्ली मात्र चार माह स्वतंत्र रही पर इस अल्पकालीन स्वतंत्रता में, क्रान्तिकारियो का नेतृत्व करने वाले, अंतिम मुगल-सम्राट् वहादुर शाह जफर ने गो-वध पर प्रतिबध लगाकर जो काम अजाम दिया उसके लिए वह इतिहास मे सदैव अमर रहेगा।

उसने २८ जुलाई, १८५७ को गो-वध पर प्रतिबध लगा कर जो शाही फरमान जारी किया, वह इस प्रकार था—

"खल्क खुदा की, मुल्क वादशाह का, हुक्म फौज के वडे सरदार का। जो कोई इस मौसम वकरीद में या उसके आगे-पीछे गाय या वैल या वछडा या वछड़ी लुकाकर या छिपाकर अपने घर मे जिवह और कुरवानी करेगा वह आदमी हुजूर जहाँपनाह का दुश्मन समझा जावेगा और उसको सजा-ए-मौत दी जावेगी। और इतिहास साक्षी है कि १ अगस्त, १८५७ को दिल्ली मे सम्पन्न वकरीद पर एक भी गौ की हत्या नही हुई—हिंदू-मुसलमान भाईचारे के साथ एक दूसरे से गले मिल रहे थे—उस दिन सभी ने फिरगियो के खिलाफ साम्प्रदायिक एकता को मजवूत करने का संकल्प लिया था।

—एडवोकेट, भवानी मडी

अहिंसा-वृक्ष की जड़ को सींचें

□ श्री मोफतराज मुणोत

देश-विदेश के सभी धर्मों में अहिंसा को परम धर्म बताया गया है। जैन धर्म मे अहिसा की अति सूक्ष्म और गहरी व्याख्या की गई है। किसी को मारना ही हिंसा नही है बल्कि किसी के प्रति मन में बुरे विचार लाना, कठोर, कर्कश-वाणी का प्रयोग करना भी हिसा है। भगवान महावीर ने अहिसा के साथ तप व सयम को जोड़ कर उसे व्यवहार में लाने पर बल दिया। महावीर स्वयं अहिसा के पथ पर चले और दूसरों को चलने की प्रेरणा दी।

भगवान महावीर को हुए आज २५०० वर्ष से अधिक समय हो गया है, पर देखने में आता है कि जीवन और समाज में अहिसा का पालन जिस अनुपात मे होना चाहिये, नहीं हो पा रहा है। इसका एक प्रमुख कारण मेरी समझ मे यह है कि हमने अहिंसा को "किसी जीव को न मारना" तक ही सीमित कर दिया है। हमारे अधिकांश भाई-बहिन सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी न मरे, इस दृष्टि से पानी छानकर पीते हैं, पाँच तिथियों पर हरी सब्जी नही खाते है, जमीकन्द की सौगन्ध रखते है, रात्रि भोजन नहीं करते है, सावधानी पूर्वक चलते है, ताकि कही कीड़ी-मकोड़े नही मर जावे। यह सब जीवो को न मारने की दृष्टि से बहुत अच्छा है पर मात्र इसी से अहिंसा धर्म का पूर्ण पालन नही हो जाता है। यह तो अहिसा का निषेधात्मक पक्ष है।

अहिसा की पूर्ण परि-पालना के लिये यह आवश्यक है कि हम अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को जीवन में अपनाये। अहिसा का सकारात्मक पक्ष है—सबके प्रति प्रेम, दु.खियो की सेवा, जरूरतमदों की सहायता, प्राणी मात्र के प्रति शुभ सकल्प। सच तो यह है कि अहिंसा का मूल प्रेम, करुणा, दया, सहयोग और सेवा है। इसके अभाव मे की गई सभी क्रियाएँ यॉत्रिक बनकर रह जाती है, रूढि मे बदल जाती हैं। आज अधिकांशतया हमारे समाज मे ऐसा ही हो रहा है।

अहिसा की परिपालना के लिये यह आवश्यक है कि हमारे मन मे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषाय न हो। जब तक मन में विकार है हम चाहे पानी छानकर पीवे, चाहे रात्रि भोजन न करे, चाहे हरी सब्जी न खावे चाहे पैसा देकर गायों और बकरों को छुड़वा दे, इतने मात्र से ही हम वास्तविक [illegible] मे अहिसा का पालन नही कर पायंगे। अहिंसा का मूल करुणा है। [illegible] हमारा स्वभाव है। जब हमारे दिल मे करुणा और प्रेम होगा तो हम [illegible] किसी का नुकसान न करेगे। अनावश्यक हिसा इसमे अपने आप [illegible] हम स्वय न रात्रि भोज करेगे, न जल का अनावश्यक दुरुपयोग [illegible] जीवो को सतायेगे।

आज परिवार मे जो अशान्ति है, देश में जो विघटन और साम्प्रदायिक कट्टरता है उसका मूल कारण अहिसा के विधेयात्मक रूप को न अपनाना है। यदि हमारे मन मे लोभ बसा हुआ है तो हम अहिंसा का पालन नही कर सकते। लोभवश ही परिवार मे सास-बहू, देवरानी-जेठानी, ननद-भौजाई आदि मे झगडे होते है। लोभ वश ही आर्थिक अपराध किये जाते है। दहेज के नाम पर मूक वधुओ की वलि दी जाती है। सच तो यह है कि कषाय भाव निरतर जाने-अनजाने हिसा करते रहते है। वहू आत्म-हत्या करे या न करे पर जीवित रहने पर भी सास के ताने व अत्याचारो से वह तिल-तिल मरती रहती है। खेती व अन्य व्यवसायों में हिंसा से बचने के लिये कई भाई ब्याज का धन्धा करते है पर वे जिस तरीके से ब्याज का धन्धा करते हैं उससे ऋण लेने वाला पूरी तरह निचोड लिया जाता है। यह हिसा नही तो क्या है ?

कई लोग नामवरी के लिये, अपने अह के पोषण के लिये धार्मिक कार्यो में वडा दान देता है, मन्दिर निर्माण और मूर्ति प्रतिष्ठा के लिये बडी-बडी वोलिया बोलते है, धर्म के नाम पर, पूजा के नाम पर अपनी सम्पदा और सम्पत्ति का प्रदर्शन करते है, पर मात्र इससे अहिसा धर्म का पालन नही हो पाता क्योकि अहिसा का सम्बन्ध वाहरी चमक-दमक और पौशाक से नही है, वह आत्मा का स्वभाव है, धर्म की जड है। इस जड को हम प्रेम, करुणा और दया से ही सीच कर हरा-भरा रख सकते है।

आज हमारी दु खद स्थिति यह है कि हम अहिसा की जड़ को प्रेम, करुणा, दया, सद् व्यवहार जैसी वृत्तियो के द्वारा सीचने की वजाय, पानी छान कर पीने, हरी सब्जी न खाने, कीड़े-मकोड़ो को वचाकर चलने, रात्रि भोजन न करने जैसे छोटे-मोटे व्रत नियम लेकर ही उसकी शाखाओ, पत्तो और फूलो को ही सीचने का काम कर रहे है, पर यदि वृक्ष की जड़ मजबूत नही होगी तो उसकी शाखाएँ पत्ते-फल-फूल आदि कैसे स्वस्थ और सुरक्षित रह सकेगे। अहिसा रूपी वृक्ष की जड को सीचने के लिये हमें चाहिये अन्दर की करुणा, नि स्वार्थ प्रेम, निष्काम सेवा और सवके प्रति सद् व्यवहार। हमारा मन क्रोध की वजाय क्षमा मे विचरे, अहकार की वजाय नम्रता से जुड़े, छल-कपट मे न उलझकर सरलता मे विचरे और लोभ वृत्ति छोडकर सतोप धारण करे, तभी हम अहिंसा के वृक्ष की जड को सीच सकेगे और जव हम मे अहिसा के विधायक गुण प्रकट होगे तो स्वत: हमारा जीवन और व्यवहार ऐसा वनेगा कि हम किसी भी प्राणी को कष्ट न देगे। धर्म के जितने भी व्रत नियम है, जितनी भी धार्मिक क्रियाएँ हैं, वे स्वत: होंगी। "जयणा" का भाव हम मे प्रकट होगा और तव महात्मा कवीर का यह दोहा सचमुच चरितार्थ होगा :—

कवीरा वादल प्रेम का, हम पर वरखा आय।
अन्तर भीगी आत्मा, हरी भरी वनराय॥

—अध्यक्ष, अ. भा श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक सघ, जोधपुर
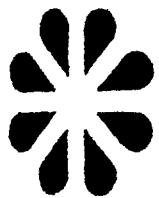
योग और अहिंसा

□ डॉ० नरेन्द्र शर्मा 'कुसुम'

एक विशेष अर्थ में योग और अहिंसा एक दूसरे के पर्याय माने जा सकते हैं। योग यदि अखण्डता का नाम है तो अहिंसा मे, जोड़ने का भाव प्रमुख है। जो खण्ड-खण्ड है वह योग नही हो सकता, जो एक दूसरे को तोडे वह अहिंसा नही हो सकती। योग हमें पशुत्व से मुक्त कर दिव्य-तत्त्व की अनुभूति कराता है, अहिंसा प्राणिमात्र मे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का भाव जागृत करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि अहिंसा एक प्रकार का योग ही है। हमारी अनुदात्त जीवन-शैली को उदात्त जीवन-शैली में परिवर्तित करने की एक अभ्यासापेक्षी प्रक्रिया। दरअसल, योग और अहिंसा के अभाव में सभ्य एव सुसंस्कृत मानव की कल्पना करना असंभव है। योग यदि संयम है तो अहिंसा उसकी निष्पत्ति।

वडा विचित्र सा विरोधाभास है कि जिस मनुष्य के बारे में 'नहि मानुषात् श्रेष्ठतर हि किंचित', 'अशरफुल मखलूकात (सृष्टि में श्रेष्ठ) जैसे शब्दों का प्रयोग कर उसकी श्रेष्ठता का परिचय दिया गया है, वही मनुष्य असद्प्रवृत्तियों का समवाय वनकर हिंसा और असयम जैसी आसुरी प्रवृत्तियो में लिप्त रहता है। लगता है मनुष्य की आदिम हिसक प्रवृत्ति पर तथाकथित सभ्यता का कोई विशेष असर नही पड़ा है। प्रसिद्ध दार्शनिक जे० कृष्णमूर्ति ने अपनी पुस्तक **Beyond Violence** में इस तथ्य की ओर विशेष रूप से इंगित किया है : "We have built a society which is violent and we as human beings, are violent, the environment, the culture in which we live is the product of our endeavour of our struggle, of our pain, of our appalling brutalities" (पृ०७५) कितना विषाद का विषय है कि अपने भीतर 'दिव्य-दीप' को छिपाये हुए मनुष्य, 'खुदा' होकर भी एक 'अदना इंसान' बन गया है :

> इन्सान की वदवख्ती, अन्दाज़ से बाहर है,
> कमवख्त खुदा होकर, वन्दा नजर आता है।

मनुष्य इस द्वन्द्व की स्थिति से अपने को उवारने का सतत प्रयत्न करता रहा है क्योंकि वह पशु से भिन्न है। विकास उसका लक्ष्य रहा है। बुद्धि का वरदान उसे मिला है, इसलिए वह पशुत्व से ऊपर उठना चाहता है, किन्तु उसके इन प्रयत्नों के बावजूद भी उसके भीतर का पशु उग्र होकर उससे वे कार्य करा लेता है जिनकी आशा मनुष्य से नही की जा सकती। यहीं से मनु-

की दुर्गति की कहानी आरम्भ होती हैं। यही से असंयम, हिंसा आदि पाशविक प्रवृत्तियों का सिलसिला शुरू होता है।

योग और अहिसा—दोनो ही मनुष्य को न केवल मनुष्य बने रहने के लिए प्रेरित करते है अपितु ये उसे दिव्यत्व की ओर भी ले जाते हैं। मनुष्य का यही तो गंतव्य है, यही तो उसकी मंजिल है। योग और अहिसा एक दूसरे के पूरक है। बिना योग के अहिसा कैसी, और बिना अहिंसा के योग कैसा ? योग यदि चित्तवृत्तियों का निरोध है तो अहिंसा उस निरोध का परिणाम। ससार के प्राय: सभी धर्मो मे योग और अहिसा की बात कही गई है। कोई भी धर्म, असंयम, हिंसा, असत्य आदि अमानवीय प्रवृत्तियों की वकालत नही करता। योग मनुष्य की इतस्तत: विकीर्ण शक्तियों को केन्द्रीभूत कर आत्म-ज्ञान और आत्म विकास का पथ प्रशस्त करता है, अहिसा मनुष्य को उसके मूल 'धर्म' 'प्राणिमात्र के प्रति 'प्रेम' के प्रति सजग बनाती है। योग खण्ड-खण्ड की 'खण्डता' को अखण्डता में बदल देता है, अहिसा किसी को खण्डित होने ही नही देती।

यह एक सारभौगिक सत्य है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रमुख रूप से पाई जाती है। कोई भी प्राणी कष्ट पाना नही चाहता, मरना नही चाहता। भगवान महावीर ने कहा है—

'सव्वे जीवावि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जि डं।'

प्राणिमात्र की इस इच्छा का हनन ही हिसा है। मनुष्य मे हिंसा की प्रवृत्ति का कारण उसका अज्ञान है। 'स्व' को न समझ पाने की उसकी असमर्थता। योग की प्रक्रिया के द्वारा मनुष्य इस 'स्व' को समझ सकता है। जब वह 'स्व' को समझ लेगा तो हिसा मे क्यों प्रवृत्त होगा ? चित्त वृत्तियो के निरोध से 'आत्म-ज्ञान' स्वत. हो जायेगा "तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्" (पातजलि)। योग के सतत अभ्यास से मनुष्य मे 'विवेक' जागृत होता है क्योकि इसी अभ्यास तथा वैराग्य से चित्त की वृत्तियो का निरोध संभव है: "अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोध :" (योगसूत्र) जब इस प्रक्रिया के माध्यम से मनुष्य अहिसा मे प्रतिष्ठित हो जायेगा तो वह किसी से बैर क्यों करेगा ? (अहिसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ बैर त्याग:)। (योग सूत्र)

योग का लक्ष्य मनुष्य को आत्म-विकास के रास्ते पर ले जाना है। 'यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि' के रास्तो से गुजर कर मनुष्य पूर्णत्व की ओर पहुँचता है। अहिंसा यद्यपि इस प्रक्रिया मे एक 'यम' के रूप मे ही बताई गई है, पर गम्भीरता से विचार करने पर पता चलेगा कि 'अहिसा' में योग की समग्र प्रक्रिया सन्निहित है। अहिसा को 'हाथी के पाव' की संज्ञा दी गई है क्योकि अहिंसा के सिद्ध हो जाने पर मनुष्य, सत्यशील, संयमी, अपरिग्रही, पवित्र, सनोषी, तपस्वी और ईश्वरोन्मुख बन जाता है। अहिंसा के

नवी शास्त्रीय नामों—'निव्वाण, समाही', 'सत्ती' 'कित्ती'—में 'आत्म-विकास' की भावना ही ध्वनित होती है। आचार्य नानेश, अहिंसा को आत्म शक्ति को प्राप्त करने की पहली सीढ़ी मानते हैं : "अहिंसा आत्म शक्ति को प्राप्त करने की वह पहली सीढी है जिस पर पॉव रखकर ही ऊपर की ओर बढ़ा जा सकता है। अहिंसा की आराधना से शक्ति का संयम करती हुई आत्मा ऊर्ध्वगामी बन सकती है। यह कहा जा सकता है कि आत्म-शक्ति का मूल अहिंसा में ही है और जिसने मूल को पकड़ लिया, मूल को पुष्ट और दृढ़ बना दिया, उसे कौन हिला सकता है।"

हिंसा का जन्म होता है मनुष्य में अहं के कारण। स्वयं के प्रति लगाव के कारण। जब मनुष्य सभी को अपना जैसे मानने लगे तो वह हिंसा करेगा ही क्यों? क्या कोई अपने को या अपनों को कष्ट पहुँचाना चाहेगा, उन्हें मारना चाहेगा? भगवान महावीर कहते हैं : "प्रत्येक प्राणी अपने वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख के प्रतिकार के लिए जीवों की हिंसा करता है, करवाता है या अनुमोदन करता है।" मनुष्य इसी प्रवृत्ति के कारण परिग्रह, स्तेय, असत्याचरण में लिप्त होता है। जब मनुष्य में आत्म-ज्ञान का उदय हो जाता है तो उसमें 'समता' का भाव जगता है। समता—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा व आस्था की ओर ले जाती है। विषमता बाहर हो या अन्दर-संताप को जन्म देती है। 'समता' की दृष्टि मनुष्य को मनुष्य से जोड़ती है। मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान 'समता-दृष्टि' में खोजा जा सकता है। यह दृष्टि अहिंसा के 'मनसा वाचा कर्मणा' आचरण से प्राप्त होती है। समता की दृष्टि से मनुष्य मे करुणा, मुदिता, क्षमा जैसी मानवीय प्रवृत्तियों का विकास होता है। यहाँ पर योग और अहिंसा और भी निकट आ जाते है क्यों कि, योग 'समत्वं' ही तो है। समता का अर्थ है सबको अपने जैसा मानना। 'समणसुत्तं' की गाथा २४ के अनुसार—

> जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो।
> तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणं ॥

—जो तुम अपने लिए चाहते, हो वही दूसरों के लिए भी चाहो तथा जो तुम अपने लिये नही चाहते, वह दूसरों के लिए भी न चाहो। समता-दृष्टि का यही मूल मन्त्र है। जब मनुष्य में असद्वृत्तियों का दमन होने लगता है तो उसमें स्वतः ही अहिंसा उदित हो जाती है इसके फलस्वरूप व्यक्ति में समत्व योग की भावना स्फूर्त हो जाती है जिससे व्यक्ति सहज रूप से सभी को सम समझने लगता हैं :

> अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
> अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थए॥
> (उत्तर० १/१५)

अहिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति सच्चे अर्थ में पण्डित बन जाता है, "पण्डित समदर्शिनः" । (गीता)

अहिंसा का क्षेत्र मात्र 'किसी को न मारने' तक ही सीमित नही है। हिसा, कार्मिक, वाचिक मानसिक हो सकती है। इस प्रकार की हिसा को रोकने का नाम ही अहिसा है। व्यापक अर्थ मे प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि अहिंसा, विश्व-प्रेम, सहिष्णुता, करुणा, सहानुभूति आदि मानवीय उदात्तगुणों का ही दूसरा नाम है। अहिसा मे अपरिग्रह, अनेकांत एवं सत्यशीलता अपनेआप आ जाते है। अहिंसा 'मानव-धर्म' है, मनुष्य का आभ्यन्तर तत्त्व है, उसका 'स्वभाव' है। जब कभी मनुष्य अपने इस 'धर्म' से च्युत होने लगता है तो वह मानव नही रह जाता। कहा गया है कि :

> अहिसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य किचनं ।
> यश्चपालयते नित्यं, समाप्नो त्यात्मदर्शनं ।।

—अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, व अपरिग्रह को जो सर्व रूप से संयमित हो पालन करता है, वह आत्म-दर्शन को प्राप्त करता है।

आज हम सर्वत्र विषमताओं के बीहड़ जगल में भटक रहे है। हिंसा इसीलिए पनप रही है। विषमताओं से क्या कोई सुख मिल सकता है ?

> अज्ञान कर्दमे मग्नः, जीव. संसार-सागरे ।
> वैषम्येण समग्युक्त., प्राप्तुमर्हति नो सुखं ।।

—संसार-सागर के अज्ञान-रूपी कीचड़ में लिप्त, विषमता से युक्त जीव कभी भी सुख को प्राप्त नही कर सकता।

इस स्थिति का उपचार है अहिंसा के द्वारा अर्जित समता दृष्टि । 'मैत्ति 'भूयेसु कप्पए' (प्राणियो से मैत्री करो) 'आयतुले पयासु' (सबको अपने तुल्य समझो) की भावना ही मनुष्य को विनाश से बचा सकती है। यही अहिंसक दृष्टि सर्वत्र करुणा, मैत्री, प्रेम फैला सकती है। 'सर्वे भवन्तु सुखिनो' का स्वप्न केवल अहिंसा ही साकार कर सकती है। आज के संसार में योगमय जीवन को परमावश्यकता है—वह जीवन जिसमें सयम हो, अहिसा हो। यह मानते हुए कि हमारे समाज में हिसक प्रवृत्तियों का ताण्डव नृत्य हो रहा है, हमें निराश नही होना चाहिए। योग और अहिसा से दीप्त मानव-प्रेम का प्रदीप बुझेगा कभी नही—

> इन्सान मुहब्बत का, चलन भूल गया है,
> अल्लाह यह क्या हाल, जमाने का हुआ है ?
> ये गमे मुहब्बत है, बुझी है न बुझेगी
> माना कि बहुत तेज, जमाने की हवा है।

—७ च २, जावहर नगर, जयपुर-३०२००४

अहिंसा और सेवा

☐ श्री टीकमचन्द हीरावत

क्या विश्व में कोई ऐसा मानव है जो पूर्णरूप से हिंसक हो सकता है ? नहीं हो सकता है। लेकिन पूर्णरूप से अहिंसक हो सकता है। अहिंसा का व्यापक अर्थ हमें समझना चाहिए। क्या अहिंसा का अर्थ हिंसा न करना ही है या प्राणो का घात न करके उसको अभयदान देना है, उसके जीवन का रक्षण करना है। अहिंसा पर तमाम विश्व जोर दे रहा है। वैसे तो सृष्टि की रचना हुई तब से ही अहिंसा पर मानव जाति का चिन्तन रहा है। बिना अहिंसक हुए मानव का विकास हो ही नही सकता है। आज तो विश्व में अहिंसा पर सबका ध्यान आकर्षित है कारण कि भौतिक प्रगति की स्पर्धा में मानव ज्यादा कुंठित होता जा रहा है। जितना वह कुंठित होता जा रहा है, उतना उसमे हिंसा का भाव बढ़ता जा रहा है और उस हिंसा को रोकने का एक ही तरीका है मानव-सेवा। अहिंसा का क्रियात्मक रूप है सेवा, जो उसके भावात्मक रूप को सजीव बनाती है।

हिंसा का मूल कारण है सुख-भोग। इसकी आसक्ति के कारण ही मानव हिंसा करने लग जाता है जो उसे नही करना चाहिए। सुख भोग का सदुपयोग सेवा है। सेवा के बिना अहिंसा का सही रूप उजागर नही हो सकता है। सेवा वही कर सकता है जिसका हृदय पराये दु:ख से भरा हो। सेवा का अर्थ किसी का दु:ख मिटाना नही है, अपितु अपना सुख बांटना है। सुख के व्यय होने पर राग निवृत्त हो जाता है और हृदय त्याग तथा प्रेम से भर जाता है। त्याग से चिर शान्ति और प्रेम से अगाध-अनन्त रस स्वत. प्राप्त होता है जो मानव की मांग है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि सुख-भोगने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और सेवा द्वारा सुख का सदुपयोग करने से प्राणी-कल्याण तथा सुन्दर समाज का निर्माण होता है, जो वास्तव में मानव जीवन का लक्ष्य है। यही वास्तविक अहिंसा का सकारात्मक रूप है। अहिंसा आ जाने पर निर्मलता, स्नेह और एकता आ जाती है। ये तीनो ही मानवता के विशेषण हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि निर्मलता, स्नेह तथा एकता मे ही अपना तथा दूसरो का हित है जो वास्तविक अहिंसा है। उस मधुरफल को प्राप्त करना ही मानव जीवन का उद्देश्य है। यह तभी सम्भव होगा जब हम अपने को निर्दोष बनाये, निर्मल बनाये तथा प्रेमी बनाये। निर्मल बनाने के लिये दूसरो के अधिकार की रक्षा, निर्दोष बनाने के लिए अपने अधिकार का त्याग। ऐसा होने पर बीजरूप मानवता जो मानव मात्र में विद्यमान है, विकसित हो सकती है। अतः उसको विकसित करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। यही वास्तविक अहिंसा है।

साधना युक्त जीवन ही मानव जीवन है। इस साधन के दो अंग है। एक तो अपना कल्याण अर्थात् हम किसी की हिंसा न करें और दूसरा सुन्दर समाज का निर्माण अर्थात् समाज को अहिंसा के लिए प्रेरित करना। जो मानव इसको जीवन की आवश्यकता नही मानता, वह वास्तव में मानव नही है। जो मानव दूसरे के अधिकारों की रक्षा नही कर सकता है, वह पूर्ण रूप से विकसित नही है। जब कोई हमारे प्राणों का हरण करता है तब हम अपना बचाव करते है तो हमे क्या अधिकार है कि हम दूसरों के प्राणों का हरण करे? हिंसा का अर्थ अपने में छिपी हुई वासना की पूर्ति का प्रयास ही मानना चाहिए।

उपर्युक्त कथन से ऐसा लगता है कि अहिंसा और सेवा आपस में पर्याय-वाची शब्द है। ऐसा हो ही नही सकता है कि मानव बिना सेवा के अहिंसक जो जाय। अगर वह भाव से अहिंसक हो भी गया और सेवा का रूप ग्रहण नही किया तो एक दिन वापस हिंसक बनने की संभावना हो जावेगी। पूर्ण रूप से अहिंसक तभी बना जा सकेगा जब उसकी अहिंसा का क्रियात्मक रूप सेवा मे प्रकट होगा।

—कार्याध्यक्ष, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मंडल, बापूबाजार, जयपुर-३

×❀×

गजेन्द्र-वाणी

❀ अहिंसा की सेवा भगवान की सेवा है। जो अहिंसा की सेवा करेगा, वह समाज और विश्व की सेवा करेगा।

❀ जिसके मन में, तन में और वाणी में संयम होगा, वह व्यक्ति अहिंसा का ठीक रीति से पालन करेगा।

❀ हिंसा घटने से समस्त संसार की भलाई होगी, लोगो मे परस्पर प्रेम बढेगा, आपस मे शांति तथा सौमनस्य का प्रादुर्भाव होगा, ईर्ष्या, कलह, द्वेष और विरोध का दमन होगा तथा परवत प्रतीत होने वाले आत्मीयवत् दिखाई देगे।

—आचार्य हस्ती

विज्ञान और अहिंसा

☐ डॉ. धनराज चौधरी

मनुष्य की बुद्धि श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति विज्ञान है। आज के विश्व मे कोई कुछ भी अवैज्ञानिक तौर-तरीके से समझना नही चाहता। उसे स्वीकार ही तब है जबकि सुझाव प्रयोग आधारित हो एवं तर्क की कसौटी पर खरा उतरा हो। विज्ञान और तकनीकी ने देखते-देखते विश्व को तेजी से बदला है। जानकारिया ब्रह्माण्ड के बारे मे, पदार्थ के बारे मे, जीव के बारे में, शरीर के बारे मे बेशुमार बढी है। वस्तुत: ज्ञान का विस्फोट हुआ है। पदार्थ एव जीव के बारे मे ज्ञान दस साल मे दुगुना हो जाता है। सामान्य बुद्धि के वस का नही कि ज्ञान की इस बढत से अपने जीवनकाल मे परिचित तक हो सके। बुद्धि के नित नये धरातल छूने मे उसका संघर्ष है, प्रकृति से सघर्ष, परिस्थिति से सघर्ष।

न्यूटन, डारविन, आइंस्टाइन, फ्रायड, पास्चर, जुग आदि करोड़ों के सहयोग का आज लेखा करना सभव नही। एटम बम, टीवी, सीटी स्केन, सकर बीज अनगिनत उपलब्धियां प्राप्त हुई है मनुष्य के बौद्धिक विकास से। अब मिथ्या धारणाए नही चल सकती, वास्तविकता ही हमारा धरातल है। शरीर को स्वस्थ-सुन्दर बनाये रखने के लिए जरूरते पूरी होनी चाहिए। उत्पादकता और हमारे क्रियाकलाप परिणाम आधारित हों। अच्छे मकान हो, अच्छी कारे हो, अच्छे चेहरे-मोहरे हों, अच्छी दवाइयां हों, अच्छी सब्जी हो और अच्छे से अच्छी बारूद और तोप। अच्छे आयुध बनाने के लिए दुनिया मिलटरी पर प्रति मिनट एक करोड का खर्चा करती है। और दूसरी ओर है प्रकृति, जिसे अपनी सतति की सुरक्षा की निरतर चिता है। गुपचुप वह बचाने के प्रयत्न कर भी रही है। उदाहरण के लिए, कार्बनडाईआक्साइड का स्तर वायुमण्डल मे निरतर बढ रहा है। यह प्राणघातक गैस है। शोध द्वारा यह पाया गया है कि जिन स्थानो मे कार्बनडाइआक्साइड की मात्रा अधिक होती है वहा की वनस्पतियो की जड़े मोटी हो जाती है। अर्थात् वायुमण्डल में व्याप्त विषैली गैस को कम करने हेतु पेड़ व पौधे उसे अपनी जडो मे सगृहीत कर लेते है।

अब हम मनुष्य के एक और धरातल की ओर झाकें। उस धरातल पर है विचार और अनुभव जैसी बाते जो कि पदार्थ और ऊर्जा प्रत्ययों से नितान्त भिन्न स्तर है और पदार्थ विज्ञान से इनका स्पष्टीकरण प्राप्त नही होता। वैज्ञानिकता हमे तर्कसम्मत बनाती है और तर्कसगतता से हमे विशेषज्ञ मिलते है। विषय के विशेपज्ञ होना एक बात है मगर वे ऐसे विचारवान हो कि [illegible] अलग बात है। विचारवान उसे कहेगे जो कुछ रसमय कर दे, [illegible] [illegible] के जीवन मे। यह प्रेम से संभव है और प्रेम विज्ञान का विषय नहीं

है। यह तन की जरूरत से परे की बात है। विज्ञान के सिलसिले मे तो सीधी स्पष्ट बात है कि बाहर की दुनिया मनुष्य के अनुकूल कर दो। नैसर्गिक परिस्थितियां बदली है बहुत कुछ समृद्ध राष्ट्रो ने कि प्रकृति मनुष्य की चेरी हो जाय। मगर वे सुखी नही, वहां प्रेम नही। मनुष्य के जीवन मे बहुत कुछ बेजोड है, महिमायुक्त है जो कि तथ्यों की पृष्ठभूमि पर नही ठहरता है। यह कुछ मन के जरूरत की बात है। हाँ कुछ सगीतमय, कलात्मक और साहित्यिक। बाह्य यात्रा के साथ-साथ अतर्यात्रा मनुष्य की चेतना से जुड़ी है। यांत्रिकता तोडने को जी मचलता है जिसे समय का अभाव खलता रहता है, थक कर वह ठहरना चाहता है, शात होने हेतु।

मुझे बर्टरण्ड रसैल का एक कथन स्मरण पडता है। "बावलो को छोड दे वरना कुछ बातों पर तो सब एक मत है कि मरने से जीवित रहना बेहतर है, भूखे मरने से भर पेट रहना बेहतर है, गुलामी से आजादी भली है। मगर अधिक संख्या मे लोग यह सब कुछ अपने और अपने सगे-सबंधियों के लिए चाहते है। उनकी बला से, औरो का कुछ भी हो, उसकी चिंता नही। विज्ञान के द्वारा ऐसे व्यक्तियों के प्रति विरोध प्रकट किया जाना चाहिए कि अब सपूर्ण मानवता एक परिवार हो गई है। हम अपनी सम्पन्नता दूसरे के सम्पन्न हुए बिना सुरक्षित नही रख सकते।" प्रकृति का अत्यधिक दोहन करे कि कुछ लोग समृद्ध हो सके तथा यत्रो की भरमार ने इस धरती पर बहुत कुछ असतुलित कर दिया है। समुद्र के धरातल मे तेल बढ रहा है कि वहा के जीव-जन्तुओ की जान को भारी खतरा हो गया है, हवा मे विषैला धुंआ बढ रहा है और जगलो का सफाया हो रहा है। वस्तुतः तकनीकी और प्राद्यौगिकी ने धरती के अस्तित्व को खतरे में डाल दिया है। विज्ञान के कुछ अनुप्रयागो पर अकुश लगाना आवश्यक हो गया है। गरीब और धनाढ्य देशो के बीच की खाई और चौडी हो गई है और घृणा बढती जा रही है। भय विश्व को घेरे है, तनाव निरतर बढता जा रहा है। विज्ञान ने ऐसी वास्तविकताएँ ला खडी की हैं कि हम विनाश के कगार पर आ खडे है। आज से कुछ वर्षो पहले पदार्थ वैज्ञानिकों के मस्तिष्क मे बमो के कारण खतरो की जो चिंता थी, उसका स्वरूप बदलकर अब पारिस्थितिकी से उत्पन्न खतरा हो गया है। न शुद्ध वायु, न शुद्ध भोजन—पर्यावरण जीवन को चुनौती देने लगा है। यह सब मनुष्य की मेधा विज्ञान की परोक्ष देन है। एड्स जैसी इलाज रहित बीमारी इस वैज्ञानिक युग की देन है। पूरी तरह त्रस्त पश्चिमी देशो को इन से आगाह करते वैज्ञानिक टॉयनबी ने इंगित किया था। भारत की ओर देखो, पूरब मे वह रास्ता है जो कि इस विनाशलीला से बचा सकता है।

आइस्टाइन ने कहा है: धर्म के बिना विज्ञान लंगड़ा है और विज्ञान के बिना धर्म अंधा है। मनुष्य का बाहर और भीतर समान रूप से बलशाली हो।

रोटी, कपडा, मकान, संगीत, कला, साहित्य, शांति, प्रार्थना, ध्यान सभी संतुलन लिए हो मानव मे । वाह्य और भीतर में एक तालमेल होना आवश्यक है । यदि हम भीतर को शब्दो में व्यक्त करना चाहें तो हम कहेगे मनुष्य को चाहिए भय से मुक्ति, पूर्वाग्रहो से छुटकारा, अनुशासन का अवतरण और प्रेम तथा रसमय क्रियाकलाप । स्वतत्रता तथा सम्पन्नता तथा न्याय पाना हमारी आवश्यक मांग है। यह सभव है जवकि 'स्व' के साथ 'पर' का भी समादर हो । गुस्सा, भय एव प्रतिशोध की भावना के विना हमें रहना आ जाय । ये सारी आकांक्षाएं मनुष्य को अहिंसक होने के लिए उत्साहित करती हैं अथवा कहें कि अहिसक हुए विना सही मायने मे अस्तित्व संभव ही नही । इससे प्रकट होता है कि विज्ञान और अहिसा मूलतः पूरक है । अहिसक हुए विना सच्चा वैज्ञानिक वना नही जा सकता और सच्चे अहिसक को वैज्ञानिक प्रवधि जीवन में उतारनी होगी । आर. के प्रभु एवं यू. आर. राव ने 'महात्मा गाधी के विचार' पुस्तक में लिखा है कि गांधीजी ने कहा था जव मैंने स्वयं को घटाकर शून्य करना जाना तव कही सत्याग्रह की शक्ति को प्राप्त कर सका । सच्चे अर्थो में जो वैज्ञानिक होगा उसका अहंकार शून्य हो जायेगा तभी तो आइंस्टाइन कहते है कि मैं ऐसी कोई वस्तु नही सोच पाता जिसे कि अति आवश्यक समझूँ और एक मिनिट के नोटिस पर त्याग न सकूँ ।

वस्तुतः अस्तित्व को रक्षा के लिए, जीवन की निरंतरता के लिए पृथ्वी पर दो वातें मूलत. आवश्यक हैं - विज्ञान और अहिसा । विज्ञान वाह्य संसार है जो मूलत. पश्चिम में विकसित हुआ है, अहिंसा भीतरी संसार का मूल तत्त्व है जो मूलत. पूर्व में विकसित हुआ है । पूरव और पश्चिम का मिलन ही पूर्णता प्रदान कर सकता है । अपने तरीके से सत्य के दर्शन हेतु विज्ञान वढ रहा है । वह तथ्यों के जरिये एक-एक कर अनंत की रचना में पैठना चाहता है । अहिंसक भी तो यही चाहता है । गांधीजी ने 'सत्य के साथ मेरे प्रयोग' मे कहा है : मेरे अनुभव ने सव कहीं एक ही वात की पुष्टि की है कि सत्य के अतिरिक्त कोई और ईश्वर नहीं है........ (एवं) उस सच को प्राप्त करने का एकमात्र तरीका है अहिंसा—विश्वव्यापी एवं सव कही विद्यमान सत्य की आत्मा के सम्मुख दर्शन के लिए, छोटे से छोटे प्राणी से प्रेम करना आना चाहिए.......मुझे स्वयं को शून्य के तुल्य छोटा वनना होगा....... मानवीयता की आखिरी सीमा अहिंसा (मन, वचन एव कर्म से) है ।" भारतीय वैज्ञानिक स्वर्गीय डॉ. दौलत सिंह कोठारी तो मानते है कि विज्ञान हमें विनम्र वनाता है और विना अहिंसक हुए विज्ञान मनुष्य के मन पर विजय नहीं पा सकेगा । विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है, विज्ञान को अंतरंगत आनन्दमय वनाने के लिए अहिंसा का मार्ग अपनाना होगा ।

को शक्ति चाहिए थी कि वह अपना प्रभुत्व प्रकट कर सके—उसने परमाण्विक युग की इमारत खड़ी की। शक्ति-संग्रहण के पागलपन ने एक नई चुनौती पैदा कर दी कि धरती स्वयं खतरे में आ पड़ी। ऐसी नव परम्परा अपनी ओर प्रगति में आगे की ओर झांकते विनाश का दर्शन करती है। समझदार होती वह विकल्प के रूप में अपारम्परिक को विकसित करना चाहती है। यह अपारम्परिक है: सौर ऊर्जा, वायो ऊर्जा, पवन ऊर्जा, ज्वार ऊर्जा। शक्ति के बिना जीवन संभव नही मगर शक्ति प्राप्त करने के तरीके संकट बढाने वाले नही बल्कि समता बना कर रखने वाले हों। वे मूलत: अहिंसक हो, इसीलिए कदाच औद्योगिक क्रान्ति, परमाण्विक क्रान्ति, और सौर क्रांति की बात आज विज्ञान की प्रमुख चिंतनधारा में है।

—एसोशियेट प्रोफेसर, भौतिकशास्त्र विभाग, राज. वि. वि. जयपुर

सूई की पीड़ा

डॉ. गोवर्धन शर्मा

माली के हाथो पड़कर सूई मन-ही-मन फूल उठी। एक अभूतपूर्व उत्साह में भरकर उसने शताधिक पुष्पो के हृदय विदीर्ण कर डाले। अपनी इस विजय पर गर्व में चूर होकर उसने यह भी नही देखा कि अन्ततः उसे कुछ भी नही मिला है। माली ने उसे एक ओर खोंस दिया है।

अपनी इस उपेक्षा पर दु:खी होकर सूई ने धागे को ललकारा—"दुष्ट! इन सुन्दर फूलो पर मेरा अधिकार है। मैंने इनका शिकार किया है, तू क्यो इन्हे बटोरता है?'

उत्तर दिया फूलो ने—तुम अपने विजयमद मे चूर होकर छली ही रही। डोरा पहुँचा समवेदना की मृदुता और व्यवहार का लचीलापन लिए, और वह हमारे हृदय में स्थान पा गया। मारने वाले से बचाने वाला श्रेष्ठ है।

विज्ञान को अहिंसा से जोड़ें

□ डॉ दौलतसिंह कोठारी

हमारे सामने कोई भी समस्या हो, हम उसका हल निकालना चाहे तो आजकल उसमे विज्ञान और टेक्नोलॉजी की परम आवश्यकता होती है। भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा युग आया है, जिसका आधार विज्ञान और टेक्नोलॉजी है। चाहे आर्थिक समस्या हो, खेती की कठिनाइयाँ हो या सुरक्षा का सवाल हो, सबका हल खोजने के लिए और प्रगति एवं विकास के लिए हमे विज्ञान और टेक्नोलॉजी का सहारा लेना पडता है। लेकिन एक बात गहरी चिन्ता जगाती है। एक ओर तो मानव इतिहास में पहले कभी न तो इतना विज्ञान था, न टेक्नोलॉजी थी, दूसरी ओर मानव-मानव के बीच जितना अविश्वास, जितनी घृणा और जितनी हिंसा आज दिखाई देती है उतनी पहले कभी नही थी। और यह हिंसा बहुत ही व्यापक है। भाई-भाई का गला काटने को तैयार है। ऐसा लगता है जैसे पूरे समाज मे पूरे देश मे, हिंसा के खूनी दाग लगते ही जा रहे हैं—हर रोज।

इसका कारण क्या है? कारण यही है विज्ञान और जनता के बीच खाई है, जो बडी तेजी से बढती जा रही है। इसलिए कि विज्ञान भयंकर रफ्तार से बढ रहा है, हर दस साल मे उसका परिणाम पहले से दुगुना हो जाता है। इस तरह आदमी तो पिछड़ रहा है और विज्ञान बढ रहा है। आम आदमी की जिन्दगी मे विज्ञान को जिस तरह से रस-बस जाना था, वह नही हुआ। चन्द सुविधाओ का मिल जाना विज्ञान नही है। विज्ञान का असली लाभ तो तब है, जब वह हमारी जिन्दगी में उतर जाय, उसका हिस्सा बन जाए।

यह तभी सम्भव है, जब हम विज्ञान को जनता के निकट ले जाएँ और उसे अहिंसा और गाँधी के साथ जोड़कर ले जाएँ और यह प्रयास केवल राष्ट्रीय विज्ञान दिवस पर ही नहीं, हर दिन होना चाहिए निरन्तर। तभी विज्ञान और जनता के बीच की खाई कम हो सकती है। खासतौर से बच्चो को अपने देश के महान् वैज्ञानिको के जीवन और कार्य से परिचित कराना जरूरी है। [illegible] के दिन सन् १९२८ में हमारे एक महान् वैज्ञानिक डॉ. सी वी. रामन ने [illegible] महान् खोज "रामन इफेक्ट" की घोषणा की थी। और भी बहुत से [illegible] वैज्ञानिक हुए हैं इस देश में-प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बोस, [illegible] [illegible] इन सबके बारे में बच्चों को और आम जनता को बताना चाहिए। [illegible] [illegible] चालीस साल हो गये अब भी नहीं बतायेंगे तो [illegible] बतायेंगे।

इन महान् वैज्ञानिको के बारे मे बताने की सबसे बडी बात यह है कि विज्ञान एक साधना है। इन वैज्ञानिकों के जीवन से हमे सबसे बडा पाठ यह मिलता है कि जीवन मे सयम बरतना जरूरी है, विज्ञान के प्रति ही नही मानव में भी अटूट श्रद्धा रखना आवश्यक है और हमे घोर परिश्रम करना चाहिए। सयम, श्रद्धा और परिश्रम या तप के बिना आप न तो जीवन में अच्छी तरह जी सकते है न जीवन से कुछ पा सकते है और न कही पहुँच सकते है। हमे नवयुवको तक यह सन्देश पहुँचाना होगा कि विज्ञान एक तरह की तपस्या है, साधना है।

एक और बात जो इन वैज्ञानिको के जीवन और कार्य से सीखनी है, वह यह है कि जो समस्याएँ हमे बेहद जटिल और डरावनी लगती है, असल मे उनकी जड मामूली होती है। हमे वे मुश्किल इसलिए लगती है कि ठीक से नजर नही आ रही है। उनकी तह तक पहुँचने के लिए हमें विज्ञान का तरीका अपनाना होगा। विज्ञान का तरीका यही है—खोज-बोन, जाँच-पडताल और सोच-विचार।

उदाहरण के लिए "रामन् इफेक्ट" या "रामन का प्रभाव" की खोज को ले। उसकी जड है इस सवाल मे कि आसमान का रग आसमानी है तो सही, पर यह रंग आसमान मे आया कहा से ? हर बच्चे के मन मे यह सवाल उठता है। रामन् ने इसी पर सोचा, चिन्तन किया। उनसे पहले भी लोग इसी ऊहापोह मे लगे थे कि आसमान को उसका रग कहां से मिला। तो एक जवाब मिला कि हवा से मिला। पर हवा मे तो कोई रग नही होता। सो चिन्तन जारी रहा। तब इस प्रश्न की एक और गुत्थी सुलझी कि सूरज की किरणे जब हवा के परमाणुओं से टकराती है तो उसमे से जो नीले रग की किरणे है वे ज्यादा बिखर जाती है, और लाल रग की किरणे कम बिखरती है इसलिए उगता और डूबता सूरज लाल दिखता है और बाकी आसमान नीला। ऐसी ही बातों का चिन्तन करते-करते रामन् अपनी महान् खोज तक पहुँचे।

रामन् की खोज की महानता इस बात मे है कि वह बुनियाद वैज्ञानिक संकल्पनाओं से भी जुड़ी है और व्यावहारिक उपयोगों से भी। विज्ञान के इस समय के सबसे महान् विद्वान् से भी उसका सीधा तालमेल बैठता है। वह मूल सिद्धान्त यह है कि कोई भी परमाणु हो वह लहर भी है, तरग भी है और कण भी। अब तरग है तो यहाँ भी तरग है और आधे मे भी तरग रहेगी—यानी उसमे अभिन्नता का समन्वय विज्ञान का सबसे बडा मूल सिद्धान्त है। इसी को अंग्रेजी मे कहते है कॉमिपलमेंटेरिटी ऑफ आइडेन्टिटी एण्ड नॉन आइडेन्टिटी" यानी परस्पर विरोधी होते हुए भी एक दूसरे का पूरक होना।

अब इसी बात को अगर जीवन मे उतार ले तो सारे भेद मिट जाएं। देश अलग हो, रग-रूप, खान-पान भिन्न हो, सम्प्रदाय भिन्न हो तो भी मानव

एक दूसरे का पूरक है। वह भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। अपने आस-पास की तमाम चीजों की घटनाओं को आप इस कसौटी पर रखिए और आपके मन मे बसी तमाम घृणा, द्वेष, गुस्सा और झुझलाहट यानी हिसा पलभर मे काफूर हो जायेगी।

विज्ञान के इसी मूल सिद्धान्त को भारतीय दर्शन ने भी अनुभव के आधार पर अपनी तरह से प्रस्तुत किया था। जैसे कि आप और हम है। शरीर की दृष्टि से हम भिन्न है। लेकिन आत्मा की दृष्टि से हम अभिन्न है। यही से उदय होता है प्रेम। मानव ही नही, जीव मात्र के प्रति प्रेम! यही से पनपती है भावना कि जिओ और जीने दो, परमाणु के अन्दर प्रोटोन के चारो ओर चक्कर लगाते इलेक्ट्रॉन भला कहाँ जानते है कि वे अभिन्न है। बस उनके कार्यो से उनकी अभिन्नता प्रकट होती है। इसी आधार पर कुछ टिका हुआ है—इलेक्ट्रॉन से बने परमाणु—परमाणु से बने तत्त्व—तत्त्वों से बने यौगिक और यौगिको से बने पदार्थ जीव-जन्तु, पेड़-पौधे, हम सब और यह धरती, ग्रह तारे और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। दूसरी ओर हर मानव जानता है कि आत्मा की दृष्टि से हम अभिन्न है, पर अपने जीवन मे, आचार में इस बात को उतारते नही है। इसी कारण सारी समस्याएँ है।

तो विज्ञान की यह बात हमे आज भारत के जन-जन तक पहुँचानी है। बल्कि भारत मे नही, सम्पूर्ण विश्व मे फैलानी है। भारत की इसमे एक बड़ी निश्चित देन हो सकती है कि विज्ञान के इस युग को "विज्ञान और अहिसा" का युग बनाया जाए।

यहाँ मुझे महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाइन की याद आ रही है। प्रिस्टन मे उनका जो अनुसन्धान था, उसमे अपने कमरे में उन्होने केवल दो चित्र लगा रखे थे। इनमे से एक उनके जर्मनी के मित्र सगीतकार का था। दूसरा चित्र न तो न्यूटन का था और न किसी और वैज्ञानिक का, बल्कि ऐसे व्यक्ति का था जिससे आइन्स्टाइन स्वय कभी मिले नही थे। वह महात्मा गांधी का चित्र था। जब कोई उनसे मिलने आता तो वे गाँधी के चित्र की ओर इशारा करके कहते, "द ग्रेटेस्ट मैन ऑफ द एज" (इस युग का सबसे बड़ा महापुरुष) युग के सबसे महान् वैज्ञानिक का यह कथन ही मानो उस भविष्य का सकेत दे रहा है, जो विज्ञान और अहिसा का युग होगा।

सन् १९५१ मे मैंने आइन्सटाइन को एक पत्र लिखा था कि दिल्ली विश्व-विद्यालय के भौतिकी विभाग के रजत जयन्ती समारोह के लिए कृपया एक सन्देश भेजिए। उन्होने छोटा, पर कितना सारगर्भित सन्देश भेजा। उन्होंने लिखा—

"भाईचारा रखो, लगन से बिना किसी पूर्वाग्रह के काम मे जुटे रहो। तुम्हें अपने कार्य मे आनन्द भी आयेगा और सफलता भी मिलेगी।"

यही चीज हमे देश को सिखानी है। ❀

इन महान् वैज्ञानिको के बारे मे बताने की सबसे बडी बात यह है कि विज्ञान एक साधना है। इन वैज्ञानिकों के जीवन से हमे सबसे बडा पाठ यह मिलता है कि जीवन मे सयम बरतना जरूरी है, विज्ञान के प्रति ही नही मानव मे भी अटूट श्रद्धा रखना आवश्यक है और हमे घोर परिश्रम करना चाहिए। सयम, श्रद्धा और परिश्रम या तप के बिना आप न तो जीवन मे अच्छी तरह जी सकते है न जीवन से कुछ पा सकते है और न कही पहुँच सकते है। हमे नवयुवको तक यह सन्देश पहुँचाना होगा कि विज्ञान एक तरह की तपस्या है, साधना है।

एक और बात जो इन वैज्ञानिको के जीवन और कार्य से सीखनी है, वह यह है कि जो समस्याएँ हमे बेहद जटिल और डरावनी लगती है, असल मे उनकी जड मामूली होती है। हमे वे मुश्किल इसलिए लगती है कि ठीक से नजर नही आ रही है। उनकी तह तक पहुँचने के लिए हमें विज्ञान का तरीका अपनाना होगा। विज्ञान का तरीका यही है—खोज-बोन, जाँच-पडताल और सोच-विचार।

उदाहरण के लिए "रामन् इफेक्ट" या "रामन का प्रभाव" की खोज को ले। उसकी जड है इस सवाल मे कि आसमान का रंग आसमानी है तो सही, पर यह रंग आसमान मे आया कहा से? हर बच्चे के मन मे यह सवाल उठता है। रामन् ने इसी पर सोचा, चिन्तन किया। उनसे पहले भी लोग इसी ऊहापोह मे लगे थे कि आसमान को उसका रग कहा से मिला। तो एक जवाब मिला कि हवा से मिला। पर हवा मे तो कोई रग नही होता। सो चिन्तन जारी रहा। तब इस प्रश्न की एक और गुत्थी सुलझी कि सूरज की किरणे जब हवा के परमाणुओ से टकराती है तो उसमे से जो नीले रंग की किरणे है वे ज्यादा बिखर जाती है, और लाल रग की किरणे कम बिखरती है इसलिए उगता और डूबता सूरज लाल दिखता है और बाकी आसमान नीला। ऐसी ही बातो का चिन्तन करते-करते रामन् अपनी महान् खोज तक पहुँचे।

रामन् की खोज की महानता इस बात मे है कि वह बुनियाद वैज्ञानिक सकल्पनाओं से भी जुड़ी है और व्यावहारिक उपयोगो से भी। विज्ञान के इस समय के सबसे महान् विद्वान् से भी उसका सीधा तालमेल बैठता है। वह मूल सिद्धान्त यह है कि कोई भी परमाणु हो वह लहर भी है, तरग भी है और कण भी। अब तरग है तो यहाँ भी तरंग है और आधे मे भी तरग रहेगी—यानी उसमे अभिन्नता का समन्वय विज्ञान का सबसे बडा मूल सिद्धान्त है। इसी को अंग्रेजी मे कहते है कॉम्पिलमेंटेरिटी ऑफ आइडेन्टिटी एण्ड नॉन आइडेन्टिटी" यानी परस्पर विरोधी होते हुए भी एक दूसरे का पूरक होना।

अब इसी बात को अगर जीवन मे उतार ले तो सारे भेद मिट जाएँ। देश अलग हो, रंग-रूप, खान-पान भिन्न हो, सम्प्रदाय भिन्न हो तो भी मानव

एक दूसरे का पूरक है। वह भिन्न होते हुए भी अभिन्न है। अपने आस-पास की तमाम चीजो की घटनाओं को आप इस कसौटी पर रखिए और आपके मन मे बसी तमाम घृणा, द्वेष, गुस्सा और झुंझलाहट यानी हिंसा पलभर में काफूर हो जायेगी।

विज्ञान के इसी मूल सिद्धान्त को भारतीय दर्शन ने भी अनुभव के आधार पर अपनी तरह से प्रस्तुत किया था। जैसे कि आप और हम है। शरीर की दृष्टि से हम भिन्न है। लेकिन आत्मा की दृष्टि से हम अभिन्न है। यही से उदय होता है प्रेम। मानव ही नही, जीव मात्र के प्रति प्रेम! यही से पनपती है भावना कि जिओ और जीने दो, परमाणु के अन्दर प्रोटोन के चारों ओर चक्कर लगाते इलेक्ट्रॉन भला कहाँ जानते है कि वे अभिन्न है। बस उनके कार्यों से उनकी अभिन्नता प्रकट होती है। इसी आधार पर कुछ टिका हुआ है—इलेक्ट्रॉन से बने परमाणु—परमाणु से बने तत्त्व—तत्त्वों से बने यौगिक और यौगिकों से बने पदार्थ जीव-जन्तु, पेड-पौधे, हम सब और यह धरती, ग्रह तारे और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। दूसरी ओर हर मानव जानता है कि आत्मा की दृष्टि से हम अभिन्न है, पर अपने जीवन में, आचार में इस बात को उतारते नही है। इसी कारण सारो समस्याएँ है।

तो विज्ञान की यह बात हमे आज भारत के जन-जन तक पहुँचानी है। बल्कि भारत मे नही, सम्पूर्ण विश्व मे फैलानी है। भारत की इसमे एक बड़ी निश्चित देन हो सकती है कि विज्ञान के इस युग को "विज्ञान और अहिंसा" का युग बनाया जाए।

यहाँ मुझे महान् वैज्ञानिक आइन्स्टाइन की याद आ रही है। प्रिस्टन मे उनका जो अनुसन्धान था, उसमे अपने कमरे मे उन्होंने केवल दो चित्र लगा रखे थे। इनमे से एक उनके जर्मनी के मित्र संगीतकार का था। दूसरा चित्र न तो न्यूटन का था और न किसी और वैज्ञानिक का, बल्कि ऐसे व्यक्ति का था जिससे आइन्स्टाइन स्वय कभी मिले नही थे। वह महात्मा गांधी का चित्र था। जब कोई उनसे मिलने आता तो वे गाँधी के चित्र की ओर इशारा करके कहते, "द ग्रेटेस्ट मैन ऑफ द एज" (इस युग का सबसे बड़ा महापुरुष) युग के सबसे महान् वैज्ञानिक का यह कथन ही मानो उस भविष्य का संकेत दे रहा है, जो विज्ञान और अहिसा का युग होगा।

सन् १९५१ में मैने आइन्सटाइन को एक पत्र लिखा था कि दिल्ली विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के रजत जयन्ती समारोह के लिए कृपया एक सन्देश भेजिए। उन्होने छोटा, पर कितना सारगर्भित सन्देश भेजा। उन्होंने लिखा—

"भाईचारा रखो, लगन से विना किसी पूर्वाग्रह के काम मे जुटे रहो। तुम्हे अपने कार्य मे आनन्द भी आयेगा और सफलता भी मिलेगी।"

यही चीज हमें देश को सिखानी है। ❀

आगमों में पृथ्वी-पर्यावरण-संरक्षण

☐ डॉ. उदयचन्द्र जैन

हमारी सस्कृति के संरक्षक आगम ग्रन्थ है, जिनमे जीवन का समग्र चित्रण व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र को सर्वोपरि वनाकर प्रस्तुत किया गया है। प्राणी-भाव के स्थायित्व का स्वरूप इनके प्राणो मे निहित है। समृद्धि, विकास, उत्थान-पतन, आचार-विचार एवं प्रकृति का समस्त सौन्दर्य इनके मूल में समाविष्ट है। इसीलिए आगम तब से अव तक संस्कृति के प्राण रक्षक बने हुए अपने इतिवृत्त को संजोय हुए है।

जहाँ इनमें समाज का सर्वांगीण सुकुमार चित्रण है, वहाँ पर्यावरण-संरक्षण के तत्त्व भी है। आगमों का चिन्तन यदि इस सन्दर्भ में किया जाय तो बढते हुए प्रदूषण को रोकने में वहुत कुछ मदद मिल सकती है। आगमो मे अंग ग्रन्थ, उपांग-ग्रन्थ, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक आदि कई आगम है। 'षट्खण्डागम', 'समयसार' आदि के अतिरिक्त इनका व्याख्या साहित्य भी पर्यावरण के सरक्षण में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। आगमो के समग्र प्रस्तुतीकरण की बात छोडे, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति इन पाँच तत्त्वों पर अलग-अलग विचार करे तो भी इन पर अलग-अलग रूप में एक-एक शोध प्रबन्ध लिखा जा सकता है। इन प्राणभूत तत्त्वो मे से यहाँ एक मात्र पृथ्वी-तत्त्व को हम विविध रूप में प्रस्तुत करते हुए पृथ्वी-सरक्षण के आधार पर समग्र वातावरण को प्रदूषण से वचाने पर विचार करेगे।

'आचारांग' आदि की मूल प्रस्तुति जहाँ आचार-विचार परक है, वहाँ पर्यावरण के सरक्षण की विस्तृत चर्चा भी जीवन्त भावना प्रदान करती है। हमारे समस्त क्रिया-कलाप यदि किसी भी तरह से प्रदूषित होते है तो उनसे न केवल व्यक्ति, समाज ही प्रदूषित होता है, न केवल देश, राष्ट्र ही, अपितु प्रदूषित होता है प्रकृति का सम्पूर्ण वातावरण, प्रकृति का समग्र भाग। उससे हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा, हमारे मूल-बीज ही समाप्त हो जायेंगे, फिर अन्य किसी के अस्तित्त्व की कल्पना सूर्य को दीपक दिखाने की तरह ही होगी।

विज्ञान की वैज्ञानिकता प्राणी विज्ञान को जितना महत्त्व देती है, उतना ही महत्त्व प्रकृति विज्ञान को भी।

'न सा जाई, न सा जोणी, जत्थ जीवो न जायइ।'

आगम का यह विचार यथार्थ है, सत्यार्थ की ओर ले जाने वाला है। यदि प्रकृति है, तो जाति है / जन्म है, जन्म है तो उसकी पर्यायें भी है और पर्यायें है तो निश्चित ही उनकी सुरक्षा भी करना होगी, उन्हे वढ़ते हुए प्रदूषण से वचाना होगा।

पृथ्वी आदि तत्त्व की अनेक राशियाँ है। अनेक पर्याय है। परन्तु इन सभी के साधन इतने कम होते जा रहे हैं कि उनका सरक्षण तो दूर, उनकी पहचान भी संभव नही रह पाएगी। हम विज्ञान को आधार विन्दु बनाते है, हम एटम, अणु शक्ति, अग्नि प्रक्षेपास्त्र आदि कितने ही साधन क्यो न बना ले, यदि इनको वनाने से पूर्व पृथ्वी आदि तत्त्वो की रक्षा पर ध्यान नही दिया गया तो हमारी यह वैज्ञानिकता हमारे को ही लील जाएगी। जव मिट्टी खिसकेगी, खनिज पदार्थो का दोहन होगा, तब क्या भूकम्प नही आयेगा ? जल या ज्वलनशील पदार्थो की सीमा का उल्लघन करके जव उन्हे निकाला जाएगा, तब क्या यह सोचेंगे कि पृथ्वी है ? जिस पृथ्वी पर हम निवास कर रहे है, वही डावा-डोल हो गयी, तव फिर वचेगा क्या ?

"पुढवि-कम्म-समारंभेणं पुढविसत्थ समारभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ" (आचाराग २/१३) अर्थात् पृथ्वी का आरम्भ, उसका खोदना काटना, खनिज पदार्थो का निकालना, न केवल पृथ्वी का ही सतुलन बिगाडता है, अपितु पृथ्वी पर आधारित जल, अग्नि, वनस्पति आदि का भी संतुलन बिगड़ता है। जो ऐसा करता है—वह

'तं से अहियाए, तं से अवोहिए'

उससे अधिक विनाशकारी कार्य कोई नही कर रहा है, उससे अधिक कोई अज्ञानता का दूसरा कारण नही है। यही नही, अपितु

एस खलु गथे।
एस खलु मोहे।
एस खलु मारे।
एस खलु णरए॥

इससे ऐसी ग्रंथी, ऐसा असंतुलन उत्पन्न होगा, जहाँ विनाश ही विनाश होगा, जहाँ भार ही भार, ह्रास ही ह्रास होगा। पृथ्वी का काटना, खनन करना, पृथ्वी क्रिया मे संलग्न होना, वैसा ही कार्य है, जैसा व्यक्ति अपना छेदन, भेदन एव काटने पर अनुभव करता है— जैसे कोई व्यक्ति जन्मांध बहिर, लगडा—लूला आदि वेदना का अनुभव करता है, वैसा ही पृथ्वो भी। 'परिण्णायकम्मे' यह सूक्ति प्रज्ञा पर बल देती है और विवेचन करती है कि पृथ्वी आदि का खनन उतना ही श्रेयस्कर है, जितना कि अपेक्षित है। फिर भी व्यक्ति अपनी स्वार्थ की सीमा का उल्लघन करके पृथ्वी के अस्तित्व के साथ अपने अस्तित्व पर भी कुठाराघात कर रहा है।

"पुढ वी जीवा पुढो सत्ता"

यह सूक्ति पृथ्वी के जीवन्त प्राणों का मूल्यांकन करती है। जैसे जल, वनस्पति, तृण आदि की पृथक्-पृथक् सत्ता है, उसी तरह पृथ्वी की भी सत्ता है, फिर इसके साथ खिलवाड़ करके आतक को बुलावा क्यो दे रहे है ?

प्राणी सहित, बीज रहित, हरी वनस्पति रहित, जल रहित, कीट-पतंग आदि से रहित पृथ्वी की खोज करना मनुष्य का अपना प्रमुख कर्तव्य है। पृथ्वी के संरक्षण से उपर्युक्त प्राणियों का भी संरक्षण हो जाएगा।

आगमों में पृथ्वी के भेद-प्रभेद आदि की भी विस्तार से चर्चा हुई है। 'मूलाचार' में पृथ्वी के छत्तीस भेद किये गये है—

(१) मिट्टी (२) बालू (३) शर्करा (४) पत्थर (५) बड़ा पत्थर (६) समुद्री नमक (७) लोहा (८) चांदी (९) ताँबा (१०) जस्ता (११) सीमा (१२) सोना (१३) हीरा (१४) हरिताल (१५) इंगुलर (१६) मैनतिल (१७) सस्यक (१८) सुरमा (१९) मूंगा (२०) अभरक (२१) चमकती रेत (२२) पुलकवर्णमणि (२३) स्फटिकमणि (२४) पद्म-रागमणि (२५) चन्द्रकान्तमणि आदि। आगम के गणितीय विषय विवेचन मे पृथिवियों की लम्बाई-चौडाई, गहराई विस्तार आदि का विशद वर्णन की दृष्टि से भी इनका वर्णन किया गया है।

"णाणाविह-वण्णाओ महीओ तह सिलातला उवला।" ति प २।१०।१४

इसके अतिरिक्त अन्य १४ भेद भी गिनाए हैं। प्रत्येक की मोटाई, लम्बाई आदि का भी प्रमाण दिया गया है। ये सभी पृथिवियाॅ विधि रत्नो से भरी हुई है। इनमें विविध सम्पदाए है।

"एवं बहुविह-रयणप्पयार-भरिदो विशाजवे जम्हा" ति. प. २।२०

इसी तरह नीचे की पृथिवियों का वर्णन ३०० गाथाओ मे किया गया है। 'आचाराग' में वज्रमयी और शुभ्रमयी पृथिवी का वर्णन है। जैसे-जैसे इन पृथिवियो का दोहन होता रहेगा, वैसे-वैसे रेगिस्तान भी फैलता जाएगा। पजाब या हरियाणा में आज इसके प्रमाण है। अत. आज इस पृथिवी के विनाश के कारणों को रोका जाना आवश्यक है।

—पिऊ कुंज, अरविन्द नगर, उदयपुर–३१३००१

❀❀❀

❀ मानव ! यदि तू अपने जीवन को अहिंसक बनाये रखना चाहता है तो यह ध्यान रख कि जिस व्यक्ति से तू अपना जीवन चलाने के लिए सहयोग, लाभ का काम ले, उसे कोई पीड़ा न हो।

—आचार्य हम्नी

पर्यावरण धर्म

□ डॉ० त्रिलोकीनाथ खुशु

क्या जड, क्या चेतन सब प्रकृति की जीवंत व्यवस्था के ताने-वाने मे वडा नाजुक-सा संतुलन बनाये रखने मे अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है, जैसे यह उनका धर्म हो। इस 'पर्यावरण धर्म' के छह बुनियादी सिद्धान्त है।

१. जीवनयापन प्रणालियों की पुनरुत्पादकता बनाये रखना और बढ़ाते जाना :—समस्त साधनो को सोच-समझकर काम में लाने और साथ ही उनका सरक्षण करते रहने से पर्यावरण-धर्म के इस पहले सिद्धान्त का निर्वाह हो सकता है। इसका मतलब यह है कि हमें नवीनीकरण योग्य ऊर्जा स्रोतों को पनपाना होगा और समाप्त हो जाने वाले ऊर्जा स्रोतो की रक्षा करनी होगी। कोयला, पेट्रोल जैसे चुकते जा रहे ऊर्जा स्रोतो के इस्तेमाल मे हमे यह सावधानी वरतनी होगी कि वे बार-वार इस्तेमाल न हों और उनकी वरवादी न हो। सुधरे चूल्हो और अगीठियों मे कम कोयला और लकड़ी जलाकर चौगुना तक ताप पैदा किया जा सकता है।

२. सारी दुनिया ऊर्जा स्रोतों की खपत मिल बांटकर करे :—दुनिया भर के देश और देश के सभी इलाके ऊर्जा स्रोतों की छीना-झपटी करने के बजाय एक-दूसरे की जरूरतों और उपलब्ध स्रोतो के हिसाब से अपनी साझेदारी से काम चलाएँ। ऐसा हो जाये तो धनी विकसित देश अभी जो अनाप-शनाप ऊर्जा फूंक रहे है, उसमे वचत करके गरीब और ऊर्जा की दृष्टि से दरिद्र विकासरत देशो के हिस्से मे अधिक ऊर्जा दे सकते है। लेकिन साथ ही विकासरत देशो को ऊर्जा का उपयोग करते समय यह ध्यान रखना होगा कि कही ज्यादा कोयला जलाकर वे अपनी हवा तो खत्म नही कर रहे ?

३ उपभोग प्रधान संस्कृति के अभिशापो के प्रति चेतना—हमे सादा जीवन और उच्च विचार की धारणा का प्रचार करके प्राणिमात्र मे यह चेतना जगानी होगी कि बिना जरूरत जोडते-भरते जाने की प्रवृत्ति की भारी कीमत हमे परोक्ष रूप से सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय स्तर पर चुकानी पड़ती है। विकसित विश्व मे अतिभोगवाद से उपजी विसंगतियो से तीसरी दुनिया सवक ले सकती है।

४. तेते पॉव पसारिये, जेती लॉबी सौर .—जितनी लम्वी रजाई है उत पांव पसारिये, इस बात को हमे जीवन मे उतारना होगा। इसके लिए जो है उसी मे और भी आनन्द से गुजारा करना होगा, वह भी आपस मे वाटकर।

* अनुवादक : श्री रमेशदत्त शर्मा

५. सबकी बुनियादी जरूरतें पूरी करना :—रोटी, कपड़ा और मकान की बुनियादी जरूरते पूरी करते हुए सबको गरीबी के चंगुल से छुड़ाया जाये तो फिर मुफ्त में लकडी के लिए पेड नहीं कटेगे। ईधन बटोरना-बेचना इस समय गरीबों का बड़ा धन्धा बना हुआ है। विनाश से बचते हुए विकास कर पाना तलवार की धार पे धावनौ, तो है, पर असम्भव नही।

६. हथियारों की होड़ पर रोक :—दुनिया के सारे दु:खों की जड है हथियारों की होड। आगे हथियार बने नही और जो खतरनाक हथियार जमा है, उन्हे धीरे-धीरे नष्ट करके सभी देश हिल-मिलकर शांति और सुरक्षापूर्वक रहें और इस धरती की हवा, पानी और मिट्टी को बचाये रखने मे अपना समय और साधन खपाएँ।

यह वसुन्धरा सबकी है—मनुष्यों की भी, अन्य जीव-जन्तुओं की भी और पेड पौधो की भी। हम अपने तुच्छ स्वार्थो से ऊपर उठे तो ही हम सबका निर्वाह करने वाली, हम सबको धारण करने वाली धरती अपनी समस्त जीवनदायिनी शक्तियों और साधनो के साथ सदा सुरक्षित रह सकेगी। वर्तमान सन्दर्भ मे भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ही मानवता की रक्षा कर सकती है।

आज पर्यावरण पर जो सकट गहराया है, वह असल मे हमारे मन और आत्मा पर घिरे घने अन्धकार की छाया है। पर्यावरण-रक्षा के प्रश्न को हम टुकडों में बाँटकर हल नही कर सकते कि लो जी तुम वन्य प्राणी बचाओ, तुम जगल बचाओ, तुम हवा को देखो, तुम पानी को मत फैलने दो और तुम मिट्टी पलीद होने से बचाओ। इसे तो हमें समग्रता मे ही सम्भालना होगा। तीसरी दुनिया से सबसे बड़ा प्रदूषक तत्त्व है दरिद्रता। विकसित विश्व मे भोगवाद और लालच धरती को लील रहा है। दुनिया के ७६ प्रतिशत लोग गरीब मुल्को के वाशिदे है। मगर धरती की ८० प्रतिशत सम्पदा अमीर देशों की भेट चढ जाती है।

धरती पर मानव के प्रादुर्भाव के बाद जितना काल बीता है उसके ११ फीसदी काल मे तो हम जंगलो से कद-मूल बटोरकर और वन्य प्राणियो का शिकार कर अपना निर्वाह करते रहे। खेती शुरू हुई आज से करीब १०-१२ हजार साल पहले और कारखानो की कहानी तो मुश्किल से दो-ढाई सौ साल पुरानी है। चन्द जीवाणुओ को छोड़ दे तो आज भी हम उन्ही पेड-पौधो और पालतू पशुओ पर निर्भर है, जिन्हे हमारे पूर्वजों ने साध लिया था।

हल और पहिये के आविष्कार के बाद जगलों की शामत आई। सिचाई के लिए नहरे बनी। कुछ लोग जमीन के मालिक बन बैठे और उन्होंने मजदूरी के लिए दूसरो को गुलाम बना डाला। खेत बडे हुए तो जगल सिकुडते गये और पालतू जानवरों ने चरागाहो की हरियाली को चाटना शुरू किया। गनीमत थी कि बाहुबल और पशुबल ही था हमारे पुरखो के पास।

जर, जोरू और जमीन के झगड़े बढते चले गये और यूनान, मिश्र, रोम, मय तथा एजटेक सभ्यतायें अपने पैरों पर कुल्हाडी मारकर काल के गर्त मे विलीन हो गयी। लालच सबको निगल गया।

तीसरा दौर शुरू हुआ औद्योगिक क्रांति का, जिसे ले उड़े चक्के और धुआं उगलते इंजन। वह इग्लैण्ड से शुरू हुई और उत्तर अमरीका में बसे अग्रेजो मे भी फैल गयी। खेती भी पसीने के बजाय कोयला और तेल पीने लगी। हरे-भरे गाँव छोड़कर लोग शहरों की चिमनियों और भट्टियों में खिचते चले गये। हाथ का स्थान मशीनों ने ले लिया और घण्टों का काम मिनटों मे होने लगा। खेती के मशीनीकरण और कारखानों ने धरती के प्राकृतिक साधनो का विकट दोहन शुरू किया।

धीरे-धीरे इस विकास के पीछे छिपे विनाश के चित्र प्रकट होने लगे। हवा मे कार्बन डाइआक्साइड का जहर फैलता गया, व कही-कही तेजाबी बरसात होने लगी। कही ओजोन की छतरी मे छेद हो गया और सूरज की लपलपाती परा-बैगनी किरणे धरती का पारा चढ़ाने लगी। आगे बढ़ने की होड़ में गरीब देश अपने-अपने जंगल काटकर इमारती लकडी बेचने लगे और अनाज के बजाय नकदी फसल उगाने लगे। मध्य अमरीका ने अपना करीब आधा जगल काटकर चरागाह बना दिया ताकि उस पर जानवर चरे और उनका मास उत्तर अमरीका को बेचा जाए। आधा जगल कट गया, ताकि वे हैम्बरगर आ सके। आर्थिक सहायता के एवज में तीसरी दुनिया के देश अमीर देशों के कूडादान बनते चले गये। रेडियोधर्मी छीजत, प्रतिबन्धित दवाएँ और कीटनाशी रसायने, गयी गुजरी तकनीकी और भोडी संस्कृति सब चीजे उधर से इधर चढायी जाती रहीं।

इस भोवगादी औद्योगिक सभ्यता से ही उपजा है मानव का यह मिथ्या अहकार कि वह इस धरती का स्वामी है और मन चाहे ढग से उसे नोच-खसोट सकता है। ३ ठण्डे देश धरती के ८० प्रतिशत साधनो मे आग लगाकर हाथ ताप रहे हैं। १३३ उष्णकटिबन्धीय देशों को कंपकंपाता छोड़कर। ऊर्जा संकट के बाद ही कुछ होश आया है और अमीर देश भी समझ गये हैं कि धरती के वर्षा-वन नही बचे तो वे भी नही बचेगे।

गनीमत है कि अभी गरीब मुल्कों ने अपनी कुदरती जमा-पूंजी उतनी नहीं गवायी है जितनी कि अमीर देश गवा चुके है। अब आगे तीन सम्भावनाएँ दिख रही है कि औद्योगीकरण के गर्त में डूबकर महाविकास के नाम पर धरती महा-विनाश की शिकार हो जाएगी। दूसरा सकट यह है कि परमाणु बम से ध्वस्त हुई धरा पर हम फिर से जगली बन जाएं कन्दमूल बटोरते और शिकार करते जगली।

तीसरी सम्भावना यह है कि सूझबूझ से काम लेकर 'जीवन-निर्वाह सभ्यता' का उदय करे। आबादी कम हो, बरबादी कम हो, कुदरत की लूट-खसोट की आजादी खत्म हो। तब हम इस लायक भी बन सकेंगे कि अच्छे रहन-सहन के साथ ही अपने परिवेश को भी हरा-भरा रख पाएँ और कही कुछ हानि हो भी जाये तो तुरन्त उसकी भरपाई की जा सके। जितने पेड गिरे चौगुने उगे। अपरिग्रह की भावना मे लौटे और लालच के बजाय जरूरतभर को लेकर ही हम सन्तुष्ट रहे। तब आदमी प्रकृति का शत्रु नही मित्र बनकर रहेगा।

इस सपने को पूरा करने में हम अपने बनवासी साथियों से बहुत कुछ सीख सकते हैं जो हजारों साल से प्रकृति के साथ ताल-मेल बनाये रखकर एक सुखी और सम्पूर्ण जीवन जीते आये है।

प्रतिफल | श्री मनोज इकबाल

महात्मा बुद्ध से उनके एक शिष्य ने कहा—"महात्मन्! मैं मानव जाति से प्रेम करता हूँ मगर उनका मेरे प्रति वैसा प्रत्युत्तर नही है जैसा कि होना चाहिए। ऐसा क्यों?"

बुद्ध कुछ न बोले। उसी शाम महात्मा बुद्ध और शिष्य एक सभा को सम्बोधित करके लौट रहे थे। राह मे एक कुए की मुडेर देख शिष्य ने बुद्ध से पानी पीने की आज्ञा माँगी। कुआ बहुत गहरा था। शिष्य ने रस्सी के सहारे डोल को कुए की ओर धकेला और खीचना शुरू किया। बडी मेहनत के बाद डोल ऊपर की तरफ आया मगर बिल्कुल खाली था। यह देखकर महात्मा बोले—"वत्स! तुम्हारे प्रश्न का जवाब अब सुन! हमारा मन भी इस डोल की भांति है जिसमे छिद्र ही छिद्र है। पानी टिके कहाँ? मन मे छिद्र है, प्रेम भरा भी जाये तो क्या रुक पायेगा? हम दूसरो को क्या देगे? इसलिए अपने मन रूपी डोल को ठीक करे तब उसमे प्रेम भरा जा सकेगा। उसे हम जितना चाहें, बांट सकते है।

—मुन्दर स्पोर्ट्स, चेटक सिनेमा, उदयपुर (राज)

भ्रमर, पर्यावरण और अहिंसा

☐ श्री रणजीतसिंह कूमट

भ्रमर के जीवन को देखे। जरा गहराई से देखे। भ्रमर को रस चाहिये। रस के लिये घूम रहा है। भ्रमण करना ही उसका जीवन है और भ्रमण की वजह से ही उसका नाम भ्रमर या भंवरा पडा है। एक जगह वह टिकता ही नही।

किसी एक फूल का शोषण नहीं करता, थोडा-थोडा रस सबसे लेता है। किसी एक पर आश्रित नही। वह मुक्त है, अपने मे मस्त है। अपने मन और मार्ग का स्वामी है। आश्रित होता तो स्वामी नही बन सकता था। मुक्त नही घूम सकता था। जब शोषण में प्रवृत्ति नही है तो आसक्ति नही है। एक जगह का लगाव या चिपकाव भी नही।

भ्रमर फूल के पास गया—बिना दु:ख दिये, जितना रस मिला ले लिया। रस नही मिला तो आगे चल दिया। न असन्तोष जाहिर किया न दु:ख। मिल गया तो ले लिया और नही मिला तो फूल को तडफाया नहीं, गाली नहीं दी, बुरा भला नही कहा। रस नही मिला तो बिना पोये चल दिया। भूखा रह गया परन्तु फूल को खाने या तोडने का प्रयत्न नही किया। भूख से, प्यास से मर जायेगा परन्तु फूल को दु:ख नही देगा। रस नही मिला तो अन्य वाटिका में जायेगा परन्तु उस वाटिका को उजाडेगा नही।

भ्रमर का सबसे पहला सिद्धान्त रहा अहिसा का। फूल को या बगिया को नष्ट नही करना, उसको जरा भी नही छेडना। जैसा था वैसा ही रहने दिया। भ्रमर के रस ले जाने के बाद भी फूल पर शिकन नही, मुरझान नही। फूल को पता भी नही कि उसका रस किसी ने ले लिया है। फूल को तो गुंजन में आनन्द आ रहा था। उसके सुई लगे जितना दर्द भी तो नही हुआ—कष्ट कैसा? बगिया हरी-भरी है, पेड, फूल, फल, पौधे सब ज्यो के त्यों हैं—फिर भी भ्रमर ने बिना कष्ट दिये अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया। जिससे रस मिला [illegible] लिया, नही मिला तो आगे चल दिया। रस एक ही फूल मे नहीं लिया, [illegible] थोड़ा सबसे लिया।

मानव, तू भी ऐसा ही कर सकता है। इस संसार रूपी बगि[illegible] ही जी सकता है। तू भ्रमर की तरह इसमे क्यों नहीं जीता? फ[illegible] पेड क्यों काटता है? भूख मिटाने के लिये जीवों को क्यों नष्ट [illegible] बिना किसी को नष्ट किये तेरा जीवन-यापन सम्भव नहीं?

आज का मानव यही जवाब देगा—सम्भव कहाँ है ? उन्हें अपार धन, वैभव चाहिये । केवल भोजन से काम चलता है क्या ? भोजन कर पशु-पक्षी भी जीवन बिताते है । हम तो मानव है । हम केवल भोजन के लिये जीते है क्या ? हम वैज्ञानिक युग मे है—विज्ञान से जितना अधिक उत्पादन व उपभोग बढा कर ऐशो-आराम से जीवन विता सके उतना ही आधुनिक एवं विकसित कहला सकते है । इसलिये ऐसा जीवन सम्भव नही जहाँ किसी को कष्ट ही न दे । ससार की सब वस्तुएँ भोगोपभोग के लिये है, फिर उनका उपयोग क्यों नही ?

इसी भोगोपभोग दर्शन के आधार पर पाश्चात्य देशो में अधिकाधिक उत्पादन—उपभोग की अर्थव्यवस्था बनी और अधिक से अधिक उपभोग करने के लिये विभिन्न माध्यमो से विज्ञापन कर उपभोक्ता को लालायित करने का प्रयत्न किया । परन्तु साधनो का शोषण बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे इतना तीव्र गति से हुआ कि पर्यावरण के नष्ट होने का खतरा उत्पन्न हो गया और सब तरफ पर्यावरण संरक्षण की बात खडी हो गई । सबकी अपील है कि अधिक वन न काटें, प्रकृति का दोहन कम करे, प्रदूषण कम कर और विभिन्न जीवो को नष्ट करने की प्रक्रिया समाप्त करे । आखिर यह सब क्यो ? पर्यावरण मे असन्तुलन आ गया है । धरती उपग्रह का अस्तित्व खतरे मे है इसलिए अब सब तरफ सीमित दोहन को वात हो रही है । वन एवं वन्य जीवों के सरक्षण की वात हो रही है ।

जंगलो मे से कई प्रकार के प्राणियो का तो अस्तित्व ही समाप्त हो गया—नाम ही वाकी रह गया । टाइगर व व्हेल मछली को वचाने के लिये विश्व स्तर पर कार्यवाही हुई है । इसी प्रकार अन्य प्राणियो को वचाने के लिये विश्व वन्य कोप (World Wild Life Fund) आदि स्थापित हुए है । एक ओर वचाने व पर्यावरण सरक्षण की बात हो रही है, दूसरी ओर आर्थिक विकास की दौड़ मे पर्यावरण को नष्ट कर रहे है ।

मानव यदि इस प्रकृति प्रदत्त संसार में भ्रमर की तरह रहे और पर्यावरण को नष्ट न करे तो यह दुनिया कितनी सुन्दर नजर आये । परन्तु सूखे व नंगे पहाड़, उजाड वन, सूखे पेड़, बंजर भूमि, सहमे-सहमे वन्य प्राणी, यह सब देख कर यही लगता है कि हम अपनी धरती को नष्ट करने पर तुले है । पर्यावरण सरक्षण की वात करते है परन्तु इसका नाश द्रुतगति से करते जा रहे है । इसका मात्र एक कारण है—हमारा लोभ और उपभोग संस्कृति । जब तक सग्रह और उपभोग वृत्ति पर अंकुश नही लगेगा, पर्यावरण संरक्षण की वात ही निरर्थक है । संग्रह और उपभोग पर संयम विना पर्यावरण का अथाह दोहन रुक ही नहीं सकता । सरक्षण की वात ढोंग है या मृगतृष्णा ?

सब प्राणी मिलकर जगत् का निर्माण करते है। वनस्पति, पानी, पृथ्वी, अग्नि और अन्य सब प्राणी—जलचर, थलचर व खेचर (आकाश मे भ्रमण करने वाले) सबके समन्वय व सन्तुलन से यह संसार बना है। नष्ट करने का अधिकार किसी को भी नही क्योंकि इसके सृजन में सन्तुलन है और किसी भी एक आयाम के नष्ट होने से पर्यावरण मे असन्तुलन बनेगा। जीवन जब स्वय को प्यारा है तो हर प्राणी को प्यारा है। स्वयं के पेट भरने के लिये, दूसरो के जीवन का अन्त करना अनुचित है। इसी सिद्धान्त को मोटे रूप मे धर्म का रूप देकर बडे-बड़े महात्मा व मनीषियों ने अहिंसा का उपदेश दिया। ईसा मसीह ने मोटे आदेश के रूप मे कहा—"Thou shall not kill" तुम किसी को नही मारो। महावीर ने कहा "अहिसा परमो धर्म.।" इसी प्रकार सभी धर्मो से आवाज उठी—किसी की हिसा न कर, जीवन नष्ट न कर। जीवन अमूल्य है और मारना पाप है। परन्तु कालान्तर में आचार और सिद्धान्त मे भेद हो गये और व्यवहार मे हिसा का प्रचार हुआ। परन्तु सिद्धान्ततः कोई भी धर्म हिसा का समर्थक नहीं है।

हिंसा के भी दो मोटे रूप हैं—एक प्रयोजनार्थ हिसा और एक अनर्थ हिसा। जहाँ अभी तक खान-पान में सामिष भोजन का हो रिवाज है और निरामिष भोजन का व्यवहार नही पनपा वहाँ भोजन के लिये जीवों की हिंसा की जाती है। इसके विपरीत केवल शौक के लिये शिकार, दिखावे के लिये मिक कोट (जिसमें हजारो छोटे जानवरो को जिन्दा मारकर उनकी त्वचा से कोट बनाया जाता है) का पहनावा, सौन्दर्य प्रसाधन के लिये लाखो जानवरो का जीवन-नाश, ये सब हिंसा के विभिन्न रूप है। थोडी देर के लिये मान ले कि सामिष भोजन की प्रथा होने से भोजन के लिये प्राणी हिंसा की जाती है परन्तु शौक, सौन्दर्य और दिखावे के लिये लाखो प्राणियो की हिंसा कहाँ तक उचित है? वह अनर्थ है, अनुचित है और पर्यावरण असन्तुलन की जिम्मेवार है। जगल कटने और जगलों से वन्य प्राणी गायव होने का मूल कारण शौक और शिकार है। इन्ही की वजह से खरगोश, मोर, छोटे बालो व पखो वाले पशु-पक्षी सव गायव होते जा रहे है। व्हेल जैसी वडी-वडी मछलियों का अस्तित्व ही खतरे मे हो गया है। यह सब पैसा कमाने, अपने शौक पूरा करने और दिखावे के लिये है। अपार धन वाले व्यक्ति अपना धन प्रदर्शन करने के लिये कितने जीवो की हिंसा करते है, यह वे जानते तक नही। अत. मोटे रूप मे अनर्थ हिसा को वन्द करना न केवल जीवों की रक्षा और धर्म के पालन के लिये वरन् इस पृथ्वी के पर्यावरण सरक्षण के लिये आवश्यक है और यह तत्काल करना चाहिये।

भोजन में भी संयम नितान्त आवश्यक है। टालस्टाय ने कहा—जब तक भोजन मे संयम नही करते, किसी भी प्रकार का सयम सम्भव नही। रस-लोलु-

पता ही जीव को सब प्रकार की हिंसा करने को प्रेरित करती है। मनुष्य अपनी रस-लोलुपता के लिए क्या नहीं करता ? लाखों प्राणियो की हिंसा केवल भोजन के लिये होती है। आधुनिकतम कत्लखाने लाखों प्राणियो को मारने के लिए स्थापित किये जाते है। उन कारखानों मे इतनी पूँजी लगाई जाती है कि वर्ष में एक निश्चित सख्या से कम जानवर मारे जायेंगे तो वह कारखाना हानि मे जावेगा। अत: उसको आर्थिक हानि से बचाने के लिये उतने जानवर प्रति-दिन काटने ही होगे। यह हुआ आधुनिकीकरण। पुराना कसाई उतने ही जान-वर मारता था जितनी माँग थी या उसकी क्षमता थी। अब कारखाना नफे मे लाने के लिये न्यूनतम क्षमता तक जानवर मारे जायेगे और यदि माँग नही है तो विज्ञापन के माध्यम से बढावा देकर माँस बेचा जावेगा। पहले खाने वालो के लालच से जानवर कटते थे, अब पैसे वालों के लालच से कटते है और जो नही खाते थे उनको भी खाने के लिये बढावा देते है। जानवरों का उत्पादन उनके निश्चित क्रम से होता है परन्तु हनन तो कारखाने की क्षमता से होता है और यदि क्षमता ज्यादा है तो अल्प समय मे जानवरों को समाप्त होने की नौबत आ जावेगी। चीन एक ऐसा देश है जहाँ गाय, बैल आदि जानवरो की अत्यन्त कमी है और दूध व्यवसाय नाम मात्र को है। भारत मे परम्परा से गाय को माता मानने का वरदान समझे कि यहाँ गाय व बैलो की सख्या प्रचुर मात्रा मे है वरना यह भी समाप्त हो गई होती। बढ़ती जनसख्या के भोजन के लिये कृषि व शाकाहार ही समाधान है। सामिष भोजन के लिये जानवरो को मारने से कृषि पर बोझ अधिक पडता है क्योकि जितनी जमीन से शाकाहारी का निर्वाह हो सकता है उससे तिगुनी जमीन सामिष भोजन वालो के लिये चाहिये।

मनीषियों, तीर्थङ्करो या पैगम्बरों ने अहिसा का सिद्धांत अपनी आत्म-करुणा व सवेदनशीलता के आधार पर दिया। यह पर्यावरण सन्तुलन मे भी उतना ही कारगर है जितना निजी जीवन में सन्तुलन कायम करने मे है। बाहरी पर्यावरण के प्रति, छोटे से छोटे प्राणी के प्रति यदि सवेदनशीलता है तो अपने घर व पास पडौस मे रहने वाले व्यक्तियो के प्रति भी उतनी ही सवेदनशीलता होगी और परिवार, परिजन, मित्र और पडौसी से हमारा व्यव-हार भी संतुलनवाला एव संवेदनशील होगा और मधुर रस स्वत: ही बहेगा। अहिसा बाहरी वातावरण मे तो सरसता पैदा करती ही है, निजी आंतरिक जीवन मे भी करती है। अत: प्राणी मात्र के प्रति सवेदनशीलता ही पर्यावरण सरक्षक का मूल मन्त्र बन सकती है।

—सी-२०, हीरा बाग, जयपुर-४

—●—
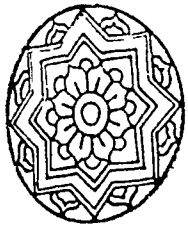
अहिंसा : सामाजिक सन्दर्भ में

□ श्री राजीव प्रचंडिया

जब और जहाँ कही भी 'अहिंसा' का नाम आता है तो सर्वप्रथम उसका निषेधात्मक रूप ही हमारे दृष्टि पटल पर उभरता है अर्थात् समस्त जीवो को पीडा-दुःख न पहुँचाना और न ही घात-प्रतिघात करना अहिसा है, किन्तु जब इसके विधेयात्मकता पर विचार करते है तो हम पाते है इसके गर्भ मे अनन्त अनमोल रत्न-राशियाँ बिखरी पडी है। ये सब बिखरी पड़ी राशियाँ एकत्रीकरण या पुंजरूप में अहिसा को असली जामा पहनाती है। यथार्थत: अहिसा का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह न तो किसी एक वर्ग, जाति, धर्म समाज और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व ही करती है और न ही किसी एक विशेष व्यावसायिक क्षेत्र से सम्बन्धित है अपितु यह तो समस्त जीवन के साथ जुडी हुई है। अहिसक का जीवन-दर्शन बडा प्रामाणिक होता है। उसकी कथनी और करनी में इकसारता होती है। उसका सोच, उसकी दृष्टि और उसका व्यवहार 'सत्य, शिवं, सुन्दरम्' से सदा मण्डित-अभिमण्डित रहता है। उसके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है उसमें सवेदनशीलता, सहिष्णुता, मृदुता, सदाचारिता, कर्त्तव्यपरायणता आदि सद्वृत्तियाँ दिखाई देती है। वास्तव मे अहिसा से अनुप्राणित जीवन अनन्त आनन्द का स्रोत है।

प्रस्तुत लेख मे अहिसा के अन्तस् मे छिपे पडे अनमोल रत्नो का, जो वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन को सुन्दर से सुन्दरतम बनाते है, रूपांकन किया गया है।

अहिसक सदा त्रिगुणात्मक होता है अर्थात् उसके जीवन मे तीन रत्नो के समीकरण को देखा जा सकता है यथा वर्तमान मे जीना, सहजता मे जीना और अनासक्त होकर जीना।

मनुष्य के जीवन का यदि सवक्षण—आकलन किया जाए तो यह स्थिति स्पष्ट हो जाएगी कि उसका जीवन वर्तमान में होते हुए भी प्रतिक्षण भूत जो गुजर चुका है और भविष्य जो आने वाला है, के भँवर जाल में उलझा रहता है। भूत के सतत स्मरण और भविष्य के प्रति नित नयी कल्पनाओं को लेकर व्यक्ति वस्तुस्थिति का सामना करने में सर्वथा असक्षम हो जाता है। जो उसकी प्रतीति तो होनी ही चाहिए अर्थात् प्रमाद से बचते हुए जागरण/चेतना के साथ जीना ही श्रेयस्कर है। अहिसक सदा अप्रमादी रहता हुआ वर्तमान मे जीता है। वह सोता हुआ नही; जागता हुआ जीता है। उसका जीवन सहजता-सरलता से सदा अनुप्राणित रहता है। जो बाहर है, वही भीतर है

और जो भीतर है, वही बाहर है। बाहर-भीतर की भेदक रेखा उसमें नहीं पायी जाती है। इसलिए वह विभिन्न तनावों से मुक्त रहता है, स्वस्थ व प्रसन्न-चित्त रहता है। इतना ही नही उसके व्यवहार से आस-पास का वातावरण भी सौहार्दपूर्ण होता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना उसमें समाहित रहती है।

आज सारा झगड़ा इसी बात पर है कि मैं दूसरे से कुछ ऊँचा हूँ, बड़ा हूँ। यह अहंकार प्रवृत्ति अर्थात् 'ईगो' की टकराहट व्यक्ति, परिवार, समाज और राष्ट्र तक को बिखेर कर रख देती है। 'ईगो' को बचाने के लिए आज व्यक्ति कृत्रिमता, आडम्बर, दोगलेपर का तानाबाना बुनता हुआ अन्ततः अपनी अस्मिता, संस्कृति और सभ्यता तक को दाँव पर लगा देता है। अहिंसा, ऊँच-नीच, छोटा-बड़ा जैसी संकीर्ण मनोवृत्तियों की अपेक्षा मनुष्य में समता का संचार करती है। समना में व्यक्ति-विशेष की नही अपितु उसमें व्याप्त अनन्त गुणों की महत्ता विद्यमान रहती है। समता जीवन में विराटता लाती है। दूसरो के विचारों को, धर्म मजहबो को आदर-सम्मान देने की प्रवृत्ति भी इसी से उद्भूत होती है। अनेकता में एकता के अभिदर्शन इसी का ही सुपरिणाम है। यह निश्चित है कि जो जितना सहज होगा, उतना ही वह सहिष्णु भी होगा। सहजता और सहिष्णुता ये दोनों गुण एक अहिसक व्यक्ति मे सदा उपस्थित रहते हैं। जहाँ ये दोनों गुण होते हैं वहाॅ जीवन अनासक्ति से आप्लावित रहता है। आसक्ति के प्रभाव में व्यक्ति अनैतिक व घृणित कार्य करने तक में नही चूकता है, उस समय उसका विवेक क्षीण हो जाता है।

आसक्ति में तृष्णा और लालसा जाज्वल्यभान रहती है। फिर यह प्रवृत्ति आवश्वकता से अधिक न लेना और न संग्रह करना जीवन से पलायन कर जाती है। अहिंसक सदा अपरिग्रही होता है। वह सच्चा पुरुषार्थी होता है। उसे अपने श्रम पर विश्वास रहता है। श्रम के बलबूते पर जितना वह अर्जित करता है उसी में वह सन्तुष्ट रहता है। होड़बाजी तथा हड़पने की प्रक्रिया चाहे वह बल-प्रयोग से हो या फिर लाचारी से, वह इनसे कोसों दूर रहता है। ऐसी परिस्थिति में जमाखोरी, मिलावट, नापतोल मे बरती जाने वाली अनियमितताएँ आदि घातक कुवृत्तियों के बने रहने का प्रश्न ही नही उठता है, पर आज अधिकांशतः जीवन इन्ही से घिरा हुआ है, इससे लगता है कि अहिसा जीवन में है ही नहीं। हैरानी तो तब होती है जब अहिसक कहलाने वाले ही इन्हीं दुष्प्रवृत्तियों में लिप्त पाए जाते हैं। विचार करें, क्या वे अहिंसक है ? या अहिंसा का चोगा धारण किए हुए है ? वास्तव मे एक सच्चा अहिसक सादगी पूर्ण जीवन जीता है।

अहिसक अपने कर्त्तव्यो के प्रति सदा सचेष्ट रहता है। उसका जीवन उत्तरदायीपूर्ण होता है। परिवार, समाज और राष्ट्र की एकता-अखण्डता बनाये रखने के लिए त्याग-बलिदान तथा निःस्वार्थ सेवा-सहयोग की प्रवृत्ति

उसमे पायी जाती है। अहिंसामय जीवन में रिश्वतखोरी, करों की चोरी, चकमा-विश्वासघात-धोखाधड़ी आदि बातों का सर्वथा अभाव रहता है। वास्तव में अहिंसक एक समर्पित व्यक्ति होता है। समर्पण की यह पवित्र भावना सवेदनशीलता को बढावा देती है। आज पड़ौस में कुछ भी घटना-दुर्घटना हो जाए, व्यक्ति में उसके प्रति कोई-किसी भी प्रकार की सहानुभूति उत्पन्न नही होती, वस्तुतः यह एक आश्चर्य का विषय है। अखबार आदि संचार मीडिया मारकाट, हिंसा, अराजकता, बलवा, लूट-खसोट, बलात्कार आदि घिनौनी हरकतों की जानकारी दिन प्रतिदिन देते है, पर, एक हम है जिन पर तनिक भी असर नहीं होता। अब यह हमारे लिए चटपटी अर्थात् मनोरंजन की सामग्री सी बन गई है। ऐसा क्यों है? हमें इस स्थिति तक पहुँचाने के लिए कौन दोषी है? विचार करें, दोषी और नही स्वयं हमारा जीवन-यापन है, आचार-विचार और खान-पान है। हममें दूषण-प्रदूषण इतना व्याप्त हो गया है कि उसमें अहिंसा का कहीं अवगाहन ही नही हो पाता। सही अर्थों में हम जिस परिवेश में जी रहे हैं, उसमें किसी भी प्रकार का अपराध-बोध नही होता, हमारा जीवन सिकुडता-सिमटता जा रहा है और यही क्रम यदि निरन्तर चलता रहा तो निश्चित रूप से एक न एक दिन हम बाहर से भी और भीतर से भी एकदम टूट जायेंगे, बिखर जायेगें। वास्तव में संकीर्ण मनोवृत्ति व्यक्ति-विकास मे एक सशक्त अवरोधक तत्व है, जिसका अहिसा के द्वारा ही शमन किया जा सकता है।

अहिंसक का जीवन अत्यन्त निर्मल होता है। व्यसनो के प्रति उसकी अरुचि बनी रहती है। नशा-पता से वह बहुत दूर रहता है। तामस और राजस की अपेक्षा सत्व के प्रति वह सदा सचेष्ट रहता है क्योंकि एक सुन्दर ओर उत्कर्षपूर्ण जीवन की नीव व्यक्ति के भोजन-भजन पर ही अवलम्बित है। जैसा और जिस प्रकार का भोजन लिया जाता है तदनुरूप उसका रस परिपाक होता है। ये रस व्यक्ति के व्यक्तित्व पर अपना प्रभाव डाला करते है। सात्विक रस व्यक्ति के अन्तस् में सुप्त सद्संस्कारों को जाग्रत करता है। उससे चेतना और बुद्धि तत्व कुन्द और मन्द नही अपितु पुष्ट और प्रखर होते हैं। उसकी समस्त दैनिक क्रियाएँ 'समिति पूर्वक' अर्थात् विवेकवन्त होती है। उसका सोच 'अपेक्षा प्रधान' होता है। उसकी दृष्टि में अनेकान्तिकता छायी रहती है। एक सच्चे अहिंसक में ये सर्वगुण सहजरूप में देखे जा सकते है।

आक्रान्ता के सन्दर्भ मे प्रायः यह समझा जाता है कि अहिसा इस क्षेत्र में एक भ्रामक जाल है, किन्तु अहिसा की गहराई में जाने पर हमे वस्तुस्थिति का अवबोध होता है। ऐसी परिस्थिति में एक सच्चा अहिसक एक ओर जहां अपने आत्मबल का प्रयोग करता है वही दूसरी ओर स्थिति न संभलने पर आत्मरक्षा के साथ-साथ धर्म-संस्कृति, समाज और सर्वोपरि राष्ट्र की रक्षार्थ

उसका परम कर्त्तव्य बन जाता है कि वह अपने पुरुषार्थ का सही और सटीक प्रयोग करे अर्थात कर्म के क्षेत्र मे अहिसक कभी कायर नही होता वह आक्रान्ता का सामना या तो अपने आत्मबल से करता है या फिर अस्त्र-शस्त्र वल से। किन्तु इसके साथ ही एकबात और ध्यातव्य है कि यदि अहिसक साधु-सन्यासरूप मे प्रदीक्षित है, जगत के मोह-माया से विरक्त होता हुआ वह सतत साधना मे रत है तो उसके आत्मवल-तेज के समक्ष आक्रान्ता की कुत्सित वृत्तियाँ स्वत ही निस्तेज हो जाती है।

अहिसा मात्र वैयक्तिक जीवन अर्थात् घर-गृहस्थी चूल्हे-चक्की तथा धर्मायतनो तक ही सीमित नही है, उसका दायरा सामाजिक/सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय–अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विस्तीर्ण हुआ है। अहिसा का यह व्यापक स्वरूप बहुआयामी रूप निश्चततः उपयोगी सिद्ध हुआ है। जीवन को यदि प्रामाणिक बनाना है तो हमे आज नही तो कल एक न एक दिन अवश्य ही अहिसा की शरण में आना होगा। वास्तव मे विश्व-कल्याण, शान्ति, एकता, मैत्री और सौहार्दता की प्रगाढ अनुभूति अहिसा मे व्यञ्जित है। वस्तुत अहिसा के अन्तस् मे अनगिन अनमोल रत्न जीवन की अनन्तता का उद्घाटन करते है।

—३९४, सर्वोदय नगर, आगरा रोड,
अलीगढ (उ प्र.) २०२००१

□ □ □

अमृत–कण

उपकार कभी व्यर्थ नही जाता।

—अज्ञात

उपकार करने से मनुष्य की आत्मा उन्नत और प्रफुल्लित बनती है।

—गाधी

पेरोपकार कर सको तो कोई वात नही, पर किसी का अपकार हरगिज न सोचो, न करो।

—गाधी

जिसमे उपकार की वृत्ति नही, वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी नही है।

—अज्ञात

किसी फकीर के पास अगर एक रोटी होती है, तो वह आधी आप खाता है, आधी किसी गरीव को दे देता है। लेकिन किसी वादशाह के पास एक मुल्क होता है तो वह एक मुल्क और चाहता है।

—सादी
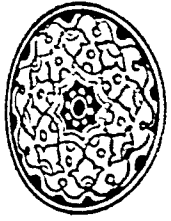
अहिंसा का समाजदर्शन

□ डॉ० धर्मचन्द जैन

अहिंसा का जितना सूक्ष्म और विशद विवेचन जैनदर्शन में हुआ है, उतना अन्य किसी दर्शन में दिखाई नहीं देता। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय के स्थावर एकेन्द्रिय जीवों तथा त्रसकाय के द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की हिंसा न करने, न कराने तथा अनुमोदन न करने का विवेचन जैनदर्शन की अनूठी विशेषता है। यही नहीं हिंसा करने का त्याग तीन योगों से किया जाता है। वे तीन योग हैं—मन, वचन और काय। साधु तीन करण (करना, कराना एवं अनुमोदन) एवं तीन योग से हिंसा का त्यागी होता है। श्रावक दो करण तथा तीन योग से हिंसा का त्यागी होता है। साधु के हिंसा-त्याग को अहिंसा-महाव्रत तथा श्रावक के हिंसा-त्याग को अहिंसा-अणुव्रत कहा जाता है।

हिंसा क्या है? इस व्याख्या में यदि हम जाते हैं तो तत्त्वार्थसूत्र पर हमारी दृष्टि पड़ती है। उसमें 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' लक्षण के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रमत्तयोग के कारण जो प्राणों का व्यपरोपण अर्थात् अतिपात होता है वह हिंसा है। प्रमत्तयोग का अर्थ है प्रमादपूर्वक की गई प्रवृत्ति। प्राण दो प्रकार के हैं—भाव प्राण और द्रव्यप्राण। भाव प्राण तो स्वयं आत्मा है और द्रव्यप्राण के दस प्रकार हैं—पाँच इन्द्रियों के पाँच बलप्राण, मन-वचन और काय के तीन बलप्राण, श्वासोच्छ्वास बलप्राण तथा आयुष्य बलप्राण। इनमें किसी भी प्रकार के प्राणों को आघात पहुँचाना हिंसा है। यहाँ प्रश्न होता है कि इस हिंसा में किसके प्राणों का अतिपात होता है? हिंसक के प्राणों का अतिपात होता है या हिंसित के प्राणों का? इस प्रश्न के उत्तर में जैनाचार्य यह स्पष्टीकरण देते हैं कि हिंसा से दूसरे प्राणी (हिंस्य) के प्राणों का अतिपात हो या न हो किन्तु हिंसक के प्राणों का तो अतिपात हो जाता है। प्रमादपूर्वक जब हिंसा का भाव संकल्प किया जाता है [illegible] प्राणी पर किसी प्रकार का प्रहार नहीं किया जाता है तब भी हिंसक [illegible] शक्ति तो प्रभावित होती ही है। दूसरी बात यह भी है कि उस हिंसक के नवीन कर्मों का आस्रव होकर कर्मबन्धन होता है, जिसका [illegible] में भी मिलता है। इस प्रकार हिंसा से हिंसक की [illegible]

पडता है, और कालान्तर में भी उसका प्रभाव अङ्कित रहने से फल मिलता है।

अहिंसा की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में रागादि भावो की उत्पत्ति को हिंसा तथा इनके अप्रादुर्भाव को अहिंसा कहा है। यह अहिंसा की आध्यात्मिक पराकाष्ठा है। रागादि भाव कषायरूप है तथा कषाय, प्रमाद का एक भेद है। अत. रागादि कषाय की उपस्थिति मे जो द्रव्य-भाव रूप प्राणों का अतिपात होना है वह हिंसा है। ऐसी हिंसा से तो केवली ही बच पाता है, अन्य समस्त छद्मस्थ प्राणी कषाय की उपस्थिति के कारण हिंसा से पूर्णतः विरत नही हो पाते।

इस प्रकार प्रमाद अथवा कषाय की उपस्थिति मे जो स्व या अन्य प्राणी के प्राणो का व्यपरोपण होता है उसे ही जैनाचार्य हिंसा मानते है। यदि प्रमाद अथवा कषाय के अभाव में प्राणो का व्यपरोपण होता है तो वह हिंसा नहीं है। इसे हिंसा इसलिए भी नही कहा जाता क्योकि यह कर्मबन्धन का कारण नही है। कषाय की उपस्थिति मे ही योग कर्मबन्धन का कारण बनता है। उदाहरण के लिए केवली प्रमाद अथवा कषाय से सर्वथा रहित होते है, तथापि श्वास ग्रहण करने एवं निकालने में उनके द्वारा वायुकाय के असख्य जीवो का प्राण व्यपरोपण होता रहता है। यह प्राणव्यपरोण हिंसा नहीं है, पाप नही है क्योकि इससे किसी प्रकार के कर्म का बन्ध नही होता है। हिंसा का यह विवेचन बन्धन एव मुक्ति की प्रक्रिया को लेकर हिंसक या अहिंसक जीव के सन्दर्भ मे हुआ है। इस दृष्टि से पूर्णतः अहिंसक वह है जो कषायमुक्त है।

सामाजिक सन्दर्भ में अहिंसा :

आध्यात्मिक दृष्टि से हिंसा का परिणाम स्वयं को भोगना पडता है, अत. हमें हिंसा का सकल्प मात्र भी छोड देना चाहिए। यही नही राग-द्वेष से पूर्णतः विश्राम पा लेना चाहिए। अब हम सामाजिक सन्दर्भ मे हिंसा-अहिंसा पर विचार करे।

सामाजिक-जीवन एक दूसरे प्राणियो के सहयोग से चलता है। माता यदि शिशु को दूध न पिलाकर प्रताड़ित करे तो उसका शिशु पर विपरीत प्रभाव पडता है। और वही माता शिशु को समय पर दूध एव प्यार दे तो वह उस शिशु के लिए जीवनदायिनी सिद्ध होती है। करुणा एवं प्यार, सेवा एव मैत्री से अहिंसक समाज का निर्माण होता है तो आतक, भय एव हिंसा से हिंसक तथा अशान्त समाज का निर्माण होता है।

हिंसा एव अहिंसा का जितना सम्बन्ध स्व से है उतना समाज से भी है। विना समाज के हिंसा एवं अहिंसा का प्रश्न ही नही उठता है। यदि सम्पूर्ण संसार मे एक ही प्राणी हो तो हिंसा-अहिंसा का प्रश्न बेमानी हो जाता है।

एक से अधिक प्राणियों के होने पर ही हिंसा-अहिंसा होती है। चाहे हिंसा मन से हो, वचन से हो या काया से, उसके लिए एक के अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी का होना आवश्यक है। फिर यह भी मानना होगा कि हिंसा का प्रभाव हिंसक एवं हिंसित दोनों पर पड़ता है। यही कारण है कि आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर हिंसित प्राणी की भी चिन्ता करते हैं। वे कहते हैं—

सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा। आचारांग सूत्र, १.२.३

अर्थात् सभी प्राणियों का आयुष्य प्रिय है, सबको सुख अनुकूल लगता है तथा दुःख प्रतिकूल लगता है। सभी प्राणियों को वध अप्रिय है, सबको जीवन प्रिय है, सब जीना चाहते है। अहिंसा की स्थापना मे भगवान् महावीर के ये वचन उसे सामाजिक एवं मानवीय रूप देते है। अहिंसा यहाँ प्राणिमात्र से जुड़ी हुई है। यही अहिंसा के समाज-दर्शन का मूल है।

आज आवश्यकता इसी बात की है कि अहिंसा का सामाजिक वैभव उजागर हो। प्राणिमात्र के जीवन की रक्षा का भाव मन में पैदा हो। यह भाव ही करुणा का द्योतक है, और जहाँ करुणा है वहां हिंसा स्वतः विश्राम पा लेती है। वैयक्तिक मुक्ति की प्रक्रिया में अहिंसा साधनभूत अवश्य है किन्तु अहिंसा का उससे भी अधिक महत्त्व प्राणियों के रक्षण एवं उन्हें अभय प्रदान करने में है।

सूत्रकृताङ्गसूत्र में भी आचारांग सूत्र की अनुगूज है। वहां मनुष्य को प्राणिमात्र के प्रति संवेदनशील बनाने हेतु कहा है—"जिस प्रकार मुझे डंडे से, मुट्ठि से, अस्थि से ढेले से, अथवा कपाल से कोई चोट पहुँचाता है, तर्जना देता है, पीटता है, परिताप देता है, पीड़ा पहुँचाता है, विनाश करता है अथवा एक रोम भी उखाड़ता है तो मुझे हिंसाकारी दुःख एवं भय की वेदना होती है। इसी प्रकार समस्त जीवों को जानो। समस्त जीव, भूत, प्राण एवं सत्त्व को डंडे आदि किसी भी साधन से पीड़ा पहुँचाने, मारने, पीटने, परिताप देने, खिन्न करने, रोम उखाडने आदि से उसे दुःख एवं भय का वेदन होता है। इसलिए यह जानकर किसी भी प्राणी को नही मारना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, अपने अधीन नहीं बनाना चाहिए, परिताप नहीं देना चाहिए तथा पीड़ित न करना चाहिए।"[1]

अहिंसा का यह उपदेश मात्र भगवान् महावीर ने नहीं दिया है जो अतीत एवं आगामी अरिहन्त भगवान् है वे सब इसी प्रकार प्रज्ञापना है कि किसी भी प्राणी का हनन नही करना चाहिए, किसी को आ...

[1] सूत्रकृताङ्ग २.१.१६

नही बनाना चाहिए। किसी को परिताप नहीं देना चाहिए, किसी को पीड़ा नही देना चाहिए—यह धर्म ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है तथा सम्पूर्ण लोक को जानकर क्षेत्रज्ञों के द्वारा कहा गया है।[२] इस प्रकार 'सूत्रकृताङ्ग में निरूपित अहिंसा का यह दर्शन प्राणी को दूसरो के दु.ख के प्रति संवेदनशील बनाता है। दूसरों के दु:ख के प्रति संवेदनशील होकर ही उनके प्रति की जा रही हिंसा से बचा जा सकता है।

हिंसा का त्याग आध्यात्मिक दृष्टि से जहाँ संवर का कारण है वहां सामाजिक दृष्टि से उसका प्रभाव प्राणि-रक्षण के रूप में समस्त प्राणियों पर पड़ता है। हिसा एवं अहिसा से मात्र हिसक व्यक्ति प्रभावित नही होता अपितु समाज प्रभावित होता है। इसी वर्ष बम्बई में मार्च माह में हुए अनेक बम विस्फोटों में सैकड़ों लोगो की जान चली गई। इसमे विस्फोट करने वाला गिरोह उसके कर्म-बन्धन का फल भोगता रहेगा किन्तु साक्षात् फल तो हिस्य प्राणियों पर हो ही गया। यही नही जिनकी जाने गई उनके परिवार वालो एवं निकट सम्बन्धियों के भी प्राणों का इससे अतिपात हुआ है। समाचार सुनने वाली जनता भी आतंकित हुई है।

यहा पर जैनाचार्य यह समाधान प्रस्तुत करते है कि हिसा करने के दोप का फल मात्र हिसक को मिलता है। हिस्यमान प्राणी अपनी चेतना के स्तर पर उस हिसा से अप्रभावित भी रह सकता है। उस हिसा से जिनकी मृत्यु हुई है, वह उन प्राणियों के आयुष्यकर्म क्षीण होने से हुई है। हिस्यमान प्राणी की मृत्यु को अपने कर्मोदय से मानने पर अनेक प्रश्न उठते है।

सबसे पहला प्रश्न तो यह उठता है कि जब हिस्यमान प्राणी का आयुष्यकर्म क्षीण होने ही वाला था तो क्या उसके निमित्त से ही हिसक ने हिसा-जनक बम-विस्फोट किया? यदि हम हिसा के परिणामस्वरूप हुई मृत्यु को आयुष्यकर्म के समापन का परिणाम मानेंगे तो इससे हिसकों को प्रोत्साहन मिलेगा। उन्हें अन्य प्राणियों को अकाल मे मृत्यु का ग्रास बनाते हुए कोई संकोच नही होगा।

इसलिए, दूसरा प्रश्न यह होता है हिस्यमान प्राणी की मृत्यु क्या उसी निमित्त से होनी थी, या अन्य निमित्त से भी हो सकती थी? यदि अन्य निमित्त से होनी थी तब भी हिंसक ने अन्य निमित्त के कार्य का निर्वाह कर हिंसित प्राणी का सहयोग ही किया और यदि वही निमित्त बनना था, तो हिसक का दोष हलका हो जाता है क्योंकि उसकी विवशता थी कि वह ऐसा कार्य करे जिससे हिस्यमान को हिसा हो जाय।

---

२ सूत्रकृताङ्ग २ १.१९

समाज में व्यापक स्तर पर योजनाबद्ध तरीके से जो हिंसा हो रही है चाहे वह हिंसा आतंकवाद के रूप में हो, शोषण के रूप में हो, औद्योगिक प्रगति के रूप में हो, किसी भी प्रकार से हो: उस हिंसा को रोकने के लिए आवश्यक है दूसरों के दुःख के प्रति संवेदनशीलता का विकास। जब तक मनुष्य में यह भावना नहीं आयेगी कि जिस प्रकार मुझे प्रताड़ित किए जाने पर, मारे जाने या कष्ट दिए जाने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य प्राणियों को भी दुःख होता है। मुझे जिस प्रकार जीवन प्यारा है उसी प्रकार अन्य प्राणी भी जीना चाहते हैं। 'सव्वेसिं जीवियं पियं'। आचारांग का यह वाक्य अपने समान अन्य प्राणियों को समझकर उनके दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील होने का पाठ पढ़ाता है। जानबूझकर निर्दोष प्राणियों को कष्ट पहुँचाना प्रत्येक मनुष्य के लिए त्याज्य है।

हिंसा से हिंसित प्राणी की जीवन-लीला के समाप्त होने को मात्र आयुष्य-कर्म की क्षीणता का परिणाम मानना, हिंसा को बढ़ावा देना है। स्थानांग सूत्र में अकाल मृत्यु के सात कारण गिनाए गए हैं, जो यह प्रमाणित करते हैं कि प्राणी की निर्धारित आयु के पूर्व भी उसकी मृत्यु हो सकती है। वे सात कारण हैं—

> अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाते।
> फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं॥
>
> —स्थानांग सूत्र, सप्तम स्थान

(१) राग-द्वेष के तीव्र अध्यवसायों से, (२) शस्त्र, अग्नि, जल-विषादि आदि के निमित्त से (३) आहार न मिलने अथवा अत्यधिक आहार करने से (४) तीव्र वेदना होने से (५) दूसरों के द्वारा चोट पहुँचाने, आघात पहुँचाने से (६) विद्युत धारा के स्पर्श आदि से (७) श्वास-निःश्वास के अवरोध से मनुष्य का मरण हो सकता है अर्थात् निर्धारित आयुष्य के पूर्व भी सांसारिक प्राणियों की देह छूट सकती है। हिंसा का दुःख रूप में प्रभाव वेदनीय कर्म से हो न अनुभव हो किन्तु उसके अतिरिक्त हम समस्त संसारी प्राणियों को दुःख का अनुभव होता ही है, इसलिए हिंसा त्याज्य है।

सह-जीवन, सह-अस्तित्व एवं विश्व-शांति के लिए अहिंसा को जीवन के रूप में स्वीकार करना होगा। पेड़-पौधों की रक्षा का जानवरों के संरक्षण का सवाल, सब तरह अहिंसा को हिंसा के अन्त में हमारा जीवन भी संदिग्ध बन जा की बात हो या पृथ्वी को बचाने की, सर्वत्र अहिं है। अहिंसा का यह सार्वकालिक अभियान किसी हो, अन्य के लिए नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।

स्वतन्त्रता एवं जीव प्रदान करती है। इसीलिए 'प्रश्न-व्याकरणसूत्र' में कहा गया है—

अहिंसा तसथावर सव्वभूयखेमंकरी।

त्रस एवं स्थावर समस्त प्राणियों का अहिंसा क्षेम करने वाली होती है। वह एक का नही समस्त प्राणियों का कल्याण करती है। वह अहिंसक का तो कल्याण करती ही है किन्तु उसके सम्पर्क में आने वालों का भी उससे कल्याण होता है। अहिंसक आश्रम में वैर-विरोध त्याग कर समस्त प्राणी एक साथ बैठते थे, यह संस्कृत साहित्य मे भूरिशः उल्लेख है। तीर्थंकरो के समवसरण में भी निर्भय होकर समस्त प्राणी एक साथ बैठकर उपदेश श्रवण करते थे। इसीलिए कहा गया—

भगवती अहिंसा भीयाणं विव सरणं। प्रश्न व्याकरण २ १

जिस प्रकार हिंसा में स्व एवं पर दोनों का अहित विद्यमान है, उसी प्रकार अहिंसा में स्व एवं पर दोनों का हित निहित है। गाँधीजी ने मृत्यु के लिए तडफते हुए बछडे को मार देना उचित माना है किन्तु जैनदर्शन को यह मान्य नही है। जैनदर्शन मे यह अवश्य निर्देश है कि जो भी कार्य करो उसे यतनापूर्वक करो, विवेकयुक्त होकर करो। बालक को सही मार्ग पर लाने के लिए यदि डांटना पड़े तो यतनापूर्वक डाटो, यह जैनदर्शन का निर्देश है।

अहिंसा-महाव्रत की पुष्टि के लिए आगम में पाँच भावनाओ का प्रतिपादन हुआ है। वे पाँच भावनाएं हैं—

(१) ईर्यासमिति (२) मनोगुप्ति (३) वचनगुप्ति (४) आलोकित पान भोजन और (५) आदान-भाण्ड-मात्र निक्षेपणा समिति। इन पाँच भावनाओं के द्वारा अहिंसा का यह व्यावहारिक रूप है जो आत्मिक करुणा एवं जीवों के प्रति समता-भाव के बिना सभव नही है।

अहिंसा की स्थापना के लिए करुणा भाव एवं संवेदनशीलता की आवश्यकता है किन्तु साथ ही प्रमाद एवं अयतना का त्याग भी आवश्यक है। बिना विवेक एव यतना के सवेदनशीलता का दुरुपयोग भी संभव है। इसीलिए तो जैन दर्शन मे हिंसा-अहिंसा के विवेचन को लेकर अनेक मत एवं सम्प्रदाय पैदा हुए। परन्तु विश्वहित में या समाजहित मे सोचा जाय तो अपने क्षुद्र स्वार्थ एवं सुख की पूर्ति के लिए निरपराध प्राणियों का जीवन ले लेना नितांत घृणित कार्य है, किन्तु करुणाहीन होना और भी बुरा है। निष्करुण प्राणी अहिंसक नहीं हो सकता। जो दूसरों के दुःख को अपने दु खों के सदृश समझता है वही दयार्द्र होकर दूसरे के दु ख को हलका करने में, उसे सान्त्वना देने मे समर्थ हो पाता है।

'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र इस बात का निरूपण करता है कि जीव परस्पर एक दूसरे के उपकारक होते है। माता अपने पुत्र पर उपकार कर उसका लालन-पालन करती है। पुत्र भी माता-पिता का सहयोग करता है। परस्पर सहयोग से ही बड़े-बडे कार्य सम्पन्न हो पाते हैं। स्वामी-भृत्य, गुरु-शिष्य आदि एक दूसरे के उपकारक हैं। यह उपकार ऐसा नही होना चाहिए जिसमे किसी का शोषण हो, हिसा हो।

मैत्री एवं कारुण्य भावनाएँ अहिसादि व्रतो के पालन मे सहायक है। तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा गया है—

मैत्री प्रमोद कारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिक क्लिश्यमाना-विनयेषु। (तत्त्वार्थसूत्र ७.११)

समस्त प्राणियों के प्रति मित्रता का भाव होना चाहिए। 'मित्ती मे सव्वभूएसु' पंक्ति में भी यही बात कही गई है। मैत्री हमे तो निर्मल बनाती ही है किन्तु दूसरों के प्रति अहिंसक आचरण की भी प्रेरणा देती है। इसीलिए उसे अहिंसादि व्रतों के पालन में सहायक माना गया है। दीन-दुखियों के प्रति अथवा कष्ट पा रहे जीवों के करुणा भाव हो यह भी सदेश इस सूत्र से मिलता है। गुणीजनों के प्रति प्रमोद एवं अविनीतों के प्रति समता का भाव भी अहिसादि व्रतों के पालन में सहायक हैं।

'प्रश्नव्याकरणसूत्र' मे तीन प्रकार के हिसकों का संकेत किया गया है—क्रुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति। अर्थात् या तो जीव क्रोध के कारण हिसा करते है, या लोभ के वशीभूत होकर हिसा करते है, या फिर वे अज्ञानवश हिसा करते हैं। कभी वे सप्रयोजन हिसा करते है तो कभी निष्प्रयोजन हिसा करते हैं। हिंसा के ये जो कारण हैं उनका त्याग तभी हो सकता है जब हमे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का बोध हो जाए। अपने समान अन्य प्राणियों को भी जीवन प्रिय है, यह अहिसा का पाठ समझ में आ जाय।

दान, सेवा, परोपकार आदि में भी हिंसा होती है इसलिए वे त्याज्य हैं, इस प्रकार की बात निष्करुण तार्किक जन ही उठा सकते है। उन्हे यह बात समझ लेनी चाहिए कि अप्काय के जीव की अपेक्षा पचेन्द्रिय मनुष्य की चेतना का विकास अधिक होता है इसलिए अप्काय के असख्य जीवो की हिसा से भी अधिक पाप एक मनुष्य को मारने में है। शाकाहार के सम्बन्ध मे भी यही तर्क है। वनस्पति के असख्य जीवो की अपेक्षा एक पशु का जीवन अधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य एव पशुओ मे ऋषि की चेतना अधिक विकसित होती है। इसीलिए अन्य प्राणियो की अपेक्षा ऋषि या साधु के हनन मे अधिक पाप है—

एगं इसिं हणमाणे अणते जीवे हणइ।

अर्थात् एक ऋषि को मारने वाला अनन्त जीवो को मारता है। किन्तु इसका यह आशय नही है कि अप्काय, वनस्पतिकाय आदि के एकेन्द्रिय जीवो की हम निष्प्रयोजन हिसा करते रहे। इसका प्रयोजन इतना ही है कि हम चेतना के स्तर को पहचान कर हिसा से बचे। प्रयत्न यह करे कि छहकाय के जीवो की हिसा के हम निमित्त न बने।

इस लेख को लिखने का प्रयोजन इतना ही है कि आचारांग, सूत्रकृताङ्ग आदि सूत्रो में जो अहिसा का निरूपण हुआ है उसका मात्र वैयक्तिक पक्ष नही है अपितु उसका एक सामाजिक पक्ष भी है जो प्राणि-रक्षण के लिए हमें बार-बार प्रेरित करता है। अहिसा का एक समाज-दर्शन भी है जो हमे दूसरे जीवो के प्रति संवेदनशील बनाकर करुणा एवं मैत्री का संदेश देता है। हिसा समाज के लिए शत्रु है तो अहिसा उसके लिए परम मित्र। हिसा प्राणि-समाज के लिए घातक है तो अहिसा उसके लिए जीवनदायिनी है। हम यह सोचे कि जिस प्रकार दूसरों के द्वारा की गई हिसा हमे अप्रिय लगती है उसी प्रकार अन्य जीवो को भी लगती है अतः उसे छोड़ दे। आज विश्व शान्ति एवं सामाजिक बन्धु-भाव के लिए हिसा के जहर को उतारकर अहिसा का अमृत पीने एव पिलाने की आवश्यकता है।

—सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर (राज०)

× ×

जहाँ दया तहे धर्म है, जहाँ लोभ तहे पाप।
जहाँ क्रोध तहे काल है, जहाँ छिमा तहे आप।।

जहाँ दया रहती है, वहाँ धर्म रहता है। जहाँ लोभ रहता है, वहाँ पाप रहता है, जहाँ क्रोध रहता है, वहाँ काल (मृत्यु) रहता है, जहाँ क्षमा रहती है वहाँ भगवान रहता है।

—कबीर दास
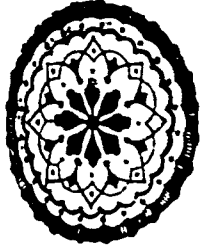
अहिंसा के प्रयोग : अहिंसक समाज रचना की दिशा में

☐ श्री जमनालाल जैन

'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्।' यह वचन जैन आचार्य समन्तभद्र का है। इसमे उन्होने अहिंसा को परमब्रह्म कहा है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का अर्थ है निर्गुण, निराकार परमात्मा जो सारे ब्रह्माण्ड में, अणु-अणु मे यानी सकल चराचर सृष्टि मे व्याप्त है। यह स्थिति जीव को तब प्राप्त होती है, जब वह सब ओर से अद्वैत हो जाता है, अपने में सबको और सब मे अपने को देखता है। आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को इसी व्यापक ब्रह्म की स्थिति में रखा है।

पाँच व्रतो में सत्य और ब्रह्मचर्य मूल रूप में विधायक है। बाकी के तीन अहिंसा, अचौर्य और अपरिग्रह निषेधात्मक है, नकारात्मक है। मतलब यह कि हिंसा से विरत होना ही अहिंसा है। इसी प्रकार चोरी और परिग्रह से परे होना अचौर्य और अपरिग्रह है। चित्त-शुद्धि के लिए जैसे विकारो से मुक्ति आवश्यक है, वैसे ही जीवन में अहिंसा की सिद्धि के लिए अद्वैत की, प्रेम की, समानता की, शून्यता की साधना आवश्यक है।

अहिंसा अर्थात् आत्म-ज्ञान। जिसने अपने को पहचान लिया, जिसके लिए कोई 'पराया' नहीं रहा, जिसका 'मै' गल गया, वह निज-स्वभाव मे स्थित हो जाता है। उसका जीवन-व्यवहार सहज स्वाभाविक हो जाता है। एकेन्द्रिय जीव हो या पंचेन्द्रिय, जड़-चेतन सबके प्रति उसमे समभाव जागृत हो जाता है। उसका खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-उठना सहज हो जाता है। वह किसी के लिए कुछ नही करता, पर सब उसमे अपना दर्शन करते हैं।

यह ब्रह्म रूप अहिसा इतनी सूक्ष्म है कि पकड मे नही आती। वह आकाश की भाति विराट्, व्यापक और अमूर्त है। कण-कण मे व्याप्त यह अहिसा ही सर्व प्राणियो की आत्मा है।

अहिसा की दिशा में आगे बढने के लिए हिसा को समझना और उ विरत होना नितान आवश्यक है। हिसा अनन्तरूपिणी है, वह जितनी

है, उतनी ही सूक्ष्म भी है । वह अहिंसा के अनन्त चेहरे (मुखौटे) लगा कर प्रकट होती है । ऐसा किए बिना हिंसा चल ही नही सकती । हम दया करते है, करुणावान् बनते है, दान करते हैं, सत्य-व्यवहार करते है, चोरी से भय खाते है, क्रोध करने से बचना चाहते है और समझते हैं या दूसरों को जतलाना चाहते है कि हम हिंसक नही, अहिंसक है—लेकिन भीतर-भीतर हिंसा का नर्तन चलता रहता है । भीतर-भीतर हमारे ऐसे अनेक व्यापारो मे, हिंसा हँसती रहती है । हम निरन्तर इस प्रयास मे रहते है कि कोई हमे क्रोधी, मानी, मायाचारी और लोभी न समझे । क्या यह प्रयास अहं-प्रेरित ही नही होता ? और तो और, अपने बाल-बच्चों के सामने भी हम अपने यथार्थ, सहज रूप में प्रकट नही होना चाहते । हो नही सकते, क्योंकि कुछ ऐसा होता है जिसे छिपाना चाहते है । उद्योग, व्यापार, घर-गृहस्थी जीवन का कोई भी क्षेत्र हो, हिंसा वहाँ होगी ।

अहिंसा का समूचा आचार-शास्त्र, व्रत-विधान, सारे नियमोपनियम, सिद्धांत स्थूल हिंसा को ही मन्द करते है । लगता तो है कि हम अहिंसा की ओर आगे बढ़ रहे है, लेकिन गहराई मे, सूक्ष्म रूप मे, भीतर-भीतर हिंसा रहती ही है ।

भगवान महावीर परम अहिंसक थे । वे अहिंसामय ही थे । उन्होने अहिंसा को अपने जीवन मे मूर्तिमान किया था । वे आत्म-ज्ञान के आनन्द से भरे हुए थे, उनका तन सब का हो गया था और वे अपने मे सम्पूर्णता का अनुभव करते थे । इसलिए उनकी हर क्रिया सहज होती थी । वे चीटी को नही बचाते थे, अपने को ही बचाते थे । उनकी पीड़ा व्यापक थी । सबकी पीडा-व्यथा उनकी पीडा-व्यथा वन गयी थी । इसीलिए चीटी का दु ख भी उनका वन जाता था । घटना प्रतीक हो सकती है, पर पुकार-पुकार कर कह रही है कि सगमदेव द्वारा दी गयी पीडा से महावीर विचलित नही थे, व्याकुल यदि थे तो इसलिए थे कि संगमदेव जो कर्म-वध कर रहा है और जैसी नरक-यातना उसे भोगनी पड़ेगी वह रोगटे खड़े करने वाली थी । लेकिन उनके जैसा वेश धारण कर और नियमो का ध्यान रखकर चलने वाला चीटी को वचाने के लिए आहिस्ते से धरती पर पैर रखता है । कहना चाहिए कि वह केवल चीटी को वचाना चाहता है ।

महावीर इसलिए आहार नही कर पाते थे कि आनन्द से भरे रहते थे । लेकिन उनका अनुकरण करके यह मान लिया जाय कि अनगन या उपवास करने से, कायक्लेश करने से मुक्ति मिलती है या अहिंसा सधती है, तो परिणाम यही होगा कि उपवास करने वाले का शरीर सूख जाएगा और चित्त आकुल-व्याकुल हो जाएगा ।

भगवान महावीर ने अहिसा का जो दर्शन, जो तत्त्व प्रस्तुत किया, वह आज भी विचारकों के लिए चिन्तन का विषय बना हुआ है। द्रव्य-अहिसा और भाव-अहिंसा के रूप मे उन्होने अहिसा का इतना सूक्ष्म विश्लेषण किया कि सबके लिए तो क्या, लाखों में दो-चार के लिए भी उस आदर्श तक पहुँचना कठिन हो जाता है। उसी का यह परिणाम है कि भारत में मांसाहार के प्रति आदर के भाव नही पाए जाते। आज भी करोड़ों लोग मांसाहार करते हैं, शौक और प्रतिष्ठा के तौर पर भी करते है, लेकिन वे स्वयं जानते है कि यह सामाजिक दृष्टि से निदनीय है, त्याज्य है, अपराध है। यही तो उस महापुरुष की अमूल्य देन है।

लेकिन गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि उनके द्वारा प्रस्तुत की गई अहिसा, चित्त-शुद्धि एवं समभाव के आदर्श को सामने रखकर अधिकांशत: व्यक्तिनिष्ठ रही, समाज-व्यापी नहीं बन पायी। समाज में यानी व्यक्तियो मे अहिंसा का प्रवेश हो जाना एक बात है और समाज का अहिसक बन जाना बिल्कुल दूसरो बात है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि आज का जो जैन समाज है, वह तो पूरा का पूरा अहिंसा-निष्ठ ही है। पानी छान कर पीना, व्रत-उपवास करना, रात्रि भोजन न करना, हरी साग-सब्जी का मर्यादापूर्वक सेवन करना, अभक्ष्य पदार्थों का त्याग, मद्य-मांस-मधु का त्याग तथा ऐसे फलों का, पदार्थो का त्याग जो जमीकंद है, यह सब अहिसा का पालन नही तो क्या है? ठीक है, स्थूल रूप मे समाज मे यह अहिंसा व्याप्त है। पर यह सब पारिवारिक संस्कार है। संस्कार मे धर्म तब प्रविष्ट होता है जब चितन एवं अभ्यास के द्वारा आगे बढा जाता है। राष्ट्रीय अथवा सामूहिक दृष्टि से देखा जाय तो जैन समाज को अहिंसक समाज कहना कठिन है। पूर्वजो के अनुभवों का लाभ उसे अनायास मिल गया है। उसके पास इस युग का कोई नया अनुभव, नया प्रयोग नही है। जैन समाज की स्थिति तो वैसी ही है, जैसे एक श्रीमन्त के अयोग्य-अकर्मण्य पुत्र की होती है। जैनों की अहिसा केवल जीवों के न मारने तक सीमित रह गयी है। जीवों मे भी केवल एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों तक। इसका परिणाम यह हुआ कि शोषण, संग्रह तथा मिथ्याचरण में हिसा नही दीखती।

उस जमाने मे अहिंसा की जो मर्यादा या धारणा थी, महावीर उससे आगे गये, उसमें क्रान्ति की। लेकिन समाज जहाँ का तहाँ रह गया। अहिंसा का समग्र विकास नही हो पाया। महावीर ने तो अहिसा की साधना को सफल व परिपूर्णता तक पहुँचाने के लिए सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य आदि गुणों का भी विधान किया। फिर भी अहिसा मात्र खाने-पीने तक सीमित रह गयी। अहिसा का उनका प्रयोग प्राणी दया, मांस परित्याग से आगे परिस्थितिवश जा न सका।

आज विज्ञान विविध क्षेत्रों में काफी प्रगति कर चुका है। उसकी प्रगति का प्रवाह सतत जारी है। विज्ञान ने धरती और आकाश की अनगिनत परते खोलकर रख दी है। चिकित्सा-विज्ञान तो कल्पनातीत उन्नति कर चुका है। रेलगाडी का ड्राइवर अब मजे में ठण्डी हवा खाकर आराम से एंजिन में बैठता है। कम्प्यूटर-युग ने न जाने कितनी सुविधाएँ पेश करदी है। यह विज्ञान की ही देन है कि आदमी की आयु क्षीण होने से बच गयी। मृत्यु-दर घट गयी। हमारे धर्म-चिन्तकों ने हजारों वर्षो में जो प्रयोग किये, उनसे उत्तम प्रयोग आज के वैज्ञानिक घण्टों और मिनटों में कर रहे है। धर्मवादी लोग विज्ञान को हेय दृष्टि से देखते है और कहते है कि उससे संस्कृति का ह्रास हो रहा है, धर्म से लोग विमुख हो रहे है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि ऐसे लोग स्वयं विज्ञान की सुविधाओं का उपयोग करने में गर्व का अनुभव करते है। ध्यान में रखने की बात यह है कि जो चीज मानव-समाज के लिए हानिप्रद या घातक होती है, वह बढती नही, टिकती नही। हाँ, वस्तु व साधनों के उपयोग में समयोचित विवेक रहना जरूरी है। यह विवेक आत्म-ज्ञान से ही आ सकता है। विनोबा तो कहते हैं कि जब हम विज्ञान और आत्म-ज्ञान का मुमेल साध लेगे, तभी हमारे जीवन में अहिंसा प्रतिष्ठित होगी।

विगत हजारो वर्षो में, अनेक क्षेत्रों में अहिसा के सहस्रो प्रयोग हुए हैं। स्व. साने गुरुजी ने लिखा है—"अहिसा के पीछे बहुत वड़ी तपस्या है। इसके लिए वड़े-वड़े प्रयोग हुए है। वैदिककाल से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति में यदि कोई स्वर्णसूत्र है तो वह है अहिसा। इस सूत्र के आसपास ही भारत में धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक आन्दोलन गुंथे हुए है। भारतवर्ष का इतिहास मानो एक प्रकार से अहिसा के प्रयोग का ही इतिहास है।" एक पुस्तक मे राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक प्रयोगों की संख्या लगभग २०० दी गयी है। प्रयोग तो आदिकाल से हो रहे है और आज भी हो रहे हैं। इन प्रयोगो में युद्ध की समाप्ति, विकारों का शमन, खान-पान में सात्विकता, मांसाशन-त्याग, यज्ञ मे पशु-वलि का निषेध, आक्रमण और प्रहार में अद्वेप, प्रतिकार का सामूहिक मार्ग, निःशस्त्रीकरण आदि महत्त्व-पूर्ण है। भगवान कृष्ण ने गोकुल में मांस के स्थान पर दुग्ध सेवन का महत्त्व बढाया और युद्ध में अनासक्ति या 'विगत-ज्वर' की वात कही। जैन पुराणो के अनुसार भरत-वाहुवली का युद्ध एक प्रकार से अहिसा का ही पहला प्रयोग था जिसने नर-संहार पर पावन्दी लगायी थी। महावीर तथा बुद्ध ने भी हिंसा एवं स्वार्थ के स्थान पर दया, करुणा, समता तथा सयम की प्रतिष्ठा वढाई।

लेकिन इसका यह मतलब नही कि अहिसा की शक्ति हमारे हाथ मे आ गयी है । विश्व में आज शस्त्र-शक्ति, संहार-शक्ति बड़ी तेज गति से बढ रही है । हर देश परमाणविक शक्ति से सम्पन्न होना चाहता है । मिनटों मे अब राष्ट्र धराशायी हो सकते है । ऐसी स्थिति में आत्म-बल की सहायता से यदि अहिसक शक्ति नही बढती है तो सर्वनाश निश्चित ही है । अभी तो हम अहिंसा विश्वविद्यालय मे, नितांत प्रारम्भिक नर्सरी कक्षा में ही विचर रहे है—स्थूल रूप में खान-पान में ही पूर्ण अहिसावादी होने का श्रेय ले लेना चाहते है । इन सब स्थूलताओ से ऊपर उठे बिना अहिंसा विराट् शक्ति का दर्शन होने वाला नही है ।

हमने अपने को अहिसक बनाने या मानने की दिशा में काफी धोखा दिया है । तरह-तरह के आचार-विचार गढकर, व्रत-नियम बनाकर मान लिया कि इतने अंश मे हम अहिंसक हो गये है । किसी जीव को नही मारना चाहिए । इसका परिणाम यहाँ तक आया कि हम स्थूल रूप से जीव को न मारने मे अहिंसा समझने लगे । किसी मरते हुए को बचाने की वृत्ति विकसित नही हुई—बल्कि क्षीण हो गयी । दूसरी ओर जीव को न मारने की वृत्ति इतनी विकृत हो गयी कि सट्टे, सौदे, सोने-चांदी, जवाहरात के व्यापार में अहिसा दीखने लगी । धन के संग्रह में हिसा कैसे दीखती ? बल्कि खेती-बाड़ी तथा सेवा-कार्यो मे हिसा दीखने लगी । कर्म-बध को ढीला करने या स्वर्ग प्राप्ति के लिए, मान ले आत्म-शांति के लिए उपवास या तपस्या करने वाला व्यक्ति ब्याज लेने मे, शोषण करने मे, हिसाब-किताब की अनैतिकता मे हिसा नही देखता । मिलावट करने वाला भी अपने हाथ से हिसा कहाँ करता है ?

'जीओ और जीने दो' का नारा खूब चलता है । यह वास्तव में स्वार्थपरक उक्ति है । पहले हम स्वयं जीये और तब दूसरे जीयें (चाहे जैसे) —यह ध्वनि इसमे से निकलती है । मानो किसी को जिलाने की हमारी जिम्मेदारी ही नहीं है । 'जीने दो' कहकर सिर्फ यह कहा गया कि 'मारो मत ।' अपनी ओर से किसी को छेड़ो मत, सताओ मत । असल में यह पलायन का स्वर है । इसके स्थान पर हमारा नारा होना चाहिए **'जिलाकर जीओ ।'** दूसरे को जीने का भरपूर अवसर देकर ही हम जीवित रह सकते है । खिलाकर खाने में, पिलाकर पीने मे जो स्वाद है, जो रस है, जो तृप्ति है, वही आनन्द जिलाकर जीने मे है । स्वयं मर-मिटकर भी अगर हम दूसरे को जिलाये रख सके तो उसकी कीमत बहुत अधिक है । यह विज्ञान-युग का ही नही, स्थूल से स्थूल आर्थिक व्यवहार का भी स्वर्ण सूत्र है । आर्थिक क्षेत्र में साझेदारी का, ट्रस्टीशिप का, बांटकर खाने का विचार फैल

रहा है, यह भी जिलाकर जीने की प्रक्रिया है। इसके बिना जीवन मे अहिसा मूर्त नही हो सकेगी।

यूरोप में हॉलेंड एक छोटा-सा देश है। वहाँ की कुल आबादी डेढ़ करोड़ है। वहाँ की राज्य-व्यवस्था विकेन्द्रित है। सत्ता, पचायतों या म्युनिसिपल कमेटियों के हाथ में है। केन्द्रीय व्यवस्था के पास कोई पुलिस बल नही है। लेकिन समाज व्यवस्था भी इतनी मानवीय है कि कह सकते हैं कि वहाँ अहिसा तेजस्वी रूप में व्याप्त है। वहाँ के परिवार गरीब देशों के, गरीब परिवारों के लड़के-लड़कियों को अपने परिवार में दत्तक लेकर आत्मीयता से पालते हैं। ऐसे बालक-बालिकाएँ वहां ४० हजार है। हमारे यहा भी लोग दत्तक लेते है, पर स्वार्थवश और सो भी लड़कों को। वहां यह परिपाटी मात्र मानवता की दृष्टि से है। घरों में सफाई का यह हाल कि सार्वजनिक शौचालय घरों के संडास से भी साफ रहते है। न वहां छल-कपट है, न भ्रष्टाचार। हम उन्हें मांसाहारी अर्थात् मलेच्छ कहने मे सकोच नही करेंगे—उनको हिंसक कहेंगे, उनके हाथ का छुआ खायेगे-पियेगे नही। हमारे त्यागी-संन्यासी तो अपने ही देश में शूद्र-जल आदि का त्याग कराके ही चुप नही बैठते। अमीर-गरीब का, ऊँच-नीच का, जाति-विजाति का न जाने कैसा-कैसा भेद बढ़ाकर हिंसा को बढ़ाते रहते है और कहलाते है अहिंसाव्रती।

जब हम अहिंसक समाज की बात करते है तो हमारे सामने कई प्रश्न खड़े होते हैं। जहाँ तक हम समझते हैं, अहिसक समाज का स्वरूप नीचे लिखे आधारो पर निर्भर होगा—

१. अहिंसा-सिद्धि के लिए नित नये प्रयोग होते रहेंगे।
२. वह समाज अपने में स्वयं पूर्ण और स्व-शासित होगा।
३. वह पूर्णतया स्वावलम्बी होगा।
४. वह सत्ता और शस्त्र से मुक्त होगा, उनसे निर्भय होगा।
५. उस समाज मे व्यक्तिगत सम्पत्ति और परिग्रह का मूल्य कतई नहीं रहेगा। सम्पत्ति और परिग्रह (संचय) चोरी की तरह राष्ट्रीय गुनाह माना जायेगा।
६. वह सेवानिष्ठ, सेवामय समाज होगा।
७. वह समाज राष्ट्रीय दृष्टि से ऐसे उद्योग-धंधो को अपनायेगा जिनके द्वारा राष्ट्र स्वावलम्वी, आत्मनिष्ठ बनेगा। ऐसे उद्योग-धंधो मे होने वाली थोडी-बहुत हिसा क्षम्य होगी, वह अहिसा ही मानी जायेगी

और उसमे भी संशोधन होते रहेगे । लेकिन उन उद्योगों को कतई महत्त्व नही दिया जायेगा जो शोषण के आधार होंगे—कुछ की पेटियाँ भरे और करोड़ो का पेट खाली रहे ।

८. यन्त्रों का विरोध न होगा, लेकिन उनके उपयोग की मर्यादा रहेगी। वह मर्यादा सामूहिक, सामाजिक विकास पर निर्भर होगी। उसमे वर्ग-विषमता व शोषण का कोई स्थान न होगा।

९. वह समाज श्रम-परायण होगा। हर व्यक्ति अपने श्रम द्वारा उपार्जित वस्तुओ का उपयोग करेगा। जाति या वर्णगत भेदभाव नही रहेगा। हर आदमी हर काम करने के लिए तत्पर रहेगा। कोई भी काम हलका-भारी, छोटा-बड़ा नही माना जायेगा।

१०. व्यक्तियों द्वारा जो कुछ निर्माण या उत्पादन होगा, उस पर पूरे समाज की मलकियत होगी।

अहिंसक समाज की रचना के लिए यह जमाना अतीव अनुकूल है। आज मानव समाज विज्ञान की मदद से अति विकसित स्थिति मे पहुँच गया है। वह जागृत हो गया है। पुराने मूल्य समाप्त हो रहे है। मूल्य-परिवर्तन की क्रांति ही अहिंसा है। विनोबाजी कहते है—

"समाज में आज जो मूल्य स्थापित है, उन्हे ही हम बदल देना चाहते है। हम चाहते हैं कि मत्री से भंगी तक की सेवा का दर्जा समान बना दिया जाये। पैसे की कीमत मै नही मानता। मै पूछता हूँ कि जिन मेहतरो को स्वराज्य में प्रतिष्ठा हासिल नही है, उनके लिए स्वराज्य की क्या कीमत है? दूसरा सवाल मैं यह पूछता हूँ कि हम जैसों की क्या कीमत है जो स्वराज्य मे मेहतरो से इस तरह गुलाम बनाकर काम लेते है? एक वह भी गिरे, हम भी गिरे। दोनों की नैतिक कीमत नही जैसी है। बहनों को जड़ वस्तु माना जाता है। इसके वजाय उनको पेटी मे वन्द करके रखते तो ज्यादा कीमत हो जाती।"

अहिंसा सिद्धान्त नही है, एक वृत्ति है। यह वृत्ति जितनी व्यापक होगी, उतनी ही अहिंसा जीवन में व्यक्त होगी। हर व्यवहार में इस वृत्ति के प्रति जागरूकता ही अहिंसा की उपलब्धि है। सिद्धान्त वनकर तो अहिंसा मात्र ढाँचा ही रह जाती है और हम देखते है कि अहिंसा को सिद्धान्त मानने के क्या-क्या नतीजे देश और समाज को भुगतने पड़े हैं।

—सारनाथ (उ० प्र०)

☐ उदारता करुणा तथा प्रसन्नता की जननी है।
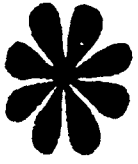
वर्तमान अर्थव्यवस्था और अहिंसा

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत

वर्तमान अव्यर्थवस्था और अहिंसा का विचार सामान्यतः लोगों को अटपटा लग सकता है, कारण कि वर्तमान युग में अर्थ नीति और राजनीति का जो प्रतिस्पर्धात्मक माहौल बना हुआ है, उसके मूल में प्रत्यक्ष-परोक्ष हिंसा का ही व्यवहार है। पर यह भी देखने में आया है कि धार्मिक वृत्ति के लोग आर्थिक दृष्टि से प्रायः अधिक समृद्ध है और व्यावसायिक क्षेत्र में उनकी प्रतिष्ठा भी है, अतः आर्थिक क्षेत्र और धार्मिक क्षेत्र के पारस्परिक प्रभाव और दाय पर विचार करना अप्रासंगिक न होगा। भारतीय मनीषियों ने जीवन को समस्या के रूप में न देख कर पुरुषार्थ के रूप में देखा है तथा अर्थ और काम को कर्म द्वारा नियन्त्रित करने का विधान किया है। भगवान महावीर के समय में आनन्द आदि जो श्रावक थे, उनके पास करोड़ों की सम्पत्ति थी और वे व्रतधारी श्रावक थे। आज भी विभिन्न धर्मों के अनुयायी करोड़पति है। अतः धार्मिक तत्त्व आर्थिक समृद्धि में बाधक होते है, ऐसा मानना ठीक नहीं। धर्म-परम्परा द्वारा अहिंसा, सत्य, अचौर्य, त्याग वृत्ति, संयम-नियम जैसे सद्‌गुण विकसित होकर समाज में एक ऐसा नैतिक ढांचा निर्मित करते है जो आर्थिक जीवन को प्रभावित किये बिना नही रहता।

अर्थ व्यवस्था की दृष्टि से आज संसार दो वर्गो में बंटा हुआ है—पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और मार्क्सवादी, समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था। दोनों व्यवस्थाओ में मौलिक और बुनियादी अन्तर सम्पत्ति के स्वामित्व को लेकर है। पूंजीवादी व्यवस्था मे व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार सुरक्षित है तो साम्यवादी व्यवस्था में सम्पत्ति पर समाज या राज्य का अधिकार है। अर्थशास्त्र में उत्पादन के साधन—श्रम, भूमि, पूजी, उपकरण आदि सम्पत्ति माने गये है। पूजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनो पर व्यक्ति का अधिकार होता है जबकि समाजवादी व्यवस्था में इन पर समाज या राज्य का स्वामित्व होता है। दोनो व्यवस्थाएं कम श्रम या लागत से अधिक सुख प्राप्त करना अपना लक्ष्य मानती है। दोनों में अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने और आवश्यकताएँ बढाने की प्रवृत्ति समान रूप से है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ या मुनाफा व्यक्ति की जेब मे जाता है जबकि समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था मे यह लाभ जिसे मार्क्स ने 'अतिरिक्त मूल्य' कहा है, किसी व्यक्ति की जेब में न जाकर केन्द्रीय संगठन या राज्य के खजाने मे जाता है।

दोनो व्यवस्थाओ में पूजी का समान महत्त्व है। एक में पूंजी पर वैयक्तिक अधिकार होने से उसका केन्द्रीकरण व्यक्ति-व्यक्ति के बीच होता जाता है और वह अनैतिक तरीको से भी उसे संगृहीत करने का प्रयत्न करता है। इन प्रयत्नो मे कर चोरी, तस्करी, मिलावट, कम नाप-तोल, अधिक श्रम लेकर कम देने की प्रवृत्ति आदि शामिल है। इससे समाज मे अमीर के अधिक अमीर होने की और गरीब के अधिक गरीब होने की स्थिति बनी रहती है। फलस्वरूप अमीर और गरीब की खाई बढ़ती जाती है। जो असली श्रमिक है, उत्पादक है, उसे अपने श्रम की पूरी लागत न मिलना मानवीय शोषण है। लाभ की इस प्रवृत्ति से अधिकाधिक सग्रह करने की होड बढती है। कृत्रिम रूप से वस्तुओ का अभाव पैदा कर कीमते वढाई जाती है, कालावाजारी की जाती है और लाखो करोड़ो लोगो को दो जून रोटी के लिये वंचित कर दिया जाता है। मानवीय हिसा का यह निकृष्टतम रूप है। इस हिसा और शोषण से मानव समाज को मुक्त करने के लिये मार्क्स ने सम्पत्ति के व्यक्तिगत अधिकार को छीनकर उसे राज्य के हवाले कर दिया। इस व्यवस्था मे जो लाभ होता है, वह राज्य द्वारा लोगो को रोटी, कपड़ा, मकान, शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी सुविधाएं जुटाने मे खर्च किया जाता है। इससे, व्यक्ति व्यक्ति द्वारा शोषण की प्रवृत्ति तो रुकती हुई दिखाई देती है पर एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को हथियाने की कोशिशे लगातार चालू रहने से रक्तपात लूट-खसोट और विश्वयुद्ध का खतरा बराबर वना रहता है। इस व्यवस्था में पूंजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने का प्रयत्न तो किया गया, पर पूजीवादी टेकनीक का आलम्बन नही छोड़ा गया, फलस्वरूप तीव्र औद्योगिकरण की प्रक्रिया वैसी की वैसी बनी रही। दोनो व्यवस्थाओ मे उत्पादन पर और उसमें निरंतर विकसित होती हुई तकनीक के प्रयोग पर किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था न होने से पूजी का केन्द्रीकरण रुकता नही। इस प्रकार शोषण का दमनचक्र दोनो व्यवस्थाओ मे समान रूप से चालू रहता है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था में वस्तुओं के उत्पादन, वितरण और विनिमय पर अधिक जोर दिया गया है। मशीनों के प्रयोग से उत्पादन मे कई गुणा वृद्धि हुई है। उत्पादित माल को खपाने के लिये, नये-नये वाजार ढूढने की प्रतिस्पर्धा वढी है। जिसके फलस्वरूप अर्थसत्ता का राजसत्ता पर हावी होने का दुष्चक्र तेजी से चलने लगा है। अर्थसत्ता और राजसत्ता के गठवन्धन ने विश्व में हिंसा और शोषण के चक्र को और दृढ़ता से कस दिया है। मार्क्स ने शोपण को मिटाने के लिए हिंसा को क्रांतिकारी साधन के रूप में अपनाया पर उससे शोपण तो न मिटा वरन् प्रतिहिंसा की ज्वाला मे संसार और तेजी से जलने लगा, साथ ही व्यक्ति का स्वातन्त्र्य और उसका गौरव भी नष्ट हो गया। व्यक्ति व्यवस्था का पुर्जा मात्र वनकर रह गया।

अधिकाधिक उत्पादन कर अधिकाधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति ने व्यक्ति की आवश्यकताओं और इच्छाओं को असीमित रूप से बढ़ा दिया है। तीव्र औद्योगिकरण से आर्थिक वैषम्य बढ़ने के साथ-साथ प्रदूषण की एक विकट समस्या पैदा हो गई है जो सम्पूर्ण मानवता के विनाश का कारण बन सकती है। प्रदूषण से हिंसा का खतरा भी अधिक बढ़ गया है। कारखानों से निकलने वाली विषैली गैसों, विषाक्त एवं हानिकर तरल पदार्थों एवं रासायनिक तत्वों के कारण जल प्रदूषण एवं वायु प्रदूषण इतना अधिक हुआ है कि पश्चिम के औद्योगिकृत देशों को ही नहीं, अन्य देशों को भी इससे खतरा पैदा हो गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका के झील प्रदेश के आसपास के कारखानों द्वारा इतना अधिक हानिकर तरल पदार्थ झीलों में बहा दिया जाता है कि उससे लाखों मछलियां मर जाती हैं। जापान के आसपास के समुद्री जल की भी यही स्थिति है। यह अनुमान लगाया गया है कि अगले २० वर्षों में भूमध्य सागर जैविक दृष्टि से मृत प्राय: हो जायगा क्योंकि उसके आसपास स्थित कल कारखानों का विषैला जल इतनी अधिक मात्रा में उसमें बहा दिया जाता है कि अब तक उसके आधे जीवों का विनाश हो चुका है।

वायुमंडल का प्रदूषण भी कम भयंकर नहीं। इंगलैण्ड, पश्चिमी जर्मनी एवं जापान के अतीव औद्योगीकृत क्षेत्रों के कारखानों द्वारा इतनी अधिक मात्रा में विषैली गैसों को वायु मण्डल में विसर्जित किया जाता है कि स्वास्थ्य के लिये खतरा उत्पन्न हो गया है। भारत में भी अहमदाबाद, बडौदा के आसपास स्थित पेट्रोलियम, पेट्रोरसायन उर्वरक तथा अन्य रासायनिक उद्योगों के समक्ष विषैले एवं हानिकारक निरर्थक पदार्थों के निष्कासन की समस्या उत्पन्न हो गई है। बम्बई एवं कलकत्ता के चारों ओर स्थित कारखानों के द्वारा निष्कासित हानिकर निरर्थक पदार्थों का विसर्जन समुद्री जल एवं हुगली नदी में होता है जो उनके जलचरों के विनाश का कारण बनता जा रहा है। जल और वायु प्रदूषण की तरह अणु-परीक्षण की रेडियोधर्मिता और कीटाणुनाशक दवाइयों के प्रयोग से थल प्रदूषण की समस्या भी उभर कर सामने आ रही है। इस प्रकार तीव्र औद्योगिकरण से मानव-शोषण के अतिरिक्त हिंसा की नई-नई संभावनाओं के क्षेत्र खुलते जा रहे है। सौन्दर्य प्रसाधनों के निर्माण में खरगोश, ह्वेल मछली, सिवेट, भेड़, मैमना, मृग आदि की हिंसा के प्रसंग दिल दहलाने वाले हैं।

मानव सभ्यता के विकास में औद्योगिक क्रांति ने नये हस्ताक्षर किये पर यह किसे पता था कि यह क्रांति जानलेवा बन जायेगी। शोषण और हिंसा के इस दुष्चक्र से मानव की मुक्ति कैसे हो, यह विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में दोनों प्रकार की अतिवादी अर्थ व्यवस्था से बचते हुए महात्मा गांधी ने

स्वावलम्बन मूलक विकेन्द्रित अर्थ व्यवस्था और ट्रस्टीशिप का सिद्धात प्रस्तुत किया। गांधी जी के अनुसार शोषण और हिंसा से बचने का तरीका है—आवश्यकताओ को नियन्त्रित किया जाय। लघु और कुटीर उद्योगो का विस्तार किया जाय, धनिक अपने को धन का स्वामी न समझ कर ट्रस्टी समझे और उस धन का उपयोग जन कल्याण मे करे।

आज से २५०० वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने गृहस्थ धर्म के व्रत विधान में प्रकारान्तर से इन्ही बातो पर बल दिया है। महावीर ने वर्तमान अर्थशास्त्रियो की तरह उत्पादन पर अधिक नियन्त्रण लगाने की बात कही। इस सम्बन्ध में उनके विचारों को चार सूत्रों मे रक्खा जा सकता है—

(१) आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करो। मनुष्य की इच्छाएं आकाश की तरह अनन्त है और ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, अतः इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से सद्गृहस्थो के लिये परिग्रह परिमाण या इच्छा परिमाण व्रत की व्यवस्था की गई है। सद्गृहस्थ यह निश्चय करता है कि मै इतने पदार्थो से अधिक की इच्छा नही करूगा। शास्त्रकारो ने ऐसे पदार्थो को नौ भागो मे विभक्त किया है—(१) क्षेत्र (खेत आदि भूमि) (२) वास्तु (निवास योग्य स्थान) (३) हिरण्य (चादी) (४) सुवर्ण (सोना) (५) धन (सोने चांदी के ढले हुए सिक्के अथवा घी, गुड, शक्कर आदि मूल्यवान पदार्थ) (६) धान्य (गेहूँ, चावल, तिल आदि) (७) द्विपद (जिसके दो पांव हो जैसे मनुष्य और पक्षी) (८) चतुष्पद (जिसके चार पाव हो, जैसे हाथी, घोड़े, गाय, भैस, बकरी आदि) और कुप्य (वस्त्र, पात्र औषध आदि)।

इस प्रकरण की मर्यादा से व्यक्ति अनावश्यक सग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है।

(२) भगवान् महावीर का दूसरा सूत्र यह है कि विभिन्न दिशाओ मे आने-जाने के सम्बन्ध मे मर्यादा कर यह निश्चय किया जाये कि मै अमुक स्थान से अमुक दिशा में अथवा सब दिशाओ में इतनी दूर से अधिक नही जाऊगा। इस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाणव्रत कहा जाता है। इस मर्यादा से वृत्तियो का सकोच होता है, मन की चञ्चलता मिटती है और अनावश्यक लाभ या सग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। प्रकारान्तर से दूसरो के अधिकार क्षेत्र मे उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की अथवा शोषण करने की वृत्ति से बचाव होता है। आधुनिक युग मे प्रादेशिक सीमा, अन्तर्राष्ट्रीय सीमा, नाकेबन्दी आदि की व्यवस्था इसी व्रत के फलितार्थ है। क्षेत्र सीमा का अतिक्रमण करना आज भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि मे अपराध माना जाता है। तस्कर वृत्ति इस का उदाहरण है।

(३) भगवान महावीर ने तीसरा सूत्र यह दिया है कि मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा भी निश्चित की जाए। दिक्परिणामव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एवं वहां के पदार्थादि से तो निवृत्ति हो जाती है पर यदि मर्यादित क्षेत्र के पदार्थों के उपभोग की मर्यादा निश्चित नहीं की जाती तो उससे भी आवश्यक संग्रह का अवसर बना रहता है। अतः उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत की विशेप व्यवस्था की गयी है। जो एक बार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना, काम मे लेना, उपभोग है, जैसे भोजन, पानी आदि, और जो वस्तु बार-बार भोगी जा सके, उसे भोगना परिभोग है, जैसे वस्त्र, बिस्तर आदि। उपभोग-वस्तुओं में वे वस्तुए आती है जिनका होना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक है। परिभोग-वस्तुओ में उन पदार्थो की गणना है जो शरीर को सुन्दर और अलंकृत बनाते हैं अथवा जो शरीर के लिए आनन्दायी माने जाते हैं। शास्त्रकारो ने उपभोग्य-परिभोग्य वस्तुओं को २७ भागों मे विभक्त किया है।

इस प्रकार की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगीपूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने के साथ-साथ दूसरो को भी जीवित रहने का अवसर और साधन प्रदान कर सके।

(४) भगवान् महावीर ने चौथा सूत्र यह दिया है कि व्यक्ति प्रतिदिन अपने उपभोग-परिभोग मे आने वाली वस्तुओ की मर्यादा निश्चित करे और अपने को इतना संयमशील बनाये कि वह दूसरो के लिए किसी भी प्रकार बाधक न बने। दिक्परिमाण और उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत जीवन भर के लिए स्वीकार किये जाते है। अत. इनमे आवागमन का जो क्षेत्र निश्चित किया जाता है, तथा उपभोग-परिभोग के लिए जो पदार्थ मर्यादित किये जाते हैं, उन सबका उपयोग वह प्रतिदिन नही करता है। इसीलिए एक दिन-रात के लिए उस मर्यादा को भी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थों की मर्यादा कम कर देना, देशावकाशिकव्रत है। अर्थात् उक्त व्रतों में जो अवकाश रखा है, उसको भी प्रतिदिन सक्षिप्त करते जाना।

श्रावक के लिए प्रतिदिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है, वह इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है। शास्त्रो में वे नियम इस प्रकार कहे गये है—

> सचित्त दव्व विग्गई, पन्नो ताम्बूल वत्थ कुसुमेषु।
> वाहण सयण विलेवण, वम्भ दिसि नाहण भत्तेषु॥

अर्थात्—१. सचित्त वस्तु, २. द्रव्य ३ विगय, ४. जूते-[illegible] ६. वस्त्र, ७ पुष्प, ८ वाहन, ९. शयन, १०. विलेपन [illegible] दिशा, १३. स्नान और १४ भोजन। इन नियमों से [illegible]

मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकताये उत्तरोत्तर सीमित होती है।

उपर्युक्त चारों सूत्रो में जिन मर्यादाओं की बात कही गयी है वह व्यक्ति की अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। भगवान् महावीर ने यह नही कहा कि आवश्यकतायें इतनी इतनी सीमित हो। उनका सकेत इतना भर है कि व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार आवश्यकतायें सीमित करे, इच्छायें नियन्त्रित करे क्योंकि यही परम शान्ति और आनन्द का रास्ता है। आज की जो राजनैतिक चिन्तनधारा है उसमें भी स्वामित्व और आवश्यकताओं को नियन्त्रित करने की बात है। यह नियमन, नियन्त्रण और सीमांकन विविध कर पद्धतियों के माध्यम से कानून के तहत किया जा रहा है। यथा—आयकर, सम्पत्तिकर, भूमि और भवन कर, मृत्यु कर और नागरिक भूमि सीमांकन एवं विनियमन अधिनियम (अरबन लैण्ड सीलिग एण्ड रेग्यूलेशन एक्ट) आदि।

भगवान् महावीर ने अपने समय में, जबकि जनसंख्या इतनी नही थी, जीवन की जटिलतायें भी कम थीं, तब यह व्यवस्था दी थी। उसके बाद तो जनसंख्या में विस्फोटक वृद्धि हुई है, जीवन पद्धति जटिल बनी है, आर्थिक दबाव बढ़ा है, आर्थिक असमानता की खाई विस्तृत हुई हैं, फिर भी लगता है कि महावीर द्वारा दिया गया समाधान आज भी अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है क्योंकि कानून के दबाव से व्यक्ति बचने का प्रयत्न करता है, पर स्वेच्छा से उसमें जो आत्मानुशासन आता है, वह अधिक प्रभावी बनता है।

भगवान महावीर ने आवश्यकताओ को सीमित करने के साथ-साथ जो आवश्यकताएं शेष रहती है, उनकी पूर्ति के लिए भी साधन शुद्धि पर विशेष बल दिया है। महात्मा गाधी भी साध्य की पवित्रता के साथ-साथ साधन की पवित्रता को भी महत्त्व देते थे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि व्रत, साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक है। इन व्रतों के पालन और इनके अतिचारों से बचने का जो विधान है, वह भाव-शुद्धि और अहिंसक दृष्टि का सूचक है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा से बचना चाहिए। उसे ऐसे नियम नही बनाने चाहिए जो अन्याययुक्त हो, न ऐसी सामाजिक रूढियों के बन्धन स्वीकार करने चाहिए जिनसे गरीबों का अहित हो। अइभार (अतिभार) अतिचार इस बात पर बल देता है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से निश्चित समय से अधिक काम न लिया जाये, न पशुओं, मजदूरों आदि पर अधिक बोझ लादा जाए और न बाल-विवाह, अनमेल विवाह और रूढियों को अपनाकर जीवन को भारभूत बनाया जाए। भत्त-पाण-विच्छेद अतिचार से यह तथ्य गृहीत होता है कि व्यक्ति अपना व्यापार इस प्रकार करे कि उससे किसी का भोजन व पानी न छीना जाय।

सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया है। कहा गया है कि व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए कन्नालीए अर्थात् कन्या के विषय में, गवालीए अर्थात् गो के विषय में, भोमालीए अर्थात् भूमि के विषय में, णासावहारे अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोले। कूडसक्खिजे अर्थात् झूठी साक्षी न दे। इसी प्रकार सत्यव्रत के अतिचारों से वचने के लिये कहा गया है कि बिना विचारे एकदम किसी पर दोपारोपण न करे, दूसरों को झूठा उपदेश न दें, झूठे लेख, झूठे दस्तावेज न लिखें, न झूठे समाचार या विज्ञापन आदि प्रकाशित कराये और न झूठे हिसाब आदि रखें।

अस्तेय व्रत की परिपालना का, साधन शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना और दूसरो से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। सेंध लगाने, डाका डालने, ठगने, जेब काटने वाले ही चोर नहीं हैं बल्कि खाद्य वस्तुओ में मिलावट करने वाले, एक वस्तु बताकर दूसरी लेने-देने वाले, कम तोलने और कम नापने वाले, चोरों द्वारा हरण की हुई वस्तु खरीदने वाले, चोरो को चोरी की प्रेरणा करने वाले, झूठा जमा-खर्च करने वाले, जमाखोरी करके बाजारों में एकदम से वस्तु का भाव घटा या बढ़ा देने वाले, झूठे विज्ञापन करने वाले, अवैध रूप से अधिक सूद पर रुपया देने वाले भी चोर हैं। भगवान महावीर ने अस्तेय व्रत के अतिचारों में इन सबका समावेश किया है। इन सूक्ष्म तरीको की चौर्यवृत्ति के कारण ही आज मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। एक ओर काला धन बढ़ता जा रहा है तो दूसरी ओर गरीब अधिक गरीब बनता जा रहा है। अर्थव्यवस्था के संतुलन के लिये आजीविका के जितने भी साधन है, पूजी के जितने भी स्रोत हैं उसका शुद्ध और पवित्र होना आवश्यक है।

इसी संदर्भ में भगवान् महावीर ने ऐसे कार्यो द्वारा आजीविका के उपार्जन का निषेध किया है जिनसे पाप का भार बढता है और समाज के लिए जो अहितकर हों ऐसे कार्यों की संख्या शास्त्रों में पन्द्रह गिनाई गयी हैं और इन्हें 'कर्मादान' कहा गया है। इसमें से कुछ कर्मादान तो ऐसे है जो लोक में निन्द्य माने जाते है और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट होती है। उदाहरण के लिए, जंगल को जलाना (इंगालकम्मे), शराव आदि नादक पदार्थों का व्यापार करना (रसवाणिज्जे), अफीम, संखिया आदि जीवन नाशक पदार्थों को बेचना (विसवाणिज्जे), सुन्दर केश वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय करना (केसवाणिज्जे), वन दहन करना (दवग्गिदावणियाकम्मे), असज्जनों अर्थात् असामाजिक तत्त्वों का पोषण करना (असईजणपोसणियाकम्मे) आदि इन को लिया जा सकता है।

भगवान महावीर द्वारा गृहस्थ पर इतने अधिक नियन्त्रण लगाने का यह अर्थ नही है कि जीवन के प्रति उनकी दृष्टि नकारात्मक रही है। उन्होने अपरिग्रह व्रत की प्रवृत्तिमूलक दृष्टि पर भी व्यापक बल दिया है। वस्तुतः उनका प्रहार धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नही कहते। उनका बल अर्जित सम्पत्ति को दूसरो में बांटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है—असविभागीणहु तस्सा भोव खो अर्थात् जो अपने प्राप्य को दूसरों में बांटता नही, उसकी मुक्ति नही होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और संवेदनशील व्यक्ति के हृदय मे ही जागृत हो सकता है और ऐसा व्यक्ति क्रूर, हिसक या पापाचारी नही हो सकता। निश्चय ही ऐसा व्यक्ति मिष्टभाषी, मितव्ययी, संयमी और सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला होगा और इन सबके सम्मिलित प्रभाव से उसकी सम्पत्ति भी उत्तरोत्तर वृद्धिमान होगी।

अर्जन का विसर्जन नियमित रूप से होता रहे और मर्यादा से अधिक सम्पत्ति संचित न हो, इसके लिए अतिथि-संविभागव्रत और दान का विधान है। भगवतीसूत्र में तुगियानगरी के ऐसे श्रावको का वर्णन आता है जिनके घरों के द्वार अतिथियो के लिए सदा खुले रहते थे। अतिथियों में साधुओं के अतिरिक्त जरूरतमन्द लोगों का भी समावेश है। पुण्य तत्त्व के प्रसग मे पुण्य-बन्ध के नौ कारण बताए गये है, इस दृष्टि से वे उल्लेखनीय है। उनके नाम इस प्रकार हैं—(१) भूखे को भोजन देना (अन्न पुण्य) (२) प्यासे को पानी (पेय पदार्थ) पिलाना, (पानपुण्य), (३) जरूरतमन्द को मकान आदि देना (स्थान पुण्य), (४) पाट, बिस्तर आदि देना (शयन पुण्य), (५) वस्त्र आदि देना (वस्त्र पुण्य), (६) मन (७) वचन और (८) शरीर की शुभ प्रवृत्ति से समाज सेवा करना (मन पुण्य, वचन पुण्य और काय पुण्य) तथा (९) पूज्य पुरुषों और समाज सेवियो के प्रति विनम्र भाव प्रकट करते हुए उनका सम्मान सत्कार करना (नमस्कार पुण्य)।

आवश्यकता से अधिक संचय न करना और मर्यादा से अधिक प्राप्य सम्पत्ति को जरूरतमद लोगो में वितरित कर देने की भावना ही जन कल्याण के कार्य को आगे बढाती है। दान या त्याग का यह रूप केवल रूढि पालन नही है। समाज के प्रति कर्तव्य व दायित्व बोध भी है। दान का उद्देश्य समाज में ऊच-नीच का स्तर कायम करना नही, वरन् जीवन रक्षा के लिये आवश्यक वस्तुओं का समवितरण करना है। धर्म शासन इस प्रवृत्ति पर जितना बल देता है, उतना ही बल जनतान्त्रिक समाजवादी शासन व्यवस्था भी देती है। दान का यह पक्ष केवल अर्थदान तक ही सीमित नही है। यहा अर्थदान से अधिक महत्त्व दिया गया है आहारदान, औषधदान, ज्ञानदान और अभयदान को। उत्तम दान के लिये यह आवश्यक है कि जो दान दे रहा है वह निष्काम भावना से दे और

जो दान ले रहा है, उसमें किसी प्रकार की दीन या हीन भावना पैदा न हो। दान देते समय दानदाता को मान-सम्मान की भूख नही होनी चाहिए। निर्लोभ और निरभिमान भाव से किया गया दान ही सच्चा दान है। दाता के मन में किसी प्रकार का ममत्व भाव न रहे, इसी दृष्टि से शास्त्रों में गुप्तदान की महिमा बतायी गई है।

भगवान् महावीर द्वारा आवश्यकताओं पर स्वैच्छिक नियन्त्रण की बात सम्प्रति अर्थशास्त्रियों को अटपटी लग सकती है। अन्य लोग भी इसे अव्यावहारिक कह सकते है। यों प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे.के. मेहता ने आवश्यकता विहीन स्थिति (स्टेट आफ वान्टलेसनेस) का निरूपण किया है। अर्थशास्त्री चाहे माने या न माने पर यह अनुभूत सत्य है कि समाज में व्याप्त हिंसा और शोषण, आवश्यकताओं और इच्छाओं को नियन्त्रित किये बिना मिट नहीं सकता। औद्योगिकरण की बढ़ती हुई तीव्रगति और उससे उत्पन्न खतरे संभव है हमे स्वावलम्बी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था के लिये मजबूर करे। तीव्र विद्युतिकरण और सौर ऊर्जा से यह आशा बंधती है कि बड़े पैमाने पर लघु और कुटीर उद्योगों का जाल बिछाने में हम समर्थ हों। भारतीय संविधान के निर्देशक तत्वों और योजना आयोग के उद्देश्यों मे सामाजिक न्याय की रक्षा करते हुए अर्थ नीति निश्चित करने का संकेत है। श्रमिकों के कल्याण के लिये सेवा सुरक्षा, बीमा, बोनस, श्रम के घंटे आदि के नियम बने हुए है। विभिन्न प्रकार की कर-व्यवस्था आर्थिक विषमता को कम करने में सहायक है। राष्ट्रीयकरण की बढती हुई प्रवृत्ति, लाभ के व्यक्तिगत उपभोग के स्थान पर सम्मिलित उपभोग को बढावा दे रही है। ये सब प्रयत्न इस बात के संकेत है कि वर्तमान अर्थ-व्यवस्था मे अहिंसा-विचार धीरे-धीरे प्रवेश पा रहा है। अर्थ-व्यवस्था देश काल के अनुसार आकार ग्रहण करती है। यदि समाज मे अहिंसा का विचार बल पकडता है, और संगठित नैतिक ढांचे का निर्माण होता है तो उसका प्रभाव अर्थनीति और राजनीति पर पड़े बिना नही रहेगा।

—प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

• □ •

सेवा भाव है, कर्म नहीं। सेवा भव से भावित कर्म आसक्ति के लिए
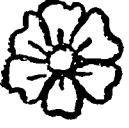
अहिंसक अर्थव्यवस्था

□ श्री सिद्धराज ढड्ढा

भारत समेत दुनियाभर में आज जो अर्थ व्यवस्था प्रचलित है वह सौ फीसदी हिंसक है। आज के उद्योग और व्यापार का एकमात्र लक्ष्य उपभोक्ता का शोषण करना तथा मुनाफा कमाने का है। वास्तव में आर्थिक प्रवृत्ति का या उद्योग-व्यापार का मुख्य उद्देश्य लोगो की आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिये। शिक्षा, चिकित्सा आदि अन्य सामाजिक सुविधाओं की तरह उत्पादन और व्यापार की प्रक्रियाएं भी सामाजिक सेवा के रूप में ही चलनी चाहिये।

भारत मे परम्परागत रूप से इनकी यही भूमिका रही थी। यहा की खेती और गांव-गांव मे चलने वाले उद्योग-धन्धे सब जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ही चलते थे। इन वस्तुओ का आज जैसा व्यापार नगण्य था। आज वस्तुओ का उत्पादन केवल आवश्यकता पूर्ति के लिये नही होता, वल्कि उत्पादन को खपाने के लिये नई-नई आवश्यकताएं सर्जित की जाती है। इसके अलावा, बड़े पैमाने पर विज्ञापन और प्रचार किया जाता है, तरह-तरह के आकर्षक आवरण में इन्हे पेश किया जाता है। पहले, वस्तुए अधिक से अधिक टिकाऊ हो, इस प्रकार से बनाई जाती थी। पुराने घरो मे अब भी लोग गर्व के साथ वताते है कि अमुक चीज हमारे यहां सौ बरस से या इतनी पीढियो से काम आ रही है। आज हर साल वस्तुओं के नये मॉडल तैयार करके फैंके जाते है। १९९३ में १९९१ का मॉडल खरीदना हेठी की वात समझी जाती है। पुरानी चीज काम दे रही हो तब भी उसका नया मॉडल निकलने पर लोग पुराने मॉडल को कूड़े के ढेर मे फैंक देते है। पश्चिमी देशो में तो आम तौर पर यही हो रहा है।

जाहिर है कि इस उत्पादन-पद्धति से केवल उपभोक्ता का या लोगो का ही शोषण नहीं होता वल्कि प्राकृतिक ससाधनों का भी शोषण और दुरुपयोग हो रहा है। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि कोयला, तेल, लकड़ी जैसी चीजो के प्राकृतिक भंडार समाप्त होने जा रहे हैं। खेती के द्वारा जमीन से पैदा होने वाली फसलों के अलावा खनिज आदि ऐसी चीजे है

जिन्हे प्रकृति के गर्भ में तैयार होने में सैंकड़ों-हजारों बल्कि लाखों वर्ष लगते है। पेडो से प्राप्त होने वाली लकड़ी भी बीसियों बरसों में तैयार होती है। लेकिन आज की उपभोक्ता संस्कृति के कारण इन चीजों की अनाप-शनाप खपत हो रही है। कोयले और पेट्रोल के भंडार जिनके बनने में हजारों-लाखों वर्ष लगे होंगे, वे अब कुछ सालों के लिये ही बचे है, ऐसा तक लोग कहने लगे है। सैंकड़ो-हजारो वरसो से चले आ रहे जंगल, अनेक जगह विलकुल साफ हो चुके है और अन्य जगह तेजी से कट रहे है। जंगलों के बाद अब खनिज पर मुनाफाखोरों और व्यापारियों की गिद्ध-दृष्टि लगी हुई है। पिछले कुछ बरसो में भारत समेत दुनिया के अनेक देशों में खनिज-काम तेजी के साथ वढ़ा है। पहले संगमरमर के लिये लोग केवल मकराना का नाम जानते थे, आज राजस्थान में ही सैकड़ों जगह मार्वल की खुदाई चल रही है। मतलब यह है कि वर्तमान आर्थिक पद्धति, उद्योग और व्यापार इस प्रकार चल रहे हैं कि वह आज की पीढ़ी का ही शोषण नही कर रहे हैं वल्कि आगे आने वाली कई पीढियो के हिस्से की वस्तु भी उन्होने समाप्त कर दी है।

आज की इस हिंसक अर्थव्ययस्था के वजाय अहिंसक व्यवस्था कैसी होगी? जाहिर है कि अहिंसक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आवश्यकताओ की पूर्ति का होना चाहिये, मुनाफा कमाने के लिये अधिक से अधिक चीजे तैयार करने का नही। आवश्यकताएं भी वे जो स्वाभाविक और जीवन के लिये जरूरी हो—जैसे भोजन, वस्त्र, आवास आदि। मुनाफे के लिये विज्ञापनबाजी के जरिये नई-नई आवश्यकताएं पैदा करना अहिंसक पद्धति मे नही बैठता। आदमी की आवश्यकताएं भी सीमित होनी चाहिये, जीवन सादा और सरल होना चाहिये, तड़कीला-भड़कीला नही। आवश्यकताओ को बढ़ाते जाना और अपने आसपास अनावश्यक सामान का सग्रह करना वास्तव मे सामाजिक अपराध है। इसीलिये अपरिग्रह और असंग्रह को मनुष्य के धर्म मे शामिल किया गया है।

हमारी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति भी यथासभव ऐसी वस्तुओ से होनी चाहिये जो आसानी से और बार-बार हमे प्राप्त हो सकती हों, यानी जो रिन्युएबल रिसोर्सेज (Renewable Resources) द्वारा प्राप्त हो सकती हों, तथा हमारे आसपास उपलब्ध हो सकती हो। स्वदेशी का वास्तविक अर्थ आज की तरह केवल अपने देश में बनी चीज नही है। स्वदेशी केवल वस्तुओं का विशेषण नही है, वह एक सिद्धान्त है, एक मानसिक वृत्ति है। स्वदेशी सिद्धान्त केवल भौतिक वस्तुओं को ही लागू नही होता बल्कि जीवन से प्रत्येक क्रिया को लागू होता है। उदाहरण के लिये, सेवा भी पहले स

दीक वाले की होगी, पडौसी की होगी, वाद में दूर वाले की। दूर वाले की सेवा न करना यह इसका मतलब नही है बल्कि यह है कि सकट में पड़े पड़ौसी को छोड़कर अगर हम दूर वाले की सेवा करने जायं तो वह स्वदेशी-व्रत का भग माना जायेगा। चिंतन में तो मनुष्य पूरे ब्रह्माण्ड की सोच सकता है लेकिन जहां क्रिया का सम्बन्ध है, वह तो अपने आसपास ही हो सकती है। 'थिंक ग्लोबली एक्ट लोकली'। पेड़ पर लगे हुये फल को हम तोड़ सकते है, आसमान के सितारों को तोड़ने की केवल कल्पना ही कर सकते है।

इसलिये अर्थव्यवस्था के मामले में "ग्लोबलाइजेशन" की जो बात आज-कल चली है, वह स्वदेशी की दृष्टि से एकदम गलत है। अर्थव्यवस्था को तो "ग्लोबलाइज़" नही "लोकलाइज" होना चाहिये।

—चौड़ा रास्ता, जयपुर–३

❀ ❀ ❀

अहिंसा

☐ छंदराज 'पारदर्शी'

(१)

अवतारो की धरती यह भारत रही, अहिसा की जिसको शहादत कही।
आज फैला है हिसा का तांडव यहाँ, करते है दिखावा यह इबादत नही॥

(२)

फैली हिसा की जग मे बीमारी बडी, जातियों में धर्म की ही लडाई छिडी।
ओ! अहिसा-पुजारी तू आजा जरा, आज तेरी हो जरूरत हमे आ पड़ी॥

(३)

शस्त्रो से नही मिलती शान्ति है, समझो सपना और इक भ्रान्ति है।
अहिसा का हथियार सभी से बड़ा, भारत से शुरू हुई यह क्रान्ति है॥

(४)

अहिसा को माने वो इसान है, हिसा जो करे समझो शैतान है।
दीन-दुखियो को पाले, बिन कुछ लिये, वो ही सारे जग का भगवान है॥

[illegible] मार्ग, उदयपुर-३१३००१

उद्योग-व्यवसाय एवं अहिंसा

☐ श्री अमरसिंह मेहता

व्यवहार में उद्योग तथा व्यवसाय को हिंसा का कारण ही माना जाता है क्योंकि उत्पादन, वितरण तथा विक्रय आदि में किसी न किसी रूप में हिंसा अवश्य होती है। वर्तमान परिस्थितियों मे जब विश्वव्यापी प्रतिस्पर्धा है तथा विकास की जो गति है, उसे देखते हुए हम पुरातन युगीन व्यवस्था को अपनाने की नही सोच सकते है। अपने तथा अपने राष्ट्रीय अस्तित्व को बनाये रखने तथा बढ़ाने के लिए उद्योग तथा व्यवसाय का विकास करना ही होगा। प्रश्न यह उठता है कि क्या उद्योग तथा व्यवसाय से हिंसा को पर्याय मान लिया जाय या विवेक तथा सामयिक निर्णय से हिंसा से बचा जा सकता है ?

अब अन्तर्राष्ट्रीय रक्षा समीकरण बदल रहे है। विश्व की महाशक्तियाँ एक दूसरे के नजदीक आ रही है तथा हिंसा एवं युद्ध की जगह शान्ति एवं एकीकरण की व्यवस्था को स्वीकार किया जा रहा है। पूर्वी एवं पश्चिमी जर्मनी का विलय, उत्तरी तथा दक्षिणी कोरिया में संधि, रूस तथा अमेरीका द्वारा शस्त्र परिसीमन संधि आदि इसके उदाहरण हैं। दक्षिणी अफ्रीका में रंग भेदी व्यवस्था भी हिंसा का सहारा लेकर कुछ नही कर पायी एवं अन्ततः वहाँ भी सरकार की विचारधारा में परिवर्तन हुआ है। इराक द्वारा कुवैत हथियाने पर भी विश्व की शक्तियाँ शान्तिपूर्वक अन्य प्रतिबंधों के माध्यम से समस्या का समाधान ढूंढ़ रही थी क्योंकि हिंसा एवं युद्ध का अन्त विनाश के साथ होता है। उसका प्रभाव सम्पूर्ण विश्व पर पड़ता है।

यदि विश्व में शान्ति का वातावरण हो तथा युद्ध की विभीषिका नहीं रहे तो रक्षा-सामग्री के उत्पादन मे लगे उद्योग के साधनों का उपयोग मानव-कल्याण तथा सामाजिक विकास में किया जा सकता है। इसी से अहिंसा की शुरूआत होगी क्योंकि जब हिंसा के लिए बनने वाले उपकरणो का उत्पादन नही होगा तथा उत्पादन तथा उपयोग से होने वाली अन्तहीन हिंसा से बचा जा सकेगा। आज विश्व के कई राष्ट्रों मे वहाँ के कुल बजट का एक चौथाई से ज्यादा हिस्सा रक्षा सम्बंधी खर्च में चला जाता है। यदि शान्ति-व्यवस्था एवं अहिंसा की विचारधारा विकसित हो तो ये ही साधन मानव-कल्याण में लग सकते है।

अहिंसा का सामान्य अर्थ जीव-हिंसा नही करने से है। उद्योग एवं व्यवसाय आज की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था के अभिन्न अंग है एवं किसी भी उद्योग या व्यवसाय में हिंसा को समाप्त करना असभव प्रायः है [illegible]

को नियंत्रित करना तथा अत्यधिक हिंसा की गतिविधियों को बन्द करना ही अहिंसाजनक हो सकता है।

आज प्रत्यक्ष रूप से सबसे अधिक हिंसा बूचडखाने तथा मांसाहारी व्यवसाय से हो रही है। आज वैज्ञानिक दृष्टि से भी सिद्ध हो चुका है कि मासाहार मानव-शरीर के लिए हानिकारक है तथा शाकाहार ही स्वस्थ एवं निरोगी शरीर के लिए लाभदायक है। यदि मांसाहारी प्रवृत्ति को त्यागकर शाकाहारी प्रवृत्ति को अपनाया जाय तो प्रत्यक्ष रूप से होने वाली सबसे अधिक हिंसा को रोका जा सकता है। आवश्यकता है शाकाहारी चेतना जागृत करने की तथा सरकार पर दबाव डालने की कि केवल विदेशी मुद्रा अर्जित करने के लिए प्रत्यक्ष हिंसा आवश्यक नही है। विदेशी मुद्रा अन्य उत्पादों के निर्यात से तथा आयात प्रतिबन्ध से भी संभव है। इसी प्रकार चमड़ा उद्योग की सीमा निर्धारित करनी होगी। मुलायम जूतों तथा बैग इत्यादि का उपयोग सभी को अच्छा लगता है लेकिन उसमें होने वाली हिंसा की ओर ध्यान देना अत्यावश्यक है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम इस प्रकार के विकल्प सोचे जिनसे प्रत्यक्ष हिंसा को कम करके ऐसे उत्पादो का उपयोग करे जिनमे कम हिसा हो। जैसे चमड़े की जगह प्लास्टिक के उत्पाद इसका उदाहरण है। उनके बने उत्पादो पर यदि ध्यान दे तो आश्चर्य होगा कि मंहगी एवं मुलायम ऊन भेड के बच्चे की पहली ऊन से बनती है। आप सोचिये कि उस अपरिपक्व जानवर को कितनी पीडा होती होगी। यदि अपनी प्रवृत्ति को बदलकर हम सूती वस्त्रो या सिथेटिक वस्त्रों को प्राथमिकता दे तो इस प्रकार की हिसा से भी बचा जा सकता है। ऐसे कई सामान हैं जिनके वैकल्पिक उत्पादों को काम मे लेकर या अपनी प्रवृत्ति को थोड़ा नियंत्रित कर हम हिसा को कम कर सकते है।

हम उद्योग एवं व्यवसाय को भी इस प्रकार चलावे एवं इस प्रकार की व्यवस्था को विकसित करें जिससे हिसा को कम किया जा सके। वर्तमान समय मे निम्नांकित सुझाव हिसा को कम कर सकते हैं—

१. उत्पादन की किसी प्रक्रिया जिसमे अत्यधिक हिसा होती हो, उसमे रक्षात्मक व्यवस्था प्रदान कर या उस प्रक्रिया की जगह ऐसी प्रक्रिया विकसित करले जिसमें हिसा को कम किया जा सके। कई ऐसे उद्योग है जिनमे कबूतर, चिडिया तथा अन्य पक्षी फैक्ट्री बिल्डिग में प्रवेश कर जाते है। वहाँ कई तरह की बिजली की मोटर्स तथा इलेक्ट्रिक कैवल्स होते है जिनसे उनकी हत्या हो जाती है। इसके लिए आवश्यक है कि फैक्ट्री गेट पर इस प्रकार की व्यवस्था हो जिससे पक्षी अन्दर न आ पायें ताकि उनकी हिसा नही हो तथा केवल्स तथा मोटर्स खुले रूप में नही हो।

२. दवाइयाँ एव सौंदर्य-प्रसाधन उत्पादन की प्रक्रिया में परीक्षण चूहों, खरगोश तथा अन्य प्राणियों पर किये जाते हैं जो गहन परीक्षण के दौरान ही

मर जाते है। इन उद्योगों में परीक्षण की ऐसी तकनीक की आवश्यकता है जहाँ परीक्षण जानवरों पर नहीं होकर अन्य विधि से हों तथा जीव-हिंसा कम की जा सके।

३. आज कई उद्योग ऐसे है जिनका प्रदूषित जल बाहर नदी-नालो में प्रवाहित कर दिया जाता है जिससे आप-पास का पेय जल, कृषि तथा पैड़ पौधे प्रभावित होते हैं। इससे कई तरह की बीमारियाँ फैलती है तथा पशु पक्षियों के मरने की काफी संभावना रहती है। इसको रोकने हेतु सरकार ने कई कदम उठाये है। उसी अनुरूप दूषित जल को साफ करके छोड़ा जाना चाहिये ताकि बाहर के वातावरण तथा पेयजल पर प्रभाव नही पड़े। यह समस्या विशेष रूप से चमडा तथा कपड़ा उद्योग से सम्बन्धित है जो कई तरह के रसायन तथा अम्ल को उपयोग के बाद दूषित पानी को ऐसे ही छोड़ देते है। गंगा के प्रदूषण का एक कारण ऐसे ही पानी का नदी में छोड़ा जाना है।

४. आज वायु प्रदूषण की समस्या सबसे खतरनाक है। आज उद्योग अपनी चिमनियो से प्रदूषित काला धुआँ एवं जहरीली गैसे छोड़ते है, उससे दीर्घकालीन प्रभाव हिंसा से किसी प्रकार कम नही है। यदि उद्योग अपने धुएँ की सफाई करके तथा सामान्य ऊँचाई में ऊपर छोड़ें तो वह खतरनाक नही रहेगा तथा किसी भी प्रकार से हानिकारक नहीं होगा। इसी प्रकार भोपाल गैस काण्ड की विभीषिका से सभी परिचित ही है जो जघन्य हिंसा का कारण बनी है। यदि सुरक्षा के कड़े मापदण्डो का पालन किया जाय एवं तकनीकी सावधानी रखी जाय तो जहरीली गैस के रिसाव तथा प्रदूषण से बचकर हिंसा को कम किया जा सकता है।

५ यद्यपि श्रम कानून व्यापक रूप में उद्योगों में कार्यरत श्रमिकों के कार्य, सुविधाएँ तथा कार्य की दशाओं के बारे में प्रावधान रखते है, लेकिन अभी भी कई उद्योग संगठित तथा विशेष रूप से छोटे उद्योग जिनमें छोटे-छोटे बच्चे जो अपनी स्कूली शिक्षा भी पूरी नहीं करते कि उनसे कठिन से कठिन कार्य कराया जाता है तथा शोषण की स्थिति बन जाती है। कई छोटे उद्योग ऐसे है जहाँ अभी भी बधुआ मजदूर की स्थिति बरकरार है। यह किसी भी प्रकार से हिंसा से कम नही है। इसके लिए कानून की जगह एक आर्थिक समानता तथा विकासोन्मुख विचारधारा की आवश्यकता है जिसमें उद्योगपति अपने मजदूर भाइयों का शोषण नहीं करे तथा उनकी आधारभूत समस्याओं तथा कार्य की दशाओं का पूरा ध्यान रखे। साथ ही आवश्यकता इस बात की भी है कि कार्य की प्रक्रिया तथा प्रणालियाँ ऐसी हों जिनमें कम से कम दुर्घटना हो।

६. उत्पादक की गुणवत्ता एक बहुत ही मुख्य एवं महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। विशेष रूप से उपभोक्ता वस्तुओं तथा खाने पीने की वस्तुओं के उत्पादन [illegible] अत्यावश्यक है। उत्पाद की गुण-

वत्ता में गिरावट से मानव एवं जीव मात्र पर बहुत ही बुरा असर होता है। कई बार ऐसा हुआ है कि व्यक्तियो एवं पशुओं को अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा है। इसी प्रकार कई दवाइयाँ इस प्रकार की वनी है कि उनकी गुणवत्ता में गिरावट से बहुत नुकसान हुए है। इसी प्रकार मिलावट से भी मानव समाज को बहुत हानि होती है। इन सबको रोकने तथा अहिसात्मक व्यवस्था के लिए आवश्यक है कि उत्पाद की गुणवत्ता को बनाये रखा जाय तथा निरन्तर प्रयास हों कि वह प्राणीमात्र के लिए हानिकारक नही हो।

७ उद्योग तथा व्यवसाय मे यदि ईमानदारी या सच्चाई की बात की जाय तो आज के युग में हास्यास्पद लगती है एव यही कहा जाता है कि सच्चाई से तो अब कुछ हो ही नही सकता। कम तोल, घटिया सामान या नकली वस्तुओं से उपभोक्ता को जो धोखा दिया जाता है, उससे उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है, यह भी किसी हिंसा से कम नही है। यदि किसी गरीब को खाने के नाम पर कम सामान तौलकर दिया जाय तो उसकी भूख एवं कमी किसी भी प्रकार से हिंसा से कम नही है। झूठे तरीकों से एवं धोखाधडी से कार्य करने से जिस व्यक्ति को नुकसान होता है, उसका दिल कितना दुखता है जो किसी भी हिंसा से कम नही है। आज आवश्यकता है कि सच्चाई तथा ईमानदारी से उद्योग-व्यवसाय का सचालन हो तथा किसी के साथ झूठ तथा धोखा नही हो।

किसी भी प्राणी का छेदन-भेदन तथा उसे आहार से परे करना हिंसा है। हिसा का कोई भी कार्य करना, करवाना तथा करने वाले की सहायता तथा अनुमोदन करना भी व्यापक अर्थ में हिसा है। इसे समझ कर यदि व्यवसाय तथा उद्योग का सचालन किया जाय एवं विवेक तथा सामयिक निर्णय तथा सुरक्षात्मक उपायों को अपनाया जाय तो अहिसा की ओर अग्रसर होने मे मदद मिलेगी, उससे सम्बन्धित सभी पक्षो को लाभ होगा व व्यर्थ की हिसा से वचा जा सकेगा।

—जनरल मैनेजर, जे. के. टायर फैक्ट्री, कांकरोली

❀ व्यापार के क्षेत्र मे भी वही सफलता प्राप्त करता है जो नीति और धर्म के नियमों का ठीक तरह से पालन करता है।

—आचार्य श्री हस्ती

सौन्दर्य-प्रसाधनों में बढ़ती हुई हिंसा

□ डॉ. शान्ता भानावत

भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। यहां किसी जीव की हत्या का तो पूर्ण निषेध है ही पर विचारों द्वारा भी किसी के अहित का चिन्तन भी निषिद्ध है। अहिंसा का जहां इतना सूक्ष्म विवेचन है, वहां आज फैशन और आधुनिकता के नाम पर कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। फर के कोट, टोपियां, चमड़े के जूते, अटेचियां, रेशमी वस्त्र, तथा ड्रेसिंग टेबिल पर सजे कॉसमेटिक्स के सामान जैसे शैम्पू, परफ्यूम, (सुगन्धित इत्र) आफ्टर शेव लोशन, साबुन, तेल, क्रीम आदि को स्वयं के काम मे लेकर अथवा विवाह, शादी आदि मागलिक अवसर पर इन्हें भेंट देकर हम अपने आपको बडा समझते है, स्वयं की सूझ-बूझ पर बड़ा गौरव अनुभव करते है, पर इन चीजो के निर्माण में पंचेन्द्रिय जीवों की कितनी भयंकर हिसा होती है, यह हमने क्या कभी जानने की कोशिश की है ?

कॉसमेटिक्स की प्रत्येक वस्तु पशुवध का कितना रक्तरंजित इतिहास अपने परिवेश में छिपाये हुए है, यदि इसका पर्दाफाश किया जाय और प्रत्येक मा-बहन को इस करुण-कहानी से अवगत कराया जाये तो लगता है अवश्य ही ड्रेसिंग टेबिल के निकट जाकर भी वह इन कृत्रिम प्रसाधनो से नश्वर शरीर को सजाने का प्रयत्न नही करेगी, न ही अपने पारिवारिक सदस्यों को रक्तरंजित फर के कोट, टोपी, चमड़े के जूते, रेशमी वस्त्र पहनने को प्रेरित करेगी।

प्रस्तुत निबन्ध में हम पशुरक्त से सने सौन्दर्य उपकरणो पर दृष्टि डालेंगे तथा यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि इन शृंगार प्रसाधनों के निर्माण में किस प्रकार पशुओं की हत्या होती है और उन्हें कैसा मर्मान्तक कष्ट दिया जाता है।[1] फर की टोपी, जो नन्हे मुन्ने की मस्तक की शोभा या कोट जो पारिवारिक जन को ठंड से बचाये हुए हैं, उसकी करुण कथा सुनिये जरा—यह फर सील, खरगोश, भालू, लोमडी, ऊदबिलाव आदि जानवरों की चमड़ी से प्राप्त किया जाता है। सील एक समुद्री प्राणी है। फर उद्योग मे इसका बड़ा महत्त्व है। सबसे मुलायम तथा मूल्यवान 'फर' सील के नवजात बच्चे का माना जाता है। इस नवजात बच्चे

---

१ यह विवरण रेखा सप्रू के निबन्ध (धर्मयुग : २ से ८ अक्टूबर, १९७७) के आधार पर दिया गया है।

को गोली से नहीं लाठी मार-मार कर मौत के घाट उतारा जाता है। गोली मारने से तो उसकी चमड़ी खराब हो जाती है। बेचारे की मृत्यु का पूरा इन्तजार भी नही किया जाता कि बेहोशी की हालत में उसकी चमडी खींच ली जाती है। ऐसे एक नही छः सात सील के बच्चे जब मारे जाते है तब कही एक कोट किसी के शरीर की शोभा बनता है। इसी तरह ऊदबिलाव, भालू, खरगोश आदि प्राणियों को भी बडी बेरहमी से पकडा जाता है, मारा जाता है फिर उनकी चमडी से फर जैसी घिनौनी वस्तु का निर्माण होता है।

आज की फैशन की दुनिया में सांप और मगरमच्छ के चमडे की बडी कीमत है। किसी के हाथ की शोभा बढ़ाने वाले उन पर्स को बनाने के लिये जीते जी सापो की, मगरमच्छों की एक झटके से खाल उतार दी जाती है। इस खौफनाक मौत का नतीजा होता है किसी के पैर का खूबसूरत जूता या किसी के हाथ का सुन्दर बैग।

सुन्दर मुलायम घुंघराले बालों वाली कीमती टोपी के निर्माण के लिये भेड़ के बच्चे को पैदा होने के २४ या ४८ घंटों के अंदर ही मार दिया जाता है और उसकी मुलायम खाल प्राप्त की जाती है। बढिया जूतों के लिये गर्भिणी मादा पशुओं का बध करके गर्भस्थ बच्चे को निकाल कर, उसकी खाल खीच ली जाती है। असली रेशम, जीवित कीड़ो को पानी मे उबाल कर प्राप्त किया जाता है।

यह भौतिक शरीर, मृत्यु के बाद, जिसमें कीड़े पड़ने लगते है, बदबू आने लगती है, उसी शरीर को जीते जी सुगन्धित तेल फूलेलों से महकाया जाता है। महक भी हलकी-फुलकी नही उसे तो ऐसी महक चाहिए जो बहुत दिनो तक बनी रहे, जल्दी समाप्त न हो। ऐसा महक वाला इत्र कस्तूरी से बनता है। यह कस्तूरी मृग तथा सिवेट नामक जानवर से प्राप्त की जाती है। इसे प्राप्त करने के लिये मृग को गोली से मार दिया जाता है तथा सिवेट नामक जानवर को पिजरे में बंद कर, लकड़ियां भौक भौक कर उसे खूब तग किया जाता है। कहते है यह जानवर जितना अधिक चिडचिडा होता है, उतनी ही ज्यादा इससे कस्तूरी मिलती है। लकडियों से मार-मार कर खूब तंग करने के बाद एक आदमी इसके पैर-पूंछ आदि पकड़ता है, दूसरा इसकी कस्तूरी वाली ग्रंथि चीरा लगाकर निकाल लेता है। चीरा लगे स्थान पर मोम या मक्खन आदि भर दिया जाता है। यह कस्तूरी निकालने की प्रक्रिया हर दसवें दिन में दोहराई जाती है। इस क्रूरता को सहन करते-करते बेचारा सिवेट निर्दय मानव के क्रूर हाथो में सदा-सदा के लिये अपना शरीर समर्पित कर देता है। फिर उसकी रक्त सनी कस्तूरी से मानव निर्मित करता है परफ्यूम। परफ्यूम की मधुर मादक गंध से वह स्वयं मदमस्त होता है, दूसरे लोगों पर अपने बडप्पन की छाप डालता है। पर वाह रे क्रूर नियति ! बेचारे मृग और सिवेट का करुण क्रन्दन और खून !

बाजार मे मिलने वाले इत्र, साबुन, तेल, क्रीम आदि चीजों के निर्माता इनके निर्माण मे पशुओं की चर्बी का प्रयोग करते है। यह चर्बी सबसे ज्यादा ह्वेल मछली से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इस मछली से एक प्रकार का तेल भी मिलता है, जिससे टॉनिक भी बनता है तथा साबुन, क्रीम आदि बनाने के काम मे भी वह लाया जाता है। ह्वेल मछली सबसे बड़ी मछली होती है। इसके शरीर पर नुकीले भालों से अनेक वार किये जाते हैं। खून से लथपथ ह्वेल मछली, मानव द्वारा दी गई क्रूर यंत्रणाओं का शिकार बन मौत से लडती हुई अपने प्राण त्याग देती है, फिर उसके शरीर की चर्बी से बनते हैं सुगन्धित इत्र, साबुन, तेल, क्रीम आदि।

सौंदर्य-प्रसाधन में एक और वस्तु प्रयोग में लाई जाती है। वह है--इस्ट्रोजन। यह द्रव्य या वस्तु गर्भवती घोड़ी के मूत्र से बनाई जाती है। सदा यह प्रयत्न किया जाता है कि घोड़ी गर्भवती रहे। जब वह गर्भ धारण करने योग्य नही रहती है तो उसे मार दिया जाता है।

ये कुछ उदाहरण तो सौन्दर्य प्रसाधन सामग्री के निर्माण के है, पर पशुओ पर अत्याचार का यह सिलसिला यही समाप्त नहीं होता। बाजार में बिकने वाले शैम्पू, आफ्टर शेवलोशन, यूडीकोलोन आदि के पीछे पशुओ की मार्मिक पीडा की करुण कहानी कम दर्दनाक नहीं है। शैम्पू (सिर धोने का तरल साबुन) जिससे बाल धोकर मानव बालो की चमक पर इतराता है, बाजार में आने से पहले खरगोश की आखों मे डाला जाता है और यह देखा जाता है कि इस वस्तु से उसकी आंखों में चिरमिराहट या खुजली तो नही मचती। जब यह प्रयोग किया जाता है, तब खरगोश को एक ऐसे पिजरे मे बद किया जाता है, जिसमे उसका सिर तो बाहर रहता है और शरीर पिंजड़े मे इस कदर फिट कर दिया जाता है कि बेचारा खरगोश हिल भी नही सकता। शैम्पू की बूदों से आँख में होने वाली जलन को वह विवश हो सहन करता रहता है। इस प्रकार के बार-बार प्रयोग से उसकी आंखों में छाले पड जाते है और वह अन्धा हो जाता है। बेचारा भोला, निरीह, कोमल मूक प्राणी क्रूर मानव के सौन्दर्य प्रसाधन की तैयारी में अपने जीवन को एक दिन यो ही समाप्त कर देता है।

इसी तरह भांति-भांति के क्रीम और लोशन भी मार्केट मे आने से पूर्व शरीर पर होने वाली उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिए जानवरों की नुची हुई खाल पर वे आजमाये जाते है। ये प्रयोग भी अधिकतर खरगोश या चूहे की खाल पर किये जाते है। इन पशुओ की बिना रुओं वाली चमड़ी पर पहले चिपका दी जाती है फिर टेप एक दम खीच कर उतार ली जाती है। इस प्र... बार-बार टेप खीचने से बेचारे प्राणी की चमड़ी भी उतर जाती है। अन्दर मास दिखाई देने लगता है। उस कच्चे मांस पर चिरमराहट वाले लोशन

यूडीकोलोन, आफ्टरशेव लोशन, आदि लगाये जाते है और २–३ दिन तक वह मूक प्राणी इसी प्रकार पिजड़े में बंद असह्य वेदना से तड़फड़ाता रहता है। उसकी इस वेदना पर किसी को तरस नहीं, दु ख नही।

चिकित्सा के क्षेत्र मे तो मानव नई-नई औषधियों के निर्माण में, शारीरिक संरचना की जानकारी के बारे मे, पशु-पक्षियो पर अत्याचार करता ही रहा है, पर महज अपना शौक पूरा करने के लिये, अपने कृत्रिम सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये हजारो बेजुबान जानवरो पर जुल्म क्यो ?

मानव के कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधनों के पीछे मूक प्राणियो के अत्याचार का करुण-क्रन्दन तो हृदय दहलाने वाला है ही, साथ ही इस कार्य पर विश्व के विभिन्न देश कितना खर्चा करते है, ये आकड़े भी चौका देने वाले है। एक सर्वेक्षण से पता चला हैं कि अकेला अमेरिका का कॉसमेटिक्स का सालाना खर्चा ५ मिलियन डालर का है। इगलैण्ड मे खाली मैकअप पर १०० मिलियन पौण्ड खर्च होता है। पश्चिम के इन देशों की तुलना में भारत का खर्चा १०० करोड रुपया आंका गया है जो कि अमेरिकी खर्च का २ ५ प्रतिशत है। सरकारी आंकडो के अनुसार हिन्दुस्तान मे कुल ११५५ कॉस्मेटिक्स उत्पादन के कारखाने है, जिनमे से अकेले वम्बई मे १५५ है। जिस देश की जनता को दो जून भरपेट रोटी नही मिल पाती है, उस देश मे शरीर की वाह्य चमडी के सौन्दर्य-वृद्धि हेतु पानी की तरह द्रव्य वहाना कहा की बुद्धिमता है ? देश मे प्रसाधन और विलासिता के फैलाव से अब दूसरी प्रगति रुकने लगी है। बडे उद्योग समूह इस ज्यादा मुनाफा देने वाली सोनमुर्गी के गुलाम बनते जा रहे है तथा औद्योगिक विकास के नाम पर उद्योगपति ऐयाशी करने व बढ़ाने मे लगे है।

हिंसात्मक तरीके से वनाये गये सौन्दर्य प्रसाधन एवं इनके ऊपर किये गये खर्च से लगता है कि आज संसार से प्राकृतिक, स्वाभाविक अथवा वास्तविक सुन्दरता का ह्रास होता जा रहा है। आज लोग इस वात को भूलते जा रहे है कि सुन्दरता का निवास मनुष्य के मन में है। इन बाजार मे बिकने वाले शृगार साधनो मे नही। केवल साज-सज्जा से सुन्दरता प्राप्त करने का प्रयत्न भ्राति है। इस भ्राति से हम सवको वचना चाहिए। कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो के निर्माण मे पशुओ की वढ़ती हुई हिंसा हमे सचेत करती है कि हम इन रक्तरंजित कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधनो से अपना सौन्दर्य वढाने की होड न करे। सच तो यह है कि कृत्रिम सौन्दर्य-प्रसाधन सौन्दर्य वढाने की अपेक्षा सौन्दर्य कम ही करते है। मानवीय सद्गुणो की महक के समक्ष परफ्यूम की महक व्यर्थ है। गुणी व्यक्ति के निकट आने वाले एक नही अनेक व्यक्ति उसकी महक से मुग्ध हो जाते हैं, फिर उसे क्रीम पाउडर की कृत्रिम सुन्दरता वढ़ाकर किसी को आकर्षित करने की आवश्यकता ही नही रहती।

वास्तविक सुन्दरता मानव के शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य पर निर्भर करती है। स्वस्थ शरीर निर्विकार मन और मधुर स्वभाव का समन्वय सुन्दरता वन कर मुख पर चमका करती है। यदि हमे सुन्दर बनना है और सुन्दरता को स्थायी रखना है तो हमें प्रसाधन, प्रदर्शन, आडम्बर अथवा कृत्रिम शृंगार-सामग्री के स्थान पर अन्तर्मन को सुधारना होगा, उसे शुभ बनाने का प्रयत्न करना होगा। यदि हमारा स्वभाव क्रोधी है, ईर्ष्यालु है, हम द्वेष से जलते भुनते रहते है, लोभ, स्वार्थ अथवा परधन प्राप्ति की विषैली भावना को पालते रहते है, तो दुनिया भर के प्रसाधनो का प्रयोग करके भी हमारा व्यक्तित्व मोहक नही वन सकता। व्यक्तित्व का आकर्षण एवं प्रभाव दूसरों को दुखित या पीडित करने से नही बढ़ता, वह बढता है दूसरो के दु ख दूर कर उन्हें प्रसन्न एवं सुखी वनाने से। ऐसा समझकर हमें अपने जीवन और व्यवहार मे प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव तथा अहिंसक दृष्टि का विकास करना चाहिए।

—प्रिंसिपल, श्री वीर बालिका महा विद्यालय, जयपुर

❀ ❀ ❀

जीव-हिंसा / जीव-दया

❀ जीव हिंसा अपनी हिंसा है, जीव दया अपनी दया है। —भक्त परिज्ञा

❀ जीवों का आधार-स्थान पृथ्वी है वैसे ही भूत और भावी तीर्थङ्करों का आधार-स्थान शान्ति अर्थात् अहिंसा है। —भगवान् महावीर

❀ हे पार्थिव ! तुझे अभय है। तू भी अभयदाता वन, इस क्षणभंगुर संसार में जीवो की हिंसा के लिए तू क्यों आसक्त हो रहा है ? —उत्तराध्ययन सूत्र

❀ इन जीवों के प्रति सदा अहिंसक वृत्ति से रहना। जो कोई मन, वचन और काया से अहिंसक रहता है, वह आदर्श संयमी है। —दशवैकालिक सूत्र

❀ जहाँ मन, वचन और काया से तथाकथित विरोधी को हानि पहुँचाने का इरादा है वहाँ हिंसा है। —महात्मा गांधी

❀ यह निश्चित जानों कि चारों गति के जीव जितने भी दुःख भोगते हैं, वे सब हिंसा के ही फल है। —भक्त परिज्ञा
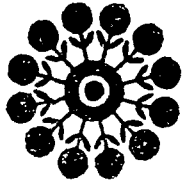
प्रशासन और अहिंसा

□ श्री जयनारायण गौड़

प्रशासन और अहिंसा की सगति प्रथम दृष्टया तो अनेक को शेर, बकरी की तरह परस्पर विरोधी लगती है। पर रामराज्य अथवा पौराणिक तपोवनों में ये ही दोनों एक घाट पर पानी भी पीते थे। यह सर्व-विदित है कि प्रशान द्वारा कदम-कदम पर लिए गए अपने निरोधात्मक तथा दण्डात्मक निर्णयों के सर्वथा न्यायसंगत होने के बावजूद भी लोगों को मानसिक और शारीरिक कष्ट या असुविधा होती है तथा उन निर्णयों को हिंसात्मक भी कहा जा सकता है। पर देखना यह है कि क्या वास्तव में ऐसा है तथा जहाँ ऐसा है, उसका समाधान क्या है। पर यह तभी संभव है जब पहले हम प्रशासन तथा अहिंसा दोनो का परम्परागत नही वरन् भावनात्मक तथा लक्ष्यपरक अर्थ या परिभाषा भी समझे।

किसी भी देश के शासको की नीतियो एवं प्राथमिकताओं को क्रियान्वित करने का माध्यम उनका प्रशासनिक ढांचा है। विदेशी आक्रांताओं के दौरान भारतीय शासकों की प्राथमिकता, जनता की खुशहाली नही वरन् अपने शासन के शिकंजे को ही मजबूत करते रहने था। अत: उन काली शताब्दियों के दौरान प्रशासन में झूठ, फरेब, गोपनीयता, जन-आकाक्षाओ को कुचलने आदि का कदम-कदम पर सहारा लिया जाता था। स्वतंत्र भारत के सविधान तथा शासन के दिशा-निर्देश, लोक कल्याणकारी होने के कारण, आज के प्रशासन के लक्ष्य, प्राथमिकताएँ तथा उससे जनता की अपेक्षाएँ सर्वथा बदल गई है। वर्तमान प्रशासन की तीनो शाखाओ (कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका) के लक्ष्यों तथा कार्य-पद्धतियों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो चुका है। ब्रिटिश हुकूमत मे "माई बाप" के नाम से सम्बोधित किये जाने वाले जिला कलेक्टर की तत्कालीन भय-प्रेरक तस्वीर अब बहुत बदल चुकी है। विकास-प्रशासन को दी गई प्राथमिकता के कारण, कलेक्टर अब जिला विकास अधिकारी के रूप मे जनता के अधिक नजदीक आया है तथा उसकी अपेक्षाओं तथा बहुमुखी विकास के लिए, वह अब स्पष्ट रूप से उत्तरदायी भी है। एक प्रख्यात न्यायाधीश ने कहा है कि निर्धन और अशक्त तथा धनवान और सशक्त के बीच चल रहे मुकदमे में "यदि तर्क दोनों ओर समान रूप से सतुलित हो, तो न्यायाधीश के निर्णय का पलडा गरीब की ओर ही झुकना चाहिए।" लोक-अदालतों के माध्यम से अब न्यायपालिका भी दोनो पक्षो के आपसी समझौते के आधार पर फैसलो को प्रोत्साहित कर रही है। जमींदारी उन्मूलन, कृषि भूमि की

अधिकतम सीमा-निर्धारण, प्रिवीपर्सो की समाप्ति, बैंकों के राष्ट्रीयकरण, संविधान में सर्वधर्म समभाव तथा शिक्षा, बंधक मजदूरो, अनुसूचित जाति तथा जन जातियो तथा पिछड़े वर्ग के लोगों आदि के लिए, विधायिकाओं तथा ससद ने अनगिनत ऐसे कानून बनाये है जिनसे समाज में आर्थिक, शैक्षणिक तथा भावात्मक दूरियों को कम किया जा सके। ये सब प्रावधान अंतत. सामाजिक उत्थान, शांति तथा अहिंसा के ही प्रणेता है।

यदि अहिंसा को केवल प्राणिवध निषेध का ही पर्याय माना जाये तब तो प्रशासन और अहिंसा में प्रथम दृष्टया भी कोई विरोध नजर नहीं आयेगा। स्वतन्त्र भारत में जलियाँवाला बाग जैसी हृदय-विदारक घटनाओं की पुनरावृत्ति नही हो सकती क्योंकि आज लोकतांत्रिक शासन निहत्थे लोगों को घेर कर, तथा उन्हें निकल जाने का अवसर दिये बिना ही, गोली से भूनने का जघन्य अपराध कर नहीं सकता। फांसी भी, अब उन विरले अपराधियों को ही लगती है जिनके जघन्य अपराध, अभियुक्त को संदेह का लाभ देने वाले कानून के बावजूद भी पूर्णतः सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे प्राणि-वध को समाज द्वारा लागू किए गए कानून का पालन कहा जाना अधिक सार्थक है। दाहिने गाल पर थप्पड लगने पर अपना बायां गाल भी आगे कर देने वाले ईसा के अहिंसक सिद्धान्त को एक दूसरे महान् अहिंसक गाँधी ने नया परिवेश पहनाया। उन्होंने कहा था कि स्वयं किसी पर आक्रमण मत करो, किसी को कष्ट भी मत दो, पर अन्यायी आक्रांता का सामना करने और सत्य और न्याय की प्रतिष्ठा में उस समय हिंसा का सहारा लेने को कर्तव्य-पालन की ही संज्ञा दी जायेगी। पाकिस्तान द्वारा संभावित हमले के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यह कहा था। साथ ही उन्होंने यह भी कहा था कि पापी से नहीं, केवल पाप से घृणा करो। कुरुक्षेत्र मे कृष्ण ने भी तो अर्जुन को यही संदेश दिया था तथा निर्लिप्त भाव से अपने अन्यायी बन्धु-बान्धवों से दिन में घमासान युद्ध करने के बाद कौरव और पाण्डव अपने दिन के घायल दुश्मनों की रात को कुशल-क्षेम भी पूछते थे। अठारह अक्षोहणी सेना को हताहत करने वाले इस युद्ध में पाण्डव पक्ष को अहिंसक इसलिए कहा जायगा क्योंकि उन्होंने अन्याय का सामना करने के लिए ही यह युद्ध किया था।

प्रशासन के सम्मुख आज मुख्य चुनौती यही है कि निर्लिप्त भाव से [illegible] सही निर्णय कैसे लेता है। उसके अधिकांश निर्णय सबको संतुष्ट नहीं कर सकते। निर्धनों, दलितों तथा जरूरतमन्दों के हित में लिए गए ऐसे [illegible] भी कोई व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष स्वयं को इसलिए आहत महसूस [illegible] है क्योंकि उसके निहित स्वार्थों को उस निर्णय से चोट पहुँचती है। [illegible] व्यापक परिभाषा के अंतर्गत, प्रशासन के ऐसे कदम भी [illegible]

विशेष को मानसिक तथा सम्भवतः शरीरिक असुविधा देने के कारण अहिसा-विरोधी समझे जायेगे ? धनवानो पर अधिक कर, कृषि, भूमि की अधिकतम सीमा, सजायाफ्ता लोगो के कुछ वर्गो की चुनाव लडने की अयोग्यता आदि प्रशासन के अन्य अनगिनित कार्यो से कुछ लोग तो सदैव कष्ट पायेगे ही, पर कल्याणकारी प्रशासन को तो यह देखना है कि उसके आदेश, कार्य अथवा निर्णय अधिकांश जनता के हित में है या नही ? गाँधी जी ने कहा है किसी भी कार्य के औचित्य अथवा अनौचित्य की एक कसौटी यह है कि वह "दरिद्र नारायण" के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल ? अहिसा के अनुयायी प्रशासकों के लिए भी यह मूलमन्त्र है ।

जिस तरह शासन की नीतियों और सदाशयता से उसके प्रशासन को अलग नही किया जा सकता उसी तरह प्रशासन को भी प्रशासक से पृथक् नही किया जा सकता । उत्तम नीति की क्रियान्वयन रीति तो कुर्सी पर आसीन सम्बन्धित प्रशासक ही तय करता है । पर हर आसीन व्यक्ति कुर्सी की शोभा नही बढ़ाता वरन् कुर्सी ही मन, वचन और कर्म से बौने व्यक्तियों को निदेशात्मक शक्तियो की अस्थायी आभा अवश्य देती है । भोग-विलासी सस्कृति वाले आचारहीन एवं रिश्वतखोर प्रशासक तो जनता के हितो के रक्षक रहने के बजाय भक्षक बन जाते है । ऐसे हिसक प्रशासक से भगवान बचाए । राज्य की उत्तम नीतियों, ऐसे प्रशासको की जन-विरोधी रीतियो के कारण, अपने विकृत रूप मे ही जनता तक पहुँचती है । ऐसे प्रशासन मे धन, शक्ति, यौवन तथा चाटुकारिता के माध्यम से कुछ लोगो अथवा वर्ग विशेष के स्वार्थसिद्ध पूरक निर्णय लिए जाते है तथा आम जनता असहाय मूक दर्शक बनकर परेशान रहती है । ऐसी छद्म हिसा प्राणिवध से भी बदतर है । वध कार्य तो एकबार हो जाता है पर जनता के मूल अधिकारों और अपेक्षाओं का वध तो ऐसे प्रशासन के कुचक् में निरंतर चलता रहता है ।

अच्छे प्रशासन में यथासभव आम जनता की अपेक्षाओ और आकांक्षाओ के अनुरूप ही कार्य होना चाहिए । उसके कार्यो से भी अधिक महत्वपूर्ण उसकी कार्य पद्धति है । निर्णयात्मक चरण पर पहुँचने से पहले जनता से विचार-विमर्श करने के उपरान्त लिया जाने वाला निर्णय, जनता के लिए अधिक सुखद होगा। अपने रोजमर्रा के प्रशासन के दौरान एक अच्छा प्रशासक, क्रोध को क्षमा से, विरोध को अनुरोध और तर्क से, घृणा को दया से तथा द्वेष को प्रेम से जीतने का प्रयत्न करता है तथा इन सभी शस्त्रो की असफलता के बाद ही वह आदेशात्मक, निषेधात्मक अथवा दण्डात्मक निर्णय लेता है जो सतही तौर पर हिसक लगने के बावजूद वास्तव मे अन्याय-विरोधी तथा कर्तव्य-निष्ठा मूलक होने के कारण अहिंसक ही होता है । प्रथम दृष्टया सख्त लगने वाले ऐसे आदेश, शाति और न्याय के हित मे दिये जाने के कारण, सही मायनो मे अहिंसक ही होते हैं । पिछले महीनों में देश के अनेक भागों मे फैले साम्प्रदायिक दंगो को नियत्रित

करने में प्रशासन ने अनेक कड़े कदम उठाये, जिनमें गोली चलाना तथा गिरफ्तारियाँ करना भी शामिल था। परिणामस्वरूप कुछ लोगों के मारे जाने तथा गिरफ्तार होने के बावजूद, देश में भड़की हिंसा को रोकने मे प्रशासन की इस कठोर पर सफल कार्यवाही को अहिंसामूलक ही कहा जायगा क्योंकि इसी के कारण रोज की मारकाट के बाद अंततः शांति स्थापित हुई।

प्रशासन में कुछेक ऐसे भी है जो अपनी बाह्य दिनचर्या में तो सद्पुरुष लगते है पर "मुँह पर राम बगल में छुरी" की तरह उनका मन क्रूर और स्वार्थी है। पानी को छान कर पीने वाले ऐसे अनेक प्रशासक जनता को त्रस्त रखकर उनका अनछना खून पी जाते है। ऐसे भी अधिकारी है जो रोज सुबह दो घण्टे पूजा तो करते है, पर वे रिश्वत लेते है तथा सुरा-सुन्दरी आदि मे भी लिप्त है। धन बटोरने वाला परिग्रही, अहिंसक हो ही नही सकता। प्रशासक भी इसका अपवाद नही है। ऐसे प्रशासकों का भोग-विलास एवं परिग्रह उनके इन्द्रिय-सुख, स्वार्थ, माया, लोभ, असत्य, क्रोध, ईर्ष्या, षड्यन्त्र आदि हिंसात्मक वृत्तियो पर ही पलता है। अतः ऐसे लोग अपनी सौम्य भाषा या पूजा के बावजूद अहिंसा से सर्वथा विमुख है। मात्र शाकाहारी होने, रात्रि को भोजन न करने, मद्यपान अथवा अन्य विलासी प्रवृत्तियों से दूर रहने तथा सादा जीवन बिताने पर भी किसी प्रशासक की दिनचर्या को तब तक अहिंसक नही कहा जा सकता जब तक अहिंसा के प्रति वह मन से भी समर्पित न हो। शाकाहार, सादगी आदि की व्यक्तिगत आदते भी उत्तम प्रशासन में सहायक है पर अधिक महत्वपूर्ण यह है कि अहिंसा कोई ऐसा परिधान तो है नही, जिसे जब चाहे उतार लो अथवा जब चाहे पुनः पहन लो। अक्षरज्ञान अथवा बारहखड़ी-पठन की तरह यह ऐसी शिक्षा भी नही है कि किसी के द्वारा सिखाने पर उसे कंठस्थ कर, पढा अथवा हिसाब लगाया जा सके। यह तो हृदय के अंतरतम कोने से स्वचालित एवं रोम-रोम में व्याप्त वह आंतरिक शक्ति है जो व्यक्ति को अपने मन, वचन और कर्म से परिपूर्ण अहिंसा के राजपथ पर अपनी जीवन-यात्रा को प्रेरित करती है। कालान्तर में यह शक्ति व्यक्तित्व में इस तरह घुल जाती है जैसे पानी मे दूध तथा फिर वह उससे अलग हो ही नहीं सकती। उत्तेजना अथवा अवरोध के क्षणों मे भी ऐसा व्यक्ति अपना संयम और विवेक नही खोता तथा शाति, धैर्य और निष्पक्षता से उन कठिनाइयों का सामना और समाधान करता है। महावीर ने कहा है कि शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियो पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है। समभाव एवं निष्पक्षता तथा सयम, विवेक, शाति और धीरज की स्थायी नीव पर आधारित ऐसी अहिंसा की उत्तम प्रशासन मे निरन्तर आवश्यकता है, जिससे कि प्रशासक अपने तन, मन और धन से जन-सेवा के पुनीत यज्ञ में अपनी सार्थक आहुति दे सके।

—हेमाचल, सी-६८, राममार्ग, तिलकनगर, जयपुर-[illegible]

अहिंसा-शिक्षा के तत्त्व

☐ श्री चांदमल कर्णावट

हिंसा से अहिंसा की ओर :

हिंसा जघन्यतम पाप है, विनाशक विष है और है सर्वहारा आग। इसके विपरीत अहिसा एक सर्वश्रेष्ठतम धर्म, एक उच्चतम मानव मूल्य है और है अमर जीवनदायी अमृत। प्रत्येक व्यक्ति, समाज और राष्ट्र अपने व्यक्तिगत, सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन में अहिसा जैसे महान् धर्म या महान् मानव-मूल्य को स्थापित करना चाहता है क्योंकि इसी मे उसका और विश्व का अस्तित्व सुरक्षित है।

विश्व का इतिहास हिसा, रक्तपात और नर सहार से भरा पडा है। विकासमान विज्ञान ने भयानक शास्त्रास्त्रो के आविष्कार से इस रक्तपात मे और वृद्धि की है, परंतु अब संसार इस महान् बुराई से दूर रहकर अहिसा की पवित्र शरण में आने को इच्छुक है क्योकि यह समझ लिया गया है कि हिसा का समाधान हिसा से असभव है। विश्व की महान् शक्तियाँ अपने परमाणु शस्त्रो मे भारी कमी कर रही है और इन्हे नष्ट किया जा रहा है।

विश्व को अहिसा की ओर अग्रसर करने मे तीर्थकरो, पैगम्बरों, मसीहा, गुरुओ, संतों और महात्माओं ने अथक प्रयास किए। उन्होने इतिहास मे नवीन अध्यायों को जोडा है। प्राणिमात्र के प्रति उनके हृदय में अपार स्नेह और प्यार भरा था। प्राणिमात्र को अपनी आत्मा के तुल्य समझने का उनका संदेश अहिसा की महान् परिभाषा थी। अहिसा की व्यापकता मे प्रेम, मैत्री, बंधुता, सेवा, सहनशीलता तथा करुणा आदि महान् मूल्यों का समावेश किया गया। जैन तीर्थकरों ने अहिसा को एक शाश्वत ध्रुव एव नित्य धर्म वताया—'एस धम्मे धुवे, णिच्चे सासए' (आचारांग सूत्र)

विश्व की इन महान् आत्माओ ने अपने जीवन के कण-कण में महान् धर्म अहिसा को जिया। वर्षो तक अपने जीवन को अहिसा की प्रयोगशाला बनाकर प्रेम, सहनशीलता एवं मित्रता जैसे महान् गुणो को स्थापित किया। अपने महान्तम प्रयोगो मे अहिंसक जीवन की सफलता अर्जित कर उन्होने विश्व को अहिसा का श्रेष्ठ सदेश दिया और इस महान् धर्म के आदर्श बने।

अहिंसा-शिक्षा के तत्त्व :

(i) **सुयोग्य शिक्षकों की उपलब्धता**—अहिसा की शिक्षा के लिए भी यही क्रम स्वाभाविक लगता है कि अहिसा शिक्षा के लिए सुयोग्य शिक्षक तैयार

हो। सर्वप्रथम वे स्वयं अहिंसक जीवन जिएँ। उनका प्रत्येक व्यवहार अहिंसात्मक हो और आत्मतुल्यता की भावना से भरा हो। अपने जीवन में अहिंसा की सैद्धांतिक और व्यावहारिक भूमि सुदृढ़ बनाकर ही वे अपने को अहिंसा शिक्षा के आदर्श (Model) और सुयोग्य शिक्षक बना सकते हैं। सुयोग्य शिक्षक बन कर ही वे अहिंसा जैसे महानतम मूल्य को मानव समाज में प्रतिष्ठापित करने मे सफलीभूत हो सकते हैं। यह एक स्थापित मान्यता है कि किसी सद्गुण को स्वय अपने जीवन में आत्मसात् करने वाले व्यक्ति ही उसे अन्यों के जीवन में स्थापित कर सकते है। ऐसे व्यक्ति ही वातावरण की ध्रुव धुरी बनकर विश्व-चक्र की दिशा बदल सकते हैं।

वैसे तो अहिंसादि मूल्यों को सिखाया नही जा सकता। मानव जीवन मे सुषुप्त इन गुणो को जगाने की ही जरूरत है। अहिंसा की शिक्षा भी इसी प्रकार अहिंसक भावनाओं, विचारों एवं व्यवहारों को जगाने का कार्य कर सकती है। अहिंसादि महान् मूल्यों को जीने वाले इन सुयोग्य शिक्षकों का जीवन एक खुली पुस्तक होगा और अन्य व्यक्ति उनसे जीवन-व्यवहारो से इन मूल्यों की शिक्षा ग्रहण करेंगे। ये शिक्षक चलते-फिरते अभिप्रेरक होंगे, उत्प्रेरक होंगे जो मानव मन में व्याप्त हिंसा, घृणा, वैर-विरोध आदि की दुर्भावनाओ का निवारण कर प्रेम, सहयोग, स्नेह, सहानुभूति आदि दिव्य गुणो को जागृत कर सकेंगे।

जैन आगमों मे तीर्थकरों के अतिशयो का उल्लेख मिलता है। उनके सान्निध्य में उनकी धर्मसभा या समवसरण का वातावरण ही बदल जाता था। जन्मजात वैरी प्राणी-सिह और मृग, सर्प और नेवला अपना वैर भुलाकर उनके शात सौम्य मुख का दर्शन करते और उनकी मधुर वाणी का अमृत पान करने लगते थे। महान् विषधर चंद्र कौशिक के साथ महावीर की घटना तो एक कमाल थी। अपनी बाँबी पर खड़े महावीर को उसने क्रूरता से डसा परंतु यह क्या उनके अंगूठे से रक्त की लाल धारा के स्थान पर दुग्धवत् रक्त की श्वेत मधुर धारा बहने लगी। अंत मे तो उसका जीवन ही बदल गया। इस महान् घटना के पीछे प्रभु महावीर का अहिंसा, स्नेह और प्रेम से भरा जीवन ही मूल कारण था।

गौतम बुद्ध को चलते हुए देखकर कुख्यात डाकू अंगुलिमाल रुका और बोल पड़ा—रुक जाओ तुम! बुद्ध का उत्तर था (चलते हुए) मै तो रुका हुआ हूँ, तुम नहीं रुक रहे हो। अंगुलिमाल के लिए ये शव्द पहेली वन गए और बुद्ध के चरणों में उसको बुलाकर उसने अपना जीवन ही वदल डाला।

हमारे युग में मार्टिन लूथर किंग, महात्मा गाँधी, विनोवा, मदर टेरेसा के चमत्कार हमारे सामने ही घटित हुए है। इनकी अहिंसा के चमत्कारो से हम परिचित हैं। महावीर, बुद्ध आदि असामान्य ऊँचाइयो पर आसीन है, पर हमारे लिए आदर्श तो है, अनुकरणीय और दिग्दर्शक तो है ही। भले ही हमारा

शिक्षक इन असामान्य ऊँचाइयों को न पहुँच सके परंतु इस सिद्धांत को तो उसे समझना और स्वीकारना ही होगा कि मूल्यो के सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ उनका व्यावहारिक जीवन मे आशिक प्रयोग भी अहिंसा-शिक्षा में चमत्कार ला सकता है।

मूल्यों की शिक्षा हमारे देश मे इसीलिए सफलता का मुँह ताक रही है क्योकि अहिंसा जैसे मूल्यों को जीने वाले शिक्षक नगण्य है। शिक्षा की उच्चतम विधियाँ-प्रविधियाँ भी सफल नही हो सकती, यदि मूल्यों को आत्मसात् करने वाले शिक्षक उपलब्ध न हो। भावना की शिक्षा को तो अभी छुआ ही नही गया है।

ये शिक्षक घर मे माता-पिता और गुरुजन, विद्यालयो में शिक्षक, समाज मे कार्यकर्ता हो सकते है। शिक्षा मे मूल्यों की शिक्षा पर व्यापक शोध करके उनके सफल प्रयोगो के आधार पर उक्त शिक्षको को अहिंसावत् मूल्यो के लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। पाश्चात्य एव पौर्वात्य दर्शनो में इससे संबधित सामग्री को दृष्टिगत कर शोध-आकल्प (Research Designs) विशेषतः प्रयोगात्मक आकल्य और प्रयोगात्मक प्रायोजनाएँ हाथ मे ली जा सकती है। भारत मे योगदर्शन के प्रणेता पातजलि के वृत्ति-निरोध का विस्तार से अध्ययन कर उस पर प्रयोगात्मक प्रायोजनाएँ क्रियान्वित करना अपेक्षित है।

(ii) **अहिंसामय परिवेश**—अहिंसादि मूल्यों की शिक्षा के मूल तत्त्वो में अहिंसात्मक परिवेश या वातावरण प्रमुख है। अहिंसादि मूल्यो के विकासार्थ तदनुकूल वातावरण सृजन का अभिप्राय है कि मूल्यो को किसी पर थोपा नही जा सकता। इनके निर्माणानुकूल वातावरण का सृजन आवश्यक है। वातावरण सृजन का एक अन्य अर्थ यह है कि अहिंसादि मूल्यों की शिक्षा के लिए आचार-विचारादि सभी क्षेत्रो मे इनकी प्रतिष्ठा हो जिससे यह कोई अलग विषय बनकर नही रह जाय। यह एक स्थापित सत्य है कि हमारे चारो ओर जिस तरह का वातावरण होगा और हम जैसे वातावरण मे पल रहे होंगे, वैसा ही हमारा निर्माण हो जायगा। अलग-अलग घरो के भिन्न वातावरण मे पलकर बच्चे वैसी ही शिक्षा स्वतः ग्रहण कर लेते है। वे जैसे व्यवहार माता-पितादि गुरुजनो के देखते, सुनते, जैसा करते देखते, वैसे ही व्यवहारों को वे सीख जाते है।

अहिंसाधर्म का पूर्ण पालन करने वाले जैन मुनियो के जीवन को देखे तो ज्ञात होगा कि उनकी संपूर्ण चर्या अहिंसात्मक व्यवहारो से भरी होती है। उनका रहन-सहन, आहार-विहार, चलना-फिरना, उठना-बैठना, बोलना बतलाना सभी व्यवहार अहिंसात्मक होते हैं। साथ रहने वाले सभी मुनि इन व्यवहारो का परिपालन करते है। इस प्रकार सपूर्ण वातावरण एवं परिवेश जब अहिंसामय हो तो अहिसा की शिक्षा सहज और स्वाभाविक सम्पन्न हो जाती है।

हमारे देश में विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों तथा अन्यान्य क्षेत्रों द्वारा ऐसे सप्ताह या पखवाड़े आयोजित किए जाते है जैसे कौमी एकता सप्ताह, स्वच्छता सप्ताह, यातायात सप्ताह, साक्षरता या सहकारिता पखवाडा आदि।

इन सप्ताहों और पखवाड़ों मे विद्यालयों तथा अन्यान्य विभागो में इन्ही सप्ताहों से संबधित कार्यक्रम आयोजित होते है। उन दिनों में इन्ही विषयो के कार्यक्रम संगीत, अभिनय, चर्चाएँ, गोष्ठियां आदि आयोजित करके वातावरण को तदनुकूल बना दिया जाता है। इन स्थानों मे सप्ताह और पखवाड़े भर इसी प्रकार के कार्यक्रम सुने जाते, देखे जाते एव किये जाते है जिससे चारों ओर का वातावरण स्वच्छता, सहकारिता, कौमी एकता आदि मूल्यों के लिए प्रेरक वन जाता है।

ऊपर दिए गए दोनों उदाहरण मूल्यों के विकासार्थ सृजन किए जाने वाले वातावरण के है। विद्यालयो मे पाठ्यक्रम के सभी विषयो में समाविष्ट अहिसादि मूल्यो की चर्चा तद् तद् प्रसंगो में की जाय। प्रार्थना सभा, साहित्यिक गोष्ठियो, खेलकूद, संगीत कला आदि विषयों मे किए जाने वाले कार्यों मे अहिसामूल्य का वातावरण सहज में सृजन किया जा सकता है। विद्यालय मे आयोजित होने वाले सभी पाठ्य एवं पाठ्य सहगामी कार्यक्रमों मे अहिसादि मूल्यो की शिक्षा का वातावरण दिया जा सकता है। शिक्षको के एवं बालको-बालिकाओ के व्यवहारों मे इन मूल्यो का समावेश कैसे हो, यह प्रयास किया जा सकता है।

घर के वातावरण का उदाहरण तो हम सबके सामने है। घर में बालक को सभ्यता, सस्कृतिमय वातावरण देकर माता-पिता अपने वच्चो मे वाछित सस्कार डाल देते है। यह केवल वातावरण सृजन की दृष्टि से ही अनुकरणीय नही अपितु अहिसा-शिक्षा की आयोजना करने वाले व्यक्तियों, संस्थाओ के लिए भी उपयोगी है कि वे देखे कि घर में बालक-बालिकाओ मे माता-पिता कैसे अच्छे सस्कार वपन कर देते है।

इसी प्रकार समाजनेता एव राष्ट्रनेता समाज और राष्ट्र मे भी इसी प्रकार अहिसामूल्य के अनुकूल वातावरण या परिवेश का सृजन कर इन मूल्यो को सहज स्वाभाविक रूप मे ग्राह्य बना सकते है।

अतः अपेक्षित है कि अहिसा-शिक्षा के लिए शिक्षा संस्थानो, चाहे वे घर हो, धर्मस्थान हो, समाज हो या अन्य अभिकरण (Agencies) [illegible] अहिसादि मूल्यो के योग्य वातावरण का सृजन किया जाय। इससे प्रेरित [illegible] अहिसा की सीख ग्रहण की जाय, अहिसक भावनाओ [illegible] सादि मल्य जीवन मे जगत मे प्रतिष्ठापित हो सके।

(iii) **प्रशिक्षण संवेगों का**—ब्राउडी ने Buliding a Philosophy of Education में मूल्यों के विकास सिद्धांतों (Theories) की चर्चा करते हुए सवेग अभिसिद्धान्त (Emotion Theory) को जीवन मूल्यों के विकास का एक प्रमुख आधार माना है। जिस किसी भी क्रिया-विधि से मानव के संवेगो को जगा दिया जाय तो ये जागृत संवेग मानव को उत्प्रेरित कर देते हैं सबधित मूल्य को आत्मसात् करने के लिए।

आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रदत्त उपकरण दूरदर्शन या टी.वी., रेडियो, टेप, फिल्म आदि मानव मन में सुषुप्त मूल्यों को जागृत करने में आश्चर्यजनक कार्य कर सकते है। इन उपकरणों पर प्रस्तुत की जाने वाली दृश्य-श्रव्य सामग्री मानव-मन को प्रबल रूप से आन्दोलित कर देती है और मूल्यो के विकास हेतु सुदृढ़ भूमि तैयार कर देते है।

शिक्षा के दोनों रूप औपचारिक एवं अनौपचारिक मूल्य विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अहिंसा शिक्षा में भी इन दोनों प्रकार की शिक्षा की महती भूमिका है। पाठ्यक्रमों मे अहिंसा शिक्षा के लिए अनुकूल प्रसंगों का उपयोग किया ही जाना चाहिए। इन औपचारिक स्वरूपों से भी अनौपचारिक शिक्षा कही अधिक सार्थक बन सकती है।

विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों मे आयोजित होने वाली क्रीड़ा प्रतियोगिताएँ भ्रमण चर्चाएँ, गोष्ठियाँ, सांस्कृतिक कार्यक्रम, संगीत, अभिनय आदि तथा कहानी, सस्मरण, प्रार्थना सभाएँ एवं प्रायोजनाएँ (Projects) पर कार्य भी किशोरो एवं युवाओं मे संवेगों का अप्रत्यक्ष प्रशिक्षण करते है।

यह एक सामान्य स्वीकृत सिद्धान्त है कि समूहो में की गई क्रियाएँ-समूह प्रायोजनाएँ संगठन, सहयोग, सहनशीलता, प्रेम, सहानुभूति जैसे गुणों को विकसित होने का सहज अवसर प्रदान करती है।

(iv) **अन्य**—(i) यह आवश्यक है कि अहिंसा शिक्षा के इस प्रयास को व्यापक रूप में सभी स्तरों पर सपन्न किया जाय। घर, विद्यालय, धर्मस्थान आदि अन्यान्य अभिकरण अहिंसा-शिक्षा के कार्य को हाथ में लें, प्रयोग करें और सफल प्रयोगों को सर्वत्र आत्मसात् किया जाय।

(ii) अहिंसा एक व्यापक मूल्य है। इसमे सहयोग, सहशीलता, क्षमा, बंधुता, करुणा, मैत्री, आत्मतुल्यता आदि अनेक गुणों का समावेश होता है। वाणी, मन एवं कर्म से इनका पालन करने की आवश्यकता है। अहिंसा के इन विविध रूप सदगुणो के व्यवहारों का विश्लेपण किया जाय। पश्चात् उनके विकास के लिए समुचित क्रियाएँ आयोजित की जा सकती हैं।

(iii) शोधकर्ताओ द्वारा अहिंसा शिक्षा पर शोध कार्य करके उसके सिद्ध प्रयोगो का व्यापक प्रचार किया जाना आवश्यक है ।

(iv) घर, समाज, राष्ट्र और विश्व में अहिंसादि मूल्यों को जीने वाले व्यक्तियों एवं संस्थाओं को प्रोत्साहित एवं सम्मानित किए जाने की अपेक्षा है। यह प्रोत्साहन व्यक्तियों को इन मूल्यो को अपनाने को प्रेरित कर सकेगा ।

अततोगत्वा अहिंसा जैसे शाश्वत, नित्य ध्रुव धर्म या महानतम जीवन मूल्य की शरण करने में ही व्यक्ति और विश्व की सुरक्षा, समृद्धि और शांति निहित है। ऐसे महानतम मूल्यों का प्रचार-प्रसार और उनकी प्रतिष्ठा शिक्षा के अत्यंत प्रभावी उपकरण द्वारा संभव है ।

—सेवा निवृत्त, सहायक प्रोफेसर, शिक्षा ३५ अहिंसापुरी, उदयपुर

❀ आध्यात्मिक शिक्षण अन्तर्वृत्तियों को शिक्षित करता है, जबकि व्यावहारिक शिक्षण जीवन की सुख-सुविधाओं की उपलब्ध करने में सक्षम बनाता है ।

❀ शिक्षक व्यसनी नही हो, अर्थ का संग्रह करने वाले और किसी को परीक्षा मे पास करने के लिए हेरा-फेरी करने वाले नही हों, तभी वे बच्चो मे नैतिकता की भावना जगा सकेंगे ।

❀ भौतिक शिक्षा से मानव जीवन शान्ति की ओर बढ़ता है ।

❀ जो शिक्षा को आचरण में ला पाता है वही दूसरों को शिक्षा देने का अधिकारी होता है ।

—आचार्य श्री नानेश

अहिंसा और साहित्य

☐ पद्मश्री डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे

अत्यंत प्राचीन काल से हमारे देश में अहिंसा के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। भारतीय धार्मिक साहित्य मे ही नही अपितु विश्व के समस्त प्रधान धर्मो के वाङ्गमय मे अहिसा का स्तवन मिलता है। अहिसा को धर्म के रूप मे मान्यता मिली है यथा: "अहिसा परमोधर्म"।

अहिसा की महत्ता को वेद, उपनिषद्, दर्शन, शास्त्र, पुराण, महाकाव्य और लोक काव्य सभी स्वीकार करते है। हिंदू धर्म के विपुल साहित्य मे इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है। बौद्ध-साहित्य तथा जैन-साहित्य इसकी गरिमा को अनुपमेय मानते है। संस्कृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी साहित्य इसकी विशिष्टताओं से अपनी श्री-वृद्धि कर रहा है।

ऐसा कोई धर्म नही जो अहिसा के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त नही करता। 'महाभारत' के 'अनुशासन पर्व' में भीष्म ने युधिष्ठिर के प्रति अहिसा की व्याख्या मे बतलाया है कि अहिसा धर्म के पालन के चार उपाय है:—(क) मन (ख) वाणी, (ग) कर्म से हिसा न करना और (घ) मांस न खाना। 'पातजल-योगदर्शन' (साधनपाद-३५) कहता है कि अहिसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर साधक के समीप सबका वैर भाव नष्ट हो जाता है।

"अहिसा प्रतिष्ठाया तत्सन्निधौ वैर त्याग:।"

गांधीजी ने गीता के अनासक्ति-योग मे भी अहिसा को अन्तर्निहित पाया है।

श्रमण-संस्कृति तथा जैन-साहित्य का प्राण अहिसा है। इसे पंच महाव्रतो मे सर्वोपरि माना गया है। श्रमण संस्कृति के अनुसार किसी भी जीव की मन, वचन और काया से हिसा न करने का नाम ही अहिसा है।

हिंसा की निंदा करके हिंदी के समस्त भक्तिकालीन कवियो ने अहिसा की स्तुति की है। सन्त कवि भी अहिसा का प्रतिपादन करते हैं। लोकनायक सन्त कबीर का अहिसा सिद्धान्त अत्यंत व्यापक तथा प्रभावपूर्ण है। वे दुर्बल को कष्ट देना भी हिसा मानते है—

"दुर्बल को न सताइए, जाकी मोटी हाय।
मुई खाल की सांस सो, सार भसम हो जाय।"

मलूकदास हिंसा का कारण अज्ञान मे खोजते हैं। मलिक मोहम्मद जायसी हिंसा को निर्ममता की उत्पत्ति मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास "नाम-

चरित मानस" और "विनयपत्रिका" में परमार्थ के पोषक गुणों में अहिंसा को परिगणित करते है जिनकी सम्पुष्टि श्रीमद्भागवत्, विष्णु पुराण और गीता भी करती है। अहिंसा, निर्वैरिता तथा समदर्शिता की जननी है जिसके फलस्वरूप तुलसीदास "सकल जीव सम जान" का साश्वत संदेश प्रदान करते है।

राष्ट्रपुरुष महात्मा गांधी ने अहिंसा को नवीन आयाम, राष्ट्रीय संस्पर्श तथा विनीत क्रान्ति का स्वर प्रदान किया। वे अहिंसा को चित्त-वृत्ति तथा कर्म के रूप में स्वीकार करते थे। अहिंसा गांधी-दर्शन का मूलाधार है। गांधीजी के अहिंसा-सम्बन्धी विचार उनके दो ग्रन्थ 'अहिंसा-व्रत' तथा 'अहिंसा और सत्य' में प्रधानतया मिलते है। गांधीजी ने अपने जीवन की प्रयोगशाला में अहिंसा के अनवरत प्रयोग किए हैं। उसे व्यापकता तथा सामाजिकता प्रदान की है। गांधी जी के जीवन में सत्य सहज रूप में आया परन्तु अहिंसा प्रयासों से प्राप्त हुई। वे अहिंसा को सत्य का प्राण मानते थे। इस प्राचीन सिद्धान्त को ग्रहण करके भी गांधीजी की अहिंसा शत प्रतिशत वही नही है जो कि परिपाटी प्रसूता है। उसमें सीमा-विस्तार तथा नूतन अर्थ का सम्मिश्रण मिलता है। प्राचीन अहिंसा जीव-दया तक सीमित थी परन्तु गाधीजी ने उसे असीम कर दिया। वे अविनय को भी हिंसा मानते है। उनकी अहिंसा मे ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय तथा अपरिग्रह भी आ जाते है। उनकी अहिंसा के लिए 'नान-वायलेंस' शब्द ठीक नही बल्कि "हार्मलैसनेस" भी होना चाहिए। उनकी दृष्टि में अहिंसा पूर्ण निर्दोषिता, पूर्ण स्थिति और प्राणिमात्र के प्रति दुर्भाव का पूर्ण अभाव है। गांधी साहित्य अहिंसा के विशद विश्लेषण से आपूर्ण है। उनकी अहिंसा पुस्तको की वस्तु न होकर जीवन के नियम तथा आचरण की व्यावहारिकता के रूप मे आती है। गांधी-दर्शन में अहिंसा अभय की चरमावस्था है इसलिए वह वीरता की परिसीमा है। संगठित हिंसा के निवारण हेतु उन्होने संगठित अहिंसा के राजनैतिक-राष्ट्रीय-आंदोलनात्मक प्रयोग को जीवंत रूप प्रदान किया। विश्व के लिए गांधीजी की अहिंसा की देन सर्व महान् है।

गांधीजी की अहिंसा-नीति से राष्ट्रीय आन्दोलन और हिन्दी-साहित्य विशद रूप से प्रभावित हुआ है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में अहिंसा के विविध रूपों के सर्वत्र दर्शन होते है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के महाकाव्य "प्रियप्रवास" (सन्-१९१४) के श्रीकृष्ण अहिंसा से प्रभावित है। इसी प्रकार "वैदेही वनवास" (सन् १९३९) के राम पर भी अहिंसावाद की छाप प्रतीत होती है।

"दमन है मुझे कदापि न इष्ट,
क्योंकि वह है भयमूलक नीति!
चाह है लाभ करूं, कर त्याग,
प्रजा की सच्ची प्रीति प्रतीति ॥"

"हरिऔध" के राम अनेक स्थलो पर युद्धों का विरोध करते है। वे शान्तिप्रियता तथा लोकाराधन के आकांक्षी है।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' (सन् १९३२) के राम भी अहिसा के उपासक है। "जयभारत" के धर्मराज युधिष्ठिर अहिसा के परम अनुयायी है। जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामायनी' (सन् १९३५) की नायिका श्रद्धा अहिसा की पुजारिन है। वह पशु-बलि का विरोध करती है। उसके अहिसा-सिद्धान्त को इन शब्दो मे अभिव्यक्ति मिली है।

"अपनी रक्षा करने में जो, चल जाए तुम्हारा कही अस्त्र,
वह तो कुछ समझ सकी हूँ मैं, हिसक से रक्षा करे शस्त्र।
पर जो निरीह जीकर भी कुछ, उपकारी होने में समर्थ,
वे क्यों न जिये उपयोगी बन, इसका मै समझ सकी न अर्थ॥"

डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र के "साकेत-सन्त" (सन् १९४९) के भरत अहिसा के अनुगामी है। अनूप शर्मा ने अहिसा के दो महान् पुरोधा पर 'सिद्धार्थ' (सन् १९३७) तथा 'वर्द्धमान' (सन् १९५१) नामक महाकाव्य लिखे। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की ऊर्मिला' (सन् १९५७) के राम विभीषण के राज दरबार मे अहिसा की चर्चा करते है। इसी प्रकार "प्राणार्पण" में भी हिसा-अहिसा के द्वन्द्व को प्रस्तुत किया गया है। गिरिजादत्त शुक्ल "गिरीश" के "तारकवध" (सन् १९५८) नामक महाकाव्य मे अहिंसात्मक प्रयोगों को चरितार्थ किया गया है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" और डॉ. रामधारीसिंह "दिनकर" अहिसा में कापुरुषता के दर्शन पाते है। उनका "कुरुक्षेत्र" (सन् १९४३) गाधी के साथ न होकर तिलक के साथ है। उसमें अहिसा के धर्मराज के साथ कवि की सहानुभूति न होकर वीरत्व के प्रतीक भीष्म पितामह के साथ है। अहिंसा को सुमित्रानन्दन पन्त स्वीकार करते है। अभिनव अमिताभ गांधी में ईसा, तुलसी, तुकाराम, नरसी मेहता, रस्किन तथा टालस्टाय की परम्परा आ विराजी थी। रामनरेश त्रिपाठी के "पथिक", "मिलन" तथा "स्वप्न" मे अहिसा को चरितार्थ होते दिखाया गया है। सियारामशरण गुप्त का "आत्मोत्सर्ग" तथा "उन्मुक्त" अहिसा का पक्षधर है। "उन्मुक्त" का युद्धवादी पुष्पदन्त पूर्ण अहिसावादी हो जाता है। सुमित्रानन्दन पन्त कहते है "सत्य-अहिसा से आलोकित होगा मानव का मन।" सोहनलाल द्विवेदी का अभिमत है—

- "अहिसा हो जीवन का मर्म।"

गुप्तजी के "अवध" का नायक मघ अहिंसावादी है। माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' ने गांधीजी के अहिसक रूप को "निःशस्त्र सेनानी" के

रूप मे सर्व प्रथम हिंदी-साहित्य में प्रस्तुत किया था। कवियों ने स्वाधीनता प्राप्ति का साधन अहिंसा को माना। डॉ. हरि शंकर शर्मा लिखते है—

"सत्य, अहिंसा व्रत का बल हो।"

स्व. नेपालीजी अहिंसात्मक बलिदान का समर्थन करते हैं—

"है अपूर्व यह युद्ध हमारा, हिंसा की न लड़ाई है,
नंगी छाती की तोपों के, ऊपर विकट चढ़ाई है।"

सुधीन्द्र अहिंसा के स्थान को सबसे अधिक महत्त्व देते है—

"अणुबम्ब से है नहीं, अहिंसा
से है जग का कल्याण।"

नरेन्द्र शर्मा के शब्दों में गांधीजी ने अहिंसक क्रान्ति द्वारा इतिहास में एक नूतन अध्याय का समारम्भ किया है—

"क्रान्ति यो जग में हुई अबतक कई,
पर अहिंसा क्रान्ति की संज्ञा नई, शैली नई।
साध्य, साधक और साधन में न हो व्यवधान जब,
क्रान्ति तब मंगलमई, करुणामई।"

सुभद्राकुमारी चौहान भी अहिंसात्मक साधनों में अपनी आस्था उडेलती है—

"हमारी प्रतिभा साध्वी रहे,
देश के चरणों पर ही चढ़े,
अहिंसा के भावो में मस्त,
आज यह विश्व जीतना पड़े।"

राजेन्द्रसिह रघुवंशी का कथन है कि—

"दिखलाओ वह शक्ति, आसुरी वृत्ति सभी मिट जाए,
भिडो अहिंसा शान्ति अस्त्र से, यशकेतन लहराए।"

"नवीन" के "हम विषपायी जनम के" की "सिरजन की ललकारे मेरी" नामक लम्बी कविता और दिनकर की पुस्तक "हुंकार" (सन् १९३८) की कविता "कल्पना की दिशा" मे हिसा-अहिंसा के संघर्ष को काफी उभार मिला है। लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री "रमा" के गांधी-गौरव दोहों में मिलता है—

"सत्य-अहिंसा-एकता, अरु अछूत उद्धार।
हुआ इन्ही के लिए था, गांधी का अवतार।"

गाधीजी पर लिखित गीता, रामायण, मानस तथा पुराण मे [illegible] [illegible] समुचित प्रतिपादन मिलता है। ठाकुर गोपालशरणसिंह ने गांधीजी पर [illegible] [illegible] महाकाव्य "[illegible]" का अन्त इन पंक्तियों से किया है—

"अहिंसा का कर दिव्य प्रयोग,
चित्त में की तुमने जो क्रान्ति ।
उसी के फलस्वरूप सुखभूल,
प्राप्त हो सकती है चिर शांति ।"

अम्बिका प्रसाद "दिव्य" भी "गांधी-पारायण" में यह कामना करते हैं—

"हो अहिंसा पथ-प्रदर्शक, सत्य का हो सूर्य ।
नही भटका सके तम में, भंवर में खद्योत ।"

हिन्दी गद्य में गांधीवादी अहिंसा को प्रेमचन्द, जैनन्द्रकुमार, सेठ गोविन्द दास तथा अनन्तगोपाल शेवडे मुखर बनाते है । सेठ गोविन्ददास के "अशोक" तथा "प्रकाश" नामक नाटको में अहिंसा को स्थान मिला है । हरिकृष्ण "प्रेमी" के "बन्धन" तथा "स्वर्ण-विहान" नाटकों में हिंसा पर अहिंसा की विजय वतलायी गयी है । प्रेमचन्द के "जुलूस" तथा "समरयात्रा" में गांधीवादी अहिसा के दर्शन मिलते है । अमरेश-वहादुरसिंह "अमरेश" ने "देवता: मेरे देश का" और डॉ हरीराम मिश्र ने पांच एकांकियों मे गांधीजी के अहिसा के प्रयोगों को सृजन की भापा में बांधा है । चिरजीत के नाटक "मन्दिर की जोत" लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाटक "मृत्युजय" तथा डॉ रामकुमार वर्मा के एकाकी "बापू" मे अहिंसा की प्रतिच्छाया है । भागवत प्रसाद के उपन्यास "यात्रा और उपलब्धि" (सन् १९६९) मे पशु-मन के उन्मूलन के लिए अहिंसा, साम्य, सर्वोदय, पचशील जैसे तत्त्वों का सहारा लेकर निरन्तर सघर्ष की बात कही गयी है । मानव-मन की यात्रा पशु-मन से शुरू होकर लिकन, गांधी और विनोवा भावे के मन तक पहुंचती है ।

भवानीप्रसाद मिश्र "गांधी पंचशती" की एक कविता "अहिंसा और लोकतन्त्र" मे कहते हैं—

"अगर साध्य हम शुद्ध रखे तो
सभी राष्ट्र सम्पूर्ण स्वराज्य भोगनेवाले
वन जायेगे और राष्ट्र छोटे-से छोटे
महाद्वीप जैसे राष्ट्रो की तरह
सुखी, निश्चिंत रहेंगे,
किन्तु तभी जव,
लोकतंत्र के तट में वंधकर
स्रोत अहिसा के निर्मल स्वच्छन्द वहेगे ।"

गांधीजी ने अहिसा को विधेयात्मिका शक्ति से आपूर्ण किया । उसमें श्रमण संस्कृति की अभावात्मक अहिंसा के साथ गीता के निष्काम कर्मयोग का सम्मिश्रण है । "गांधी ज्ञान गीता" में "अहिसा" के विषय मे लिखा गया है—

"कमजोरों का नहीं, अहिंसा
है वीरों का धर्म।
कायरता से बढ़कर जग में,
कोई नहीं अधर्म।"

"बापू की वाणी" में निरंकार देव सेवक इसी सूत्र को विकसित करते हैं—

'सूर्य अहिंसा का अम्बर में,
जब है चमक दिखाता।
क्रोध घृणा का अन्धकार,
तब तितर-बितर हो जाता॥"

—ब-६, प्रोफेसर्स बंगलो, सागर विश्वविद्यालय, सागर-४७०००३

□—□
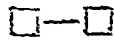
हिंसक शेर अहिंसक बना

□ श्री बलवन्त सिंह हाड़ा

गागरोन गढ़ के राजा पीपाजी परम भक्त थे। उनको द्वारकाधीश के दर्शन करने की अभिलाषा हुई तो वे पत्नी सहित द्वारका पहुँच गये। वापस लौटते समय दरा के सघन वन में मार्ग में शेर खड़ा मिला। उनकी पत्नी डर गई लेकिन पीपाजी निडर उसके सामने चले गये। भक्त पीपा को देखते ही उसके हृदय में परिवर्तन हो गया। वह चुपचाप खड़ा हो गया। इधर पीपाजी ने शेर में नरसिंह भगवान का ध्यान कर लिया।

शेर ने पीपाजी के पैर चाटे और पीपाजी ने माला उसके गले में डाल दी। शेर अब अहिंसक बन गया। किसी भी जानवर का शिकार करना बन्द कर दिया। कहा जाता है कि शीघ्र अपना देह त्याग कर [illegible] का प्रसिद्ध नरसी मेहता बनकर प्रकट हुआ।

यदि अन्य जीवों को प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से किसी जीव को सुख पाने की चेष्टा से किंचित् भी कष्ट हो तो वह अहिसा नही है, अतः ऐसी भावना-प्रवृत्ति नही होना अहिसा है ।

अहिंसा का वास्तविक स्वरूप—जीव के अन्त करण मे ऐसा विषम, क्लेशरूप चचल विकारी भाव ही न हो जिससे स्वय के गुणो का हनन हो, नाश हो। यह तभी सम्भव है कि उसे अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का बोध हो, विचार हो, ज्ञान हो कि अन्य जीव भी मेरे जैसे ही है। आज ससार मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव है। उसका विकास, उसकी योग्यता, उसकी मनन-चिंतन व समझने की शक्ति अन्य जीवों की अपेक्षा सर्वोत्कृष्ट है। अहिसा आचार धर्म है, प्रवृत्तिमय है। प्रत्येक प्रसंग में, अवस्था में, क्रिया मे वह व्यस्त रहती है, मात्र मानव को भान होना, ज्ञान होना चाहिए। अहिंसा को क्रियात्मक, आचारात्मक पक्ष देने से पूर्व जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों/तथ्यों को समझना परम आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। ज्ञान-दर्शन के बिना, सच्ची समझ के बिना चारित्र-आचरण नही होता और अहिसा चारित्रधर्म का मुख्य अंग है, प्राण है तथा अहिसा की पुष्टि हेतु ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, व अपरिग्रह की साधना है। सत्य, अस्तेय आदि की साधना का मूल भी अहिसा ही है।

जैन दर्शन के वे मूलभूत सिद्धान्त निम्न है—

१. लोक में छह द्रव्य हैं:—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। इनमे जीव व पुद्गल द्रव्य ही सक्रिय है, शेष निष्क्रिय अर्थात् अपने ही स्वरूप मे हैं। छहो द्रव्य शाश्वत है, नित्य परिणामी हैं, कोई किसी पर आधारित नही है, अपने-अपने ही गुण पर्यायों से युक्त है। वे एक दूसरे रूप नही हो सकते। सबका भिन्न-भिन्न अस्तित्त्व है। प्रत्येक गुणधर्म उन्ही-उन्ही मे रहते हैं। उनका कभी नाश—संक्रमण नहीं हो सकता। जीव चैतन्य रूप से परिणमन करता है और अन्य पाँचों द्रव्य अजीव जड़ रूप से परिणमन करते है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध है किन्तु तादात्म्य सम्बन्ध नही, अतः पृथक्-पृथक् सत्तावान है। पारस्परिक सयोग-वियोग सम्बन्ध भी जीव व पुद्गल द्रव्य का होता है वह भी विभाविक दशा में, अज्ञान दशा में।

२. लोक में जीव अनंत है। सभी पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी ही गुण धर्मो की सत्ता से युक्त हैं, कोई किसी के आधीन नही, कोई किसी का कर्ता-हर्ता नही क्योकि प्रत्येक जीव अन्य द्रव्यो की तरह शाश्वत है, अजर, अमर, अविनाशी है। अपने-अपने गुण पर्यायो से ही अभिन्न है। सभी द्रव्य ध्रुव, नित्य रहते हुए भी अवस्थातर होते है। एक जीव दूसरे जीव में मिल नहीं सकता, नाश नही कर सकता तो एक जीव पुद्गल रूप कभी नही हो सकता और पुद्गल जीव रूप नही हो सकता है।

३. करुणा भाव—सभी जीव सुख चाहते है उनके सुख में बाधक न बने बल्कि उनके सुख में निमित्त बने, उनके दु:ख में अपना दु:ख समझे, उसे दूर करने का भाव-प्रयत्न करें। जिसमें करुणा नही, दया नही तो प्रेम, मैत्री, उदारता, सहानुभूति, सहयोग, क्षमाशीलता, उपकार की भावना कैसे उदित हो सकती हैं, जो अहिंसा के मुख्य लक्षण है। सभी जीव सुखी हों, विषमता से समता में आयें। दु:ख है आधि-संकल्प विकल्प चिताओ का विकारो का, व्याधि-शरीर के रोगों का, उपाधि देह-स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब, धन, वैभव पद प्रतिष्ठा का इन्हें मिटाने व समाधि मे स्थित हों, सुखी हों, ऐसी दया भावना-यही स्व-पर करुणा अहिंसा की मूर्ति है।

४. मध्यस्थ भावना—सभी जीव कर्म सहित है, कर्मो के कारण देह, कुटुम्ब, व्यवहारीजन, धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा आदि का संयोग होता है। इनमे न किसी के प्रति अनुकूलता मानकर राग करना है और न किसी को प्रतिकूल मानकर द्वेष करना है। क्योकि व्यक्ति, वस्तुएँ, परिस्थितियां न अनुकूल होती हैं और न प्रतिकूल होती हैं। जो आज जिस रूप में है, वह कल किस रूप हो जायेगी, रहेगी भी या नही ? तथा कर्मो के उदय फलस्वरूप ऐसे संयोग जुटे हैं उनमे क्या हर्ष, शोक, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, लाभ-हानि, मान अपमान की कल्पना करना। सर्वत्र मध्यस्थ भाव से समभाव से, उदासीनता से, हित रूप हो वैसे शुक्लभावो में रहना अहिसा है।

५. विषयों की मन्दता अथवा जितेन्द्रियता—पदार्थो का सच्चा बोध होने पर मानव मात्र शरीरादि के निर्वाह हेतु तथा संयम के लिए मुक्त होने के लिए इन इन्द्रिय विषयभोगों मे आसक्त न हो, जितेन्द्रिय होने का सफल प्रयास करे तो इतनी दौड धूप, तृष्णा, लालसा, झूठ, कपट, चोरी, अन्याय न हो तो सर्वत्र समता, प्रेम, मैत्री, करुणा, मध्यस्थता के भाव जाग्रत होकर सुखी हो सकता है। मुक्त हो सकता है, यही अहिसा का मूल मंत्र है।

(६) कषाय की उपशान्तता—मानव सामाजिक प्राणी है। उसे समाज मे, कुटुम्ब मे, राष्ट्र मे, लोक मे, सर्व प्राणीजगत् मे रहना पड़ता है—जब तक मुक्त न हो जाये। अत: कई प्रसंग-परिस्थितियां कब, कैसे, किस प्रकार आ सकती है; उनमें न कही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष करे, न उत्तेजित हो, न आसक्त हो, क्योकि ये सभी प्रसग कर्मानुसार मिले है। अब पुन. ऐसे कर्म नही करने है जिससे कर्मबन्धन हो और चतुर्गति मे भ्रमण करना पडे, क्लेश कष्ट भुगतना पडे। कषाय ही जनम-मरण की शृखला को बढ़ाने वाले भयंकर विषतुल्य है। अनत जनम-मरण, दु.ख भोग, पीड़ा सहन करनी पडती है। अत: अहिंसा का साधक विचारपूर्वक, विवेक पूर्वक, सोच समझ कर अशुद्ध परिणामो को घातक समझकर शुद्ध सहज स्व-पर कल्याणकारी समता भाव से वर्तन करे।

३. जीव कर्म सहित अनादि से है । जीव चेतन रूप अरूपी असंख्यात प्रदेशी है, अनंत गुण पर्यायो से युक्त है। ज्ञान दर्शन चारित्र सुख वीर्य आदि इसके गुण है। उपयोग इसका असाधारण गुण है । जबकि पुद्गल कर्म अजीव है, जड़ है, रूपो है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श शब्द रूप है। यह भी अपने ही अनत गुण पर्यायो से युक्त है। जीव अपनी अज्ञानता से मोहदशा से राग-द्वेषादि विकारी भावो से कर्म युक्त है और कर्मो के उदय से देह, कुटुम्ब, धन, वैभव आदि का प्रसग सयोग होता है। कर्मो का बन्ध भी जीव अज्ञान, मोह, राग-द्वेषादि भाव कर्मो से करता है। जो-जो देह जीव धारण करता है उसी मे उसी की इन्द्रिय विषय भोगो मे आसक्त बना रहता है इसलिए स्वयं ही स्वय से अनभिज्ञ होने से स्वय का शत्रु बना हुआ है, अपने ही गुणो को आवृत्त किये हुए है। यही दशा वैभाविक संसारी कहलाती है। अतः इन गुणो का घात प्रति समय करता रहता है, यही हिसा है जिससे सच्चा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-वीर्य आदि गुण प्रगट नही हो पा रहे है।

४, जीव मानव भव मे विनयी सरल परिणामी होकर, कुसंग से हटकर, सत्संग मे सद्विचार करे, जीवादि तत्त्वो का बोध करे, मोक्षमार्ग – संसारमार्ग को यथावत् समझे तो वह देहाधीन अवस्था से, जनम-मरण से, सभी सयोगो से तथा संयोगी निमित्ताधीन विकारी भावो से मुक्त हो सकता है। इनमे हित रूप साधनो का प्रयोग करे अहित रूप साधनो का प्रयोग त्यागे तो ही कल्याण सम्भव है। उन हित रूप साधनो में अहिसा सर्वोच्च है।

उपर्युक्त बोध होने पर अहिसा क्या है और वह आज के मानव-युवा पीढी के लिए कैसे हित रूप हो सकती है, इसे समझा व आचरण किया जा सकता है।

अहिंसा का मौलिक स्वरूप : मैत्री भाव—

१. प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझे, समान समझे, किसी से भी वैर-विरोध शत्रुता का, ऊँच-नीच का भाव नही हो, यहा तक कि सिद्ध समान सभी आत्माएँ है। सभी के सुख-दु.ख उन्ही की अज्ञानता से है, सच्चा सुख ज्ञान होने पर स्वयं में ही रहा हुआ है तो अन्य के प्रति विषम भाव उत्पन्न नही हो सकता और न ही वैसी प्रवृत्ति हो सकती है जिससे दूसरे को कष्ट हो पीड़ा हो।

२. प्रमोद भाव—सच्चा बोध होने पर गुण दृष्टि, गुण जिज्ञासा, गुण स्मरण, गुण ग्राहकता का भाव उत्पन्न हो सकता है तथा कुसग से कुदेवादि की मान्यता से रहित सुदेवादि सत्सग के प्रति हर्ष भाव, प्रसन्नता का भाव उत्पन्न हो सकता है। दोष दृष्टि हिंसा है, घातक है जिसमे पर-निन्दा-ईर्ष्या-रोष-ग्लानि-क्लेश-द्वेष-शोक-भय चिन्ता आकुलता-व्याकुलता-अनिष्ट की चाह, अनिष्ट का वियोग-नाश की बुद्धि पनपती है जो हिसा है। अत. स्व-दोष दृष्टि हो, पर गुण दृष्टि हो तो उसमे समभाव-सहज भाव उत्पन्न हो सकते है।

३. **करुणा भाव**—सभी जीव सुख चाहते है उनके सुख मे बाधक न बने वलिक उनके सुख में निमित्त बने, उनके दु:ख में अपना दु:ख समझे, उसे दूर करने का भाव-प्रयत्न करे। जिसमे करुणा नही, दया नही तो प्रेम, मैत्री, उदारता, सहानुभूति, सहयोग, क्षमाशीलता, उपकार की भावना कैसे उदित हो सकती हैं, जो अहिसा के मुख्य लक्षण है। सभी जीव सुखी हों, विषमता से समता में आये। दु:ख है आधि-संकल्प विकल्प चिताओ का विकारो का, व्याधि-शरीर के रोगों का, उपाधि देह-स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब, धन, वैभव पद प्रतिष्ठा का इन्हें मिटाने व समाधि मे स्थित हों, सुखी हों, ऐसी दया भावना-यही स्व-पर करुणा अहिंसा की मूर्ति है।

४. **मध्यस्थ भावना**—सभी जीव कर्म सहित है, कर्मो के कारण देह, कुटुम्ब, व्यवहारीजन, धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा आदि का संयोग होता है। इनमे न किसी के प्रति अनुकूलता मानकर राग करना है और न किसी को प्रतिकूल मानकर द्वेष करना है। क्योंकि व्यक्ति, वस्तुएँ, परिस्थितिया न अनुकूल होती है और न प्रतिकूल होती है। जो आज जिस रूप मे है, वह कल किस रूप हो जायेगी, रहेंगी भी या नही ? तथा कर्मो के उदय फलस्वरूप ऐसे संयोग जुटे हैं उनमे क्या हर्ष, शोक, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, लाभ-हानि, मान अपमान की कल्पना करना। सर्वत्र मध्यस्थ भाव से समभाव से, उदासीनता से, हित रूप हो वैसे शुक्लभावों में रहना अहिसा है।

५. **विषयों की मन्दता अथवा जितेन्द्रियता**—पदार्थो का सच्चा बोध होने पर मानव मात्र शरीरादि के निर्वाह हेतु तथा संयम के लिए मुक्त होने के लिए इन इन्द्रिय विषयभोगो में आसक्त न हो, जितेन्द्रिय होने का सफल प्रयास करे तो इतनी दौड धूप, तृष्णा, लालसा, झूठ, कपट, चोरी, अन्याय न हो तो सर्वत्र समता, प्रेम, मैत्री, करुणा, मध्यस्थता के भाव जाग्रत होकर सुखी हो सकता है। मुक्त हो सकता है, यही अहिसा का मूल मंत्र है।

(६) **कषाय की उपशान्तता**—मानव सामाजिक प्राणी है। उसे समाज मे, कुटुम्ब में, राष्ट्र में, लोक में, सर्व प्राणीजगत् मे रहना पड़ता है—जब तक मुक्त न हो जाये। अत. कई प्रसग-परिस्थितियां कब, कैसे, किस प्रकार आ सकती है; उनमे न कही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष करे, न उत्तेजित हो, न आसक्त हो, क्योकि ये सभी प्रसग कर्मानुसार मिले है। अब पुन. ऐसे कर्म नही करने है जिससे कर्मबन्धन हो और चतुर्गति मे भ्रमण करना पडे, क्लेश कष्ट भुगतना पडे। कषाय ही जनम-मरण की शृंखला को वढ़ाने वाले भयकर विषतुल्य है। अनंत जनम-मरण, दु:ख भोग, पीडा सहन करनी पडती है। अत: अहिसा का साधक विचारपूर्वक, विवेक पूर्वक, सोच समझ कर अशुद्ध परिणामो को घातक समझकर शुद्ध सहज स्व-पर कल्याणकारी समता भाव से वर्तन करे।

३ जीव कर्म सहित अनादि से है । जीव चेतन रूप अरूपी असंख्यात प्रदेशी है, अनंत गुण पर्यायो से युक्त है । ज्ञान दर्शन चारित्र सुख वीर्य आदि इसके गुण है । उपयोग इसका असाधारण गुण है । जबकि पुद्गल कर्म अजीव है, जड़ है, रूपो है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श शब्द रूप है । यह भी अपने ही अनत गुण पर्यायों से युक्त है । जीव अपनी अज्ञानता से मोहदशा से राग-द्वेषादि विकारी भावों से कर्म युक्त है और कर्मो के उदय से देह, कुटुम्ब, धन, वैभव आदि का प्रसंग संयोग होता है । कर्मो का बन्ध भी जीव अज्ञान, मोह, राग-द्वेषादि भाव कर्मो से करता है । जो-जो देह जीव धारण करता है उसी मे उसी की इन्द्रिय विषय भोगों मे आसक्त बना रहता है इसलिए स्वयं ही स्वय से अनभिज्ञ होने से स्वयं का शत्रु बना हुआ है, अपने ही गुणो को आवृत्त किये हुए है । यही दशा वैभाविक संसारी कहलाती है । अत: इन गुणो का घात प्रति समय करता रहता है, यही हिसा है जिससे सच्चा ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुख-वीर्य आदि गुण प्रगट नही हो पा रहे है ।

४, जीव मानव भव मे विनयी सरल परिणामी होकर, कुसंग से हटकर, सत्संग में सद्विचार करे, जीवादि तत्त्वो का बोध करे, मोक्षमार्ग – ससारमार्ग को यथावत् समझे तो वह देहाधीन अवस्था से, जनम-मरण से, सभी संयोगों से तथा संयोगी निमित्ताधीन विकारी भावो से मुक्त हो सकता है । इनमें हित रूप साधनो का प्रयोग करे अहित रूप साधनो का प्रयोग त्यागे तो ही कल्याण सम्भव है । उन हित रूप साधनों मे अहिसा सर्वोच्च है ।

उपर्युक्त बोध होने पर अहिसा क्या है और वह आज के मानव-युवा पीढ़ी के लिए कैसे हित रूप हो सकती है, इसे समझा व आचरण किया जा सकता है ।

अहिंसा का मौलिक स्वरूप : मैत्री भाव—

१. प्राणी मात्र को आत्म तुल्य समझे, समान समझे, किसी से भी वैर-विरोध शत्रुता का, ऊँच-नीच का भाव नही हो, यहा तक कि सिद्ध समान सभी आत्माएँ है । सभी के सुख-दु ख उन्ही की अज्ञानता से है, सच्चा सुख ज्ञान होने पर स्वय में ही रहा हुआ है तो अन्य के प्रति विषम भाव उत्पन्न नही हो सकता और न ही वैसी प्रवृत्ति हो सकती है जिससे दूसरे को कष्ट हो पीडा हो ।

२. प्रमोद भाव—सच्चा बोध होने पर गुण दृष्टि, गुण जिज्ञासा, गुण स्मरण, गुण ग्राहकता का भाव उत्पन्न हो सकता है तथा कुसग से कुदेवादि की मान्यता से रहित सुदेवादि सत्सग के प्रति हर्ष भाव, प्रसन्नता का भाव उत्पन्न हो सकता है । दोप दृष्टि हिसा है, घातक है जिसमे पर-निन्दा-ईर्ष्या-रोप-ग्लानि-क्लेश-द्वेप-शोक-भय चिन्ता आकुलता-व्याकुलता-अनिष्ट की चाह, अनिष्ट का वियोग-नाश की बुद्धि पनपती है जो हिंसा है । अत. स्व-दोप दृष्टि हो, पर गुण दृष्टि हो तो उसमे समभाव-सहज भाव उत्पन्न हो सकते है ।

३. करुणा भाव—सभी जीव सुख चाहते है उनके सुख में बाधक न बने बल्कि उनके सुख में निमित्त बने, उनके दुःख में अपना दुःख समझे, उसे दूर करने का भाव-प्रयत्न करे। जिसमें करुणा नही, दया नही तो प्रेम, मैत्री, उदारता, सहानुभूति, सहयोग, क्षमाशीलता, उपकार की भावना कैसे उदित हो सकती हैं, जो अहिंसा के मुख्य लक्षण है। सभी जीव सुखी हों, विषमता से समता में आयें। दु.ख है आधि-संकल्प विकल्प चिंताओ का विकारो का, व्याधि-शरीर के रोगों का, उपाधि देह-स्त्री पुत्रादिक कुटुम्ब, धन, वैभव पद प्रतिष्ठा का इन्हे मिटाने व समाधि मे स्थित हों, सुखी हों, ऐसी दया भावना-यही स्व-पर करुणा अहिंसा की मूर्ति है।

४. मध्यस्थ भावना—सभी जीव कर्म सहित है, कर्मो के कारण देह, कुटुम्ब, व्यवहारीजन, धन, वैभव, पद, प्रतिष्ठा आदि का संयोग होता है। इनमे न किसी के प्रति अनुकूलता मानकर राग करना है और न किसी को प्रतिकूल मानकर द्वेष करना है। क्योंकि व्यक्ति, वस्तुएँ, परिस्थितियां न अनुकूल होती है और न प्रतिकूल होती हैं। जो आज जिस रूप मे है, वह कल किस रूप हो जायेगी, रहेंगी भी या नही ? तथा कर्मो के उदय फलस्वरूप ऐसे संयोग जुटे हैं उनमे क्या हर्ष, शोक, इष्ट-अनिष्ट, शत्रु-मित्र, लाभ-हानि, मान अपमान की कल्पना करना। सर्वत्र मध्यस्थ भाव से समभाव से, उदासीनता से, हित रूप हो वैसे शुक्लभावों में रहना अहिंसा है।

५. विषयों की मन्दता अथवा जितेन्द्रियता—पदार्थो का सच्चा वोध होने पर मानव मात्र शरीरादि के निर्वाह हेतु तथा संयम के लिए मुक्त होने के लिए इन इन्द्रिय विषयभोगों में आसक्त न हो, जितेन्द्रिय होने का सफल प्रयास करे तो इतनी दौड धूप, तृष्णा, लालसा, झूठ, कपट, चोरी, अन्याय न हो तो सर्वत्र समता, प्रेम, मैत्री, करुणा, मध्यस्थता के भाव जाग्रत होकर सुखी हो सकता है। मुक्त हो सकता है, यही अहिंसा का मूल मंत्र है।

(६) कषाय की उपशान्तता—मानव सामाजिक प्राणी है। उसे समाज मे, कुटुम्ब मे, राष्ट्र मे, लोक में, सर्व प्राणीजगत् में रहना पडता है—जब तक मुक्त न हो जाये। अतः कई प्रसंग-परिस्थितियां कब, कैसे, किस प्रकार आ सकती है; उनमे न कही क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष करे, न उत्तेजित हो, न आसक्त हो, क्योंकि ये सभी प्रसंग कर्मानुसार मिले है। अब पुनः ऐसे कर्म नही करने है जिससे कर्मबन्धन हो और चतुर्गति मे भ्रमण करना पड़े, क्लेश कष्ट भुगतना पड़े। कषाय ही जनम-मरण की शृंखला को बढ़ाने वाले भयंकर विषतुल्य हैं। अनंत जनम-मरण, दुःख भोग, पीड़ा सहन करनी पडती है। अत. अहिंसा का साधक विचारपूर्वक, विवेक पूर्वक, सोच समझ कर अशुद्ध परिणामो को घातक समझकर शुद्ध सहज स्व-पर कल्याणकारी समता भाव से वर्तन करे।

(७) **विशालता**—अहिसा विराट् स्वरूप को लिए हुए है। उसकी आराधना का अधिकारी प्रत्येक प्राणी है। वह किसी जाति, कुल, मत, गच्छ, सम्प्रदाय, क्रियाकाण्ड, वेष, लिग से सबधित नही, वीतरागता ही अहिसा है। प्रभु का दिव्य उपदेश सार्वजनीन है, सर्वकल्याणक है। सम्प्रदाय विहीन, निष्पक्ष तटस्थ दृष्टिवन्त ही विशाल हृदय से आराधना कर सकता है। कोई प्रतिबद्धता उसके लिए नही। विवेक पूर्वक वीतराग मार्ग की आराधना मे किसी का अहित सभव नही। स्वच्छ, साफ, निर्मल, निर्विकारी हृदय चाहिये। सबके प्रति समभाव, सहिष्णु सहयोग की भावना से युक्त साधक का जीवन सर्वांगीण विकास कर पाता है।

(८) **व्यसनमुक्ति**—मानव प्रकृति ही अहिसक है। उसके अंग प्रत्यंग ही ऐसे है जिसका सारा संबंध शाकाहार से है। सात्विक खान-पान, रहन-सहन सदाचार, दुर्व्यसनों से मुक्त जीवन मानवीय जीवन है। मास-मदिरा, शहद, मक्खन, जुआ, सट्टा, शिकार, परस्त्रीगमन, वैश्यागमन, चोरी ये तो सर्वथा त्याज्य है ही किन्तु रात्रि भोजन, जमीकन्द, बीडी, भांग, जरदा, हुक्का, होटलो का खाना, तामसी पदार्थो का उपयोग, सात्विक अहिसक व्यक्ति के लिए इनका त्याग अत्यन्त जरूरी है। मानवीय जीवन में शुद्ध शाकाहार आरोग्य जीवन के लिए जरूरी है तो मानसिक शुद्ध चिन्तन विचार, सत्य-हितमित मधुर वाणी, काया से इन्द्रियों से विनम्रता, सरलता, शिष्टता, सेवा, परोपकार की भावना-प्रवृत्ति मानव की शोभा है। अतः कुसग से, दुष्ट प्रवृत्तियों से, दुष्ट आचरण से मुक्त रहना, सुसग मे सदाचार पनपे, सात्विकता संयमितता आए, जिसमे अहिसा का निर्वाह हो सके अर्थात् किसे भी कष्ट न हो, बाधा न हो, क्लेश का भाजन न बने।

(९) **व्यापार वाणिज्य-व्यवसाय**—जीवन-निर्वाह के लिए व्यवसाय नौकरी-धधा करना ही पड़ता है। किन्तु वह सात्विक हो, सयमित हो, आवश्यकता से अधिक नही हो तो सामाजिक, राष्ट्रीय शोषण से बच सकता है। जमाखोरी, जमीदारी, अमीरीपन, सुख, सहेलियापन, भोग-विलासिता के साधनों की लालसा हिसामय है, विषमता, असमानता उत्पन्न करती है, प्रेम, मैत्री व समभाव का विघातक है। विषमता से, स्वार्थपरता से, तृष्णा से, लड़ाई, फूट, मतभेद, संघर्ष, गरीबी-अमीरी की भेद रेखा बढती है। यह समाज का दूषण है। अहिसा इनका समाधान है। सबको यथा योग्य अजीविका हो, सुख-सामग्री मिले सभी सुखमय जीवन जिये। जिन धन्धों मे विषय विकार बढे, तामसिकता बढे, हिसा हो, कपटजाल, मोह, राग, द्वेष बढ़े यह सब अहिसा के घातक है। टेक्स चोरी, मिलावट, खोटा तोल, खोटा माप, कथनी-करनी में अन्तर ये सभी अविश्वास पैदा करते है, प्रामाणिकता का हनन करते है, तनाव प्रतिक्रियाएँ, उपद्रव, चोरी, डकैती, मार-कूट, अत्याचार आदि को प्रोत्साहन मिलता है। यह

सामाजिक, वैयक्तिक व राष्ट्रीय हिंसा है। अतः आजीविका का साधन सात्विक, आवश्यकतानुसार हो, पर पीड़ा से रहित, सद्गुणों का पोषक हो।

(१०) प्रदर्शन रहित जीवन हो—आज शृंगार के साधन पचेन्द्रिय जीवो के घात से बनाये जा रहे है जिनका उपयोग केवल शृगार, दिखावा, प्रदर्शन, अश्लीलता बढाने वाला है। हाथी, बन्दर, खरगोश, गाये, भेड़े आदि कई प्रकार के जीवों की हत्या हो रही है। उनके चमड़े से, चरबी से, मास से, हड्डियो से कई प्रकार के साधन बनाकर जीवन चर्या मे काम लिए जा रहे है। कहाँ अहिंसा, कहाँ दया, कहाँ प्रेम, कहाँ सहानुभूति, कहाँ सात्विकता, कहाँ कल्याणी भावना आज रही है? सोचनीय विषय है। ये वस्तुएँ जीवन को बरबाद करने वाली है। सात्विकता का नाश करती है, इनसे बचे।

आज मानवीय जीवन जो मात्र मुक्ति की आराधना के लिए मिला है, अहिंसा, सत्य आदि की पालना करते हुए रत्नत्रय धर्म की आराधना के लिए मिला है। वह नासमझी के कारण, शुद्ध सात्विक संस्कारों की कमी के कारण, असत्संग का कुसंग का भयकर प्रभाव होने से सत्सग का माहात्म्य घटा देने से, नाना प्रकार के विषैले हिंसामय वातावरण से विकृत हो रहा है। आज की युवापीढी को जिसे सिवाय बाह्य शिक्षा, बाह्य जीवन विलासी कैसे हो, धन, पद, प्रतिष्ठा कैसे बढ़े, की ही चिन्ता है। उन्हे सुसस्कारित करने के लिए आज स्वाध्याय की, सत्संग की, सात्विक आचरण की परम आवश्यकता है। जिस सुख शान्ति व आनन्द के पीछे युवावर्ग पड़ा है, जिसे वह बाह्य मे ढूँढ रहा है, दौड़ रहा है, अनैतिक आचरण कर रहा है— वह तो संतोष मे, पारस्परिक प्रेम, मैत्री सद्भावना मे, उदारता मे, कष्ट सहिष्णुता मे है, सहयोग मे है, सबके उत्थान मे है, निर्व्यसनमय जीवन मे है। समाज की रचना, व्यवस्था, संगठन, विधान दृढ होना चाहिए। ऐसे नैतिक सदाचारमय शिक्षण की व्यवस्था हो जहाँ अहिंसा, सत्य ऐसी भावना हो, प्राणी मात्र के कल्याण मे ही अपना कल्याण है, देश के प्रति, समाज के प्रति, कुटुम्व के प्रति और अपने आत्मीय गुणो की आराधना के प्रति सजगता हो। ऐसे प्रयत्न धर्म मन्दिरो मे, स्थानको मे, घर मे, समाज में होने चाहिए। यदि मानवीय एकता व प्रेम नही है तो प्राणीमात्र के कल्याण की बात कहाँ सभव है? अत. प्रभु महावीर के सन्देश, उनके वचन—शास्त्रो का जीवन में नित्य प्रति अवलोकन व आचरण हो तो यह युवा पीढी जो भविष्य की समाज निर्माता है, सुधर सकती है। हर स्तर पर सुधार लाना आवश्यक है तो बढता हुआ मांसाहार, तोड-फोड विषमता नहीं रुक सकेगी। हम समाज, बुद्धिवर्ग, विचारक इस पर गहराई से सोचे-समझे और तदनुरूप कार्य करे।

—३८२, अशोकनगर, गौशाला के सामने, ७

अहिंसा जीवन में कैसे उतरे ?

☐ श्री जशकरण डागा

संसार के सभी धर्मों में अहिंसा सर्वश्रेष्ठ है और सर्व मान्य है इसीलिए कहा गया है—"अहिंसा परमो धर्म. ।" कोई धर्म या पथ ऐसा नही कि जिसमें अहिंसा को स्थान न हो । संसार की समस्त सुख शान्ति, आचार-विचार व्यवस्था अहिंसा की धुरी पर आधारित है। यदि अहिंसा की धुरी न रहे तो समस्त जगत् अशान्ति, कलह, सघर्ष, मार-काट आदि से साक्षात् नरक बन जाय तथा महाविनाश और प्रलय भी हो सकता है। आज ससार मे बढती अशान्ति का मूल कारण अहिंसा की उपेक्षा है। जब कि अहिंसा के अभाव मे एक दिन भी सुख शान्ति से नही रहा जा सकता है ।

अहिंसा क्या है ? किसी भी प्राणी को कष्ट न देना, दु:ख न देना अहिंसा है । कहा है—'सर्व भूतेषु सयम· अहिंसा ।'[1] अर्थात् सब जीवो के प्रति सयम भाव (दु:ख न देने का भाव) रखना अहिंसा है। अहिंसा की यह संक्षिप्त व्याख्या है । इसके दो भेद है—द्रव्य अहिंसा व भाव अहिंसा । किसी जीव के शरीर, इन्द्रिय व द्रव्य प्राणो को आघात न पहुँचाना द्रव्य अहिंसा है तथा भावो से किसी का अनिष्ट चिंतन न करना भाव अहिंसा है ।

अहिंसा पालन मे मुख्य बाधक इसका विरोधी तत्त्व 'हिंसा' है और हिंसा की जड़ परिग्रह है। बिना परिग्रह के त्यागे पूर्ण अहिंसक होना सभव नही है। कारण परिग्रह को ज्ञानियों ने मास के टुकड़े की उपमा देकर बताया है कि जैसे मास का टुकडा कही भी सुरक्षित नही रहता—स्थल पर हो तो कुत्ते, बिल्ली, सूअर आदि, जल में हो तो कच्छ, मच्छ व अन्य जलचर आदि, तथा नभ मे हो तो गिद्ध, चील कौए आदि उस पर झपट पडते है वैसे ही जिसके पास परिग्रह है उसे कभी कही चैन और शान्ति नही मिल पाती है।[2] परिग्रह भी दो प्रकार का है—द्रव्य परिग्रह और भाव परिग्रह। परिग्रह को भलीभाति समझने हेतु इसके भेद भी ध्यान में लेना आवश्यक है। द्रव्य परिग्रह नव प्रकार का है—(१) क्षेत्र (जमीन सबधी) (२) वस्तु (३) हिरण्य (चादी) (४) सुवर्ण (५) धन (६) धान्य (७) द्विपद (दास दासी पत्नी आदि) (८) चतुष्पद (पशु) तथा (९) कुविय धातु (कासी, पीतल, ताम्बा, लोहा आदि सोने चाँदी के अलावा अन्य धातुएं) ।

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका ६, १

२ सूत्र कृताग १–१

भाव परिग्रह—चौदह प्रकार का है—(१) मिथ्यात्व (२-५) क्रोध, मान माया, लोभ (६-१४) हास्य, रति, अरति, भय, शोक, दुगन्छा, स्त्री, पुरुष व नपुंसक वेद (कामेच्छा)। 'मूर्छा परिग्रह'[1] के अनुसार भाव परिग्रह (आसक्ति भाव) ही सर्व परिग्रह का मूल है। अत. अहिंसा जीवन मे कैसे उतरे, इसके लिए यह आवश्यक है कि आज के युग मे बढती हुई परिग्रह की विचारधारा को दुःख, अशान्ति व क्लेश का कारण स्पष्ट करते हुए जन-साधारण में, अपरिग्रह अपनाने हेतु व्यावहारिक जीवन को तदनुसार बदलने हेतु प्रेरित किया जावे। जब तक आचार और विचार अहिंसामय न हो, तब तक आज की बढती हिंसा और अशान्ति को नही रोका जा सकता। आचार और विचार मे भी विचार प्रधान है। विचार-शुद्धि पर विशेष बल दिया जाना चाहिए, कारण जहाँ सात्विक और अहिंसक विचार होगे वहाँ आचार शुद्धि छाया की तरह साथ रहती है, इसीलिए आचार को विचारो का द्योतक माना गया है। कहा है—

"आचार विचार का द्योतक है, चाहे वह कुछ भी कहे नही।
घन पटल बीच रवि रहकर भी, चलने से पीछे रहे नही॥

विचार शुद्धि कैसे हो ?—

आज के वित्त प्रधान युग में विचारों मे कडा परिवर्तन आया है अधिकांश व्यक्तियो की मान्यता है कि 'पैसा आवे मुट्ठी मे, चाहे दुनिया जावे भट्टी में।" जहाँ ऐसे विचार मानस-पटल मे जड जमाए हों तो जब तक उनका उन्मूलन और परिष्कार नही किया जावे, तब तक विचार शुद्धि कैसे सभव है ? पुद्गलानन्दी और भवाभिनन्दी ऐसे प्राणियो को सही विचारो मे अवस्थित करने हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि उन पर अहिंसा के विचार बलात् लादे न जावे वरन् उनके प्रश्नो और शकाओ को जिनके कारण उन्हे अहिंसा मे विश्वास नही है, समुचित समाधान किया जावे। उदाहरण के लिए यहां पर कुछ ऐसे ही प्रश्न और उनके समाधान प्रस्तुत किए जाते है।

प्रश्न—'जीवो जीवस्य भोजनम्' के अनुसार एक जीव दूसरे जीव का भोजन है। फिर अहिंसा का पालन जीवन मे कैसे हो सकता है ?

समाधान—जो उक्ति प्रस्तुत कर कथन किया गया है वही आगम है। वस्तुतः उक्ति 'जीवोजीवस्य भोजनम् नही है वरन जीवोजीवस्य जीवनम् है। जिसका यथार्थ अर्थ है कि एक जीव दूसरे जीव के जीवन मे सहायक है, उपकारी है। जैनाचार्य उमा स्वामी ने इसी बात को अपने इस सूत्र मे और भी स्पष्ट कर दी है—"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।[2]" अर्थात् जीवो का जीवन परस्पर

---

1 तत्वार्थ सूत्र
2 तत्वार्थ सूत्र

उपकारित है। हमारे प्रत्येक के जीवन का बनाए रखने में अनंत-अनंत जीवों का उपकार है। कदाचित् जीवन में सहायीभूत सभी जीवों को नष्ट कर दिया जावे और मनुष्य अकेला जीवनयापन करना चाहे तो फिर उसका स्वयं का जीवन भी टिक नही पायेगा और अन्य सहायी जीवों के अभाव मे उसका जीवन घोर दु.ख व कष्टों से पूरित हो जायगा। इसी संदर्भ में कुछ समय पूर्व की एक सत्य घटना है। समुद्र के बीच में रहे द्वीप मे सर्प वहुत थे। वहाँ के निवासियों ने एक बार उन सबको जीवन घातक मान कर मार डाला। उनके मरने के बाद उस द्वीप में कुछ ही समय बाद, ऐसी भयंकर बीमारी फैली, कि वहाँ मनुष्यों का रहना दूभर हो गया। इस पर जांच करने वाले वड़े-वड़े अन्वेषक व विशेषज्ञ बुलाए गए। उन्होंने खोजकर पता लगाया कि उस द्वीप की जलवायु दूषित हो गई है। उसे ठीक करने हेतु पुनः पूर्ववत् सर्पों को वहाँ बसाया जाना आवश्यक है। अतः फिर दूसरी जगह से सर्पो को लाकर वहाँ पाला गया, तब वहाँ का जन-जीवन सामान्य हुआ। वस्तुत· प्रकृति ने जितने भी जीव-जन्तुगण बनाए हैं, वे सव हमारे जीवन मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सहायक और उपयोगी है।

प्रश्न—इतिहास बताता है कि राष्ट्र के पराधीन होने का कारण अहिंसा रही है। यदि राष्ट्र को गुलाम करने वालो का मुकाबला करने वाले अहिंसक वृत्ति के न होते तो भारत कभी पराधीन नहीं होता। अतः अहिंसा क्या गुलामी का कारण नही है?

समाधान—इस प्रकार की विचारणा नितान्त असत्य और भ्रामक है। इतिहास का अवलोकन करने से यह भ्रांति दूर हो जाती है। अहिंसा के पालक जितने भी राजा महाराजा हुए जैसे महाराजा श्रेणिक, अशोक, चन्द्रगुप्त आदि के शासन काल में भारत कभी पराधीन नहीं हुआ, वरन् उनका काल तो इतिहास मे स्वर्णिम युग के नाम से प्रसिद्ध रहा है। इसके विपरीत मुगल वादशाहो ने या अंग्रेजों ने कव अहिसा का पाठ पढा था? फिर उनके शासन का अंत कैसे हो गया? वस्तुतः भारत के पराधीन होने का कारण अहिंसा नहीं, वरन् उस समय की राजनैतिक परिस्थितियाँ थी। अतः अहिसा राष्ट्र को गुलाम वनाने वाली है—ऐसी मान्यता ठीक नही है।

प्रश्न—जीवन में कदम-कदम पर हिंसा होती है। विना जीव-हिसा के कोई जीवित नही रह सकता, फिर अहिसा का पालन कैसे संभव है?

समाधान—एकबार भ० महावीर से उनके प्रमुख शिष्य गौतम स्वामी ने भी ऐसा प्रश्न पूछा था कि प्रभो! चलने मे, बैठने मे, खड़े होने मे, वात करने में, श्वास लेने में सभी क्रियाओं में जीवों की हिंसा होती है फिर जीव-हिंसा से कैसे वचा जाय? तव भ० महावीर ने इसका बड़ा सुन्दर एव व्यावहारिक समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा था—

"जयं चरे जयं चिट्ठे, जयं मासे जयं सिए ।
जयं भुजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥"[1]

अर्थात् हे गौतम ! जयणा (यतना) से चलने, जयणा से बैठने, जयणा से सोने व जयणा से बोलने से पाप कर्म नहीं बंधते हैं ।

आशय स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य यतना और विवेक पूर्वक करने से, पाप कर्म का बंध नहीं होने से उस हिंसा के विपाक से बचा जा सकता है । गृहस्थ जीवन मे सम्पूर्ण अहिंसा का पालन यद्यपि सम्भव नहीं है तथापि वह यतना और विवेक पूर्वक सभी कार्य करे तो अधिकांश हिंसा से सहज बच सकता है । एक बार एक जिज्ञासु ने एक विद्वान् से पूछा—"हम कैसे जीवें ?" कारण Living is killing (लिविंग इज किलिंग) अर्थात् जीना जीवों को मारना है ।" तब विद्वान बन्धु ने बड़ा श्रेष्ठ समाधान देते हुए कहा—"Killing least living best" (किलिंग लीस्ट लिविंग बेस्ट) अर्थात् कम से कम जीवों का हनन हो, ऐसा जीवन सर्वोत्तम जीवन है और वह अहिंसा प्रधान होगा ।

इसी प्रकार अन्य बौद्धिक प्रश्न व उनके समाधान विचार-शुद्धि के लिए प्रस्तुत किए जावें जिससे सभी का मानस हिंसक विचारों से हट कर शुद्ध सात्विक अहिंसक विचारों की ओर आकर्षित हो । इस प्रकार जब विचार-शुद्धि होगी तब आचार-शुद्धि जीवन में पनप सकेगी ।

आचार शुद्धि :—

इसका मुख्यतः तीन भागों में वर्गीकरण किया जा सकता है—(१) खान-पान (२) रहन-सहन व चलन तथा (३) व्यापार-धन्धा ।

१. खान-पान—जीवन में खानपान का बड़ा महत्त्व है । कहावत है—

जैसा खावें अन्न, वैसा होवे मन ।
जैसा पीवे पानी, वैसी बोले वाणी ।

खान-पान शुद्धि हेतु आवश्यक है कि अभक्ष्य पदार्थों का तथा जो [illegible] सिक वृत्ति प्रधान हों, ऐसे आहार का सेवन न करें । आज मांस, मदिरा, [illegible] तथा अन्य नशीली वस्तुओं का सेवन बढ़ता जा रहा है । [illegible] विवेक 'बहुधा' जैनियों में भी नहीं रहा है । पूर्व में खान-पान से जैन [illegible] पान होती थी । जो जमीकंद का सेवन न करे, रात्रि मे भोजन न करे [illegible] छानकर पीवे, इन तीन बातों से जैन की पहिचान होती थी । [illegible] आज इन तीनों बातों का पालन करने वाले जैन मुश्किल से [illegible] भी मिलेंगे । अभक्ष्य और रात्रि भोजन न केवल हिंसा [illegible] को विकृत करता है, वरन् अनेक व्याधियों को जन्म [illegible]

१ दशवैकालिक सूत्र

अहिंसा का संचार एव अभिवृद्धि हो तथा आचार ठीक हो, इस हेतु खान-पान की शुद्धि पर ध्यान दिया जाना अति आवश्यक है ।

२. रहन-सहन व चलन—हमारा जीवन अहिसक हो इस हेतु आचार-शुद्धि का दूसरा प्रमुख उपाय व साधन हमारा रहन-सहन व चलन, सही और अहिसक वृत्ति का होना आवश्यक है । "सादा जीवन उच्च विचार" के अनुसार हमारा रहन-सहन व उसके साधन—पोशाक, जूते, श्रृगार एव विभूषा के साधन सभी सादे और बिना हिसा के निर्मित किए हुए हो, उन्हे ही अपनाया जावे । जो वस्त्र हिसा से निर्मित हों जैसे रेशम आदि या जिसमे चर्बी का पुट दिया जाता हो—उन्हे त्यागना आदि । इसी प्रकार कुर्म के जूतो का उपयोग न किया जावे । सम्भव हो तो जूते चमडे के न पहिन कर कपडे के या प्लास्टिक (रबर) के उपयोग मे लिए जावे । इसी प्रकार चर्बी वाले साबुन या क्रीम पाउडर व प्रासाधन-सामग्री जो हिसा से निर्मित होते है, उनका उपयोग न किया जावे । हमारे रहने का आवास भी ऐसा हो जो हिसा के साधनो से रहित हो । जैसे आवास मे हिसक पशु कुत्ते बिल्ली आदि का पालन न किया जावे । उसमें बन्दूक, तलवार, पशु पक्षियो के ककाल या चर्म व अन्य हिंसक उपकरण भी न रखे जावें जिसमे हिसक भावनाओ को प्रोत्साहन मिले अनावश्यक पार्क लान, आदि जिनमे पानी वनस्पति आदि की भरपूर हिसा होती है का सधारण न किया जावे । रहन-सहन के साथ मे हमारा चलन भी अहिसा सम्मत हो । मन, वचन व काया तीनों का चयन भी जहा तक सभव हो हिसक प्रवृत्तियो मे न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए । मन बड़ा चचल और सदा गतिशील है इस पर सम्यग् नियंत्रण रहे, इस हेतु उसे अशुभ से हटाकर शुभ मे लगाए रखा जावे । क्रोध, मान, माया व लोभ ये चार कषाय तथा अज्ञान हिसा के मूल जन्म दाता है । 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' मे कहा गया है—"क्रुद्धा हलति, लुद्धा हलति, मुद्धा हलति ।" अर्थात् "कुछ व्यक्ति क्रोध से हिसा करते है, कुछ व्यक्ति लोभ से हिसा करते है तो कुछ अज्ञान से हिसा करते है ।"

मन से अशुभ विचारो की हिंसा कभी बडी भयकर और दुर्गति का कारण हो जाती है । इसे समझने हेतु जैनागमो मे तन्दुल मत्स्य का उदाहरण आता है जो बड़ा मननीय है । तन्दुल मत्स्य चावल से भी छोटा पचेन्द्रिय सज्ञी प्राणी होता है । यह समुद्र मे रहने वाले विशालकाय मगर मच्छो के भौहो पर या कान पर बैठा रहता है । जब विशालकाय मगर मच्छ श्वास लेता व छोडता है तो उस के मुंह से हजारो मछलियाँ आकर बाहर निकल जाती है । यह देख वह तन्दुल मत्स्य विचारता है, कि यह मगर जितना वड़ा है, उतना ही वडा मूर्ख है । इतनी ढेर सारी मछलियाँ मुह मे आने पर भी उन्हे खाता नही है । यदि मेरा शरीर इतना विशाल होता तो मै एक को भी बिना खाए नही छोड़ता । ऐसे अशुभ व क्रूर परिणामो के सकल्प-विकल्पो से वह, सातवी

नरक में जाने जैसी, मानसिक हिंसा कर तदनुसार बन्ध कर लेता है। इस प्रकार मानसिक हिंसा को असाधारण मानकर मन को कषाय व अज्ञान से हटा शुभ प्रवृत्तियों में लगाने का निरन्तर अभ्यास करना श्रेयस्कर है। शुभ प्रवृत्तियां—दान, शील, तप और शुभ भावना—जैसे सभी सुखी हों, सभी का कल्याण हो, कोई दुखी न रहे इत्यादि सद् विचारों में मन को लगाने से न केवल मानसिक हिंसा रुकती है वरन् विशेष पुण्य का भी सहज अर्जन हो जाता है। और शुभ भावना के माध्यम से शुद्ध भावना की प्राप्ति हो, तो वह मौत का कारण होने से कर्म निर्जरा भी करती है।

मन के पश्चात् वचन की प्रवृत्ति पर ध्यान दिया जाना आवश्यक है। वचन में बड़ी शक्ति होती है। रसना (जिह्वा) मात्र तीन इंच की होते हुए भी वह छः फुट के मनुष्य को मारने व जिलाने की शक्ति रखती है। वह बाग मे आग और आग मे बाग लगा सकती है। हजारों लाखो प्राणियों का संहार करा सकती है तो उनकी रक्षा भी कर सकती है। महाभारत जैसे महायुद्ध का कारण एक वचन ही तो था। वाणी का उपयोग बिना विवेक और सयम के करने मे बहुधा व्यक्ति व्यर्थ मे ही महा हिंसा के भागोदार बन महा कर्म बन्ध कर लेते है। अतः आचार मे अहिंसा की तरह वाणी मे अनेकान्त और विवेक की आवश्यकता है। जब बोलें हित मित एवं दोष रहित बोलें। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्" के उत्तम भावों से वाणी संयुक्त हो। इस प्रयोग में जो वाणी हिंसा का कारण होती है, वही पुण्य एव निर्जरा का कारण हो जाती है। मन, वचन के पश्चात् काया का प्रयोग अनावश्यक रूप से हिंसा में नही हो, इस पर भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। अनर्थदण्ड की हिंसा प्रायः काया की विना प्रयोजन हिंसक कार्यों में प्रवृत्ति कराने से होती है। जैसे बैठे-बैठे हरी घास तोडना, ताली बजाना, स्नान मे अमर्यादित पानी ढोलना इत्यादि। इस प्रकार काया की प्रवृत्तियो मे समुचित विवेक से काम लेकर व्यर्थ मे होने वाली कायिक हिंसा से भी सहज में बचा जा सकता है। जो रीति रिवाज हिंसक हो, उन्हे भी रोकने या बदलने की आवश्यकता है। जैसे विवाह में मडप केले या हरी वनस्पतियो का बनवाना, सामूहिक भोज रात्रि में आयोजित करना व उसमे जमीकंद (जिससे अनत जीव होते है) का उपयोग करना, दीपमालिका पर आतिश एव पटाखों का प्रयोग करना, होली पर रग पानी का अत्याधिक प्रयोग करना आदि। ऐसी सभी प्रवृत्तियां जो हिंसा को बढावा देने वाली है, को रोका जाना चाहिए।

३. व्यापार-धन्धा—धन्धे दो प्रकार के होते है—(१) आर्य और (२) अनार्य। अहिंसक को आर्य धन्धा ही करना योग्य है। आर्य धन्धे भी दो प्रकार के होते है—(१) विशेष आरम्भी और (२) अल्पारम्भी। अहिंसा की पालना [illegible] अल्पारम्भी धन्धे ही जीविका हेतु करना चाहिए। अल्पारंभी आर्य धन्धों में

मुख्य रूप से-सोने चाँदी, जवाहरात और कपड़े के धन्धे आते है। प्राचीन काल में जैनी प्राय: इन तीन धन्धो के अलावा अन्य धन्धे नही करते थे चाहे आजीविका सम्बन्धी कितनी ही परेशानी क्यों न आवे। किन्तु आज तो महा आरभी और अनार्य धन्धों को भी जैनी नि संकोच अपना रहे है। जिन कार्यो को पन्द्रह कर्मादान में बताकर निषेध किया गया है, आज वे सब अपनाए जा रहे है। हमारा जीवन अहिसा मय हो इस हेतु यह परम आवश्यक है कि हमारा व्यापार धन्धा भी अल्प आरभ और अल्प हिसा बाला हो।

महा पुरुषों के जीवन एवं उपदेशों से अहिंसा की प्रेरणा लेवे :

संसार में जितने भी महापुरुष हुए है वे सभी अहिसा मे विश्वास रखते थे तथा वे सभी अहिंसा के पक्षधर थे। म० महावीर ही नही, श्री राम, कृष्ण म० ईसा मसीह, म० गौतम बुद्ध, जरस्थु, हजरत मौहम्मद साहब, म० गाँधी आदि सभी धर्मो के महापुरुषों का जीवन अहिसा से ओतप्रोत रहा है। अहिसा को जीवन में विकसित करने हेतु, इन महापुरुषों के जीवन चरित्र बहुत उपयोगी है। जो अहिंसा को जीवन मे अव्यवहार्य मानते है उनकी भ्रान्ति अहिसा का जीवन्त स्वरूप चरित्र पढकर दूर हो जाती है। उदाहरण के लिए म० गाधी का जीवन अवलोकन करे। केवल लगोट व एक चद्दर एव अर्धनग्न रहने वाले इस महापुरुष ने बिना हिसा का सहारा लिए उस ब्रिटिश सरकार को, जिसके विशाल राज्य में कभी सूर्य अस्त नही होता था, पराजित कर भारत को स्वतत्र करने हेतु, विवश कर दिया। कितनी अजब-गजब की शक्ति है अहिसा मे। जो कार्य खूनी क्रान्ति से भी दुष्कर था, उसे अहिसा के बल से सहज कर दिखाया गया। अहिंसा के सिद्धान्त जीवन में सहज रूप से उतरे, इस हेतु यह भी आवश्यक है कि महापुरुषो के जीवन चारित्र के साथ २ उनके अहिंसा से संबधित उपदेशों का भी ध्यान पूर्वक पठन करे। अहिंसा पालन के अनेक सुगम किन्तु स्वर्ण सूत्र महापुरुषों के उपदेशो मे पढने को मिलते है जिन्हे अपनाकर सहज ही अपने जीवन को अहिंसामय बना सकते हैं। उदाहरणार्थ भ० महावीर द्वारा अहिंसा के संबंध मे प्ररूपित अनेक सूत्रो मे से एक सूत्र जो 'बृहतकल्प भाष्य' में उल्लेखित है, यहाँ प्रस्तुत है—

"ज इच्छसि अप्पणत्तो, जं च ण इच्छसि अप्पणत्तो।
तं इच्छ परस्स वि एत्तियग जिण सासणय।।"

अर्थात् जो अपने लिए चाहते हो, वह दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए। जो अपने लिए नही चाहते हो, वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए। बस इतना मात्र जिन शासन है—तीर्थंकरो का उपदेश है।

उपर्युक्त सूत्र गागर मे सागर रूप है। इस सूत्र मे केवल जैन धर्म का ही नही ससार के समस्त धर्मो का सारगर्भित रूप आ जाता है, ऐसा भी कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी। 'अहिसा पालन का उल्लेख न करके भी इस सूत्र में

अहिंसा पालन क्यों, कैसे व अहिंसा किसे कहते हैं आदि सब कुछ संकेत मे व्यक्त कर दिया है। सूत्र मे सारांश मे यह भाव स्पष्ट है कि जैसे सुख-दुःख, भूख-प्यास, मान-अपमान, मरण आदि की अनुभूति हमे होती है वैसी ही दूसरे प्राणियो को भी होती है। अतः हम किसी से भी ऐसा व्यवहार न करे जो हम अपने साथ नही चाहते अर्थात् किसी भी प्राणी के प्राणो का हनन न करे। इस सूत्र पर गंभीरता से पुन. २ चिंतन मनन किया जाय तो मात्र हम एक सूत्र से जीवन मे बड़ा परिवर्तन आ सकता है तथा सारा जीवन अहिंसामय बन सकता है। इसी प्रकार महापुरुषों ने सुदीर्घ साधना एव विशिष्ट ज्ञान बल से आत्मार्थियो के लिए अपने उपदेशो मे अनेक स्वर्ण-सूत्र ऐसे प्ररूपित किए है कि जिनके स्वाध्याय मात्र से न केवल हिंसक वरन् चोर, डाकू, व्यभिचारी, व्यसनी, महापापी और अधर्मियो का जीवन भी सुधर जाता है। ऐसे स्वर्ण सूत्र रूपी मोतियो को प्राप्त करने हेतु महापुरुषो के उपदेश जो सूत्रो मे अंकित है, का अवलोकन आवश्यक है। कहा है—

"है सूत्र सागर में अनेकों, ज्ञान मोती है पडे।
पाओ लगा गोता उसी मे, ना रहो यो ही खड़े ॥"

व्यावहारिक जीवन में अहिंसक प्रवृत्तियों को महत्त्व देवें :

हमारा जीवन अहिंसामय हो, इस हेतु एक महत्त्वपूर्ण और कारगर साधन है— व्यवहार मे उन प्रवृत्तियो को बढावा देवे जो अहिंसा से जुड़ी हो। 'जैसे जीव दया मण्डल' 'विकलांग सहायता समिति,' 'पशु पक्षी क्रूरता निवारण समिति', 'गोशाला', 'पशु बलि निषेध कार्य कारिणी,' 'महावीर इन्टर नेशनल समिति', 'पशु-पक्षी कल्याण कोष,' इत्यादि परमार्थिक संस्थाएँ। जिसे जिन परमार्थिक कार्यो मे रुचि हो, उधर तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग देवे। परमार्थिक कार्य अनेक प्रकार के हो सकते है जैसे अनाथ, अपंग, दीन-दुःखी, रुग्ण, असहाय, विधवा, निर्धन छात्र व ऐसे ही अन्य सहायता-योग्य प्राणियो को आवश्यक सहायता अन्न, वस्त्र, दवा, आर्थिक सहायता आदि करना। निरीह पशु-पक्षियो के लिए चारा, पानी, दवा आदि की व्यवस्था करना। रुग्ण, बीमार व्यक्तियो की यथा संभव सेवा सुश्रूषा व सहायता करना इत्यादि। वैसे ये सभी कार्य जीव दया के होने से अहिंसा से सम्बन्धित है। जो भी इन कार्यों को अपनाता है वह महान् पुण्य का भागीदार होता है। अहिंसा उसके जीवन का उत्थान कर उसे सद्पुरुष से महापुरुष बना देती है। अतः जीवन मे अहिंसा धर्म को उतारने का यह एक व्यावहारिक, सुगम और ठोस उपाय है।

अहिंसक साहित्य का प्रचार एवं स्वाध्याय :

देश और समाज को बदलने मे तीन निमित्त मुख्य होते है—(१) संगति (२) साहित्य एव (३) खान पान व वेष-भूषा। अंग्रेजो ने इन्ही तीन [illegible] [illegible] कर भारत वासियो को पाश्चात्यानुवर्ती बना पराधीन बनाया था। [illegible] [illegible] मे भी साहित्य का बड़ा प्रभाव पड़ता है। कहा गया है—

"होगा वहाँ अंधेरा, जहां आदित्य नही है।
कैसे करे सुधार, जहाँ साहित्य नही है।।"

सभी का जीवन अहिंसक हो, इस हेतु उत्तम कोटि के अहिंसक साहित्य का प्रकाशन अधिकाधिक करके उसे अमूल्य या अल्पमूल्य में वितरित किया जावे। विद्यालयों, महाविद्यालयो मे भी पाठ्यक्रम में अहिंसा से संबंधित साहित्य को सरकार से अनुमोदित करा रखवाया जावे। पुस्तकालयों मे भी ऐसे साहित्य को अधिकाधिक उपलब्ध कराया जावे। प्रबुद्ध वर्ग को स्वाध्याय के लिए ऐसा उत्तम साहित्य सर्वत्र उपलब्ध कराया जावे। जो कार्य हजारों उपदेशक नहीं कर सकते, वह काम साहित्य के प्रचार-प्रसार से सभव है। जीवन मे हिंसा बढने का एक कारण यह भी रहा है कि आज अहिंसक साहित्य का अभाव और हिंसक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने वाले साहित्य का प्रचुर मात्रा मे सर्वत्र प्रचार-प्रसार हो रहा है। इसी तरह रेडियो, टी वी. सिनेमा आदि में भी मांसाहार, अण्डे सेवन, आदि हिंसक प्रवृत्तियों के बड़े स्तर पर विज्ञापन आदि दिए जा रहे है। इन्हे रोक कर अहिंसा का प्रचार हो ऐसे विज्ञापनो को वढावा दिया जावे, ऐसे सद्प्रयास होना आवश्यक है।

उपसंहार—ससार के समस्त धर्मो का सारभूत और प्राणी मात्र का कल्याणक तत्त्व अहिंसा है। यह सर्वोत्तम और सर्वोत्कृष्ट है। प्रभु ने भी फरमाया है - 'धम्मो मंगल मुक्कीट्ठं अहिंसा संजमो तवो।'[1] अर्थात् अहिंसा, सजम व तप रूप धर्म उत्कृष्ट मगल है। इन तीनो मे भी प्रमुख अहिंसा है। कारण अहिंसा में सयम, तप ही नही वरन सत्य अचौर्य, ब्रह्म, अपरिग्रह आदि सभी धर्म समाहित हो जाते है। सभी सदगुणो का आधार अहिंसा है। अहिंसा सभी प्राणियो के लिए सभी परिस्थितियो मे हितकारी और कल्याणकारी है। इसीलिए कहा गया है—'मातैव सर्वभूतानाम् अहिंसा हितकारिणी।' अर्थात् अहिंसा माता की तरह समस्त प्राणियो के लिए हितकारी है। यह सभी जीवो के लिए सजीवनी बूटी है और परमामृत है। जहा अहिंसा का साम्राज्य है वहा पर सभी मनुष्य, पशु, पक्षी इसी भूतल पर स्वर्ग सुख और आनंद की अनुभूति करते है। अत. जो भी भाई-बहिन इसी जीवन मे स्वर्गीय जीवन का आनन्द और सच्चे सुख-शान्ति की प्राप्ति चाहते है, वे अपने जीवन को अहिंसामय बनाएँ और जैसा बताया गया है, आहार-विहार, खान-पान, रीति-नीति, चाल-चलन, रहन-सहन, आचार-विचार, काम-धधा आदि जीवन की सभी प्रवृत्तियो को अहिंसा से जोडे फिर देखे कि स्वर्ग सुख तो क्या मोक्ष के सच्चे सुख की उपलब्धि भी इसी जीवन मे निश्चित रूप से हो सकेगी। वास्तव मे वही धर्म उत्तम और सच्चा है जिसके पालन से इसी जीवन मे मुक्ति मिल सके।

—डागा सदन, संघपुरा, टोंक (राज०)

१. दशवैकालिक अ १ मू. १

आधुनिक हिन्दी साहित्य में अहिंसा : एक अनुशीलन

□ डॉ. विश्वासराव पाटील

अहिसा एक सकारात्मक मूल्य है। अहिसा सत्य के समतुल्य है। सत्य और ईश्वर पर्यायवाची है। महात्मा गांधी ने अपने पत्र मे लिखा था, सपूर्ण अहिसा की साधना से शुद्ध हुए निर्मल अंत.करण में जिस समय जो प्रतीति हो, वही सत्य है। उस पर दृढ रहने से सत्य की प्राप्ति हो जाती है।[1] अहिसा का मार्ग सत्य के साथ जोडते हुए बापू ने कभी कहा था कि अहिसा मेरा ईश्वर है और सत्य मेरा ईश्वर है। जब मै अहिसा को ढूँढ़ता हूँ तो सत्य कहता है—मेरे द्वारा उसे खोजो। जब मे सत्य की तलाश करता हूँ तो अहिसा कहती है—मेरे जरिए उसे खोजो।[2]

अहिसा अत्यंत पुरातन धर्म सिद्धान्त है। भगवान महावीर ने अहिसा के रूप को जीवन साधना माना। आज भी अहिसात्मक प्रयत्नो से तमाम व्यक्तिगत तथा सामुदायिक समस्याओ को सुलझाया जा सकता है। आज अगर विश्व की महाशक्तियाँ हिसा की राह छोड़कर सच्चे हृदय से अहिसात्मक आदर्श को अपना ले तो विश्वशांति की स्थापना मे नया चरण उठ सकता है। ऐसी शान्ति युद्धजन्य शान्ति की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी, प्रभावी, सतोपदायक तथा सुखद होगी।

आधुनिक हिन्दी कविता में अहिंसा :

आधुनिक काव्य मे मुख्यत गांधीवादी विचार दर्शन के कारण अहिसा की छाप दिखाई देती है। उसके मूल मे वैदिक चिन्तन से लेकर आज तक की गरिमामयी ज्ञान-साधना का सुफल सचित है। हिन्दी साहित्य मे अहिसा का जो भी रूप मिलता है, उसके बहुआयामी दृष्टिकोण को देखना भगवान महावीर के अहिसा विचार की प्रासगिकता को रेखाकित करना है। सुमित्रा-नन्दन पत ने अहिसा को शुभ मानते हुए कहा है—

"सक्रिय मुखर अहिसा हो अब, सत्याग्रह का कर आवाहन।
मूक अहिसा का युग बीता, वह थी जनशिक्षा की साधन।"[3]

अहिसा प्रेम की पराकाष्ठा है, हिसा का उत्तर है और शूरवीर का [illegible] है। अहिसा का पुजारी लाचारी और कायरता शून्य अदम्य साहसी [illegible] हो सकता है। अहिसा में जो शक्ति है वह शस्त्रो की हूँकार मे कहाँ? [illegible] प्रचड शस्त्र है। उसमे परम पुरुषार्थ की चिनगारियाँ है। श्री [illegible] शर्मा 'नवीन' लिखते है—

"मेरे सत्य अहिंसा में है, गति उद्यम बल ओज निराला।
मै हूँ महाक्रांतिदर्शी नर, मेरी क्रान्ति निपट विकराल ।।"[४]

अहिंसा प्रतिक्रियात्मक शस्त्र नही है। सियाराम शरण गुप्त ने कहा है कि हिंसा से हिंसा शांत नही होती। हिंसा का एकमात्र उत्तर अहिंसा है।

आज का मनुष्य जगल की सभ्यता को प्रमाण मानकर अंतर्राष्ट्रीय सभ्यता में प्रवेश कर रहा है। फिर भी मारकाट, खूनखराबा जारी ही है। अहिंसा मनुष्य को अविवेकी जगलीपन से निकालकर विवेक सम्पन्न मानवतावादी सभ्यता की दिशा में ले जाने को अग्रसर है। मैथिलीशरण गुप्त द्वारा इस सन्दर्भ में पूछा हुआ प्रश्न और उसका समाधान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। वे लिखते है—

"तुम निर्माण नहीं कर सकते, फिर क्यों नाश करोगे ?
जीने देकर जियो, मार कर क्या तुम नहीं मरोगे ?"[५]

'जिओ और जीने दो' इस भाव को प्रसाद ने 'कामायनी' में श्रद्धा के माध्यम से अभिव्यक्त किया है—

हिंसक से रक्षा करे शस्त्र,
पर जो निरीह हैं,—जी कर भी कुछ,
उपकारी होने में समर्थ।
वे क्यों न जियें उपयोगी बन,
इसका मैं समझ न सकी अर्थ।[६]

अहिंसा महावीर का धर्म है। अहिंसक निडर होता है, वह मौत से नहीं डरता, न वह किसी का शत्रु होता न कोई उसका शत्रु होता है। अहिंसा का यह विचार निरन्तर हिन्दी कविता के सामर्थ्य को बढ़ाता रहा। अहिंसा को जीवन का मर्म मानकर विश्व मंगल की साधना में आधुनिक हिन्दी कवि जुडा रहा। उसने अहिंसा को अतर्राष्ट्रीय जागरण का प्रतीक माना। मनुष्य की अमूल्य सम्पत्ति के रूप में उसे देखा-परखा।

कथा साहित्य में अहिंसा—

हिन्दी के कथा क्षेत्र मे अहिंसा का विचार अत्यंत मनोरम शैली में देखा जा सकता है। प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' का सूरदास अहिंसा का अनन्य उपासक है। उसके जमीन के प्रश्न को लेकर जब एक विशाल आन्दोलन उठ खडा होता है तब वह अहिंसा का विचार ही तो समझाता है और लोगो के न समझने पर आत्महनन के लिए तैयार हो जाता है। उसकी अहिंसा की उपलब्धि इतनी महान है कि वह शत्रु के व्यवहार को भी मैत्री मे परिणत कर देता है। भैरोजान सेवक और बजरंगी अपने अपराध स्वीकार कर लेते है। सूरदास एक ऐसा अहिंसक वीर है जिसके कारण हृदय-परिवर्तन की स्थितियाँ जागती है।

प्रेमचन्द के उपन्यास 'कायाकल्प' में चक्रधर मजदूरों और चमारों के हिंसापूर्ण कृत्य का विरोध करता है।[७] प्रेमचन्द के उपन्यास 'कर्मभूमि' का अमर नामक नायक पग-पग पर अहिंसा के मूल्य को अभिव्यक्ति करता हुआ दिखाई देता है। वह कहता है, "कोई जाति अथवा राष्ट्र हिंसा के द्वारा [illegible] वास्तविक मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता।" तलवारों की झनझनाहट और तोपों की गड़गड़ाहट में भी न्याय की आवाज स्पष्टतः सुनाई देगी। जब तक हम आपस के भेदभाव को भुलाकर सबसे प्रेम करना और सेवा में ईश्वर का रूप देखना नहीं सीखेंगे तब तक हमें स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती।[८]

प्रेमचन्द के प्रसिद्ध उपन्यास 'गोदान' में अहिंसक क्रांति की [illegible] की गूंज सुनाई देती है जब शंकर मिल में आग का प्रसंग आता है। उनके ही उपन्यास 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर किसानों के प्रति होने वाले अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि का अहिंसात्मक मार्ग से प्रतिकार करते हैं। कादिर मियाँ भी [illegible] और अहिंसा के पुजारी हैं।[९]

प्रेमचंद की कहानियों में 'क्षमा' कहानी का शेख हम्मन अहिंसा-[illegible] को ही व्यक्त करता है।[१०] प्रेमचंद की 'दिल की रानी', 'मैकू', 'विश्वास' आदि कहानियों में भी अहिंसा मार्ग की प्रशस्तता का मनोरम चित्रण देखा जा सकता है।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव की 'विसर्जन' कहानी में तथा 'बयालीस' उपन्यास में हिंसा के विरुद्ध अहिंसा की विजय-यात्रा का प्रतिपादन है।

'बयालीस' का नायक नरेन्द्र कहता है, "हम अहिंसक सेना के सिपाही हैं। सत्य हमारी ढाल है, अहिंसा हमारा अस्त्र है..........।"[११]

इसी संदर्भ में भगवती प्रसाद वाजपेयी के उपन्यास 'राजपथ' एवं 'तूफान' का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।[१२] श्री सियाराम शरण की 'गोद' नामक औपन्यासिक कृति में सामाजिक अत्याचार का अहिंसात्मक ढंग से निराकरण करने की पद्धति को निरूपित किया गया है। राधिकारमणप्रसाद सिंह ने अपनी '[illegible] और नारी' कृति मे अहिसा के महत्व को रेखांकित करते हुए कहा है "हिंसा की तह मे तुम्हारा भय है, अहिसा की तह मे आत्मसंयम।"[१३]

जैनेन्द्र के 'सुखदा' और 'विवर्त' में क्रांतिकारी पात्रों की [illegible] [illegible] में अहिंसा के प्रतिष्ठान का प्रयत्न किया गया है। [illegible] [illegible] का सुखदा के निमित्त विवेचन करते हुए अहिंसा के [illegible] [illegible] होते दिखाया है।[१४] 'विवर्त' मे हिंसा-वृत्ति [illegible] [illegible] जितेन के अपराधी व्यक्तित्व का, [illegible] [illegible] अहिंसात्मक तरीके से किया गया है।

[illegible] पाण्डेय ने 'असहयोग की [illegible]' [illegible] [illegible] समर्थन किया है। गुरुदत्त ने [illegible]

अहिसा मार्ग' शीर्षक आठवाँ भाग है जिसमें अहिसा नीति का विवेचन आया है। सिद्धविनायक द्विवेदी के 'मुक्तिदान' मे त्याग और अहिसा की महिमा प्रतिष्ठित करते हुए आत्मसमर्पण मे अहिसा की विजय निरूपित की गयी है। शिवरानी देवी की कहानी 'नारी का हृदय' मे अहिसा की प्रतिष्ठा है। अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' भाग दो मे जेल मे शेखर, विद्याभूषण, मदनसिह हिसा-अहिसा पर विचार-विमर्श करते हुए दिखाई देते है।

नाट्य साहित्य में अहिंसा :

हिदी के नाट्य साहित्य मे अहिसा के महत्त्व का प्रतिपादन विविध दृष्टि-विन्दुओ के आधार पर देखना-परखना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जयशकर प्रसाद प्रतिहिंसा की भावना को करुणा तथा प्रेम से शांत करने पर वल देते है। 'विशाख' तथा 'जनमेजय का नागयज्ञ' द्वारा इसी सदर्भ को साहित्यिक परिवेश दिया गया है। 'अजातशत्रु' नाटक की मलिका अहिसा की प्रचारक है। पद्मा-वती अपने बंधु को अहिसा की ओर प्रेरित करती हुई कहती है—"मानवी सृष्टि करुणा के लिए है, यो तो क्रूरता के निदर्शन हिसा पशु जगत मे क्या कम है?"[१५]

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'अशोक' मे ऐतिहासिक परिवेश के अंतर्गत अहिसा की महिमा गाई गई है। इद्रवेदालकार के 'स्वर्ण देश का उद्धार नामक नाटक में एक ब्रह्मचारी कहता है—"मै हिसा को हर दिशा मे पाप समझता हूँ।"[१६] श्री उदयशकर भट्ट का नाटक 'दाहर' विश्वमैत्री और अहिसा प्रीति का पैगाम लिए चलता है। इन्ही के 'मुक्तिदूत' मे अहिसक भावो की प्रतिष्ठा हुई है। 'जीवन' नाटक का विवेक अहिसा का उपासक है। सेठ गोविददास के 'सिद्धात-स्वतंत्र्य' नामक नाटक मे अहिसा अर्थात् प्रेम की शक्ति को श्रेष्ठ तथा शारीरिक शक्ति को त्याज्य माना है। 'विकास' नाटक मे तो अहिसा का ही प्रसार-प्रचार आया है। हरिकृष्ण प्रेमी के नाटक 'स्वप्न भग' का शाहजहाँ अहिसा की शक्ति को रेखांकित करते हुए अपने सेनापति खलीलउल्ला खान से कहता है, "प्रेम से मनुष्य को जीत लेना क्या पराधीनता है? तलवार से साम्राज्य जीते जाते है लेकिन प्रेम से स्थिर रखे जाते है।"[१७] अपने 'स्वर्ण-विहान' नामक गीतिनाट्य मे अहिसा की श्रेष्ठता प्रेमीजी ने प्रतिपादित की है। अपने 'शक्तिसाधना' नामक नाटक मे अहिसा को परिभाषित करते हुए प्रेमीजी ने लिखा है— "अहिसा का अर्थ साहसहीनता और कायरता नही है।"[१८]

पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र' ने 'महात्मा ईसा' नाटक मे अहिसा के सिद्धांतो की व्याख्या की है। अहिसा को विजय का पुण्यमय उद्घोप चन्द्रगुप्त विद्या-लकार के 'रेवा' नामक नाटक मे हुआ है। इसके एक पात्र आचार्य पुंडरीक द्वारा शस्त्रविजय पर हृदयविजय की गाथा अकित की गई है। उदयशकर भट्ट के 'सागर विजय' का दुर्दम नामक पात्र भी शस्त्रविजय को नकारकर हृदय की विजय को श्रेष्ठ और महिमावान मानता है।

कुमार हृदय का नाटक 'नक्शे का रंग' भारतीय आध्यात्मिक सहिष्णुता के अभिनव प्रयोग के रंग को प्रस्तुति देनेवाला सफल नाटक है। श्री मुकुल के 'अपना गाँव' तथा 'जमीन' नाटकों मे अहिंसा की सिद्धि की कहानी आई है।

भगवतीचरण वर्मा के एकाकी 'बुझता दीपक' में अहिंसा का चित्रण आया है। श्री प्रेमराज शर्मा, श्री रमण, सियारामशरण आदि के एकाकी नाटक सफल है। मैथिलीशरण के 'कर्बला' नाटक के ध्रुवदत्त का यह कथन द्रष्टव्य है— "जीव हिंसा महापाप है। धर्मात्मा पुरुष कितने ही संकट में पड़े, किंतु अहिंसा-व्रत को त्याग नही सकते।"[१९]

अन्य विधाओं में अहिंसा :

हिंदी के निबंधकारो मे सर्वश्री यशपाल जैन, सपूर्णानंद, काका कालेलकर सब्बरवाल, कमलापति त्रिपाठी, हरिभाऊ उपाध्याय, सियारामशरण, माखन लाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, जैनेंद्र, शांतिप्रिय द्विवेदी, प्रभाकर माचवे, कन्हैया-लाल मिश्र 'प्रभाकर', भागीरथ मिश्र आदि नाम महत्वपूर्ण है। जैन जैनेतर आचार्यो एवं सन्तों के प्रवचन अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को प्रस्तुत करने में वडे प्रभावी एवं प्रेरणादायी हैं। समीक्षा तथा पत्रकारिता मे भी अहिंसा-विचार के प्रगतिशील कदम वढे है।

वैश्विक संदर्भ में विचार करने पर आर्थर मिलर के All my Sons जैसे नाटक का विचार भी मनः पटलपर तिरने लगता है। सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश के संदर्भ मे साहित्य का सृजन निरन्तर प्रवहमान रहता है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे अहिंसा व्रत की विचार-यात्रा बहुआयामी और मनोरम है। आने वाले युग के लिए अहिंसा का प्रदीप संजोये रखना युग की माग है ताकि आने वाली पीढ़ियाँ इसके प्रकाश में चल सके।

संदर्भ-संकेत :

(१) स्वर्गीय जमनालाल बजाज को बापू द्वारा दिनांक १७ मार्च, १९२३ को साबरमती जेल से लिखे पत्र से उद्धृत। (२) 'यंग इंडिया' ४ जून, १९२५ तथा 'हरिजन सेवक' २९ फरवरी, १९३६। (३) मुक्तियज्ञ—पृष्ठ : ३६, (४) हम विषपायी जनम के, पृष्ठ-६६, (५) द्वापर, पृष्ठ १२७, (६) '[illegible]' सर्ग, (७) कायाकल्प—पृष्ठ. ११६, (८) कर्मभूमि, पृष्ठ ३७७ से ३७८, (९) प्रेमाश्रम, पृष्ठ १५२, (१०) मानसरोवर भाग-२, पृष्ठ २०३, (११) [illegible] पृष्ठ ३०५, (१२) राजपथ, पृष्ठ २३४ तथा २८९, (१३) पुण्य और नारी पृष्ठ २०, (१४) सुनन्दा, पृष्ठ ३, (१५) [illegible], पृष्ठ २४, (१६) [illegible] पृष्ठ ४९, (१७) [illegible] रंग, पृष्ठ ८५, (१८) [illegible] (१९) [illegible], पृष्ठ ३८

लोकगीतों में अहिंसा के स्वर

☐ डॉ. विद्याबिन्दु सिंह

हिसा की प्रवृत्ति मनुष्य की स्वाभाविक नही है, क्योंकि मनुष्य जन्म से ही जिस प्रकार का स्नेह पाता है और जिस प्रकार की सुरक्षा पाता है उसमे सहज रूप से दूसरे के लिए स्नेह और प्यार करना ही स्वाभाविक है। हिंसा की प्रवृत्ति असुरक्षा और अस्वीकृति से आती है। भारतीय मन में दूसरे का स्वीकार और अपने परिवेश मे सुरक्षित होने का अनुभव सस्कार के रूप मे प्रदत्त है। इसका कारण है व्यापक विश्व दृष्टि और व्यापक लोक दृष्टि। विश्वदृष्टि से विरोध का महत्त्व नही है, एक दूसरे की कमी पूरी करने का महत्त्व है, एक दूसरे से सीखने का महत्त्व है, एक दूसरे के स्नेह से भीगने का महत्त्व है। इसलिए लड-भिड़ कर भी एक दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होने की बात गाँव के समाज मे चली आ रही है, भले ही आज कम हो रही हो। यहां हार मानने मे ही जीत है।

भारतीय लोकदृष्टि मे जो कुछ आँखों से दिखता है, कानो से सुनाई पडता है, जो कुछ छूता है, जो कुछ रस देता है, जो कुछ श्वासों मे भरता है, वह सब भीतर समा जाता है, कोई भी वस्तु हेय या तिरस्कार्य नही होती। इस लोकदृष्टि का प्रतिविम्बन लोकगीतो मे इस रूप मे मिलता है कि शुभ कार्य मे सबको निमंत्रण दिया जाता है। बिच्छू, सांप, बाघ, सबके आगे हाथ पसारते है, तुम आओ, यह शुभ कार्य तुम्हारा ही है। यह लोकदृष्टि हर छोटे बडे प्राणी की एक अपनी विशिष्ट भूमिका होती है, इस पर बल देती है।

इस लिए भारतीय लोकदृष्टि को लक्षित करने वाले लोक साहित्य मे अहिसा का स्वर बहुत सहज रूप मे मुखरित मिलता है। कभी तो इस रूप मे कि पशु-पक्षी हमारे स्वजन है, पेड़-पौधे हमारे नातेदार-रिश्तेदार है, इनको दुःख नही देना है। कभी इस रूप मे कि हम और हमारे परिवेश के प्राणी चेतन या अर्धचेतन एक ही जीवन के अग है। हम एक दूसरे से अभिन्न है। नीम का पेड काटने का अर्थ है नीम के पेड़ की तरह छाया देने वाले वत्सल भाव पर आघात करना। तभो तो गीत कहते है—

> निविया के पेड़ जिनि काटेउ वावा
> निविया चिरैया वसेर।

विटियहि दिजन दुख दीह्या ए बाबा
विटिये चिरैया की नाँय ।

(बाबा नीम का पेड़ मत काटना. नीम पर चिड़ियो का बसेरा है ; बेटियो को दुःख मत देना, बेटियाँ चिड़ियों की तरह हैं. भोली, निरीह)

कभी इस रूप में कि जहाँ कहीं दुःख देने का या सताने का व्यापार घटित होता है, उसकी पीड़ा के साथ सहानुभूति तो व्यक्त हो ही. सताये जाने वाले प्राणी के साथ एकात्मता का अनुभव किया और कराया जाय। ऐसा करते समय सताने वाले के प्रति प्रायः दया का भाव रहता है कि जो सता रहा है. वह दया का पात्र है. उसके खिलाफ कहीं कुछ कहा न जाय, बस जीवन की समष्टि चेतना को दुःख अर्पित कर दिया जाय। जैसे 'चक्की के गीत' में कहा गया है—भइया ! यह दुःख किसी से न कहना। बस, इस दुःख की गठरी को गंगा-जमुना मैया को सौंप देना ।

लोहवा ता जरै बहिनी लोहरा दुकनियां
बहिनी जरैली ससुररियाँ हो राम
सोनवाँ त जरै बहिनी सोनरा दुकनियाँ
बहिनी जरैली ससुररियाँ हो राम ।
ई दुख जिनि कह्या बाबा के अगवाँ
सभवाँ बइठि पछितइ है हो राम ।
ई दुख जिनि कह्या मइया के अगवाँ
छतिया पिटिय मरि जइ है हो राम ।
ई दुख जिनि कह्या बहिनी के अगवाँ
नाहि ऊ बियहवा न करिहै हो राम ।
हमरी ई विपति गठरिया मोरे बिरना
गंगा जमुना बीचे छोर्‌या हो राम ।

(भाई कहता है कि जिस तरह लुहार की दुकान पर लोहा जलता है, सुनार की दुकान पर सोना, उसी प्रकार ससुराल में बहन जलती है। बहन कहती है भइया ! मेरा यह दु.ख बाबा से न कहना, नहीं तो वह सभा में बैठ कर पछतायेंगे। माँ से मत कहना, नहीं तो वह दुःख से छाती कूटकर मर जायेगी। बहन से न कहना, नहीं तो वह ससुराल के कष्टों से भयभीत होकर [illegible] नहीं करेगी। मेरी यह विपत्ति की गठरी गंगा-जमुना की धार बीच [illegible] जिससे कि मेरी व्यथा से कोई दुःख न पाये) ।

यह भाव कितना स्पृहणीय है। शारीरिक हिंसा [illegible] हिंसा न करने के प्रति जो सचेत दृष्टि रही है, [illegible] [illegible] द्वारा नहीं बनाया जा सकता ।

कभी-कभी इस रूप में भी इस भाव को उभारा गया है कि सताने वाले के मन मे पछतावा जग जाय। एक 'श्रम गीत' में बडा भाई अपने छोटे भाई की पत्नी के रूप पर आसक्त होकर छल से छोटे भाई को मार डालता है। छोटे भाई की पत्नी इस छल को समझ कर चतुराई से जेठ से प्रार्थना करती है कि मुझे अपने पति के अंतिम दर्शन करा दो, तुम्हारा ही तो सहारा है। वह उसे लेकर वन में भाई की लाश के पास जाता है। तब वह फिर प्रार्थना करती है कि इनके अंतिम संस्कार के लिए आग ले आइये। आपको छोडकर अब कहीं नहीं जाऊँगी। पर जब वह आग लेने चला जाता है तब ईश्वर से प्रार्थना करती है कि यदि मैं मनसा-वाचा-कर्मणा प्रतिव्रता हूँ तो मेरे आँचल से स्वयं आग धधक उठे। आग धधक उठती है, वह पति के साथ सती हो जाती है। जेठ लौटकर यह दृश्य देखता है तो पश्चाताप के सिवाय उसके पास कुछ नही रह जाता—

जो हम जनत्यों भह्यू ऐसन करबू
काहे के काटित दाहिन बहियाँ हो राम ॥

(भाई की वधू ! यदि मैं जानता कि तुम ऐसा करोगी तो क्यों मैं अपनी दाहिनी बांह काटता, भाई का वध न करता)

एक गीत में बहेलिया के लड़के द्वारा परेशान कोयल का स्वर उभरता है—

"डारी डारी पसिया रे लसिया लगावैं,
पाते पाते कोइलरि लुकायँ
यस उदवसिया रे पसिया बेटउवा
कौने बृन्दहिबन जावें।"

(डाल-डाल पर पासी (बहेलिया) लासा लगा रहा है, कोयल को फँसाने के लिए और कोयल पत्ते-पत्ते में छिप रही है। पासी का बेटा ऐसा उद्वासी (बसेरा उजाड़ने वाला) है कि किस वृन्दावन में जाकर रहूँ)।

यह गीत सुनकर कोयल ही क्यो समस्त पक्षी-जगत की विवशता की ओर करुणा की धार प्रवाहित होने लगती है। कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो इस करूणा से भीगकर पश्चाताप नही करेगा मानव की निर्ममता पर ?

स्पृहणीय भाव इसमें यह भी व्यंजित है कि यह गीत विवाह संस्कार का है और प्रकारातर से यह कन्या का बसेरा उजाड़ कर ले जाने वाले वर की ओर सकेत करता है और वर के मन मे करूणा का संचार करता है।

लोक गाथाओ में प्राय. यह भाव भी मिलता है कि सहिष्णुता का भाव ही अन्त मे जीतता है। एक परदेसी पति लम्बी अवधि के बाद घर लौटता है

तो मां-बहन से पत्नी के बारे मे पूछता है। बहन भाभी की शिकायत करके उसकी अग्नि परीक्षा लेने की सलाह देती है। पति अपनी पत्नी की अग्नि परीक्षा की घोषणा कर देता है—

इतने वर्षो से बाट जोहती पत्नी चुपचाप परीक्षा की तैयारी करने लगती है। नाई से कहती है कि तुम मेरे धर्म के भाई हो, मित्र हो, मेरे पिता व भाई को सदेश पहुँचा दो कि तुम्हारी बेटी की अग्नि परीक्षा है, आये और देखे। बढ़ई, लुहार और तेली से कहती है कि तुम मेरे धर्म के भाई हो, मित्र हो, धर्म की लकडी चीर लाओ, धर्म की कडाही गढ़कर लाओ और धर्म का तेल पेर कर लाओ। भरी सभा के बीच अग्नि परीक्षा देकर वह विजयी होती है। सूरज की सौगन्ध खाती है तो सूर्य छिप जाते है। गंगा की सौगन्ध खाती है तो गगरी का जल सूख जाता है। आग की सौगध लेती है तो खौलता हुआ तेल शीतल हो जाता है। जीती हुई बहन को ले जाने के लिए भाई चन्दन की पालकी सजाता है। और पति पश्चात्ताप के आठ-आठ आंसू रोता है। अपनी मा बहन को कोसता है कि तुमने मेरी गृहस्थी मे आग लगा दी—

मुँहवा अँजोर किहे हँसे बीरन भइया हो राम
मोरी जीतलि बहिनी जइहैं नइहरवां हो राम।
मुँहवा पटुक धरि रोवै परदेसिया हो राम
जीतलि धना सगा छाड़ि जइ है हो राम।

(मुँह उजाले मे करके भाई हँसता है। परीक्षा मे खरी उतरी मेरी बहन मायके जायेगी। मुख पर पट डालकर परदेसी पति रो रहा है, जीत गयी प्रिया मुझे छोड जायेगी।)

कभी-कभी सताने वाले के प्रति शाप का भाव भी व्यक्त होता है। पर यह शाप आक्रोश मे भी इस रूप मे दिया जाता है कि शाप की निष्पत्ति कितनी भी दारुण क्यो न हो पर शुभ के लिए हो। जैसे कौशल्या को एक गीत में हिरनी द्वारा शाप दिया गया है। राम की छठी के लिए वधिकों द्वारा हिरन का वध कर दिये जाने पर हिरनी कौशल्या के पास जाती है और कहती है कि रानी मांस तो पकवाना पर मेरे हिरन की खाल मुझे दे दो। उसे पेड़ पर टांग कर उसी को देखकर अपने मन को ढांढस दूंगी। रानी मना कर देती है — कहती है कि इस खाल से तो मेरे राम के लिए खंजड़ी बनेगी। हिरनी शाप देती है कि रानी जिस तरह आज मै अपने हिरन के वियोग में बिसूर रही हूँ वैसे ही तुम्हे भी बिसूरना पड़ेगा। कुछ क्षेत्रो मे तो गीत मे यह शाप हिरनी द्वारा दिया गया है पर कुछ मे केवल हिरनी का दुःख घनीभूत होकर व्यक्त हुआ है—

जब-जब बाजइ खंजड़िया सबद सुनि अनकइ
हिरनी ठाढ़ी ढकुलिया के तरवा हिरन को बिसूरइ ॥

जब-जब खझड़ी बजती है हिरनी ढाक (पलाश) के पेड तले खडी होकर कान उटेर कर वह स्वर सुनती है और अपने हिरन के लिए बिसूरती है।)

उसका यह दुःख शाप से अधिक मन को स्पर्श करता है और हिंसा भाव के प्रति मन में आक्रोश जगाता है।

माता कौशल्या को हिरनी शाप का भोग भोगना पड़ता है। यह गीत मनुष्य की उस निष्ठुर प्रवृत्ति की ओर तीखा प्रहार करता है जब वह अपने सुख में लीन होकर आसपास के प्राणियो के सुख-दुःख की चिंता नहीं करता। माता कौशल्या तो एक प्रतीक है, मां की ममता की। और उस ममता से यह प्रमाद कभी क्षम्य नही होता। लोक की दृष्टि में माता कौशल्या को शाप के कारण जो दुख होता है वह बड़े जातीय मंगल मे ही परिणत होकर शुभ बन जाता है।

गीतों में माता कौशल्या द्वारा चकवा-चकवी को शाप दिया गया है। क्योंकि उसने अपने सुख में भूलकर दूसरो के दुःख की चिंता नही की। माता कौशल्या के पूछने पर कि वन जाते हुए राम लक्ष्मण सीता को तुमने देखा कि वे किस राह गये ? तो चकवी उत्तर देती है कि मैं तो अपने चकवे के साथ आनंद विहार कर रही थी, मैंने उन्हें नही देखा। माता कौशल्या उसे शाप देती है—

लेहु न चकई तू मोरा सरपवा हो ना
चकई दिन भरि रह्य जधिया जोरि त
रतिया विछोहिल हो राम ।।

(चकई लो मेरा शाप लो, दिन भर तो तुम अपने प्रिय के साथ रहोगी पर रात को विछुड़ जाओगी)।

पर एक अन्य गीत में जब हिंडोला झूलती रुक्मिणी का हार टूट कर यमुना में गिर जाता है और वे चकई से कहती है कि मेरा हार जल मे से चुन लाओ तब वह विछोहिल चकई कह उठती है कि रानी ! तुम्हे अपने हार की पडी है, मेरा चकवा विछुड़ गया है उसे ढूँढ रही हूँ।—

"अगिया लगावो रानी हरवा, वजर परे मोतिया
रानी सँझवे से विछुरा चकउवा हेरत नाही पायों"।)

(रानी ! तुम्हारे हार में आग लगे, मोती पर वज्र पडे। मेरा तो चकवा ही साँझ से विछुड़ गया है, उसे खोज रही हूँ, मिल नही रहा है।)

यह दुःख की तीव्रता और उसका एहसास करुणा की पृष्ठभूमि है। करुणा ही अहिंसा भाव को जन्म देती है। इसीलिए इन नाना रूपो मे जो अहिंसा के स्वर मुखरित होते हैं उनमे सबसे अधिक मुख्य स्वर करुणा है, विश्व-व्यापी करुणा है, जो सभी सीमाओ को तोड़ करके उमडती है। करुणामयी

अहिंसा निषेधात्मक नही होती, वह किसी प्रवृत्ति का दमन नही होती। हम जब अपने मन को समझाने की कोई कोशिश नही करते कि हिंसा बुरी चीज है, हिंसा न करो, तब भीतर की विवशता होती है कि किसी को सताओ मत। वह सताना अपने को ही सताना होगा, कोई भी पराया नही है, कोई भी दुश्मन नही है। इस अहिंसा में कमजोरी का भाव नही रहता, अपने भीतर शक्ति का आभास कहता है कि हम इतने लोगों का दुःख दर्द भर सकते है। इसीलिए लोक गीतो का यह पक्ष जन-जन को द्रवित करता है और द्रवित होने के क्षण मे बहुत कुछ परायापन, बहुत कुछ प्रभुता, बहुत कुछ भोलापन छूट जाता है। जिसने एक बार भी हिरणी का गीत सुना होगा या नीम के पेड काटे जाने पर निपेध लगाने का गीत सुना होगा, उसके मन मे अहिंसा का भाव आये बिना न रहेगा। बिना अहिंसा के उपदेश के ऐसे गीतो के बार-बार सुनने से अहिंसा बहुत भीतर तक उतर जाती है और मन की शक्ति बन जाती है। आवश्यकता है यह सुनिश्चित करने की कि यह स्वर खो न जाये, हमारे जीवन में इसकी स्मृति दुहराई जाती रहे और हमें इस स्वर से भीगने का अवसर मिलता रहे।

—उपनिदेशक, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

गैंहणो है म्हारो से परिवार

म्हारा सुसरोजी गढ रा राजवी,
सासूजी म्हारा रतन भंडार।

म्हारा जेठजी बाजूबन्द बांकड़ा,
जेठाणी बाजूबन्द री लूम।

म्हारो देवर चूडलो दात रो,
देराणी म्हारी चुडले री मजीठ।

म्हारी नणद कसूमल कांचळी,
नणदोई म्हारो गजमोतियां री हार।

म्हारो कंवर घर रो चानणो,
कुळ बहू म्हारे दीवळे री जोत।

म्हारो धीमज हाथ री मूंदड़ो,
जवांई म्हारे चंपे रो फूल।

म्हारो नायब सिर रो सेवरो,
म्हे तो सेजां री सिणगार।

([illegible])
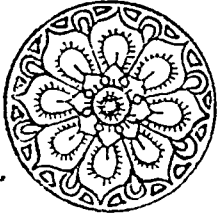
अहिंसा से विश्व-समस्याओं का समाधान

□ श्री शान्तिलाल पोखरना

अहिसा अमोघ शस्त्र है जिसके द्वारा सब समस्याओ पर विजय प्राप्त की जा सकती है । सच्ची विजय भी अहिसा के द्वारा ही होती है, जिसमे किसी प्रकार का मनोमालिन्य नही रहता है । रागद्वेष की समाप्ति ही सच्ची अहिंसा है । इसीलिए जैन दर्शन मे अहिसा की जितनी सूक्ष्म व्याख्या या गहराई मे डुबकी लगाई गई है, उतनी शायद ही अन्यत्र कही दिखाई दे ।

मन से, वचन से और कर्म से अहिसा का पालन करने पर ही उसका सच्चा फल प्राप्त होता है । जैन साधु-साध्वी अहिसा के सच्चे उपासक है । वे पंचमहाव्रतधारी कहलाते है । उनमे भी अहिसा को प्रमुख स्थान है । वे सदैव यत्नापूर्वक चलते, यत्नापूर्वक बोलते और यत्नापूर्वक सोचते हुए ही गॉव-गाँव और नगर-नगर मे प्राणी मात्र के कल्याण की मगल कामना करते हुए विचरण करते है । उनकी कथनी-करनी में सामन्जस्य रहने से उसका प्रभाव पड़ता है और लाखों व्यक्ति उनके प्रभाव से अपना जीवन उज्ज्वल बनाते है । "अहिसा परमोधर्मः" इसी लक्ष्य की ओर और आगे बढते हुए महावीर के दिव्य सन्देश "जीओ और जीने दो" को वे उद्घोपित करते रहते है ।

अहिसा का सीधा-सादा अर्थ है—हिसा से दूर रहना । 'अ' हिसा की आड़ है । हिसा पर आड़ लगी रहेगी तो स्वतः अहिसा का विकास होता रहेगा । आज विश्व की सबसे बड़ी समस्या यही है कि मनुष्य वैज्ञानिक उपलब्धियों से प्रकृति की दूरियों को तो कम करके चन्द्रलोक तक पहुँच रहा है किन्तु मन की दूरियॉ बढ़ती जा रही है । जब तक मन की दूरियाँ रहेगी तब तक अहिसा का विकास नही हो सकता । मन के भाव, संकल्प और विचारो को मोडना होगा और इसके लिए प्रत्येक आत्मा में अपने समान ही आत्मा का दर्शन करना होगा । जो मुझे प्रिय नही है, वह दूसरे को कैसे प्रिय होगा ? दूसरों को दु.ख पहुँचा कर कभी सुख प्राप्त नही किया जा सकता है । कहा भी है "सुख दिए सुख होत है, दुःख दिए दुःख होत" सुख-दु ख के कर्ता हम स्वयं है । ईश्वर

न किसी को दुखी करता है और न किसी को सुखी। हम जैसा कर्म करते है, उसी के अनुसार हमको फल की प्राप्ति होती है। जैसा बीज वैसा फल। अतः कर्म करते समय हमको सदैव अहिसा को सामने रख कर कर्म करना होगा। आज भौतिकता की चकाचौंध में हम सब कुछ भूल कर पापाचार के कार्य जैसे, बड़े-बडे आधुनिक बूचड़खाने, मत्सय कारखाने, मुर्गी मार खाने आदि न जाने ऐसे घोर हिंसा के कार्य कर रहे है और सभ्यता से हम कहते है कि हम मत्सय पालन, मुर्गी पालन और गोपालन कर रहे हैं। नाम पालन का और काम कसाई का, यह कैसा विरोधाभास है ? पालन तो माता करती है जो अपना सर्वस्व न्यौछावर कर अपनी सन्तान की रक्षा करती है। तभी हमारे देश में माता की पूजा होती है और भारत माता, जन्म माता और गौ माता के लिए अपने सपूत शीश कटाते हुए मातृ-भूमि के लिए हँसते-हँसते बलिवेदी पर चढ जाते हैं।

वर्तमान युग में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने श्रीमद् रामचन्द्र से प्रभावित होकर जीवन पर्यन्त अहिसा का प्रयोग कर भारतवर्ष को न केवल आजादी दिलाई अपितु संसार के सामने एक नया मार्ग प्रशस्त किया जिसके द्वारा विश्व का कल्याण सम्भव है। हिसा के परिणामों की कहानियाँ कई शताब्दियो तक हम इतिहास में पढ़ चुके है परन्तु लड़ाइयों ने लड़ाइयों को ही जन्म दिया है।

आज आवश्यकता धर्म और विज्ञान के समन्वय की है। धर्मविहीन विज्ञान मानव के लिए अहितकारी है तो विज्ञान रहित धर्म मानव के लिए कार्ल मार्क्स के अनुसार अफीम है। अहिसा के द्वारा धर्म और विज्ञान का समन्वय सम्भव है और इसी के द्वारा विश्व-बन्धुत्व और विश्व-शान्ति की ओर बढा जा सकता है जिससे इस संसार में न कोई भूखा रहे न नंगा और न कोई बिना छत के सोए। ऐसी मंगलमय भावना और अपेक्षाओ के साथ "अहिसा परमोधर्मः"।

—७५, काशीपुरी, भीलवाड़ा—३११००१

अहिंसा का सूर्य

सूर्य अहिसा का अम्बर मे, जब है चमक दिखाता।
क्रोध घृणा का अन्धकार तब, है बिल्कुल मिट जाता॥
कमजोरी का नही, अहिसा है वीरो का धर्म।
कायरता से बढ़कर जग में, कोई नही अधर्म॥

—निरंकारदेव सेवक, बरेली

अहिंसा को जीवन में कैसे उतारें ?

□ श्री लालचन्द्र जैन

जैन धर्म के तीन मुख्य आचरणीय सिद्धान्त है। ये तीनो ही वर्णमाला के 'अ' अक्षर से प्रारम्भ होते है। ये है अहिंसा, अचौर्य और अपरिग्रह। ये तीनों ही एक दूसरे में इतने घुले-मिले है कि एक के बिना दूसरे का और दूसरे के बिना तीसरे का पालन लगभग अशक्य है।

अहिसा का अर्थ मात्र 'किसी को न मारना' ही नही है किन्तु प्रत्येक ऐसा कार्य जिससे अन्य किसी व्यक्ति का दिल दुखता हो, न करना ही अहिसा है। किसी से ऐसा कार्य करवाना जिससे किसी का दिल दुखता हो या ऐसा कार्य करने वाले का समर्थन करना, मन मे ऐसा सोचना या वचन से ऐसी बात का उच्चारण करना भी हिसा है।

अब अहिंसा की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार यदि हम सोचे तो अचौर्य और अपरिग्रह भी अहिंसा से ही सम्बन्धित हो जाते है। जब हम परिग्रह करेगे तो अवश्य ही समाज के अन्य व्यक्तियों के हक को छीनेगे और इससे अन्य व्यक्तियों के दिल दुःखेगे, जिससे वह हिंसा होगी।

मान लीजिये कोई व्यक्ति स्टेशन पर, रेल में या बस में अपनी कोई वस्तु भूल कर चला जाता है। याद आते ही वह दौड़कर वापस आता है। उस समय यदि उसे वह वस्तु मिल जाती है तब तो वह बडा प्रसन्न होता है, किन्तु यदि उसे वह वस्तु नही मिलती तो वह उस वस्तु को ले जाने वाले को सौ-सौ गालियाँ देता है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो भी व्यक्ति उस पड़ी हुई वस्तु को उठा ले गया उसने चोरी की और वस्तु के मालिक का दिल दुखाया इसलिए हिंसा भी की।

दुःख की वात है कि आज अहिंसा में विश्वास करने वाले जैन ही सवसे अधिक परिग्रह रखते है। कुछ व्यक्ति परिग्रह परिमाण व्रत को धारण भी करते है तो प्रथम तो वे अपने परिग्रह की सीमा जो अभी वर्तमान मे है, उससे कही वहुत अधिक की वाँधते है, जो सरासर गलत है। परिग्रह को कम करने के लिए ही सीमा वाँधी जाती है, उसको वढाने के लिए नही। परिग्रह को वढ़ाने का अर्थ है दूसरो के श्रम को छीनना, दूसरो की आवश्यक वस्तुओं पर अनावश्यक स्वामित्व। जवकि भगवान महावीर ने तो श्रम करने वाले को ही 'श्रमण' कहा है।

दूसरे सीमा बाँधने के बाद यदि उस सीमा से अधिक धन की आय हो जाती है तो दिखावे के लिए तो उसका ट्रस्ट बना दिया जाता है, किन्तु उस ट्रस्ट पर स्वामित्व स्वय अपना ही रखते है । बिना उनकी आज्ञा के ट्रस्ट मे से एक नया पैसा भी खर्च नही हो सकता, ऐसी जबर्दस्त पकड रहती है। यही है दान के प्रति आसक्ति या मूर्छा जिसे भगवान ने स्पष्ट परिग्रह कहा है। 'मुच्छा परिग्गहो वुत्ता।'

अतः यदि हमें अहिसा को जीवन में उतारना है तो सबसे पहले अपनी आवश्यकताओं को कम करना चाहिए । सादा जीवन जीना सीखे। सादा भोजन हो, सादी वेपभूषा हो, सादा रहन-सहन हो । जो कुछ वर्तमान मे हमारे पास है, उसकी तो हम सीमा बाँधे ही, पर उस सीमा को भी दिन-प्रतिदिन कम करते जाये, यही सच्चा अपरिग्रह है । जब तक हम अपरिग्रह को नही अपनायेंगे तब तक श्रम का शोषण होता रहेगा और अन्य लोग अपने खाने, पीने, रहने, पहनने की आवश्यकताओ की पूर्ति भी नही कर पायेंगे, जिससे एक तरफ पूंजी बढती जाएगी और दूसरी तरफ गरीबी। समाज मे फैलते हुए इस वर्ग-विग्रह को यदि हमे रोकना है, यदि हमे खूनी क्रांति के बिना समाजवाद-समतावाद को भारत मे लाना है तो हमें महावीर के सिद्धान्त को जीवन मे उतारना ही होगा।

सादा जीवन बिताने में कठिनाई क्या है ? सिर्फ मन को मोड़ने की आवश्यकता है । आज से ५०–६० वर्ष पहले अधिकाश लोग सादा जीवन विताते थे। उस समय कितना शान्त जीवन था और अब कितनी हाय-हाय है। हमे अपनी भावी पीढी को—अपने बच्चो को अभी से यह शिक्षा देना प्रारम्भ कर देना चाहिए कि उन्हें अपनी आवश्यकताओ से अधिक किसी वस्तु का संग्रह नही करना चाहिए और अपनी आयश्यकताओ को भी जहाँ तक सम्भव हो सके कम करना चाहिए। आज अमेरिका जैसे धनाढ्य देश मे भी लोग वर्तमान में जीना सीख गए है, कल की चिन्ता कोई नही करता । यद्यपि भौतिकवाद के कारण उनकी आवश्यकताएँ अवश्य कुछ बढी हुई है, पर उसकी भी एक सीमा है और उस सीमा से अधिक सग्रह कोई नही करता । भारत की तो सादा जीवन जीने की प्राचीन संस्कृति रही है, कही हम पश्चिम की भौतिक चकाचौध में अपनी संस्कृति और सभ्यता को भूलते तो नही जा रहे है ?

आज से आधी शताब्दि पहले लोग अपनी दुकानों को खुली छोड़ कर खाना खाने घर पर चले जाते थे । नेपाल मे तो आज भी ऐसा होता है। पर कभी कोई चोरी नही होती थी, किन्तु आज यदि कोई ऐसा करने साहस करे तो ? कुछ न कुछ उसकी दूकान से अवश्य गायब हो जा।

क्यो ? इसलिए कि हम अपने बच्चों को नैतिकता की शिक्षा नही देते । पुराने जमाने में यदि बच्चा रास्ते में पड़ी कोई वस्तु उठाकर घर ले जाता था तो उसके माता-पिता उसे डाँटते थे और उस वस्तु को वापस उसी स्थान पर रख कर आने को कहते थे, पर आज स्थिति इसमे उल्टी है। यही कारण है कि हमारी नैतिकता का दिनोंदिन पतन हो रहा है । अमेरिका में बिना सेल्समेन के बड़े-बड़े स्टोर चलते हैं, पर कभी कोई चोरी नही होती, जबकि वहाँ भारतीय मूल के भी बहुत लोग रहते हैं । क्योंकि वहाँ सभी (चाहे अमेरिकन हो वा भारतीय मूल के) अपने बच्चो के दिल में यह बात अच्छी तरह से ठूंस-ठूँस कर भर देते हैं कि बिना मालिक को पूछे कभी कोई वस्तु नही उठानी चाहिए, चाहे बह एक फूल या कोई फल ही क्यों न हो। इसीलिए वहाँ बिना बाउन्ड्री के फल-फूलो से लदे वृक्ष घर-घर के बाहर खड़े दिखाई देते है । गैरेज खुले पड़े रहते हैं, उनमें गाड़ी के सामान, औजार और फ्रिज तक पड़े रहते है, कपड़े टगे रहते है, पर मजाल है—कभी कोई वस्तु चोरी हो जाय।

यदि हम भी अभी से अपने बच्चों को ऐसी शिक्षा देना प्रारम्भ करें तो असम्भव नही कि हमारी भावी पीढी में फिर से हमारी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में नैतिकता का पुनरुद्धार हो और हमारे यहाँ भी फिर से वह पुराना समय लौट सके जब घरो और दुकानों में ताले नही लगते थे। कहने को तो हम कहते रहते हैं कि "पर द्रव्येषु लोष्ठवत्" अर्थात् पराए माल को मिट्टी के समान समझना चाहिए पर वास्तव में क्या हम ऐसी शिक्षा अपने बच्चों को दे रहे है ? अपने दिल पर हाथ रख कर सोचें । अतः यदि हमें अहिंसा को जीवन में उतारना है तो अचौर्य व्रत को पहले अपने जीवन मे उतारना होगा। तभी हम दूसरो का दिल दुखाने से बच सकते है और तभी अहिंसा का पालन हो सकता है।

वस्तु में मिलावट करना या कम नाप-तोल कर देना यह भी अचौर्य व्रत के अन्तर्गत ही आता है । मिलावट का धन्धा तो आजकल इतना जोर पकड गया है कि दवाइयाँ भी मिलावट से नही बच पाई हैं । इससे कभी-कभी तो मरीज की मृत्यु तक होती देखी गई है। इससे अधिक हिंसा और क्या हो सकती है ? अहिंसा को जीवन मे उतारना है तो हमे इस मिलावट के धन्धे का पूर्ण त्याग करना चाहिए। न स्वय मिलावट करे, न मिलावट की हुई या नकली वस्तुओ का व्यापार करे और न ऐसे व्यापार को किसी प्रकार का समर्थन दे।

आजकल विदेशी वस्तुओं की चाह लोगों में इतनी अधिक पैदा हो गई है कि उसके कारण चुँगी-चोरी से वस्तुएँ विदेशो से लाई जाती है। यह

अहिंसा के मार्ग पर चलें !

☐ श्री नरेन्द्र हीरावत, अध्यक्ष
श्री गौतम एस. मेहता, मंत्री

'सव्वेसि वदगुणाण पिण्डोसारा अहिंसा दु'

अर्थात् सभी गुणों एव व्रतों का सार अहिसा है। जहाँ मैत्री, करुणा, प्रेम और समभाव है, वही अहिसा है। प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है, दुःख कोई नही चाहता। आत्मा के निजी गुण है—सत्य, अहिसा, मैत्री, समभाव। अतः आत्म-कल्याण का मार्ग अहिसा का मार्ग है। 'आत्मवत सर्व भूतेषु यः पश्यति सः पश्यति।' अर्थात् आत्मा जव सबको अपने समान समझेगी तथा सबको मित्र समझेगी तव उसका कोई शत्रु हो ही नही सकता। 'आचारांग' सूत्र मे कहा गया है—जिस प्रकार मै जीना चाहता हूँ मरना नही चाहता हूँ, उसी प्रकार संसार के सभी प्राणी जीवन के इच्छुक है और मृत्यु से भयभीत है। दुःख से सभी प्राणी दूर रहना चाहते है। यही वह राह है जिस पर अहिसा, सत्य, धर्म और ईमान का विकास होता है।

सभी धर्मों में अहिंसा का स्थान सबसे ऊपर है। अहिसा के मार्ग पर चल कर ही महात्मा गाँधी ने अग्रेजो का साम्राज्य उखाडकर फेक दिया। वीसवी शताब्दी में तो अहिसा का महत्त्व बहुत वढ गया है। मनुष्य ने पहले अणु बम वनाया फिर उसी से वह विनाश की कल्पना करके घबराया और निशस्त्रीकरण तथा मैत्री-संधियों पर हस्ताक्षर करवाने फिरने लगा। मै किसी से नहीं डरूँ और मुझसे कोई नहीं डरे। हमारे हृदय में प्रेम, स्नेह, दया, करुणा के स्रोत फूटें, आपस में द्वेष, घृणा, साम्प्रदायिकता न हो, मानवता का निर्माण हो तभी विश्व-वन्धुत्व और लोक-कल्याण सम्भव है। अरिहंत, ॐ, ईश्वर, अल्लाह कहने वाले सभी अहिसा के रास्ते से ही ईश्वर की प्राप्ति कर सकते है। दूसरों के प्रति प्रेम-भाव का जागृत होना ही धार्मिक वनने की सवसे पहली सीढी है। दूसरों के दुःख-दर्द और पीडा को समझना और उसका निवारण करना यही धर्म की व्याख्या है। जव अहिंसा मे मैत्री और करुणा के भाव जुड़ेगे तो सेवा का प्रगटन सहज होगा। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

पर हित सरिस धर्म नही भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई॥

पशु-पक्षी भी नही देखते कि यह मन्दिर है या मस्जिद है, उनके लिए सब समान है। किसी शायर ने कहा है—

परिन्दों में कभी फिरका परस्ती नही देखी।
कभी मन्दिर पै जा बैठे, कभी मस्जिद पै जा बैठे।।

मैत्री भावना जीवन में अभय का संचार करती है यानी संसार के सभी प्राणी मेरे मित्र है, कोई मेरा शत्रु नही फिर मुझे अस्त्र-शस्त्र की जरूरत नही और ऐसे माहौल मे किसी तरह की शंका या भय नही रह जाता। आज विभिन्न देशों की सरकारे देश की आय का वहुत बड़ा स्रोत रक्षा-संसाधनो पर खर्च करती है। कारण कि उन्हें भय है कि उन पर कोई वाहरी देश हमला नही करदे, मगर यह भय निकल जाये तो इन्ही पैसों को कल्याण के अन्य मदो पर लगाकर देश और समाज का उत्थान किया जा सकता है। सबके प्रति द्वेष या वैर भाव हमारी प्रगति मे वाधक है। इसीलिए 'आवश्यक सूत्र' में कहा गया है 'मित्ती मे सव्व भुएसु' हमें संसार के सभी प्राणियो से मित्रता रखनी चाहिये।

क्या हमारा इतिहास इसका गवाह नही कि हिसा के मार्ग पर चल कर आदर्श समाज की स्थापना नही हो सकती ? क्या युधिष्ठिर ने युद्ध जीत कर भी राज्य स्वीकार किया था ? उसने युद्धोपरान्त कहा—मैं जिनके लिए राज करना चाहता था वे लोग नही रहे, सब युद्ध में मारे गये। इसलिए अब मै राज नही करूँगा। क्या आज का सभ्य समाज इन तथ्यो को समझेगा कि जो आनन्द, प्रेम, करुणा, स्नेह अहिसा में है, वह राग, द्वेष, क्रोध, हिसा में नही है। आज की विषम समस्याओ का निराकरण अहिसा को अपनाकर ही किया जा सकता है और अहिसा के मार्ग पर चलकर ही हम लोकतन्त्र को कायम रख सकते है।

—अ. भा. श्री जैन रत्न युवक सघ, वम्वई

आत्म-जागृति

मछली की सी स्वाभाविक शक्ति मनुष्य में है, परन्तु कर्मशीलता चाहिए। विवेक शक्ति पर पर्दा पड़ने से मानव तिनके की तरह वह जाता है, किन्तु जो ज्ञानी होकर स्वयं जागृत है, जड़ पदार्थ उसे अपनी धारा में नही वहा सकते।

सद्‌गुरु, सत्सग, शास्त्र श्रवण और योग्य करणी का निमित्त मिलने से आत्म-जागृति होती है।

—आचार्य हस्ती

अनर्थ का मूल-मांसाहार

□ श्री रतनलाल सी बाफणा

आज देश मे हिसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। ६ दिसम्बर व जनवरी महीने मे बम्बई व आकोला मे, सूरत व अहमदाबाद मे तथा देश के अन्य भागो मे क्या हुआ ? आदमी ने आदमी को जला डाला, काट डाला, मार डाला। एक नही, दो नही, दस-बीस नही, हजारो की संख्या मे आदमी ने आदमी को जिन्दा जलाया। निष्पाप मनुष्यो के प्राणों की होली करदी गई। माँ के सामने निरीह अबोध बच्चो को जलाया गया। वे चाहे किसी भी जाति, धर्म या सम्प्रदाय के हो पर वे थे आदमी। आदमी इतना विकराल, क्रूर व निर्दयी हो गया।

कुछ वर्षो पूर्व पूना कालेज में पढने वाले ४ कालेज कुमारों ने मिलकर अभ्यकर जैसे विद्वान् परिवार को उनके घर पर जाकर कत्ल कर डाला। २ वर्ष पूर्व उन चारों को फांसी दी गई। २७ नवम्बर १९९१ को जयपुर जेल मे हिन्दुस्तान आजाद होने के बाद पहली बार पिता-पुत्र को फांसी दी गई—कारण उन पिता-पुत्र ने मिलकर आधा बीघा जमीन के लिए अपने चचेरे भाई के परिवार के ७ सदस्यों की हत्या कर डाली। २ वर्ष पूर्व कल्याण मे परीक्षा हाल मे 'सगीता' नाम की कालेज छात्रा को सभी के सामने एक विद्यार्थी ने पेट्रोल से जलाकर मार डाला। भारत का सारा संगीत इन घटनाओ से रुदन मे परिवर्तित हो गया। इतना जुल्म तो प्रकृति ने भी नही किया। पानी, सोना-चांदी, हीरे-मोती, जवाहरात, पत्थर-मिट्टी सबको डूबा देता है पर लकडी को नही डुबोता। इसकी वजह यह है कि पानी ने लकडी को पैदा किया है, सीचा है—

जल न डूबोवे काठ को, कही कहाँ की रीत।
अपना सीचा जानके, यही बडो की रीत॥

राम, कृष्ण व महावीर के देश मे हिसा आज चरम सीमा पर पहुँच गई है। प्रतिदिन समाचार पत्रो के पन्ने खून से रंगे हुए मिलते है। मनुष्य का जीवन असुरक्षित हो रहा है—

वतन की हालत जो वताने लगेगे, तो पत्थर भी आंसू वहाने लगेगे।
कही भीड़ मे खो गई आदमियत, जिसे ढूढने मे जमाने लगेगे॥

हम देख रहे है कि क्रूरताओ ने आज इंसान को इसान नही रहने दिया। हिंसा ने इन्सान को राक्षस बना दिया है। दुनिया का कोई मजहब हमे विश्वासघात व खून करने की शिक्षा नही देता। दुनिया भर मे अपहरण, दगे, युद्ध,

हत्या, कलह, विकलांगता, भुखमरी, दुराचार बेतहाशा बढ़ रहे है। हम खून बहा रहे है, हत्याये कर रहे है, क्रूरता व आतंकवाद को पनपा रहे है। कौन है इन सबके लिये जिम्मेदार ? स्पष्टत: मांसाहार व मद्यपान। हम अपने स्वाद और शौक के लिए अपने खूनी पजो से बेकसूर पशु-पक्षियों को खा रहे है।

यदि हमारे देश में मांसाहार बढ़ता है तो हमारा आर्थिक मानचित्र कितना बदल जायगा। आर्थिक ही क्यों, हमारा सांस्कृतिक और नैतिक ढॉचा भी बदसूरत हो जायेगा। हमारे जीवन-मूल्य एक तो नष्ट हो ही गये है, जो भी बचे है वे भी चिन्द-चिन्दा हो जायेंगे। मासाहार से हमारा मानसिक व शारीरिक प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि सात्विकता, समन्वय, सहिष्णुता व सगठन की भावना लुप्त होने लगी है—

आदमी निर्मम, महा बेदर्द बनता जा रहा है,
दर्द देता दूसरों को और खुद दुख पा रहा है।
प्राणियों के प्राण हर्ता मास खाने के लिये,
आदमी का पेट मानों कब्र बनता जा रहा है॥

प्रकृति ने जो पांच इन्द्रियाँ मनुष्य को दी है, प्रभु आज्ञा के अनुसार वह उसका कार्य नही करता। एक जीभ का ही उदाहरण लें। जीभ तीन काम कर सकती है—भजन, भोजन व भाषण। २४ घटों मे एक घंटा भी मनुष्य भजन नही करता। रही बात भोजन की, उसमें भी आदमी कितना अविवेक से काज ले रहा है। उसे प्रकृति ने शाकाहारी बनाया है, फिर भी वह मासाहार कर रहा है। हमारे सारे शरीर की रचना-बनावट शाकाहारी प्राणियो जैसी है। विश्व के ५०० करोड लोगों मे से ४०० करोड लोग मांसाहारी है। शाकाहारी सिर्फ १०० करोड। पशु-पक्षियो की ओर दृष्टिपात करे तो मालूम होगा कि हजारो बरसों के इतिहास मे पशुओ ने अपना आहार नही बदला। जो शेर मास खाता है वह मांस ही खायेगा। जो बकरी घास खाती है वह घास ही खायेगी। इन पशुओ की कभी कोई मीटिग या कान्फ्रेस नही हुई। आहार के बारे मे मनुष्य, जिसको प्रकृति ने बुद्धि, विवेक, कर्त्तव्य का ज्ञान दिया है, उसने सदा अपना आहार बदला है, प्रकृति के विरुद्ध आहार किया है। मनुष्य समाज की आहार के बारे में, मीटिगे कान्फ्रेसे होती रहती है। विवेक-बुद्धि के बावजूद अपने स्वाद के लिये हर समय मानव जाति ने उलट-सुलट आहार किया है।

कुत्ते-बिल्ली जो मासाहारी है दो तरह का आहार करते है। मनुष्य ने कुत्ते-बिल्ली का अनुकरण किया है और दोनो तरह का आहार करने लगा है। जितने भी विश्व में मासाहारी व शाकाहारी पशु-पक्षी है, प्रकृति ने उनकी शरीर-रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की बनाई है।

मांसाहारी प्राणी है—शेर, चीता, बाघ, सुअर, कुत्ता, बि इत्यादि।

शाकाहारी प्राणी हैं—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, हिरण, खरगोश, घोड़ा, गधा, हाथी, ऊँट इत्यादि।

इनकी शरीर-रचना में निम्नलिखित विशेषताएँ (अन्तर) है—

१. मांसाहारी प्राणियों को पसीना नही आता। पसीना सिर्फ शाकाहारियों के ही आता है।

२. मांसाहारी प्राणी समूह मे नही रहते। शाकाहारी प्राणी समूह मे रहते है। कुत्तों के टोले-झुड नही होते, बकरियो के झुड-टोले होते है, शेरो का समूह नही होता, गायों का समूह होता है।

३. मांसाहारी प्राणियो की आँखे वक्र होती है, वे टेढा देखते है। शाकाहारी प्राणियों की आँखें सीधी होती है, वे सीधा देखते है।

४. माँसाहारी प्राणियों की आँखे गोलाकार होती है। शाकाहारी प्राणियो की आँखे नीम गोल होती है।

५. मांसाहारी प्राणियो के बच्चे जन्म लेते ही आँखें नही खोलते। शाकाहारी प्राणियों के बच्चे जन्म लेते ही आँखे खोल देते है।

६. मांसाहारी प्राणियो की आँखें शाकाहारी प्राणियो की तुलना मे ज्यादा चमकदार होती है।

७. मांसाहारी प्राणियों को अन्धेरे में दिखता है। शाकाहारी प्राणियो को अन्धेरे में नही दिखता है। रात को मांसाहारी प्राणी आसानी से शाकाहारी प्राणियों का शिकार कर अपना पेट भर सके, इसीलिए प्रकृति ने ऐसा अन्तर रखा है।

८. मांसाहारी प्राणी जीभ से पानी पीते है। शाकाहारी प्राणी होठ से पानी पीते है। अगर बकरी चाहे कि वह कुत्ते की तरह जीभ से चपचप करके पानी पीये तो पी नही सकती। मनुष्य भी जीभ से पानी नही पी सकता।

९. मासाहारी प्राणियों के नाखून तीक्ष्ण होते है ताकि वे शिकार सुगमता से कर सके। शाकाहारियो के नाखून तीक्ष्ण नही होते।

१०. मांसाहारी प्राणियो के पंजे शिकार करने व जानवरों को पकड़ने के लिए अनुकूल होते है। शाकाहारी प्राणियो के पजे मासाहारियों की तरह नहीं होते।

११. मांसाहारी प्राणियों के मुंह मे दो दाँत खडे व धारदार होते हैं ताकि वे शाकाहारी प्राणियो को फाड़कर बराबर चबा सके। शाकाहारी प्राणियो के दाँत चपटे व सरल होते हैं।

१२. मासाहारी व शाकाहारी प्राणियों के जबड़ों में अन्तर होता है।

१३. मांसाहारी प्राणियों की मुखाकृति भयानक होती है और वे स्वभाव से ही आक्रमणकारी होते है तथा दूसरे प्राणियों को मारकर खाते है।

१४. मासाहारी पशु-पक्षी चालाक, घात लगाने वाले और डरपोक स्वभाव के होते है, शाकाहारी ऐसे नही होते।

१५ मासाहारी पशु जुगाली नही करते जबकि शाकाहारी पशु जुगाली करते है।

१६ मांसाहारी प्राणियों मे नर-मादा परस्पर मैथुन करते है तब थोड़ी देर के लिए आपस मे जुड जाते है। शाकाहारी नही जुडते।

१७. मांसाहारी प्राणियों की आंत गरदन से करीब ६ गुणी लम्बी होती है। शाकाहारी प्राणियो की आंत गरदन से १२ गुणी लम्बी होती है। प्रकृति ने यह जो फर्क रखा उसके पीछे गहरा रहस्य है। मांसाहार बाहर पड़ता है तो सडता है व दुर्गन्ध पैदा करता है फिर पेट मे जाकर सुगन्ध या सात्विकता निर्माण नही करता इसलिए उसका जल्दी से बाहर निकलना उचित होता है। अतः प्रकृति ने मांसाहारी प्राणियो की आत ज्यादा लम्बी नही बनाई। इसके विपरीत शाकाहारियो की आंत लम्बी करने का कारण यह है कि शाकाहार माँसाहार की तरह नहीं सड़ता, पेट मे अधिक देर रहने पर भी दुष्परिणाम पैदा नही करता।

१८. मांसाहार से इतनी निर्दयता, क्रूरता, बढती है कि मांसाहारी प्राणी भूख लगने पर अपने बच्चो को भी खा जाते है। माँ का सबसे ज्यादा प्यार अपने बच्चे पर होता है। वही माँ भूख लगने पर अपने बच्चे की हत्या कर उसे खा जाती है। शाकाहारी प्राणी कभी ऐसा जुल्म नही करते। कुत्ते बिल्ली को हम देखते है कि किस तरह वे अपने पिल्ले को खा जाते है। आज तक हमने ऐसा नही सुना कि गाय ने अपने बछडे को या किसी बकरी ने अपने बच्चे को खाया हो। यह जुल्म, जबरदस्ती, खून, हत्या मासाहारी ही कर सकते है।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की शारीरिक रचना शाकाहारी प्राणियों के जैसी है। अब प्रश्न यह खड़ा होता है कि फिर मनुष्य मांसाहार क्यों करता है? मनुष्य की यह भ्रान्ति है नासमझी है कि मांस खाने से ताकत ज्यादा आती है, परन्तु यह सत्य नही है। मांसाहार की तुलना मे शाकाहारी पदार्थ अधिक पौष्टिक, ताकतवर व गुणकारी हैं। घोडा धान व घास खाता है फिर भी कितना तेज दौडता है। रेस घोड़ों की होती है, बाघो की नहीं। महाराणा प्रताप को चेटक घोडे का साथ नहीं मिलता तो मेवाड़ उनके हाथो से कभी का निकल गया होता। कितने चौड़े नाले को कूद

करके पार करना—यह चेटक घोड़े का ही कमाल था। आज जितने भी इंजिन मोटरे, मशीने है उनका पावर 'हार्सपावर' से गिना जाता है, कभी बाघ पावर या डॉग पावर नही। घोड़ा घटो भाग सकता है। हाथी घास खाता है फिर भी जगल का राजा शेर उसके सामने आ जाय तो हाथी शेर को धर दबोचता है। हॉ, पीछे से वार करने पर धूर्तता के कारण कभी शेर जीत सकता है।

गाय घास खाती है, वह अमृत तुल्य दूध देती है।
बैल घास खाता है, वह कितना बोझा ढोता है।

शाकाहार करने वाले पहलवानों ने खूब कुश्तियॉ जीती और नामी पहलवान रहे है। इन पहलवानो में ८५ वर्षीय पद्मश्री द्रोणाचार्य, हनुमान, सतपाल पहलवान, सज्जनसिह, ज्ञानसिह, श्यामा पहलवान शुद्ध शाकाहारी है। अपराजेय पहलवान राममूर्ति, चंदन पहलवान, मास्टर चंदगीराम आदि अनेक पहलवान शाकाहारी ही रहे। मास इन्होने छुआ तक नहीं।

जितनी बीमारियॉ मांसाहारियों को होती है, उतनी शाकाहारियो को नही। जो रोग जिनका मास खाया जाता है उन प्राणियों को होते है वह रोग उस मास खाने वाले को भी हो जाते है परन्तु जो रोग वनस्पति मे होते है वे उस वनस्पति खाने वाले को नही होते। उदाहरणार्थ गेहूँ को 'जखीरा' रोग हो गया तो वह रोग उस गेहूँ को खाने वाले को नही होगा। कैसर, किडनी व हृदय रोग, दत रोग व कब्ज की बीमारी अधिकतर मासाहारियों को ही होती है।

जो जानवर रोगग्रस्त है, उसका मास खाने से ऊतक (टिसूज) और रक्त मे उस रोग के बीज पनपने लगते है। 'जर्नल ऑफ दि नेशनल कैसर इन्स्टीट्यूट' अमेरिका का अध्यापन निष्कर्ष है कि जिन क्षेत्रो मे मास की खपत ज्यादा है वहॉ आंत के कैसर का आंकडा ऊँचा है। आस्ट्रेलिया मे मासाहार की सर्वाधिक खपत है तो वहॉ आतो के कैसर के रोगी सर्वाधिक है। डॉक्टर कैसर और मधुमेह पीडितो को शाकाहार की ही प्रेरणा देते हैं। जितने समय मे आप मेरा यह लेख पढेगे उतने समय में अमेरिकी चिकित्सक वहॉ की १०० महिलाओं को स्तन कैसर बता चुके होंगे। इसका कारण है—मासाहार। नेशनल कैसर इन्स्टीट्यूट, टोकियो ने १,२२,००० व्यक्तियो का कई दशकों तक अध्ययन किया था और निष्कर्ष निकाला कि शाकाहारी तुलना मे मासाहारी-अडाहारी को चार गुना कैसर का खतरा उत्पन्न हो जाता है।

मासाहार करने वालों को जानलेवा बीमारियॉ ज्यादा होती है, अमेरिका की प्रतिष्ठित रिसर्च संस्था वर्ल्ड वाचने अपनी रिपोर्ट मे यह जानकारी दी है कि मास खाने वाले को हृदय-रोग, मधुमेह, आतो का कैसर और दूसरी घातक बीमारियाँ आसानी से हो जाती है। चिकित्सा विज्ञान मे मासाहार इन दिनो शोध का मुद्दा बना हुआ है। इसे घातक बीमारियो का जन्मदाता कहा

है। अमीर देशो में मांसाहार के कारण हुई घातक बीमारियों से मौते ज्यादा हो रही है।

मांस, शराब, अण्डे के सेवन से मानसिक विकार उत्पन्न होते है। दुर्गुणो का जन्म होता है। मांस खाने वाले की मनोवृत्ति क्रोधी, पापी, विलासी, खूनी, तामसी, कामुक, अत्याचारी और झगडालू होती है। इसीलिए आज विश्व में अत्याचार, दुराचार, चरित्रहीनता, हिंसा, बलात्कार, द्वेष आदि दुर्गुण व कुकर्म बढ रहे है। गलत आहार-पान से आचार दूपित होता जा रहा है। अत: हमे उत्तम आरोग्य व श्रेष्ठ जीवन के लिये सत्य व तथ्य को समझकर शुद्ध सात्विक आहार ही लेना चाहिये। ऐसा आहार शाकाहार ही हो सकता है।

धर्म का रथ न जाने कहाँ जा रहा है।
अहिंसावादी मानव आज अण्डा खा रहा है।।

अण्डे को शाकाहारी बताकर, झूठे विज्ञापन देकर, दूरदर्शन पर लोगो को फंसाया जा रहा है। अण्डा पेड पौधों पर पैदा नहीं होता अतः उसको शाकाहारी बताना भ्रामक प्रचार कर भोली जनता को गुमराह करना है। शाकाहारी भोजन हमे अधिक दयालु बनाता है और इससे ही हमारा आध्यात्मिक कार्य सिद्ध होता है। शाकाहारी जीवन अपने आप मे ध्येय नही है लेकिन अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए यह एक अनिवार्य साधन है। भौतिक विज्ञान के महान् वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन शाकाहारी भोजन के प्रभाव के बड़े कायल थे। वे कहते थे—शाकाहार का हमारी अपनी प्रकृति पर गहरा प्रभाव पडता है। यदि हम सार्वभौम रूप से शाकाहार को अपना ले तो मनुष्य की यह दशा ही पलट जाये। यदि हम अहिंसा का जीवन अपना ले, सबके प्रति मन मे प्यार रखे तो हम इन्सान को ऊँचा उठा सकते है। प्रेम और अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए हमे शुद्ध शाकाहारी होना आवश्यक है। ऐसा करने से हम न केवल परमात्मा की सृष्टि के छोटे जीवों पर और अपने सहजातीय इन्सानो पर दया करेगे बल्कि अपने आप पर भी दया करेगे।

गाय, भैंस, बकरी, भेड़, मुर्गे यह कोई खाने की वस्तुएँ है? हम बुद्धिमान, विवेकवान मनुष्य है। हमे तो चाहिये कि हम इन निरीह, निष्पाप प्राणियो को खिलावे। ये अबोध भोले प्राणी प्रभु परमात्मा की सन्तान, जो इस पृथ्वी पर घासफूस खाकर जीवन निर्वाह करते है, हमे अमृत तुल्य दूध पिलाते है, खेतों में खाद देते है, और मरते-मरते भी अपनी चमडी हमारे जूते और चप्पलो के लिए छोड़ जाते है। ऐसे परमोपकारी उन पशु-पक्षियों को आदमी खाता है, प्रकृति ने हमे क्या कम दिया है? कितने पदार्थ खाने के लिये है? एक से एक बढकर वनस्पतियाँ, फल, मेवे, अनाज हमारे खाने के लिये है।

मनुष्य इतना क्रूर हो गया है कि उसने आत्मा-परमात्मा को ताक मे रख दिया। जीभ के चोंसले पूरे करने के लिए इन पशु-पक्षियों को खाने लगा—

पेट भर सकती है जब तेरा, फकत दो रोटियाँ ।
क्यों ढूढता फिरता है, बेजुबा की बोटियाँ ।।

मांस में एक विशेष कीडा 'बारलनिम्' होता है जिससे खाने वाले को 'बरलि निजन' रोग हो जाता है इससे उस व्यक्ति की मौत हो जाती है। प्राणान्त होते ही जानवरों के शरीर मे सडाध पैदा होने लगती है। मांस चाहे मुर्ग का हो या बकरे का, भैंस, गाय, बैल या मछली का ही क्यों न हो, उसकी अप्राकृतिक मृत्यु की जाने से उसके मरते ही उसके कलेवर से लाखों, करोडो कृमि-कीट स्वयं ही पैदा होने लगते है। ऐसे कलेवर से आसपास के व्यक्ति या खाद्य फल सब्जी भी रोगग्रस्त हो जाते है तो उस विषाक्त मांस भक्षी को कितने रोग हो जाते होंगे ? वैज्ञानिक शोधे बता रही है कि कई घातक असाध्य रोग हो जाते है।

नेशनल फैडरेशन ऑफ मीट ट्रेडर्स (इंग्लैण्ड) के शोध अधिकारियों ने निष्कर्ष दिये कि जब तक पशु जीवित रहता है, उसका मास जीवाणु रहित होता है। जैसे ही उसे कत्ल हेतु बेहोश करते है, वह कत्ल से भयभीत हो जाता है। तब उस पशु के मस्तिष्क मे एक खास किस्म के बेक्टीरिया निर्मित होते हैं और वे सारे मास में प्रवेश कर जाते है। उस मांस के खाने से कई घातक बीमारियां होती है।

'दी हायजिनिस' के सम्पादक श्री आर. डब्ल्यू पारकर लिखते है—कत्लघर कैसा भी हो, चाहे कितनी भी स्वच्छता बरती जाय, वहाँ तो रोगाणुओं का जखीरा मिलेगा ही। मांस तो खराब ही रहता है—वह तो बीमारियां लायेगा ही।

विश्व के महान् बुद्धिजीवी लियोनार्दो, अरस्तू, प्लेटो, शेक्सपीयर, पी. एस. हक्सले शाकाहारी थे। वैज्ञानिक आइन्स्टीन दार्शनिक बर्नार्डशा, एच. जी. वेल्स, लियो टालस्टाय, शैली रूसो, एमर्सन आदि शाकाहारी थे। महाकवि सूर, तुलसी, मीरा शुद्ध सात्विक शाकाहारी थे। अहिंसा व सत्याग्रह के पुजारी महात्मा गांधी, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, लोह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल शुद्ध शाकाहारी थे। अहिसा के अवतार भगवान महावीर स्वामी, महात्मा गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, गुरु नानकदेव, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द शुद्ध शाकाहारी तो थे ही, शाकाहारी जीवन-पद्धति के प्रवर्तक और पोषक भी थे।

योऽहिंसका नि भूतानि, हिनस्त्यात्म सुखेच्छया ।
स जीवश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुख मेधते ।।

जो अहिंसक प्राणियों का वध अपने सुख की कामना से करता है, उसको जीतेजी और मरने के वाद कभी सुख नही मिलता। —मनुस्मृति

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा, मांन मुत्पद्यते क्वचित् ।
न च प्राणिवः स्वर्ग्यस्तितय, स्मान्यांसं विवर्जयेत् ।।

प्राणियो की हिंसा किये बिना मांस उपलब्ध नही हो सकता और प्राणों का वध करना सुखदायक नही, अतः मांस त्याज्य है। —मनुस्मृति

अनुमन्ता विशसिता, निहन्ता क्रय विक्रयी ।
सस्कर्ता चोपहर्ता च, खादक श्चैति घातकाः ।।

अनुमति देने वाला, काटने वाला, मारने वाला, खरीदने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला, खाने वाला—ये आठो हत्यारे है।

—मनुस्मृति

मांस भक्ष्यैः सुरापानै, मूर्खश्चाक्षर वर्जितै. ।
पशुभि· पुरुषाकारैर्भा, क्रान्ताहि मेदिनी ।।

मास खाने वाले, शराब पीने वाले, मूर्ख और निरक्षर ये दरअसल मनुष्य के रूप में पशु ही है, जिनके भार से पृथ्वी आक्रान्त रहती है।

ऐसे विविध ग्रन्थों ने, विविध महापुरुषो ने मांसाहार की घोर निन्दा की है। जिस भारतवर्ष ने विदेशियों को शाकाहार की शिक्षा दी थी, उसी भारत में आज मांसाहार तेज रफ्तार से बढ़ रहा है। जव भारत आजाद हुआ तव हमारी जनसंख्या ३५ करोड़ थी, तव गोवंश ३६.४२ करोड था, भैंसे १०.६४ करोड थी। आज १९९३ में हमारी संख्या ८७ करोड है और गोवंश ९ ६० करोड और भैंसें ५ ८२ करोड ही रही है। स्पष्ट है कि इस बीच मनुष्य की आबादी बढी है और पशु सम्पदा लगातार कम हुई है। कत्लखानों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि कत्लखानों में सिर्फ पशुओ का ही कत्ल नही हो रहा है वलिक वहाँ हमारी मानवता का, अर्थतन्त्र का, पर्यावरण का भी कत्ल हो रहा है। जिस निर्दयता से पशुओ का कत्ल हो रहा है, उससे मानवता कांप उठेगी। साक्षात् नरक व यमलोक के दृश्य इन कत्लखानो मे देखने को मिलेगे।

गो मांस, मेढकों की टागे व वन्दरो का निर्यात कर हम विदेशी मुद्रा कमा रहे है। राम, कृष्ण और महावीर के इस देश मे कभी दूध और घी की नदियां वहती थी, वहां आज लहू का व्यापार कर कत्लखानो की सख्या वढाई जा रही है। अकेले देवनार के कत्लखाने में १०००० पशु रोज काटे जाते हैं। छोटे-वड़े सव मिलाकर ३००० कत्लखाने आज भारत भूमि को रक्तरंजित कर रहे हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

दाँतों तले तृण दबाकर, है दीन गायें कह रही,
हम पशु तथा तुम मनुज, पर योग्य क्या तुमको यही ?
जारी रहा क्रम यदि यहाँ, गोवंश के नाश का,
तो अस्त समझो सूर्य, भारत भाग्य के आकाश का।
जो तनिक हरियाली बची, वह भी न रहने पायगी,
यह स्वर्ण भारत भूमि बस, मरघट सम बन जायगी।

कई सन्त पुरुष यहाँ हुए है, मुनि मेतार्य जैसे जिन्होंने एक मुर्गे की जान बचाने के लिए अपने स्वय के प्राणो का बलिदान कर दिया। राजा मेघरथ ने एक कबूतर की रक्षा के लिए अपने पूरे शरीर को बलिवेदी पर चढ़ा दिया था। उसी भारत में आज हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है।

हे मांसाहारी बन्धुओ ! कृपया अगली बार मांसाहार से पूर्व एक बार कत्लखाने व मुर्गीखाने मे जाकर इन मूक प्राणियों पर किये जाने वाले अत्याचार, उनकी वेदना, चीत्कार व उन पशु-पक्षियो के चेहरो के भावो को अपनी आँखों से अवश्य देखें और मांसाहार के समय अपने ही गले को धीरे-धीरे कटते, उसमें से रक्त की धारा को बाहर निकलते, अपने ही आंसुओ से भरी आंखो से देखने की कल्पना करे और अपनी अन्तरात्मा से पूछें कि क्या हमारी श्रेष्ठता व मानवता इसी में है कि हम केवल अपने स्वाद के लिए निरपराध प्राणियों का वह जीवन उनसे सदा के लिए छीन ले, जो हम उन्हे दे नही सकते ?

—नयनतारा, सुभाष चौक, जलगॉव-४२५००१

दयालु सूफी संत | श्री राजेन्द्रप्रसाद जैन

सन् ११९३ ई मे दिल्ली मे जन्मे मोहम्मद उर्फ हमीदुद्दीन बडे नेक और धर्म-परायण सूफी संत थे। उनकी जरूरते बहुत कम थीं। एक तहमद और एक चादर बस। जौ की रोटी को पानी मे भिगोकर खा लेना ही उनकी जिन्दगी की खुराक बन गई। इबादत तो उनकी जान थी ही, रहमदिली भी इबादत का अ ग बन गई। एक दिन आप सिजदे मे थे कि एक चिडिया ने आकर आपकी पीठ पर अण्डा दे दिया। आपका चिन्तन चला—अगर उठता हू तो एक बेगुनाह जान चली जावेगी और उस जान को बचाने के खातिर आपने उसी हालत मे ४० दिन तक सिजदे मे गुजार दिये। जब तक अण्डे से निकला बच्चा खुद-ब-खुद न उड गया। जब आपके ससुर की मृत्यु हुई तो आप लाडनू गये। वापिस लौटे तो कपडे पर एक चीटी नजर आई। बस, आप खयालो मे खो गये कि यह घर-परिवार से बिछुड गई। मेरे द्वारा ही ऐसा हुआ, यह मुनासिब नहीं। आप वापिस लाडनू जाकर उस चीटी को वही छोड आये। सन् १२७८ ई मे नागौर मे आपकी मृत्यु हुई। इन रहमदिली सूफी संत के आहता-ए-दरगाह मे कोई इसान मास नहीं पका सकता, कोई इसान गोश्त खाकर मजार पर हाजरी नही दे सकता। हकीकत मे रहमदिली ही तो इसानियत की रोशनी है।

अहिंसा और पशु-संरक्षण

☐ श्री बी० रमेश जैन

बुद्ध-महावीर, राम-कृष्ण व गाँधी के इस अहिंसक देश मे प्राणी मात्र को अभयदान देना 'अहिंसा' की श्रेणी में आता है। विडम्बना है कि अहिंसा व पशु संरक्षण को आज हमने बहुत संकुचित कर लिया है।

आज 'पशु-संरक्षण' का साधारणतया अर्थ लिया जाता है 'गो-रक्षा'। कसाईखानों से बूढी गायों को छुडा, गोशाला में पालना ही पशु-सरक्षण समझकर कर्तव्य से इतिश्री समझ लेते हैं। कही-कहीं पर सरकार पर दवाव डालकर कुछेक नियम-उपनियम बनाये जाते है और किन्ही विशेष तिथियों पर पशु-वध निषेध की आज्ञा जारी कर दी जाती है।

आज आवश्यकता है, इस दिशा में व्यापक दृष्टिकोण अपनाने की। मेरा मन्तव्य है—वैज्ञानिक अनुसंधान के नाम पर होने वाली पशुओं की हिंसा को रोकना भी एक प्रकार से अहिंसा व पशु-सरक्षण का ही एक पहलू है।

मानव कल्याण के नाम पर वैज्ञानिक परीक्षणों के लिए विश्व की अनेक प्रयोगशालाओ में करोड़ों असहाय, मासूम, मूक जीव जन्तुओं, पशु-पक्षियों की वलि चढा दी जाती है।

इन निरीह प्राणियों को मानव-कल्याण की दुहाई देकर जीते जी उवाल देना, या शून्य से नीचे के तापमान पर जमा देना, उनके घाव करना, उनके मस्तिष्क की चीर-फाड़ कर देना और उन्हें उन्ही पीडाजनक परिस्थिति में छोड़ देना यह सव पशु-हिसा नही तो क्या है?

इन प्राणियों पर किये गये परीक्षणों व परिणामों को शोध पत्र-पत्रिकाओ मे ऐसी जटिल भाषा में प्रस्तुत करना कि—जनसाधारण यही समझे कि कोई महान् वैज्ञानिक अनुसंधान हो रहा है जबकि वास्तविकता यह है कि इन तमाम तथाकथित परीक्षणों से नई खोज के नाम पर प्रायः नया कुछ नही उपलब्ध होता। वे परीक्षण पुराने प्रयोगों का अधानुकरण वन कर रह जाते है।

'इण्डियन जनरल ऑफ सर्जरी' के खण्ड ३४ अंक ३ की रिपोर्ट के अनुसार—'एक ऑपरेशन में १५ कुत्तो की तिल्लियो को निकाल उनकी एक प्रमुख धमनी को काटकर खून बहाया गया। इस परीक्षण की उपलब्धि इतनी रही कि—विदेशो में मोराविट्रज नामक वैज्ञानिक ने भी हूवहू प्रयोग किया। दोनो का परिणाम एक सा रहा।

इसी तरह, मात्र यह सिद्ध करने के लिए कि—'बाँकुरा जिले में जापानी मस्तिष्क ज्वर के प्रसार में चिड़ियों व नन्हे स्तनपेशियो की भूमिका कुछ भी नही है', १०५ चिड़ियों व १२१ चूहों-गिलहरियो के दिल का सीधा पक्चर करते हुए खून के नमूने इकट्ठे किये गये (इण्डियन जर्नल ऑफ मेडिकल रिसर्च, खण्ड ६४, अंक १२)

ऐसे अनेक शोध संस्थानों मे ऐसे अत्याचार विविध रूप मे होते है—वैज्ञानिक अनुसंधान के नाम पर। यही नही, बल्कि हमारे स्कूल-कॉलेजों आदि शिक्षण संस्थाओ मे भी विज्ञान सकायों मे व्यावहारिक जानकारी के नाम पर करोडो की सख्या में मेढको, चूहों, कबूतरो, गिलहरियों का अंग-छेदन किया जाता है। परिणाम—वही पुनरावृत्ति।

जहाँ तक जानवरो के परीक्षण से मानव कल्याण की वात है, विलकुल बेमानी सिद्ध होती जा रही है। मानव की शरीर रचना व जानवरो की शरीर रचना मे बहुत से मौलिक अतर है। कई बार कोई औषधि जानवरो पर अनुकूल होती है, परतु मानव के लिए अनुपयुक्त। जैसे "थैलिडोमाइड" दवाई का कई बार बन्दरो व चूहो पर छ. साल के कड़े प्रतिबंधों के अधीन प्रयोग कर इसे मनुष्य के लिए निरापद पाया गया। लेकिन जब इसका प्रयोग तनावग्रस्त व गर्भवती महिलाओ के लिए किया गया, परिणामस्वरूप १० हजार शिशुओं का जन्म हाथ-पैर विहीन हुआ जिनमें कई जन्मते ही मर गए और कइयो की जिन्दगी तो मौत से भी बदतर हो गयी।

आज आवश्यकता है कि—इस दिशा मे हम प्रभावी कदम उठाये। आज जब विना चीर-फाड़, यातना व खून-खराबे के "ऊतक सवर्धन (टिशू कल्चर) क्लीनिग जैसी अभिनव प्राविधिया उपलब्ध है, जिसके अन्तर्गत सीधे मानव कोशिकाओ को सवर्धित कर' उन पर मन चाहे प्रयोग व परीक्षण कर सकते है तो फिर क्या आवश्यकता है—इन वेजुबान-बेगुनाह प्राणियो के प्राण हरने की? और फिर टिशू कल्चरल प्रौद्योगिकी है भी अपेक्षाकृत सस्ती।

इस दिशा मे मेरे कुछ सुझाव व विचार निम्नाकित है :—

(१) वैज्ञानिक अनुसधान के नाम पर हो रही वर्वरता को रोकने के लिए उचित कानून वनाने हेतु सरकार पर दवाव डाला जाये।

(२) यह अनुभूत सत्य तथ्य है कि कानून वनने पर भी इसके चोर रास्ते वना लिये जाते है अत. इसके कड़ाई से पालन पर भी ध्यान दिया जाये।

(३) एक ऐसा 'पशु सरक्षण प्रकोष्ठ' वनाया जाये, जिसमें प्रवुद्धजनों के साथ-साथ अहिंसा प्रेमी वैज्ञानिको को भी शामिल किया जाय, जो वैज्ञानिक

शोध संस्थानों में जाकर तथ्य की सत्यता/व्यर्थता की जाँच पड़ताल करे तथा बेकार के पुनरावृत्त प्रयोगो को रोके।

(४) शिक्षण संस्थाओं मे करोड़ों की संख्या में जो पशु-पक्षी वध हो रहे है, उन्हे रोका जाये। जन जागृति बढायी जाये।

(५) 'टिशू कल्चर प्रौद्योगिकी' को प्रोत्साहन दिया जावे। हर प्रयोग-शाला मे 'टिशू कल्चर' कक्ष की अनिवार्यता पर बल दिया जावे।

(६) आज हर कोई हर कहीं पर्यावरण-प्रदूषण की बात करता नजर आता है। कही वायु प्रदूषण, कही जल प्रदूषण, तो कही परमाणु कचरे का प्रदूषण। प्रदूषण दूर करने व पर्यावरण को सतुलित व सयमित करने के लिए आज अत्यन्त आवश्यक है, मानव मन के पर्यावरण का प्रदूषण दूर किया जाये। 'मन शुद्धि' व 'विचार-शुद्धि' ही इसका एकमात्र उपाय है।

(७) अत में एक विशेप बात—'जो भी परोक्षण व प्रयोग पशुओ पर किये जाते है, इसी दृष्टिकोण को ध्यान मे रखकर होते है कि—**"मानव जीवन निरोगी व सुखमय हो।"**

फिर भी यह कटु सत्य है कि—जितनी औषधियों का आविष्कार अब तक हुआ है, उसके पीछे कितने ही प्राणियों की बलि दी गयी। फिर भी, आज मनुष्य निरोगी होने की अपेक्षा नित नई बीमारियो से जकड़ता जा रहा है। बतौर—'मर्ज बढ़ता गया ज्यो ज्यो दवा की'।

आज तक भी कोई वैज्ञानिक डके को चोट पर यह नही कह सकता है कि—उसके द्वारा परीक्षित व आविष्कृत औषधि से कोई साइड इफेक्ट न होगा और वह पूर्णतः १००% सुरक्षित दवा है।

ऐसी स्थिति में 'प्राकृतिक चिकित्सा' व 'योग साधना' इन दोनो क्षेत्रों मे अनुसधान तथा प्रचार प्रसार किया जावे तो आधुनिक चिकित्सा शोध के मूल उद्देश्य 'निरोगी-मनुष्य जीवन' को हम बिना किसी प्राणी की हिसा के, आसानी से पा सकते है।

'प्राकृतिक चिकित्सा' 'चुम्बकीय चिकित्सा', एक्यूप्रेशर चिकित्सा' एव योग साधना' पूर्णतः अहिंसक प्रणालियाँ है। आप लोग इस दिशा में सोचें व आगे बढ़े, तब ही हम अपने 'प्राणी संरक्षण' 'प्रदूषण रहित पर्यावरण' 'शाकाहार' तथा 'अहिसा' के उद्देश्यो की प्रतिपूर्ति कर सकते है।

—१०/८, वासनवाड़ी रोड, एम. एस नगर, बगलोर-५६००३३

□ □ □
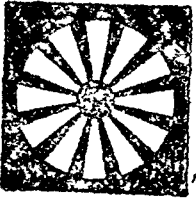
अहिंसा, आतंकवाद और जैन

☐ श्री सुधीन्द्र गेमावत

जैन दर्शन जीवन के हर पक्ष को प्रभावित करता है । अहिंसा और जैन एक दूसरे से अभिन्न रूप से जुड़े हुए है । परन्तु कई परिस्थितियाँ ऐसी आ जाती है जब सिद्धान्तो और व्यावहारिकता मे टकराव होने लगता है और एक जैन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है ।

देश में आतकवाद, लूट, हत्याये, स्त्रियो पर अत्याचार आदि की घटनाओ में अभिवृद्धि हो रही है । यदि कोई जैन इन विपदाओं का शिकार बन जाय तो वह इनका प्रतिकार कैसे करेगा ? अधिकांश जैन घरों मे एक मात्र धारदार औजार सब्जी काटने की छुरी के अलावा कुछ नही होता । जब चींटी तक के मरने पर पीड़ा होती है, साँप-बिच्छू को भी यदि कोई मारता है तो मन दुःखी होता है, जब कोई खून की धार बहती है तो देखी नही जाती, और तो और दुर्घटना मे ग्रस्त व्यक्ति की दशा भी देखते नही बनती, तब ऐसे सस्कार वाले जैन—आततायियों और दुष्टों का किस प्रकार मुकाबला कर सकते है ?

प्रश्न यह उठता है (पूर्व में जैनो ने अन्य सभी कर्मो से विमुख होकर व्यापार और नौकरी को ही अपनाया और इस प्रकार अहिंसा से काम चल गया) कि वर्तमान परिस्थितियो में जैनों द्वारा अस्त्र-शस्त्रों से विदाई ले लेना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है ?

क्या आतंकवाद का मुकाबला अहिसा से किया जा सकता है ? इन दिनो जब पजाब और कश्मीर मे आतकवाद का ताण्डव नृत्य हो रहा है, भारतवर्ष के जैनों ने इस समस्या के हल के लिए क्या प्रयास किए और अब भी उनसे रचनात्मक सुझाव माँगे तो वे क्या कहेगे ? इस समस्या का कोई जैन—उत्तर भी होना चाहिए । साधारणतया इस मामले मे सिवाय दण्ड के कोई चारा नही है क्योकि साम, दाम और भेद की नीति कोई काम नहीं आयी । दण्ड आतंकारियों के लिए कष्टदायक और जानलेवा भी हो सकता है । किसी व्यक्ति के मन को जीतकर उसे अहिसक बनाया जा सकता है परन्तु यदि किसी कट्टर आतंकवादी को अहिसक बनाया जाय तो युग बीत जायेंगे और तब तक अनेक निर्दोष लोग अपनी जान गँवा बैठे होगे । सम्भवत ऐसी

स्थिति—में विरोधी हिंसा के आलोक में जैन धर्म भी शायद यही कहेगा कि ऐसे व्यक्ति को यदि मार भी दिया जाय तो कोई हर्ज नही।

ऐसी ही समस्या देश की सुरक्षा में भी खडी हो सकती है। जब हमारा राष्ट्र दुश्मन राष्ट्र से लडता है तब फौज और सिपाही का कर्तव्य सामने की फौज का सामना आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रो से करना ही होता है। किसी नगर पर शक्तिशाली बम डाला जाय तो उस स्थान की हालत का अन्दाज ही लगाया जा सकता है। तब यदि कोई जैन सैनिक या सेनापति हो तो उसका क्या कर्तव्य बनता है? क्या वह पूर्ण अहिंसा का पालन कर सकता है?

शायद कोई यह कहे कि किसी जैन को फौज में जाना ही नही चाहिए, न वह जाता और न हो उसे इस मुसीबत का सामना करना पडता। पर मान लीजिए कभी कोई राष्ट्र केवल मात्र जैनियों का ही हो तो वे अपने राष्ट्र की सुरक्षा किस प्रकार करते? क्या वे किसी और से प्रार्थना करते कि हमारी सुरक्षा कीजिए? यदि यह कार्य स्वयं जैन न कर, दूसरे से करवाता है तो वह अपनी नैतिक जिम्मेदारी से बच नही सकता?

मनुष्य जाति अपने आप को सर्वश्रेष्ठ मानती है और प्रकृति मे पाए जाने वाले अन्य जीवों को अपने से निम्न मानकर उनका शोपण करती है। सामान्यत. जैन सभी जीवों को आत्म-तत्त्व की दृष्टि से एक समान मानते है, वे चाहे पंचेन्द्रिय हों या ऐकेन्द्रिय, वायुकाय हो, जलकाय हो, पृथ्वीकाय हो या वनस्पतिकाय। जब किसान अनाज उगाता है तो कई स्थूल और सूक्ष्म जीवो का हनन करना पडता है। कीटनाशक औषधियाँ कीटाणुओं का नाश करती है। रेशम बनाने मे रेशम के कीडे को नष्ट ही करना पड़ता है। मछली का तेल, मछलियो को नष्ट करके बनाया जाता है। गाय भैसो के दूध मे हम बछड़ों का हक छीनते है। जो जीव हमें नुकसान पहुँचाते है, उनको नष्ट करते ही है—व्यापार के लिए भी हम निरीह जीवो को समाप्त कर देते है। प्राणियो को नष्ट करे, उन्हे आघात पहुँचाएँ, उनकी स्वतन्त्रता छीने, सभी में हिंसा है।

तब क्या जैन धर्म के अनुसार फसलों को नहीं उगाया जाये, वनस्पति और पशुओ का उपयोग मनुष्य के लाभ के लिए नहीं किया जावे? क्या विभिन्न औषधियो का निर्माण नही किया जावे? क्या वस्त्र और मकान नही बनाए जावे? क्या सभी लोग पूर्ण अहिंसक बन सकते है? वर्तमान सभ्यता को छोड़कर पुन: कन्दमूल फल खावे व जंगल मे रहने चले जाना क्या अब सम्भव है?

जहाँ भी जाये संसार प्राणियों से भरा हुआ लगता है। जीव मरते रहते है—पैदा होते रहते है। कुछ अपने आप मरते है, कुछ को मारने मे मनुष्य का हाथ होता है चाहे जाने या अनजाने। प्रकृति मारती है तो दोष किसी का नहीं, अनजाने मरते हैं तो भी दोष न माने, पर उसे जानबूझ कर मारा जावे तब तो मनुष्य दोषी है ही। परन्तु यदि वह न मारने की स्थिति धारण कर ले तो फिर उसे आदिम अवस्था में ही जाना पड़ेगा। जब-जब भी सभ्यताओं का विकास होगा—भोगोपभोग की अधिकाधिक वस्तुओ का निर्माण होगा—हिसा बढ़ती ही रहेगी। विज्ञान ने हमारी जानकारी से इसकी काफी पुष्टि कर दी है।

उपर्युक्त ज्वलत समस्याओं पर जैन धर्म के दार्शनिकों, विचारको और विद्वानो को गम्भीर विचार करना चाहिए और अहिसा को व्यावहारिक रूप मे कैसे प्रयोग में लाया जावे, इस हेतु मार्ग-दर्शन करना चाहिए। महात्मा गाधी ने राजनीति मे अहिसा को अस्त्र के रूप में प्रयोग में लिया था परन्तु हर व्यक्ति महात्मा गांधी नहीं हो सकता। प्रश्न तो सामान्य व्यक्ति, सामान्य जाति या सामान्य राष्ट्र का है और ऐसा लगता है कि जीवन के अन्तिम दिनो मे जब भारत का विभाजन हुआ महात्या गांधी का भी अपने सिद्धान्तो के प्रति विश्वास कम हो गया होगा।

इतिहास में ऐसे और भी अवसर आये होगे और इसी प्रकार की समस्याओं का समाधान ढूढा गया होगा पर नये परिप्रेक्ष्य में उसी बात को नये सिरे से कहने की आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की अभिवृद्धि से—लोगो के विचारो मे भी काफी परिवर्तन आ चुका है। आज के 'अर्जुन' को, 'कृष्ण' की प्रतीक्षा है कि वे आवे और धर्म की पुन: प्रतिष्ठा करे।

—३ न ३, जवाहर नगर, जेयपुर—३०२००४

— □ —

यह जमाना हथियारवन्द कायरता का है। कायरता ने अपने हाथ मे हथियार इसलिए रखे है कि वह दूसरो के हमले से डरती है और स्वय हथियार इसलिए नही चलाती कि उसे हिम्मत नही होती। जो डर के मारे हथियार नहीं चला पाती उसी का नाम कायरता है। इस कायरता से इन्सान को उबारने वाली केवल एक ही शक्ति है—अहिंसा।

—डॉ० राधाकृष्णन

अहिंसा की सार्थकता : प्रश्न फिर उपस्थित है

☐ श्री ओंकार श्री

अहिंसा वीरों का धर्म है। यह 'महावीर' का उद्‌घोष है। कायरों की ढाल नही है—अहिसा ! न यह कोरा हिंसा का ही नकार है। समता प्रेम-सेवा की त्रिपथगा। अहिंसा की कसौटी क्या है ? अहिसा की कसौटी है— आत्मा ! 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की—दृढ भित्ति पर खड़ी अहिसा पर नए सिरे से विचार करने की बात नौआखाली व बंगलादेश में हुए अमानुषिक अत्याचारों के दौर में उठी। तब, गाँधी जी ने महिलाओ को आत्मरक्षा के लिए चाकू धारण करने को कहा। तब उपाध्याय अमर मुनिजी ने बुलन्द स्वरों में कहा—

"बंगलादेश में अत्याचार पराकाष्ठापर है और आश्चर्य कि अहिंसा, दया और करुणा के उद्‌घोषक धर्म गुरुओं की दृष्टि में जैसे कुछ हो ही नही रहा है। कहाँ है वह अहिसा, कहाँ है वह करुणा, कहाँ है वह मानवता, जिनके ये सब दावेदार बने हुए है ? क्या धर्म मरने के बाद ही समस्याओं का समाधान करता है ?

अहिसा पर नए सिरे से विचार करने का अवसर आ गया है। लगता है अहिसा सब ओर से सिमट कर एक नकार पर खडी हो गई है। नकार की अहिसा मे प्राणवत्ता नही रहती। वह निर्जीव हो जाती है। अहिसा का अर्थ अब हिसा न करना है, वह भी एकांगी, स्थूल, दिखावाभर साथ ही तर्कहीन। जीवन चर्या मे कुछ अंग ऐसे है, जिनमें बाहर से तो अहिसा जैसा लगता है, किन्तु अगल-बगल की— अन्दर की पृष्ठभूमि में झाक कर देखे तो हिसा का नग्न नृत्य होता नजर आता है।"

अहिसा की सार्थकला प्रश्न फिर उपस्थित है :

ससार के सभी अहिंसावादी विचारक इस बात को सर्वमान्य रूप से मानते है कि अत्याचार को सहना, अत्याचारी को बढावा देना है, यह जघन्य पाप है, हिसा है। आततायी के आगे सत्याग्रह से काम चलता तो गाँधी जी कश्मीर मे भारत द्वारा फौजे भेजने का समर्थन नही करते।

आज देश में चारों ओर हिसा और आतंक का वातावरण व्याप्त है। शूरवीर, अहिसा पालक गाँधी के अनुयायी, आज पंजाब, कश्मीर व ब्रह्मपुत्र

क्षेत्रीय असमी राज्यों के खूनखच्चर को देखकर निष्क्रियता से हाथ पर हाथ धरे बैठे है भाषा, धर्म, जाति व क्षेत्रवाद की हवा पाकर पनपती हिंसा के विरोध में सारे - धर्माचार्य अहिंसक प्रतिरोध की शक्ति खड़ी नही कर पा रहे।

यह असह्य है कि अहिंसा, हिंसा को सहे। बर्बर अत्याचार के दौर में अहिंसक मौन रहे। अहिंसा द्वारा हिंसा पर प्रत्याक्रमण होना अनिवार्य है। एक सशक्त लोक शक्ति जागृत करने का बीडा राजनेता नही, आध्यात्म प्रचेता ही उठा सकते है।

यदि सामूहिक रूप में अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए प्रणवीर—प्राणी मित्र अहिंसक—सेनानी अत्याचार और आतंकग्रस्त क्षेत्रों मे शांति वीरों के रूप मे नंगे हथियारो के सामने सीना खोल कर खड़े हो जाये तो हिंसाचारियों के हौसले पस्त हो जायेंगे। सारा संसार इस शांत क्रान्ति से हिल उठेगा। प्रश्न पुनः उपस्थित है— ऐसे जीवट-वान अहिंसक वीरों से क्या भारत भूमि शून्य हो गई है ?

अहिंसा से बड़ी कोई मर्यादा नहीं :

यह समय गैर मामूली है। अच्छे से अच्छा सिद्धान्त, उत्कृष्ट से उत्कृष्ट आदर्श जब तक बुलन्द व्यवहार में आकर मानव-त्राता सिद्ध नही होगा तो वह जोवन्तता खो देगा। जब तक हिंसा का बोलबाला है तब तक अहिंसा की सार्थकता की ओर हमे सदैव सावधान मुद्रा मे रहना होगा।

मनुष्य मूलतः अहिंसक है। वह स्वभावतः करुणावान होता है। जो सच्चा अहिंसक है वह कायर कभी नही हो सकता। हम न भूले कि जो कायर होता है वह बहुत क्रूर होता है। जहाँ क्रूरता होगी वहाँ होगी हिंसा।

आज देश के सामने सबसे बड़ा संकट है तो यही है कि भारत की जनता का आन्तरिक शौर्य और जीवट मूर्च्छित अवस्था मे पडा है। बिना जीवट न राज सुरक्षित रहेगा, न कोई समाज।

मर्यादा है आचार्यो की, साधुओं की। साधकों और श्रावकों की। पर अहिंसा की रक्षा से बड़ी कोई मर्यादा नही। सारा संसार अहिंसा की गाँधी युगीन प्रयोग धर्मिता से प्रभावित हुआ। जैन और बौद्ध ही क्यो स्वयं वैदिक परम्पराओं द्वारा अहिंसा को परम धर्म मानने की वात विश्व भर के अध्यात्म प्रेणता और विज्ञानवेत्ता मानते है।

पर हम भारतवासी आज अहिंसा के महावीर-पथ से अलग-थलग पड़कर दिनोदिन दुर्वल पड़ते जा रहे है। हमारी अस्मिता खतरे में है। तेजहीन पीढ़ी का कोई भविष्य नही होता। अहिंसा की मर्यादा पर प्रश्न चिन्ह लग रहा है।

राह बनेगी : बातों से नहीं बलिदानों से :

महाबली है काल ! अपराजेय है मानवता ! घनघोर अंधेरे में उजाले की आकुल प्रतीक्षा होती ही है। प्रतिकूल और प्रतिगामी वातावरण मे कभी-कभी मानव-मन अशांत और उद्विग्न होकर निराशा में भटक जाता है।

पर 'महावीर' वही होता है जो विपरीतता और विषमता के पथ के रोड़ो को अपने अपूर्व आत्मबल से हटाता हुआ—दिग्भ्रमित काल परिवेश मे समता का सन्देश, प्रेम की वाणी और सेवा की निष्कपटता से भयत्रस्त प्राणियों को साहस पथ पर अग्रसरित करता है।

अग्रसरित करता है सुपथ पर लोक को आचार्य। 'महावीर' को हम समझें। अहिंसा की समझ हमारे मस्तिष्क में बैठेगी तभी। हमने गाधी को अनसुना कर दिया। बुध को बिसरा दिया। अभी, अभी विदा हुए विनोबा और जयप्रकाश को हम भूल गये। भूल गये हम क्रांतिचेता जवाहराचार्य की जन-जिनवाणी को। हम इन्हें भूलकर भी नही भूलेंगे यदि हमने 'महावीर' के स्वरो को सुना तो—

'आय तुले पयासु'—प्राणीमात्र को आत्म तुल्य समझो।— यह हमारा रक्षा सूत्र है। हम अनात्मीय हो गये है। इसलिए क्रूर हो गये है।

अहिसा के पास करने जैसा कुछ नही है क्या ? यह प्रश्न उठ चुका है फिर से। इसका उत्तर—वीर धर्म में है। वीर, निर्दयी नही होता। देश को और पूरे संसार को वीर धर्मी-महावीर चाहिए। त्राण हिसा से नही होगा। मनुष्य को प्यार दो। वह संहार नही चाहता। हथियार वद कायरता से मुक्ति दिलाएगी अहिसा ही, पर राह बनेगी बातों से नही, वलिदानों से !

—बागी नाडा रोड, रानी बाजार, वीकानेर-३३४००१

अहिंसा संयम और तप

अहिसा हमारा लक्ष्य है और जीवन को अहिंसामय बनाने के लिए संयम और तप ये दो उसके साधन है। जिसके मन मे, तन मे और वाणी मे संयम होगा, वह व्यक्ति अहिसा का ठीक रीति से पालन करेगा। संयम-शून्य कार्य का आचरण अहिसा नही है।

—आचार्य श्री हस्ती

अहिंसा की ज्योति को आगे बढ़ायें

☐ श्री सरदारमल कांकरिया

आज ससार मे चारो ओर हिसा की ज्वाला भडक रही है । कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि कही सारा ससार हिसा की इस ज्वाला मे भस्म न हो जाए । प्रातः उठते ही समाचार-पत्रो के माध्यम से जानने को मिलता है कि कही बम के धमाके छूट रहे हैं, कही बन्दूक से गोलियाँ चल रही है, तो कही उग्रवादी और आतकवादियो के माध्यम से निरपराध लोगों की हत्याएँ की जा रही है । आगजनी, लूट-पाट, बलात्कार जैसे जीवन की सामान्य घटनाएँ हो रही है । ऐसे हिंसाग्रस्त अशान्त संसार में शान्ति स्थापित करने का एक मात्र मार्ग यदि है तो वह अहिसा, प्रेम और भाईचारे का ही है ।

यो तो सभी धर्मो ने अहिसा को महत्त्व दिया है, लेकिन जैन धर्म मे अहिसा की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या करते हुए कहा गया है कि किसी को जान से मारना ही हिसा नही है वरन् किसी के मन को ठेस पहुँचाना, कठोर और कटु वाणी से किसी को दु:खी करना, किसी के हक को छीनना, किसी को गुलाम वनाकर रखना भी हिसा है । भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के प्रति मैत्री भाव का उपदेश दिया । आज महावीर के अहिसा सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार की एवं जीवन मे उसे उतारने की अत्यन्त आवश्यकता है ।

भगवान महावीर की शासन-परम्परा आज तक चली आ रही है, लेकिन दुःख इस बात का है कि श्रमणों, श्रावको एव समाज के नेताओ ने अपने क्षेत्र को अत्यन्त सीमित कर अहिसा धर्म की विश्वजनीन व्यापकता को संकीर्ण घेरे में वाध दिया है । विशेपकर श्रमणो ने कठोर चर्या का पालन करना, कठिनाइयों का जीवन जीना, सम्यक् आहार-विहार की मर्यादा का पालन करने में ही सन्तोप मान लिया है । जवकि आज आवश्यकता इस बात की है कि वे अपने-सम्प्रदायो से और क्षेत्रो से ऊपर उठकर आगे वढकर अपनी साधना, तेजस्विता और प्रभाव का ऐसा उपयोग करें कि सभी वर्ग और जाति के लोगो मे प्रेम वढे, अज्ञान घटे, सामाजिक

कुरीतियाँ दूर हों और उनके अहिंसा-व्यापी जीवन का प्रभाव सम्पूर्ण मानवता पर पड़े।

जैन श्रावकों ने भी श्रमणों के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, संघयात्रा और दैनिक जीवन के सामान्य व्रत-नियमों का पालन करना ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है। वर्चस्व श्रावकों पर काफी है, गृहस्थ लोग उन पर अगाध श्रद्धा रखते हैं, उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने को हमेशा तत्पर रहते हैं। पर श्रमण मन्दिर निर्माण, स्थानक-निर्माण, बड़े-बड़े आयोजन करवा कर ही अपने धर्म-सन्देश की सफलता मान बैठते हैं। अहिंसा की शक्ति का विश्व-शान्ति में, पीड़ितों की सेवा में विशेष उपयोग हो, इस ओर उनका ध्यान कम जाता है।

अहिंसा में अपार शक्ति है, यह तो भगवान महावीर ने सिद्ध किया ही था। वर्तमान में महात्मा गांधी का उदाहरण हमारे सामने है कि एक दुबले-पतले व्यक्ति ने अहिंसा के बल पर महान् शक्तिशाली अंग्रेजी साम्राज्य से लोहा लेकर भारत को स्वाधीनता दिलाई। आज सभी राष्ट्र शान्ति चाहते हैं, इसके लिए अलग-अलग मार्ग खोजते हैं, नये-नये वाद स्थापित करते हैं, पर सबसे प्रभावी और सरल मार्ग अहिंसा का ही है। अमेरिका और रूस जैसे शक्तिशाली राष्ट्र भी अब शस्त्रों से होने वाली हानियों से आतंकित हैं और गत वर्षों में अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण पर रोक लगी है, उनके प्रयोग को उत्तरोत्तर कम किया जा रहा है। संसार के सभी राष्ट्र-नेता और चिन्तक अब एक मत हैं कि पृथ्वी का अस्तित्व अहिंसा के द्वारा ही कायम रखा जा सकता है। भारत में पंजाब में उग्रवाद और आतंकवाद का जो दमन-चक्र चल रहा था, उसमें भी अब कुछ कमी आयी है। हिंसा का प्रतिकार हिंसा द्वारा नहीं, अहिंसा द्वारा ही किया जा सकता है। यह बात अब लोग समझने लगे हैं और यही स्थायी शांति का मार्ग है।

आज अहिंसा की ज्योति को आगे बढ़ाने की जरूरत है। अब तक हिंसा के निषेधात्मक पक्ष पर ही अधिक बल दिया जाता रहा है पर आवश्यकता है अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को अधिक से अधिक उभारने की। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. कहा करते थे कि यदि तुम्हारा पड़ौसी भूखा है, तुम उसकी मदद करने योग्य हो, फिर भी मदद नहीं कर रहे हो तो तुम्हें हिंसा का भागी बनना पड़ता है। उन्होंने महारंभ और [illegible] महारंभ की सूक्ष्म विवेचना करते हुए अल्पारंभी बनने पर जोर [illegible] स्वयं ने खादी पहनी और दूसरों को खादी पहनने की प्रेरणा दी। [illegible] शोषण को हिंसा बताया और स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग [illegible] वे कहा करते थे कि बाजार से दूध खरीदने की अपेक्षा [illegible]

प्राप्त करना, बाजार में भोजन लेने की अपेक्षा घर मे यत्नापूर्वक भोजन बनाना अहिसा का मार्ग है । उन्होने आत्मधर्म के साथ-साथ ग्राम धर्म, नगर धर्म एव राष्ट्र धर्म की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्या की और अहिंसा को स्वतन्त्रता, समानता और लोक-कल्याण से जोड़ा । उन्होंने हर कार्य को विवेकपूर्वक करने की सलाह दी । विवेक अहिंसा है और अविवेक हिंसा है ।

आज जैन समाज भारत के सम्पन्न समाजों में गिना जाता है । हमें जरूरतमन्द लोगों की सहायता करनी चाहिए । आज हमारे देश के निवासियों को शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार और स्वावलम्बी जीवन जीने की कला सीखने की आवश्यकता है । यदि हम इस दिशा में स क्रिय होकर सहयोग करे तो समझना चाहिए कि हम अहिसा की ओर बढ़ रहे है और यदि योग्यता और क्षमता होने हुए भी निष्क्रिय बने रहे तो हमें हिसा का दोषी बनना ही पड़ेगा । हमारा कर्तव्य है कि हम जगह-जगह नये-नये स्कूल खोलें, बुक बैंक की स्थापना करे, रोगियों की सेवा के लिए अस्पतालों का निर्माण करे, बेरोजगारों को प्रशिक्षण देकर उद्योग-धन्धों में रोजगार दें और यह सब कार्य नि:वार्थ भाव से, सेवा-भाव से करें । ऐसा करके हम इस अशान्त वातावरण में शान्ति की स्थापना करने मे सहयोगी बन सकेगे ।

—२ ए, क्विस पार्क, वालीगंज, कलकत्ता—७०००१९

—●—

दयालुता

पैगम्बर हजरत मोहम्मद नित्य जिस रास्ते से जाते उसमें एक वृद्धा उन्हें देखकर कुपित हो, उन पर कचरा डाल देती थी । परन्तु वह कभी नाराज नही होते थे । एक दिन, उन पर कचरा नही डाला गया । तव उन्होने विचारा कि वृद्धा वीमार तो नही हो गई । वे उसके मकान में गए, तो वृद्धा वास्तव मे वीमार पड़ी मिली । उन्होने उसकी सेवासुश्रूषा करके दवा आदि की व्यवस्था की व जव तक वीमार रही नित्य वहां जाकर उनकी सेवा सुश्रूषा, दवा आदि से करते रहे ।

अहिंसा के प्रचार-प्रसार में जनसंचार माध्यमों की भूमिका

□ डॉ० संजीव भानावत

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में जनसंचार माध्यमों की विशिष्ट भूमिका होती है। आधुनिक युग में जनसंचार माध्यमों का महत्त्व जीवन के विविध क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। इनका प्रभाव अत्यन्त व्यापक एवं दूरगामी होता है। जनसंचार माध्यमों के पाँच महत्त्वपूर्ण भाग किये जा सकते हैं :—

१. समाचार पत्र या मुद्रण माध्यम

२. रेडियो

३. टेलीविजन

४. फिल्म

५. विज्ञापन

उक्त पांचों प्रकारो से हमारा वर्तमान जीवन गहराई से प्रभावित हुआ है। ये माध्यम एक प्रकार से हमारे जीवन के अविभाज्य अंग हो गये है। इनके अभाव में सहज और सामान्य जीवन तक की कल्पना नही की जा सकती। ये माध्यम जहाँ एक ओर हमे सूचित एव शिक्षित करते है वही दूसरी ओर हमारा मनोरंजन भी करते है।

आज के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि जीवन के विविध क्षेत्रो पर दृष्टिपात करने पर हिंसा के अनेक रूप देखने को मिलते हैं। हिंसा मात्र प्राणी को दुःखी करना या उसकी हत्या करना ही नही है। आज हमारे जीवन मे जो आपाधापी, असहयोग, हत्याएँ, लूटपाट, आपराधिक प्रवृत्तियाँ, सकीर्णता, कट्टरता, क्षेत्रियता, साम्प्रदायिक विद्वेष, आतंकवाद आदि जिस तरह घुस गये हैं उससे आम आदमी का विश्वास टूटने लगा है। जीवन के प्रति उत्साह, उमग और आस्था भंग होने लगी है। मन की सहज कोमल संवेदनाएँ नष्ट होने लगी है। दूसरों को पीड़ित और दुःखी देखकर आह्लाद की अनुभूति होने लगती है। आपसी प्रेम, विश्वास और सौहार्द्र का स्थान पारस्परिक कटुता, घृणा और वैमनस्य ने ले लिया है। अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए किसी भी व्यक्ति की हत्या तक करने से आज मनुष्य हिचकिचाता नही है।

जीवन के उक्त सारे दृश्य समाचार पत्रों के मुख्य पृष्ठो पर प्रमुखता से छाये रहते है। बम्बई मे बम विस्फोटो से हजारो निर्दोष लोगों की जीवनलीला समाप्त कर दी गई। अनेक शहर साम्प्रदायिक दंगों की आग में झुलस

ये सब घटनाएँ समाचार पत्रों की सुर्खियां बनी। टी. वी. के पर्दे पर ऐसे वीभत्स दृश्य अनेक बार दिखाये गये। इन्हें पढ़, सुन और देखकर भी हम स्वय को असहाय ही महसूस करते रहे। मन से मात्र 'आह' की गूंज उठी और इन घटनाओ पर कुछ आंसू वहा दिये गये। सभा गोष्ठियों में निन्दा की गई और सव कुछ फिर सामान्य !

प्रश्न है जीवन की विषमता को कैसे मिटाया जाए ? हिसा के इस ताण्डव को कैसे रोका जाए ? व्यक्ति के मन की इन पाशविक प्रवृत्तियो को कैसे नियन्त्रित किया जाए ? व्यक्ति की सद्प्रवृत्तियों को विकसित करने के लिए पहले देश के साधु-सन्त एवं महात्मा स्थान-स्थान पर जाकर लोगों को प्रेरित करते थे। साधु-सन्तों की प्रेरणा से देश के अनेक राजाओं और बादशाहों ने अपने शासन काल में न सिर्फ कत्लखाने बन्द कराये तथा पशुओं को अभयदान दिया वरन् जनकल्याणकारी अनेक कार्यक्रमों में अपनी शक्ति लगाकर शासन को अहिंसात्मक आधार पर संचालित किया। महात्मा गांधी ने तो अहिंसा के बल पर ही देश को विदेशी शासन के चगुल से स्वतंत्र कराया था।

अहिंसा के प्रचार-प्रसार में साधु-सन्तों को भूमिका तो महत्त्वपूर्ण है ही किन्तु आज के सन्दर्भो में उसकी परिधि सीमित होती जा रही है। ऐसी स्थिति मे हमें जनसंचार माध्यमों के महत्त्व को समझना होगा। अहिसक जीवन मूल्यों के प्रचार-प्रसार मे जनसंचार माध्यमों का प्रभावी उपयोग किया जा सकता है।

अहिसा के उदात्त भावों का अंकुरण शैशव काल से ही किया जाना चाहिए। अहिंसा की कथाएँ हमारी लोककथाओ में विविध रूपों मे बिखरी हुई है। हमारे दादा-दादी तथा नाना-नानी आदि बुजुर्गो के मुख से समय-समय पर इस प्रकार की प्रेरणास्पद कथाएँ सुनायी जाती रही है। इन कथाओं के माध्यम से हम अनायास ही बालक के मन में अहिंसा के पवित्र एवं प्रभावकारी विचार बड़ी सहजता के साथ उतार सकते है।

मुद्रित माध्यमो मे समाचार पत्र-पत्रिकाओं तथा साहित्य की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। आज विपुल सख्या में जैन पत्रिकाओ का प्रकाशन हो रहा है। जैन पत्रो की यह ऐतिहासिक विकास यात्रा आज एक शताब्दी से अधिक पुरानी हो गयी है। हमारे देश की क्षेत्रीय एव धार्मिक पत्रकारिता की अपनी विशिष्ट परम्परा रही है। इस प्रकार की पत्रकारिता का मूल स्वर अधिकांशत: सामाजिक-सांस्कृतिक एव नैतिक चेतना के विकास तथा जनकल्याण और विश्व वन्धुत्व की भावना का प्रसार करना रहा है।

अहिसा मूलक चेतना के प्रसार में जैन पत्रकारिता को विशेष पहल करनी होगी। प्रेम की इतनी बड़ी ताकत होते हुए भी हम हिंसा के माहौल के खिलाफ

सशक्त वातावरण तैयार कर सकने मे समर्थ नही हो पा रहे है। इसका एक कारण यह भी है कि अधिसंख्यक जैन पत्र-पत्रिकाएँ विशेष सम्प्रदाय या सस्था से जुडे रहने के कारण अपने पक्ष का समर्थन एवं प्रचार करने वाली 'पेम्पलेट' बनकर रह जाती है। व्यापक एवं उदार दृष्टि के अभाव के कारण जैन एकता, अपरिग्रह, संयम, सहिष्णुता, सेवा आदि जैसे मूल्य काल्पनिक आदर्श मात्र रह गये है। ये जीवन मूल्य अहिंसा के ही विविध रूप है। हम इन विविध रूपो को यथार्थ का रूप नही दे पा रहे है।

वर्तमान मे सार्वजनिक पत्रकारिता में पत्रकारिता पर राजनीति हावी होती जा रही है। सनसनीखेजपूर्ण समाचार व स्कैण्डल से ग्रस्त वर्तमान पत्रकारिता मानवीय विश्वासों की पुनर्स्थापना की दिशा मे विशेष सफल नही हो पा रही है। प्रतिदिन समाचार पत्रों के पृष्ठ आतंक, हिसा, अपराध व अन्य ऐसे ही समाचारो से भरे रहते है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि पाठको को कुछ इस प्रकार की सामग्री पढने को दी जाए जो जीवन मूल्यों तथा रचनात्मक शक्ति को विकसित कर सके। इस दृष्टि से लेखकों एव पत्रकारों को संगठित होकर कार्य करना होगा। वे सामूहिक स्तर पर मिलकर एक फीचर सिण्डीकेट बना सकते है जो महत्त्वपूर्ण पर्वो पर विशेष फीचर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ के लिए जारी कर सकते है। इन सिण्डीकेट्स के माध्यम से अहिसा एवं उससे सम्बद्ध उपयोगी पहलुओं पर महत्त्वपूर्ण आलेख जारी कर वातावरण निर्मित करने की दिशा में प्रयत्न किया जा सकता है।

पत्र-पत्रिकाओं तथा विज्ञापन का आपसी सम्बन्ध काफी गहरा है। विज्ञापनो ने हमारे आन्तरिक जीवन को काफी प्रभावित किया है। इससे एक नवीन उपभोक्तावादी संस्कृति ने जन्म ले लिया है। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षण तथा अहिसक समाज रचना का आदर्श प्रचारित प्रसारित करने की दृष्टि से विज्ञापन प्रभावी माध्यम हो सकता है। व्यावसायिक विज्ञापनों मे जैन धर्म दर्शन एवं महापुरुषो की अहिसा से सम्बन्धित सूक्तियो का उपयोग किया जा सकता है। इन सूक्तियों का उपयोग छविगृहो में प्रदर्शित स्लाइडों मे भी किया जा सकता है। धूम्रपान, मांसाहार, मादक पदार्थो के सेवन आदि हिंसा के अनेक रूपो को प्रचारित या समर्थन करने वाले विज्ञापनो के विरुद्ध भी अहिंसा से सम्बन्धित प्रभावी विज्ञापन अभियान सचालित कर हिसक विज्ञापनो के प्रभावों को समाप्त करने के प्रयत्न किये जा सकते हैं।

मुद्रित माध्यमों के अतिरिक्त दृश्य, श्रव्य संचार माध्यम वर्तमान युग मे प्रचार-प्रसार के सशक्त माध्यम है। रेडियो, टेलीविजन के आविष्कार ने सारी दुनिया को एक समुदाय मे परिवर्तित कर दिया है। आज शिक्षा जगत में इनका काफी उपयोग किया जा रहा है। रेडियो और टेलीविजन पर विद्यालय स्तर से लेकर उच्च शिक्षा तक से जुड़े छात्रों व अध्यापकों के लिए नियमित प्रसा-

रण किये जाते है। इस दृष्टि से एन. सी ई. आर टी तथा यू. जी. सी. सहित अनेक शैक्षिक संस्थान उल्लेखनीय कार्य कर रहे है। अतः हम भी इन माध्यमो का समुचित प्रयोग कर अपने उद्देश्यों मे सफलता प्राप्त कर सकते है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इन माध्यमो पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रम इस प्रकार से तैयार किये जाये जिसमे वे मात्र उपदेशपरक नही लगे वरन् उनमे जीवन निर्माणकारी आवश्यक बातें व्यावहारिक स्तर पर प्रस्तुत हों। इनकी वर्तमान सन्दर्भ में प्रासंगिकता को भी हमे सहजता व सरलता के साथ समझना होगा। वर्तमान विश्व आज अनेक समस्याओं से जूझ रहा है, जिनके समाधान मे जैन दर्शन के अहिंसावादी जीवन मूल्यों की विशेष भूमिका हो सकती है।

टेलीविजन पर हम अहिसा पर आधारित धारावाहिकों के निर्माण के लिए प्रयत्न कर सकते है। ऐसे कार्यक्रमों के साथ-साथ हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि टी वी. पर ऐसे कार्यक्रम प्रसारित नही किये जावे जिनमे हिसा तथा अपराध वृत्ति को उकसाया जाता हो। ऐसे कार्यक्रमो से अपरिपक्व मस्तिष्क पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। बच्चों की सहज विकसित होती भावनाएँ लगातार ऐसे कार्यक्रमों को देखने से प्रदूषित होने लगती है और फिर ये भावनाएँ कुण्ठा, सत्रास और बेचैनी के रूप मे प्रस्फुटित होती हैं। मानवीय ऊर्जा की अभिव्यक्ति गलत ढंग से होने लगती है और समाज का सारा वातावरण दूषित होने लगता है।

फिल्मों का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। दुर्भाग्य से आज वनने वाली अधिकांश फिल्मों में हिसा और अपराध का ही खुलकर प्रदर्शन किया जाता है। इस दिशा में भी हमे गम्भीर चिन्तन करना होगा। अहिंसक विचार और कथानको पर आधारित फिल्मों के निर्माण की दिशा मे हमे प्रयत्नशील होना होगा। हमे ऐसे वृत्त चित्र बनाने होगे जिनमें मांसाहार तथा पशुओं पर अत्याचार की प्रवृत्तियो के नुकसान वताते हुए अहिसक जीवनयापन के लाभ वताये गये हो। ऐसे कथ्यों की प्रस्तुति प्रभावी होनी चाहिए तभी हम इस विषाक्त वातावरण मे आशा की एक किरण पैदा कर सकेंगे।

अहिसा आदर्श जीवन का प्रमुख आधार है। प्राणी मात्र की खुशी मे ही हमारी खुशी है, जीवन की सार्थकता है। इस मर्म को हमे समझना होगा और जन-जन को यह प्रेरणा देने के लिए हमे जनसचार माध्यमो के प्रभावी उपयोग के लिए गम्भीर चिन्तन करना होगा।

—प्रभारी, पत्रकारिता, जनसंचार केन्द्र,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

□ □ □

अहिंसा के कुछ कथा-प्रसंग

☐ डॉ० प्रेमसुमन जैन

इस देश की आचार-संहिता अहिंसा की नींव पर ही विकसित हुई है। अहिंसा को ही शुद्ध, नित्य और शाश्वत धर्म कहा गया है। अहिंसा का क्षेत्र व्यापक है। किसी भी प्राणी के अधिकार का हनन न हो, उसको परिताप न दिया जाय, उस पर शासन न किया जाय और न ही उसके प्राणो का नाश किया जाय, यही अहिंसा का स्वरूप है। इस अहिंसा को जीवन मे उतार लिया जाय, यही ज्ञानी होने का सार है। जैनाचार्यो का कथन है कि उन सब कार्यो को, साधनो को, विचार को व्यक्ति यत्नपूर्वक त्याग दे, जिनसे हिंसा की प्रेरणा व अनुमोदन सम्भव हो। देवता, अतिथि, मन्त्र, औषधि, व्यापार आदि के निमित्त तथा अन्धविश्वास और धर्म के नाम पर संकल्पपूर्वक प्राणियों का घात नही करना चाहिए। स्व एवं पर के प्राणो की सुरक्षा के प्रति सावधानी रखने का प्रयत्न करना ही अहिंसा है। इस प्रकार अहिंसा जितना आत्मधर्म है, उतना ही वह विश्व धर्म है। जैन कथा साहित्य मे अहिंसा का व्यावहारिक रूप प्रकट हुआ है।

अहिंसक प्रयोग :

तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राणियो के प्रति अनुकम्पा इतिहास प्रसिद्ध है। उनके जीवन की कथा तो मात्र इतना ही कहती है कि पशुओ के बाडे को देखकर उनके अकारण वध की सूचना से उन्होंने तपस्वी-जीवन धारण कर लिया। किन्तु नेमिनाथ के जीवन मे इतना बडा परिवर्तन अचानक और अकारण नहीं हुआ था। इस घटना के द्वारा कृष्ण उन्हे कुछ सिखाना चाहते थे, किन्तु नेमिनाथ अपने अहिंसक चिन्तन के द्वारा सारे जगत् को ही इस घटना द्वारा बहुत कुछ सिखा गये। जनजन के अन्तर-मानस मे प्राणियो की पीडा की अनुभूति इतनी तीव्रता के साथ शायद पहली बार ही अनुभव की गई होगी। मांसाहार के विरोध मे नेमिनाथ का यह एक सफल अहिंसक प्रयोग था और सम्भवत. उसका ही यह प्रभाव था कि नेमिनाथ के समय मे साधुओ का जब चातुर्मास होता था, तो वासुदेव श्री कृष्ण ने चातुर्मास मे राज्य-सभा के आयोजनों को बन्द करा दिया था, ताकि आवागमन, भीड़-भाड आदि के कारण प्राणियों की अधिकतम हिंसा से बचा जा सके।

पार्श्वनाथ का जीवन अहिंसा का जीता-जागता उदाहरण है। उन्होने अपने पूर्व-जन्म और तपस्वी-जीवन मे क्षमा की साकार मूर्ति को उपस्थित किया था। वध, क्रोध, वैर, बदला आदि अनेक हिंसा के कार्यो का सामना उन्होने अहिंसात्मक साधनों से किया। तपस्वी कमठ द्वारा प्रज्वलित पंचाग्नि में जल रहे नाग की रक्षा उन्होंने अपने कुमार-जीवन में ही की थी। यह एक ऐसा प्रतीक है, जो अहिंसा के सूक्ष्म भावों को व्यक्त करता है। यदि नेमिनाथ ने जंगल के तृण खानेवाले मूक प्रणियों को हिंसा से बचाया था, तो पार्श्वनाथ ने एक कदम आगे बढकर विषैले नाग की रक्षा भी अहिंसक दृष्टि से आवश्यक मानी। क्योंकि प्राणी स्वभाव का कैसा भी हो, अकारण उसका वध करने का अधिकार किसी बड़े से बड़े और धार्मिक व्यक्ति को भी नही है।

भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र अहिंसा के स्वरूप को और अधिक उजागर बनाता है। उन्होने सर्प या संगम देवता द्वारा निर्मित विषधर नाग पर सहजता से और निर्भयता पूर्वक विजय प्राप्त कर, यह स्पष्ट कर दिया था कि शक्तिशाली व्यक्ति की भी हिंसात्मक वृत्ति टिकाऊ नही, क्षणिक ही होती है। अहिंसक चित्त निरतर विजयी रह सकता है। महावीर अहिंसा के विस्तार के लिए उसके मूलभूत कारणों तक पहुँचे है। उनके जीवन की हर घटना दूसरे के अस्तित्व की रक्षा करते हुए एवं उसके भी मन को न दुखाते हुए घटित होती है। सम्भवतः परिग्रह, अनावश्यक संग्रह, दूसरे को पीड़ा पहुँचाने मे सबसे वडा कारण है। इसीलिए भगवान् महावीर ने पांचवें व्रत अपरिग्रह को एक नयी दिशा प्रदान की। अनेकान्तवाद द्वारा उन्होने मानसिक हिंसा को भी तिरोहित करने का प्रयत्न किया और वीतरागता द्वारा वे आत्मिक अहिसा के प्रतिष्ठापक वने।

अहिंसक युद्ध :

जैन-कथा-साहित्य में सम्भवतः भरत-बाहुबली के जीवन-चरित्र से यह पहली वार पता चलता है कि युद्ध की भूमि में भी अहिंसक-युद्ध का प्रस्ताव हो सकता है। दोनो ओर की सेनाओ के हजारो प्राणियो के वध के प्रति उत्पन्न करुणा इस कथा में साकार हो उठी है। दो राजाओ के व्यक्तिगत निपटारे के लिए लाखों व्यक्तियों के मरण के आकडों से नही, अपितु व्यक्तिगत भावनाओ और शक्ति-परीक्षण से भी उनकी हार-जीत स्पष्ट हो सकती है। इस दृष्टि से दृष्टि-युद्ध, मल्ल-युद्ध और वाक्-युद्ध आदि का प्रस्ताव इस कथा में अहिंसा का प्रतीकात्मक घोषणा-पत्र है।

पशु-जगत् भी रक्षणीय :

'नायधम्मकहा' की दो कथाये अहिसा के सम्वन्ध में वहुत महत्त्वपूर्ण एवं वोधपूर्ण है। मेघकुमार के पूर्वभव के जीवन के वर्णन-प्रसंग मे "मेरुप्रभ"

हाथी की कथा वर्णित है। यह हाथी आग से घिरे हुए जंगल में एकत्र छोटे-बड़े प्राणियों के बीच में खड़ा है। हर प्राणी सुरक्षित स्थान खोज रहा है। इस मेरुप्रभ हाथी ने जैसे ही खुजली के लिए अपना एक पैर उठाया कि उसके नीचे एक खरगोश का बच्चा खाली स्थान देखकर वहाँ आकर बैठ गया। हाथी खुजली मिटाकर अपना पैर नीचे रखना चाहता है, किन्तु जब उसे पता चला कि एक छोटा प्राणी उसके पैर के सरक्षण में आया है तो उसकी रक्षा के लिए मेरुप्रभ हाथी अपना पैर उठाये ही रखता है। और अन्ततः तीन दिन-रात वैसे ही खड़े रहने पर वह स्वयं मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह उस छोटे-से प्राणी खरगोश तक धूप और आग की गर्मी नहीं पहुँचने देता। अहिंसा का इससे बड़ा उदाहरण और क्या होगा?

प्राकृत-कथाओं मे अहिंसा की प्रतिष्ठा के लिए कई प्रयोग किये गये है। मानव के जीवन मे अहिसा के महत्त्व की इतनी भावना थी कि व्यक्ति यह प्रयत्न करता था कि यथासंभव हिसा का निषेध किया जाय। 'सूत्रकृतांग' सूत्र में आर्द्र कुमार मुनि की कथा वर्णित है। उन्होंने हिंसा के मूल कारण मांस-भक्षण का युक्ति-पूर्वक निषेध किया है। 'आवश्यकचूर्णि' में अरहमित्त श्रावक के पुत्र जिनदत्त की कथा है। वह एक बार भयंकर रोग से पीडित हो जाता है। वैद्य उसे औषधि के साथ मांस-भक्षण आवश्यक बताते है, किन्तु वह अपने स्वास्थ्य के लिए अन्य प्राणियों के वध से प्राप्त होने वाले मांस का भक्षण करना स्वीकार नही करता है। 'वसुदेवहिण्डी' की एक कथा मे चारुदत्त अपनी यात्रा के लिए बकरे को मारकर उसकी खाल लेना पसन्द नही करता, जबकि उसका मित्र उस दुर्गम प्रदेश में उसे आवश्यक बताता है।

हिंसा : दुखों की खान :

जैन-कथा साहित्य ने प्राणी-वध को रोकने एवं दूसरे को न सताने की भावना को दृढ करने के लिए एक कार्य यह भी किया कि हिसक कार्यो मे लिप्त व्यक्तियो का जन्म-जन्मान्तरो में मिलने वाले फल की सही तस्वीर खीची है। 'विपाकसूत्र' की कथाएं बताती है कि अण्डे के व्यापारी निम्नक, प्राणीवध करने वाले छणिक कसाई एव सूरदत्त मच्छीमार को अपने हिंसक कार्यो के कारण कितनी यातनाएं सहनी पड़ी है। 'बृहत्कल्पभाष्य' आदि ग्रन्थों में हत्या करने वाले के लिए अनेक प्रकार की सजाएं दिये जाने का उल्लेख है। कर्म-परिणाम एव सजा की कठोरता ने भी हिंसक-भावना को क्रमशः कम करने मे मदद की है। एक हिंसा दूसरी हिसा को जन्म देती है। अतः इससे वैर की लम्बी परम्परा विकसित हो जाती है। इस बात को कई प्राकृत-कथाओ मे उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

अभय से हृदय-परिवर्तन :

प्राकृत की कुछ कथाएं अहिंसा के अभय तत्त्व को उजागर करती है। कितना ही भयंकर एव क्रोधी हत्यारा क्यो न हो, उसकी यह स्थिति अधिक समय तक नहीं टिक सकती। उसके हृदय में भी किसी घटना विशेष के द्वारा परिवर्तन लाया जा सकता है। मोग्गरपाणि यक्ष से प्रभावित अर्जुन की कथा बहुत प्रसिद्ध है। वह अपनी पत्नी के अपमान का वदला लेने के लिए प्रतिदिन छः पुरुष और एक स्त्री की हत्या करता था। उसके इस उत्पात के कारण लोगो का जीना मुश्किल हो गया था, किन्तु अहिसा और अभय के पुजारी सुदर्शन श्रावक ने अर्जुन मालाकार के हृदय को भी परिवर्तित कर उसे साधक बना दिया। हत्यारा अर्जुन क्षमा की मूर्ति बन गया।

अहिंसा का अर्थ केवल हिसा से बचना ही नही है, अपितु अहिसा के अतिचारों से भी दूर रहना है। प्राकृत कथाओं में यह स्पष्ट उल्लेख है कि वध, बन्धन, छेदन, अतिभारारोपण एवं दूसरे प्राणी के खान-पान के निरोध की क्रियाएँ भी हिसा है। इनसे बचकर ही अहिसा का पालन हो सकता है। 'कहा रयणकोश' में इनकी सुन्दर कथाए दी है। प्राणी-वध तो दुःख देने वाला है ही, किन्तु यदि किसी को कष्ट पहुँचाने एव किसी के वध करने की बात मन मे भी उद्बुध हो जाय अथवा किन्ही प्रतीकों के द्वारा वध की क्रिया पूरी कर ली जाय, तो भी अनेक जन्मों तक उसके दुष्परिणाम भोगने पडते है। कालक कसाई, ५०० भैंसों का प्रति दिन वध करता था, इस क्रिया को रोकने के लिए उसे वन्दी बनाकर रखा गया, किन्तु वहाँ पर भी उसने अपने शरीर के मैल के ५०० भैंसे बनाकर उनकी हत्या करने का सकल्प पूरा किया और उसके कारण उसे नरकों की यातना सहनी पड़ी।

प्राकृत-कथाओं के उपर्युक्त कुछ प्रसगो से स्पष्ट है कि अहिसा किसी जाति या वर्ग-विशेष की बपौती नही है। जीवन के किसी भी स्तर और कोटि का व्यक्ति अहिंसा मे विश्वास रख सकता है। यथा-शक्ति वह उसे अपने जीवन में उतार सकता है। पशु जगत् भी अहिसा, अनुकम्पा, पर-पीडा आदि का अनुभव करता है। अतः उसका जीवन रक्षणीय है। ये कथाए यह भी उजागर करती हैं कि हिंसा की परिणति दुःखदायी ही होती है। चाहे वह किसी भी स्तर या उद्देश्य से की जाय, किन्तु हिंसक कार्यो में लिप्त व्यक्ति इतना दयनीय भी नही है कि उसे सुधारने का अवसर ही न मिले। वह किसी भी क्षण अपनी हिंसा की ऊर्जा को अहिसा की ओर मोड़ सकता है। निर्भयता और प्रेम से उसे कोई प्रेरित करने वाला मिलना चाहिए।

—२९, उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर ३१३००१

हिंसा-निवारण और शाकाहार-प्रचार में कार्यरत प्रमुख संस्थाओं के नाम-पते

☐ श्री चंचलमल चौरड़िया, जोधपुर
श्री हँसमुख शांतिलाल शाह, अहमदाबाद

1. अहिंसा इन्टरनेशनल
   688, बाबा खडकसिंह मार्ग
   नई दिल्ली–110 001
2. भारतीय शाकाहार परिषद्
   ई-6, रणजीतसिंह मार्ग
   आदर्श नगर, नई दिल्ली–110 033
3. अहिंसा फाउण्डेशन
   जैन भवन
   12, शहीद भगतसिंह मार्ग
   नई दिल्ली–110 001
4. नव जीव दया मण्डल
   1443, गली छिपियो
   मालीवाडा, चाँदनी चौक
   नई दिल्ली–110 006
5. अ० भा० गौ सरक्षण परिषद्
   सरस्वती साहित्य मन्दिर
   स्थानीय बस स्टेण्ड के पास
   पजाबी बाग विस्तार
   नई दिल्ली–110 025
6. जैन महासभा
   6-ए, पॉकेट बी ब्लाक, क्रमाक 9
   अशोक विहार, फैज-8
   दिल्ली–110 052
7. पशु बलि निषेध समिति
   क्रय विक्रय सहकारी सघ के सामने
   भवानीसिंह मार्ग, जयपुर–5 (राज)
8. राष्ट्रीय अहिंसा प्रतिष्ठान
   446, महावीर स्ट्रीट
   सरदारपुरा, प्रथम 'सी' रोड
   जोधपुर–342 003
9. ऑल इण्डिया गौशाला फैडरेशन
   द्वारा पशु पालन विभाग
   पटना (बिहार)
10. एनिमल वेलफैयर बोर्ड
    51, फर्स्ट मैन रोड
    गाँधी नगर, मद्रास–600 020
11. इण्डियन वेजीटेरियन
    "जी" ग्रुप, एलडम्स रोड
    मद्रास–600 018
12. ब्यूटी विदाउट क्रुएल्टी
    4, प्रिन्स ऑफ वेल्स ड्राईव
    वनोवरो–पूना–411 040 (महा)
13. बोम्बे ह्यूमेनेटिरियन लीग
    123-127, दया मन्दिर
    मुवा देवी रोड, बम्बई–400 003
14. अ भा हिंसा निवारण संघ
    32, मनीष सोसायटी, नारायणपुरा
    अहमदाबाद–380 002 (गुजरात)
15. आन्ध्र प्रदेश जीव रक्षा सघ
    गुन्टूर–522 003 (आंध्रप्रदेश)
16. भगवान महावीर अहिंसा प्रचार सघ
    21, प्रिय नायकेन स्ट्रीट
    मद्रास–600 079 (तमिलनाडु)
17. साउथ इण्डियन ह्यूमेनोटेरियन्स लीग
    21, पेरूमल मुडलीयार स्ट्रीट
    मद्रास–600 079

18 जीव दया घर
35, पंचायत वाडी, दाऊजी गली
कबूतरखाने के पास, भूलेश्वर
बम्बई–400 002 (महा)

19 श्री महावीर शुभ संदेश साधना ट्रस्ट
द्वारा–मुनि श्री रामचन्द्र विजयजी
(निशाल) इहोलाय उपाश्रय
दोषी वाड़ा की पोल
अहमदाबाद–380 001 (गुज)

20 भारतीय जीवजन्तु कल्याण बोर्ड
60, चौथी गली, अभिरामपुरम्
मद्रास–600 018

21 डॉ. डी. सी. जैन
महासचिव,
अहिंसा पशु रक्षण और
मानव पोषण विश्व परिषद्
एन-15, ग्रीन पार्क एक्सटेन्शन्स
नई दिल्ली–110 016

22 राष्ट्रीय एकता अहिंसा एवं
समाज कल्याण संगठन
जैन मार्केट
नोगाँव (मैनपुरी)–205 262
(उत्तर प्रदेश)

23 हिंसा विरोधक सघ
अहिंसा भवन
नगर सेठ का वडा, रिलीफ रोड,
अहमदाबाद–380 001 (गुज)

24 अहिंसा प्रसारक समिति
बजाज भवन, नरीमन पॉइट
बम्बई–400 021

25. गुजरात महाजन पाजरापोल
और गौशाला फैडरेशन
द्वारा–दिनेश भाई शाह की कुंजी
देशसर रोड, सुरेन्द्र नगर (गुजरात)

26 मध्यप्रदेश अहिंसा प्रचार सघ
मैसर्स अगर एजेन्सीज
हलवाई लेन, रायपुर (म. प्र)

27 अहिंसा प्रचार समिति
गाँधी चौक, सिवनी (म प्र)

28 अखिल भारतीय कृषि गौ सेवा सघ
गोपुरी, वर्घा (महाराष्ट्र)

29. वेजीटेरियन क्लब
पोस्ट-वंणा (पंजाब)

30. जीव दया घर
जय हिन्द प्रेस के समीप
पोस्ट–राजकोट (सौराष्ट्र)

31 सुड (सुअर) बचाव समिति
पोस्ट–पाटण (उत्तर गुजरात)

32. सौराष्ट्र प्राणी कल्याण मण्डल
राष्ट्रीय शाला प्रागण
पोस्ट–राजकोट (सौराष्ट्र)

33. जीव दया मण्डल ट्रस्ट
डागा सदन, सघपुरा, टोंक (राज)

34 अ राजस्थान अहिंसा प्रचारक जैन सघ
अहिंसा नगर, चित्तौडगढ़ (राज)

35. पशु क्रूरता निवारण समिति
मेहता एण्ड क
2337, रामललाजी का रास्ता
जौहरी बाजार, जयपुर–302 003

36. तीर्थंकर शाकाहार प्रकोष्ठ
हीरा भैया प्रकाशन
65, पत्रकार कॉलोनी
कनाड़िया मार्ग, इन्दौर–452 001

37. अहिंसा प्रचार समिति
पचपहाड़, भवानीमण्डी

38. शाकाहार सदाचार परिषद्
श्री रतनलाल सी बाफना
सुभाष चौक, जलगाव–425 001

39. अहिंसा स्नेही मण्डल
नसीराबाद (राज)

40. अ. वि जैन मिशन
(अहिंसा प्रचारक संघ)
निवाई (टोंक) राज.

परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री १००८ **श्री हीराचन्द्रजी म. सा.**, परम श्रद्धेय उपाध्याय पं रत्न **श्री मानचन्द्रजी म. सा.** एवम् उनके आज्ञानुवर्ती सन्त-सतीगणों के सं. २०५० के

स्वीकृत चातुर्मास

१. **जयपुर** (**लाल भवन, चौड़ा रास्ता**)—परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर पूज्य श्री १००८ श्री हीराचन्द्रजी म सा., ओजस्वी वक्ता पं. रत्न श्री शुभेन्द्र मुनिजी म सा., तपस्वी श्री बसन्त मुनिजी म. सा., महान् अध्यवसायी श्री महेन्द्र मुनिजी म. सा , तत्त्व चिन्तक श्री प्रमोद मुनिजी म सा. ठाणा ५ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री चैतन्यमलजी ढढ्ढा, मन्त्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, बापू बाजार, जयपुर-३०२ ००३, फोन : कार्या. ५६५९९७, नि ५६५४६६ ।

२. **कोटा**—(रामपुरा बाजार स्थित स्थानक)—परम श्रद्धेय उपाध्याय प रत्न श्री मानचन्द्रजी म सा., कवि हृदय श्री गौतम मुनिजी म. सा., सेवाभावी श्री नन्दीषेणजी म सा. ठाणा ३ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री बुद्धिप्रकाशजी जैन, महेन्द्र सेव भण्डार, आर्य समाज रोड, कोटा-३२४ ००१ (राज), फोन : २०२०१ ।

३. **भोपालगढ़** (महावीर भवन)—रोचक व्याख्याता श्री ज्ञान मुनिजी म. सा , तपस्वी श्री प्रकाश मुनिजी म. सा , वयोवृद्ध श्री दया मुनिजी म. सा., वयोवृद्ध श्री राम मुनिजी म. सा ठाणा ४ (वृद्ध सन्तो के स्वास्थ्य सम्बन्धी कारणों से भोपालगढ चातुर्मास) ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री कल्याणमलजी बाफणा, मन्त्री, श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, भोपालगढ-३४२ ६०३, जिला—जोधपुर (राज) ।

४. **जोधपुर** (घोडों का चौक)—साध्वी प्रमुखा प्रवर्तिनी महासती श्री बदनकवरजी म. सा., सेवाभावी उप प्रवर्तिनी महासती श्री लाडकवरजी म.सा , महासती श्री सौभाग्यवतीजी म. सा . महासती श्री राजमतीजी म सा., महासती श्री नलिनीप्रभाजी म. सा , महासती श्री सुश्रीप्रभाजी म सा ठाणा ६ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री अनराजजी बोथरा, मन्त्री, श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, घोडो का चौक, जोधपुर-३४२ ००१ (राज), फोन : कार्यालय २४८६१, निवास २२१२३ ।

५. **बाड़मेर** (महावीर भवन, तेलियो की गली)—सरल हृदया महासती श्री सायरकवरजी म सा., महासती श्री शांतिप्रभाजी म सा., महासती श्री निश्ल्यावतीजी म. सा. ठाणा ३ ।

सम्पर्क-सूत्र—श्री सुमेरजी सोलंकी, मन्त्री, श्री वर्द्ध. स्था. जैन श्रावक संघ, १६७, अग्रवाल मौहल्ला, बाड़मेर-३४४ ००१ (राज.)।

६. **कानपुर** (आनन्दपुरी, ट्रांसपोर्ट नगर)—शासन प्रभाविका महासती श्री मैना सुन्दरीजी म सा, व्याख्यात्री महासती श्री रतनकंवरजी म. सा., महासती श्री चन्द्रकलाजी म. सा., महासती श्री ज्ञानलताजी म. सा., महासती श्री दर्शनलताजी म सा, महासती श्री चारित्रलताजी म. सा, महासती श्री शशिकलाजी म. सा., महासती श्री विनीतप्रभाजी म सा ठाणा ८।

सम्पर्क-सूत्र—श्री लूणकरणजी लोढ़ा, मन्त्री, श्री वर्द्ध स्था. जैन श्रावक संघ, विकास उद्योग, २४-ए, घनश्याम बाग, ओमपुरवा, कानपुर-२०८ ००७, फोन . प्रतिष्ठान ४३३३८, ४२४६६, निवास २७४०१५।

७. **जावला** (जैन स्थानक)—सेवाभावी महासती श्री सन्तोषकवरजी म सा, महासती श्री सूरजकंवरजी म. सा, महासती श्री मनोहरकवरजी म सा, महासती श्री कौशल्यावतीजी म सा., महासती श्री विमलावतीजी म सा ठाणा ५।

सम्पर्क-सूत्र—श्री सोहनलालजी बरमेचा, पो. जावला-३४१ ५३४, वाया–डेगाना, जिला–नागौर (राज)।

८. **सरवाड़** (अजमेर)—शान्त स्वभावी महासती श्री शांतिकवरजी म सा, महासती श्री सोहनकंवरजी म. सा., महासती श्री इन्दुबालाजी म. सा. महासती श्री सुमतिप्रभाजी म. सा ठाणा ४।

सम्पर्क-सूत्र—श्री भँवरलालजी कक्कड़, मंत्री, श्री व स्था जैन श्रावक सघ, सरवाड, जिला–अजमेर (राज.), फोन . २५३।

९. **गंगापुर शहर** (सवाईमाधोपुर)—व्याख्यात्री महासती श्री तेज-कवरजी म. सा, महासती श्री सुमनलताजी म सा., महासती श्री विमलेश प्रभाजी म सा ठाणा ३।

सम्पर्क-सूत्र—श्री रेवतीप्रसादजी जैन, फव्वारा चौक, पो गंगापुर शहर-३२२ २०१, जिला–सवाईमाधोपुर (राज)।

१०. **मसूदा** (अजमेर)—विदुषी महासती श्री सुशीलाकंवरजी म. सा., महासती श्री सरलेशप्रभाजी म सा, महासती श्री विनयप्रभाजी म. सा., महासती श्री इन्दिराप्रभाजी म. सा, महासती श्री मुक्तिप्रभाजी म. सा ठाणा ५।

सम्पर्क-सूत्र—श्री गजराजजी नाहर, अध्यक्ष, श्री वर्द्ध. स्था. जैन श्रावक संघ, पो. मसूदा–३०५ ६२३, जिला–अजमेर (राज), फोन प्रतिष्ठान ८४२३८, निवास ८४२१६।

हार्दिक क्षमा-याचना

कुछ समय से मेरा स्वास्थ्य ठीक नही चल रहा है। यह अस्वस्थता कब तक चलेगी, कुछ कहा नही जा सकता। ऐसी स्थिति में श्री जैन रत्न हितैषी श्रावक संघ, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, अ भा. साधुमार्गी जैन संघ, अ. भा जैन विद्वत् परिषद्, 'जिनवाणी', 'स्वाध्याय शिक्षा', 'श्रमणोपासक', 'स्वाध्याय-सन्देश (पत्र-पत्रिकाएँ) के पदाधिकारियो, कार्यसमिति के सदस्यों, चतुर्विध संघ (आचार्यो, मुनियों, साध्वियों, श्रावक, श्राविकाओं) के सभी सदस्यों, जैन-जैनेतर समाज व संस्थाओं के सदस्यों, सुहृद मित्रों, विद्वानों, लेखकों, स्नेहशील सहयोगियो, हितैषियों आदि के प्रति मेरे वक्तव्य, लेखन, संभाषण, पत्र-व्यवहार द्वारा जाने-अनजाने प्रमादवश किसी कारण कोई त्रुटि-अपराध हुआ हो और उनके हृदय को ठेस पहुँची हो तो मै मनसा, वाचा, कर्मणा सभी से हार्दिक क्षमा-याचना करता हूँ। इन सभी का मेरे प्रति बड़ा प्रेम, स्नेह व सहयोग रहा है जिससे मैं कभी उऋण नही हो सकता। आप सभी मुझे क्षमा प्रदान कर अनुगृहीत करे।

क्षमाप्रार्थी

(डॉ०) नरेन्द्र भानावत

मानद सम्पादक—'जिनवाणी'

महामंत्री श्री अ. भा जैन विद्वत् परिषद्

"जिनवाणी" का विवरण (नियम संख्या ८)

१.	प्रकाशन-स्थल	: जयपुर
२	प्रकाशन की अवधि	: मासिक
३	मुद्रक का नाम	फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
	राष्ट्रीयता	. भारतीय
	पता	. जौहरी बाजार, जयपुर–३
४	प्रकाशक का नाम	: सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल
	राष्ट्रीयता	: भारतीय
	पता	. बापू बाजार, जयपुर–३
५.	सम्पादक का नाम	: डॉ. नरेन्द्र भानावत, डॉ शांता भानावत
	राष्ट्रीयता	: भारतीय
	पता	: सी-२३५-ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-४
६	स्वामित्व	: सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल (पारमार्थिक संस्थान) बापू बाजार, जयपुर-३

मैं चैतन्यमल ढढ्ढा, मन्त्री, सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिया विवरण सही है।

[चैतन्यमल ढढ्ढा]

प्रकाशक

दिनांक : १-३-९३

जो ज्ञानी हो और आरम्भ तथा परिग्रह से विरत हो, वही सच्चा गुरु है ।

आचार्य श्री हस्ती

अहिंसा की सेवा भगवान की सेवा है।
जो अहिंसा की सेवा करेगा, वह समाज
और विश्व की सेवा करेगा।

SIDDHI GEMS

Manufacturers, Exporters &
Importers Of Diamonds

497 Rupraj Building. 3rd Floor
Room No 306. S.v.p. Road
Bombay. 40000[illegible]

Phone

Off · 362484 *Res 3[illegible]*

✻

Rajendra (raju) Bafna